वेदार्थ-विज्ञानम्

वैदिक पदों का रहस्यमय विज्ञान

भाग ३

महर्षि यास्क
विरचित निरुक्त की वैज्ञानिक व्याख्या

आचार्य अग्निव्रत

ओ३म्

वेदार्थ-विज्ञानम्

(महर्षि यास्क विरचित निरुक्त की वैज्ञानिक व्याख्या)

भाग— ३

व्याख्याकार

आचार्य अग्निव्रत

प्रमुख, श्री वैदिक स्वस्ति पन्था न्यास

(संचालक वैदिक एवं आधुनिक भौतिकी शोध संस्थान)

सम्पादक

डॉ. मधुलिका आर्या एवं विशाल आर्य

उपप्राचार्या एवं प्राचार्य, वैदिक एवं आधुनिक भौतिकी शोध संस्थान

द वेद साइंस पब्लिकेशन

भीनमाल (राज.)

प्रथम संस्करण
वर्ष 2024

महर्षि दयानन्द २००वाँ जन्मदिवस, फाल्गुन कृष्ण १०/२०८०
05 मार्च 2024

मूल्य : ₹6,000/- (सभी चार भागों का)

प्रकाशक : **द वेद साइंस पब्लिकेशन**
वेद विज्ञान मन्दिर, भागलभीम, भीनमाल
जिला - जालोर (राजस्थान) - 343029
वेबसाइट : www.thevedscience.com, www.vaidicphysics.org
ईमेल : thevedscience@gmail.com
सम्पर्क सूत्र : 9530363300

अनुक्रमणिका

भाग—३

दैवत-काण्डम्

भाग—४

परिशिष्टम्

* * * * *

अथ षष्ठोऽध्यायः

=प्रथमः खण्डः=

त्वमग्ने द्युभिस्त्वमाशुशुक्षणिस्त्वमद्भ्यस्त्वमश्मनस्परि।
त्वं वनेभ्यस्त्वमोषधीभ्यस्त्वं नृणां नृपते जायसे शुचिः॥ [ऋ.२.१.१]
त्वमग्ने द्युभिरहोभिः त्वमाशुशुक्षणिः।
आशु इति च शु इति च क्षिप्रनामनी भवतः। क्षणिरुत्तरः। क्षणोतेः।
आशु शुचा क्षणोतीति वा। सनोतीति वा।
शुक् शोचतेः पञ्चम्यर्थे वा प्रथमा।
तथा हि वाक्यसंयोगः। आ इत्याकार उपसर्गः पुरस्तात्। चिकीर्षितज उत्तरः।
आशुशोचयिषुरिति। शुचिः शोचतेः। ज्वलतिकर्मणः।
अयमपीतरः शुचिरेतस्मादेव। निःषिक्तमस्मात्पापकमिति नैरुक्ताः।
इन्द्र आशाभ्यस्परि सर्वाभ्यो अभयं करत्। [ऋ.२.४१.१२]
आशा दिशो भवन्ति। आसदनात्। आशा उपदिशो भवन्ति। अभ्यशनात्।

इस अध्याय का प्रारम्भ करते हुए १४७वें पद 'आशुशुक्षणिः' का निगम प्रस्तुत करते हुए लिखा है—

त्वमग्ने द्युभिस्त्वमाशुशुक्षणिस्त्वमद्भ्यस्त्वमश्मनस्परि।
त्वं वनेभ्यस्त्वमोषधीभ्यस्त्वं नृणां नृपते जायसे शुचिः॥

इस मन्त्र का ऋषि आङ्गिरसः शौनहोत्रो भार्गवो गृत्समदः है। [शुनः = शुनो वायुः शु एत्यन्तरिक्षे (निरु.९.४०.), भृगुः = अर्चिषि भृगुः सम्बभूव भृगुः भृज्यमानो न देहे (निरु.३.१७), तस्य (प्रजापतेः) यद् रेतसः प्रथमम् उददीप्यत तदसावादित्योऽभवद् यद् द्वितीयमासीत्तद् भृगुरभवत् तं वरुणो न्यगृह्णीत तस्मात् स भृगुर्वारुणिः (ऐ.ब्रा.३.३४)] इसका अर्थ यह है कि ऐसी अग्नि, जिसमें ज्वालाएँ तो उठती हैं, परन्तु तापमान बहुत अधिक नहीं होता। उन ज्वालाओं के अन्दर यजन क्रियाओं में भाग ले रहे प्राणापान के युग्म से इस छन्द रश्मि की उत्पत्ति होती है। इसका देवता अग्नि और छन्द पंक्ति होने से इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से अग्नितत्त्व का विस्तार होने लगता है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(त्वम्, अग्ने, द्युभिः, त्वम्, आशुशुक्षणिः) 'त्वमग्ने द्युभिरहोभिः त्वमाशुशुक्षणिः आशु इति च शु इति च क्षिप्रनामनी भवतः क्षणिरुत्तरः क्षणोतेः आशु शुचा क्षणोतीति वा सनोतीति वा शुक् शोचतेः पञ्चम्यर्थे वा प्रथमा तथा हि वाक्यसंयोगः आ इत्याकार उपसर्गः पुरस्तात् चिकीर्षितज उत्तरः आशुशोचयिषुरिति शुचिः शोचतेः ज्वलतिकर्मणः अयमपीतरः शुचिरे-तस्मादेव निःषिक्तमस्मात्पापकमिति नैरुक्ताः' वह अग्नितत्त्व द्युलोक से उत्पन्न होता है अथवा वह अग्नि प्राण रश्मियों से उत्पन्न होता है। उस अग्नि को यहाँ 'आशुशुक्षणिः' कहा है। 'आशुशुक्षणिः' पद के अनेक प्रकार से निर्वचन किये गये हैं। ये निर्वचन इस प्रकार हैं—

१. 'आशु' एवं 'शु' ये दोनों ही पद शीघ्र नामवाची हैं और इन दोनों पदों के पूर्व रहते 'क्षणिः' उत्तर पद के साथ समास होकर 'आशुशुक्षणिः' पद निष्पन्न होता है। यह क्षणिः उत्तर पद 'क्षणु हिंसायाम्' धातु से व्युत्पन्न होता है। इस प्रकार आशुशुक्षणिः संज्ञक अग्नि अति शीघ्रतापूर्वक अन्धकार को नष्ट करने वाला होता है और यही तीव्र अग्नि असुर पदार्थ को भी अति शीघ्रतापूर्वक नष्ट करता है अथवा इन गुणों से युक्त होने के कारण अग्नि को 'आशुशुक्षणिः' कहते हैं। यहाँ ग्रन्थकार 'क्षणु हिंसायाम्' धातु के साथ-साथ 'सन सम्भक्तौ' धातु से भी 'क्षणि' पद का व्युत्पन्न होना मानते हैं। इससे यह सिद्ध हुआ कि अग्नितत्त्व अति शीघ्रतापूर्वक पदार्थ का विखण्डन करने के कारण भी 'आशुशुक्षणि' कहलाता है।

२. अगला निर्वचन करते हुए कहते हैं कि जो शीघ्रतापूर्वक शुच् अर्थात् दीप्ति के द्वारा अन्धकार को नष्ट करता अथवा असुरादि पदार्थ को खण्ड-२ करके नष्ट करता है अथवा अपनी तीक्ष्ण दीप्ति के द्वारा विभिन्न पदार्थों को छिन्न-भिन्न वा विखण्डित करता है। इस कारण उसे आशुशुक्षणिः कहते हैं। यहाँ एक विकल्प यह भी दर्शाया है कि 'आशुशुक्षणिः' पद पञ्चमी अर्थ में प्रथमा रूप में प्रयुक्त है, क्योंकि अन्य वाक्यों से इसका संयोग इसी तरह समायोजित होता है, जैसे— 'त्वं अद्भ्यः', 'त्वं अश्मनः' आदि वाक्यों के साथ अग्निवाची 'आशुशुक्षणिः' पद को पञ्चमी अर्थ में ही प्रयुक्त मानना चाहिए, तभी अर्थ की संगति लग सकेगी।

३. यहाँ आशुशुक्षणिः पद में 'आ' यह उपसर्ग भी माना गया है, इसलिए यह पूर्व में अर्थात् 'शुच' धातु से पहले प्रयुक्त हुआ है और इसके उत्तर में सन्नन्त भाग 'शुशुक्षणिः' है,

जिसका निर्वचन इस प्रकार किया है— 'आशुशोचयिषुरिति शुचिः शोचतेः ज्वलतिकर्मणः अयमपीतरः शुचिरेतस्मादेव निःषिक्तमस्मात्पापकमिति नैरुक्ताः' अर्थात् बार-बार जलने व प्रदीप्त होने वाला अग्नि आशुशुक्षणि कहलाता है और इसका दूसरा रूप अग्नि भी इस कारण आशुशुक्षणिः कहलाता है, क्योंकि इसमें से पाप संज्ञक बाधक व पतनकारी असुरादि पदार्थ निकाल कर फेंक दिया गया होता है। इसका अर्थ यह है कि अग्नि के परमाणुओं अर्थात् विद्युत् चुम्बकीय तरंगों में असुरादि पदार्थों का कोई अंश व प्रभाव नहीं होता, बल्कि ये विशुद्ध देव पदार्थों के रूप में होती हैं, ऐसा अनेक नैरुक्तों का कथन है। यहाँ अग्नि वा आशुशुक्षणिः पद से इन्द्र का भी ग्रहण किया जा सकता है, क्योंकि इन्द्रतत्त्व भी असुरादि पदार्थ से सर्वथा मुक्त होता है।

(त्वम्, अद्भ्यः, त्वम्, अश्मनः, परि) [अश्मा = मेघनाम (निघं.१.१०)] वह अग्नि प्राण रश्मियों से उत्पन्न होती है तथा कॉस्मिक मेघों के संघनन से भी उत्पन्न होती है। साथ ही यह दूसरे 'आपः' अर्थात् जलतत्त्व से भी उत्पन्न होती है। यहाँ जलतत्त्व से परमाणुओं (एटम्स) और आयन्स का ग्रहण करना चाहिए। यहाँ 'परि' उपसर्ग से यह संकेत मिलता है कि अग्नितत्त्व प्राण रश्मियों के संघनन अथवा कॉस्मिक मेघ के संघनन से जब उत्पन्न होता है, तब वह सम्पूर्ण संघनित क्षेत्र में उत्पन्न होता है, न कि किसी एक देश विशेष में। (त्वम्, वनेभ्यः) वह अग्नि अर्थात् ऊष्मा अन्तरिक्ष में विद्यमान नाना प्रकार की किरणों से भी उत्पन्न होती है।

(त्वम्, ओषधीभ्यः, जायसे) [ओषधिः = ओषधयः खलु वै वाजः (तै.ब्रा.१.३.७.१), सौम्याऽओषधयः (श.ब्रा.१२.१.१.२), औषधो वै सोमो राजा (ऐ.ब्रा.३.४०)] वह अग्नि विभिन्न छन्द रश्मियों एवं तेजस्विनी सोम रश्मियों से भी उत्पन्न होता है। यहाँ 'जायसे' क्रियापद उपर्युक्त सभी पञ्चम्यन्त पदों के साथ भी सम्बद्ध मानना चाहिए। (त्वम्, नृणाम्, नृपते, शुचिः) [नरः = अश्वनाम (निघं.१.१४), नरो वै देवानां ग्रामः (तां.ब्रा.६.९.२), प्रजा वै नरः (ऐ.ब्रा.२.४)] वह अग्नि विभिन्न आशुगामी देव पदार्थों का पालक व रक्षक होता हुआ उन पदार्थों के मध्य सबसे तेजस्वी और शुद्ध स्वरूप वाला होता है।

भावार्थ— अग्नि की उत्पत्ति प्राण रश्मियों से होती है। यह अग्नि तत्त्व बाधक एवं अन्धकारयुक्त असुर पदार्थ को नष्ट करने वाला होता है। यह अपनी दीप्ति के द्वारा अन्धकार को एवं अपनी भेदन शक्ति के द्वारा नाना प्रकार के पदार्थों को विखण्डित करने

में सक्षम होता है। अग्नि के परमाणुओं में असुर पदार्थ का अभाव होता है। इसी प्रकार तीक्ष्ण विद्युत् तरंगों में भी असुर पदार्थ का अभाव होता है। कॉस्मिक मेघों के संघनन एवं नाना प्रकार के कणों के संलयन से भी अग्नि की उत्पत्ति होती है। यह अग्नि वायु तत्त्व में विद्यमान विभिन्न रश्मियों के संघनन से भी उत्पन्न होता है।

ऋषि दयानन्द ने इसका आधिभौतिक भाष्य किया है, जिसे हम यहाँ उद्धृत कर रहे हैं—

''**पदार्थः** — (त्वम्) (अग्ने) अग्निरिव राजमान विद्वन् (द्युभिः) प्रकाशैः (त्वम्) (आशुशुक्षणिः) शीघ्रकारी (त्वम्) (अद्भ्यः) जलेभ्यः (त्वम्) (अश्मनः) पाषाणात् (परि) सर्वतः (त्वम्) (वनेभ्यः) जङ्गलेभ्यः (त्वम्) (ओषधीभ्यः) (त्वम्) (नृणाम्) मनुष्याणाम् (नृपते) नृणां पालक (जायसे) (शुचिः)।

भावार्थः — अत्रोपमावाचकलुप्तोपमालङ्कारौ। हे राजन् यथा विद्युत्स्वप्रकाशेन शीघ्र गन्त्री जलपाषाणवनौषधिपवित्रकारकत्वेन सर्वेषां पालिकाऽस्ति तथा विद्वान् समग्रसामग्र्या पवित्राचारः सन् विद्यादिप्रकाशेन सर्वेषामुन्नतिकरो भवति। अयं [मन्त्रः] निरुक्ते व्याख्यातः। ६.१।

पदार्थ— हे (अग्ने) अग्नि के समान (नृपते) मनुष्यों की पालना करने वाले! जो (त्वम्) आप (द्युभिः) विद्यादि प्रकाशों से विराजमान (त्वम्) आप (आशुशुक्षणिः) शीघ्रकारी (त्वम्) आप (अद्भ्यः) जलों से पालना करने वाले मेघ के समान (त्वम्) आप (अश्मनः, परि) पाषाण के सब ओर से निकले रत्न के समान (त्वम्) आप (वनेभ्यः) जङ्गलों में चन्द्रमा के तुल्य (त्वम्) आप (ओषधीभ्यः) ओषधियों से वैद्य के समान और (त्वम्) आप (नृणाम्) मनुष्यों के बीच (शुचिः) पवित्र शुद्ध (जायसे) होते हैं सो आप लोग हम लोगों से सत्कार करने योग्य हैं।

भावार्थ— इस मन्त्र में उपमा और वाचकलुप्तोपमलङ्कार हैं। हे राजन्! जैसे बिजुली अपने प्रकाश से शीघ्र जाने वाली, जल, पाषाण, वन और ओषधियों के पवित्र करने से सबकी पालना करने वाली है, वैसे विद्वान् जन समग्र सामग्री से पवित्र आचरण वाला होता हुआ विद्यादि के प्रकाश से सबकी उन्नति करने वाला होता है। इस मन्त्र का निरुक्त में भी व्याख्यान है।''

पण्डित भगवद्दत्त रिसर्च स्कॉलर ने भी अपने निरुक्त भाष्य में इस प्रकरण पर विस्तृत प्रकाश डाला है, जिसे हम यहाँ उद्धृत कर रहे हैं—

''भाष्य—

शुचिः — यह मन्त्र शुचिः अग्निः की स्तुति में है। शुचिः अग्निः आदित्य में है। वायु पुराण २९.२ का श्लोकांश है— शुचिः सौरस्तु विज्ञेयः। इसी प्रकार बृहद्देवता १.६६ का उत्तरार्ध है— अमुष्मिन्नेव विप्रैस्तु लोकेऽग्निः शुचिरुच्यते॥ पवमान = भूमिस्थ, पावक = अन्तरिक्षस्थ और शुचिः = सौर, इन तीनों का भेद न समझने से वेदार्थ कदापि ज्ञात नहीं होता। इन तीनों में परमाणुओं का योग-विभाग विभिन्न है। शुचिः अग्निः के रूप पर प्रकाश डालने वाला एक ऋक् का उत्तरार्ध है— घृतप्रतीको बृहता दिविस्पृशा द्युमद्वि भाति भरतेभ्यः शुचिः॥ ऋ.५.११.१॥ अर्थात्— घृत की प्रतीक वाला, महान् तेज से युक्त, दीप्तिमान् विशेष चमकता है, भरताग्निः के परमाणुओं से शुचिः = सौराग्निः।

द्युभिः जायसे। इस अग्निः की उत्पत्ति में अनेक कारण हैं। एक कारण द्युः = अहः है। निघण्टु १.९ में द्युः पद अहर्नामों में पढ़ा गया है। यदि यास्क का यह परम्परागत प्रामाणिक अर्थ न माना जाए, तो एक महान् सत्य दृष्टि से ओझल हो जाएगा। दुर्ग और स्कन्द ने याज्ञिक प्रक्रिया में ही निमज्जित होने के कारण इस अर्थ के मूल तत्त्व पर विचार नहीं किया। अहोरात्र में अहः क्या पदार्थ है, यह जानना आवश्यक है। अहोरात्र संवत्सर का विभाग है। आदित्य मण्डल में संवत्सर का घेरा है। यह संवत्सर वैश्वानर अग्नि का योग रखता है।

मै. में प्रवचन है— संवत्सरो वा अग्निर्वैश्वानरः। २.१.२॥ इस संवत्सर में ३६० अहः और ३६० रात्रि हैं। इन का चक्र चल रहा है। अहः के सम्मुख भाग विशेष के आने से शुचिः अग्नि उत्पन्न होता रहता है। अहः सुवर्णा कुशी है— तै.ब्रा. का प्रवचन है— स यदादित्य उदेति। एतामेव तत्सुवर्णां कुशीमनुसमेति। ... अहरेव सुवर्णा [कुशी] अभवत्। १.५.१०.७॥ उसी के कारण शुचि अग्निः उत्पन्न होता हैं। वहीं आदित्य में— अद्भयः = आपः परमाणुओं से भी यही अग्निः उत्पन्न होता है। अश्मा भी वहीं पर और अन्तरिक्ष में भी हैं। असौ वा आदित्योऽश्मा पृश्निः। श.ब्रा.ब्रा.९.२.३.१४॥ यो अश्मनोरन्तरग्निं जजान। ऋ.२.१२.३॥ अर्थात् अश्मा के अन्दर इन्द्र अग्नि को उत्पन्न करता है। वन और ओषधियाँ अन्तरिक्ष में हैं। ये सब ही शुचि अग्निः की उत्पत्ति में योग देते हैं। ऐसी माया को स्पष्ट

करना भविष्य के वेदाभ्यासियों का काम है।''

तदनन्तर १४८वें पद 'आशा' का निर्वचन करते हुए लिखते हैं— 'आशा दिशो भवन्ति आसदनात् आशा उपदिशो भवन्ति अभ्यशनात्' अर्थात् आशा दिशाओं को कहते हैं, क्योंकि दिशाएँ एक-दूसरे के निकट पहुँची हुई होती हैं। दिशा वस्तुतः एक प्रकार का पदार्थ है, जो प्राण एवं सूक्ष्म छन्द रश्मियों से निर्मित होता है। यह आकाशतत्त्व का ही एक भाग अथवा आकाश के साथ संगत उसी के समान एक सूक्ष्म पदार्थ है। इसके विषय में 'वैदिक रश्मिविज्ञानम्' पठनीय है। दिशाओं के साथ-२ उपदिशाओं को भी आशा कहते हैं, क्योंकि ये भी दिशाओं की भाँति परस्पर व्याप्त होती हैं।

आशा पद का निगम इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है— 'इन्द्र आशाभ्यस्परि सर्वाभ्यो अभयं करत्'। इस मन्त्र का देवता इन्द्र और छन्द निचृत् गायत्री होने से इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से इन्द्रतत्त्व तीक्ष्ण श्वेत तेज से सम्पन्न होता है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(इन्द्रः, सर्वाभ्यः, आशाभ्यः) इस ब्रह्माण्ड में इन्द्रतत्त्व सभी दिशाओं से अर्थात् सब ओर से (अभयम्, परि, करत्) विभिन्न यजनशील कण आदि पदार्थों को सब ओर से अभय करता है अर्थात् यजनशील पदार्थ किसी बाधक वा पतनकारी पदार्थ के द्वारा विचलित वा कम्पित नहीं हो पाता।

काशिर्मुष्टिः प्रकाशनात्। मुष्टिर्मोचनाद्वा। मोषणाद्वा। मोहनाद्वा।
इमे चिदिन्द्र रोदसी अपारे यत्सङ्गृभ्णा मघवन्काशिरित्ते।
[ऋ.३.३०.५]
इमे चिदिन्द्र रोदसी रोधसी द्यावापृथिव्यौ। विरोधनात्।
रोधः कूलं निरुणद्धि स्त्रोतः। कूलं रुजतेः। विपरीतात्। लोष्टोऽविपर्ययेण।
अपारे दूरपारे। यत्सङ्गृभ्णासि मघवन्। काशिस्ते महान्।
अहस्तमिन्द्र सं पिणक्कुणारुम्। [ऋ.३.३०.८]
अहस्तमिन्द्र कृत्वा सम्पिण्ढि परिक्वणनं मेघम्॥ १॥

तदनन्तर १४९वें पद 'काशिः' का निर्वचन करते हुए लिखते हैं— 'काशिर्मुष्टिः

प्रकाशनात्। मुष्टिर्मोचनाद्वा। मोषणाद्वा। मोहनाद्वा।' [काशिः = काश्यते दीप्यतेऽसौ काशिः (उ.को.४.११९)। मुष्टिः = राष्ट्रम् मुष्टिः (तै.ब्रा.३.९.७.५; श.ब्रा.१३.२.९.७)] अर्थात् प्रकाशन करने के कारण मुष्टि को काशि कहते हैं और मुष्टि राष्ट्र को कहते हैं। राष्ट्र के विषय में महर्षि याज्ञवल्क्य का कथन है— 'सविता राष्ट्रं राष्ट्रपतिः' (श.ब्रा.११.४.३.१४) अर्थात् सूर्यादि तारों का केन्द्रीय भाग, जो ऊर्जा तथा विभिन्न कणों का उत्पन्न करने वाला होता है, उसे ही राष्ट्र, काशि एवं मुष्टि कहते हैं। यहाँ मुष्टि का निर्वचन करते हुए कहा है, क्योंकि यही भाग अग्नि का उत्सर्ग वा प्रक्षेपण करता रहता है। इसके अतिरिक्त यही भाग बाहरी भाग से सूक्ष्म कणों को उठाता वा ग्रहण करता रहता है। इसके अतिरिक्त यही भाग ऐसा होता है, जो भ्रमित करने वाला होता है अर्थात् इसके अन्दर क्या पदार्थ विद्यमान हैं, यह जानना कठिन होता है अथवा इस भाग में क्या छिपा हुआ है, यह जानना सहज नहीं होता। इस कारण इस भाग को मुष्टि वा काशि कहते हैं।

अब इसका निगम प्रस्तुत करते हुए लिखा है— 'इमे चिदिन्द्र रोदसी अपारे यत्सङ्गृभ्णा मघवन्काशिरित्ते।' इस मन्त्र का देवता इन्द्र और छन्द त्रिष्टुप् होने से इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से इन्द्रतत्त्व तीव्र तेजस्वी और बलयुक्त होता है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(इन्द्र, इमे, चित्, रोदसी) 'इमे चिदिन्द्र रोदसी रोधसी द्यावापृथिव्यौ विरोधनात् रोधः कूलं निरुणद्धि स्रोतः कूलं रुजतेः विपरीतात् लोष्टोऽविपर्ययेण' वह इन्द्ररूप तीक्ष्ण विद्युत् रोदसी संज्ञक द्यु और पृथिवीलोकों, जिन्हें रोदसी वा रोधसी इस कारण कहा जाता है, क्योंकि ये दोनों परस्पर एक-दूसरे को अपने आकर्षण बल से रोके रहते हैं। ये दोनों ही प्रकार के लोक एक-दूसरे के गुरुत्वीय क्षेत्र के किनारों को दृढ़ता से पकड़े रहते हैं और उनको पकड़कर ये दोनों लोक उन गुरुत्वीय क्षेत्रों के द्वारा उन क्षेत्रों के स्रोतरूप स्वयं को अर्थात् वे दोनों लोक एक-दूसरे को रोके वा आकर्षित किये रहते हैं। यहाँ 'कूलं' पद 'रुजो भङ्गे' धातु से व्युत्पन्न होता है, जो 'रुक' को उल्टा करके तथा रेफ को लत्व होकर 'कूल' बनता है और इसी धातु से बिना विपर्यय किये 'लोष्ठ' शब्द बनता है, वह इस प्रकार है— 'रुजत्+त = लुज्+त = लोष्ट'। ये द्युलोक और पृथिवीलोक लोष्ट भी कहलाते हैं, क्योंकि ये पदार्थ के विशाल ढेर के रूप में होते हैं। यहाँ 'ज्' को 'ष्' निपातन है।

(अपारे) 'अपारे दूरपारे' ये दोनों लोक परस्पर दूर-२ किनारे वाले होते हैं अर्थात् ये दोनों

परस्पर दूर-२ स्थित होते हैं। इसके साथ ही गुरुत्वीय क्षेत्रों के किनारे भी अपने स्रोतरूप लोकों से दूर-२ स्थित होते हैं, (यत्, सङ्गृभ्णा, मघवन्, काशिः, इत्, ते) 'यत्सङ्गृभ्णासि मघवन् काशिस्ते महान्' जिससे वह इन्द्रतत्त्व उन दोनों लोकों को परस्पर पकड़े रहता है अर्थात् आकर्षित किये रहता है एवं वही इन्द्रतत्त्व लोकों के अन्दर विद्यमान पदार्थ को संघनित करके लोक का आकार प्रदान करता है। ऐसा वह [मघम् = धननाम (निघं.२.१०)] मघवन् संज्ञक इन्द्र अर्थात् विभिन्न रश्मि आदि पदार्थों से निर्मित एवं उनसे युक्त इन्द्रतत्त्व अपनी काशि अर्थात् महान् मुष्टि के द्वारा ही यह कर्म कर पाता है। इसका अर्थ यह है कि द्यु और पृथिवी दोनों लोकों के केन्द्रीय भाग के आकर्षण बल के द्वारा ही उन लोकों का अस्तित्व बना रहता है और उनके द्वारा ही दोनों लोकों का गुरुत्वीय क्षेत्र उत्पन्न होकर एक-दूसरे को थामे रखता है। यह ध्यातव्य है कि गुरुत्व बल भी इन्द्र अर्थात् विद्युत् का ही रूप है।

तदनन्तर १५०वें पद 'कुणारुम्' का निगम प्रस्तुत करते हुए लिखते हैं— 'अहस्तमिन्द्र सं पिणक्कुणारुम्'। इस मन्त्र का देवता इन्द्र और छन्द त्रिष्टुप् होने से इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से इन्द्रतत्त्व तीव्र तेज और बल से युक्त होता है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(अहस्तम्, इन्द्र) 'अहस्तमिन्द्र कृत्वा मेघम्' वह इन्द्र आसुर मेघरूप पदार्थ को बिना हस्त वाला करता है अर्थात् वह असुर पदार्थ जिस हिंसक शक्ति के द्वारा देव पदार्थ के संघनन में बाधा उत्पन्न करके लोकों के निर्माण की प्रक्रिया में विघ्न डालता है, सर्वप्रथम उस हिंसक शक्ति को इन्द्रतत्त्व नष्ट कर देता है। (सम्, पिणक्, कुणारुम्) 'सम्पिण्ढि परिक्वणनम्' जब इन्द्रतत्त्व आसुर मेघ पर प्रहार करता है, उस समय उस मेघ में सब ओर घोर गर्जना होने लगती है और वह मेघ अच्छी प्रकार से विखण्डित होकर बिखर जाता है।

* * * * *

= द्वितीयः खण्डः =

अलातृणो वल इन्द्र व्रजो गोः पुरा हन्तोर्भयमानो व्यार।
सुगान्पथो अकृणोन्निरजे गाः प्रावन्वाणीः पुरुहूतं धमन्तीः॥

[ऋ.३.३०.१०]

अलातृणोऽलमातर्दनो मेघः। वलो वृणोतेः।
व्रजो व्रजत्यन्तरिक्षे गोरेतस्या माध्यमिकाया वाचः।
पुरा हननाद्भयमानो व्यार। सुगान्पथो अकृणोन्निरजे गाः।
सुगमनान्पथोऽकरोत्। निर्गमनाय [= निरजाय] गवाम्।
प्रावन्वाणीः पुरुहूतं धमन्तीः। आपो वा वहनात्। वाचो वा वदनात्।
बहुभिराहूतमुदकं भवति। धमतिर्गतिकर्मा॥ २॥

अब १५१वें पद 'अलातृणः' का निगम प्रस्तुत करते हुए लिखा है—

अलातृणो वल इन्द्र व्रजो गोः पुरा हन्तोर्भयमानो व्यार।
सुगान्पथो अकृणोन्निरजे गाः प्रावन्वाणीः पुरुहूतं धमन्तीः॥

इस मन्त्र का ऋषि विश्वामित्र है। इसका तात्पर्य यह है कि इस छन्द रश्मि की उत्पत्ति 'वेदविज्ञान-आलोकः' ७.१६.१ में वर्णित विश्वामित्र संज्ञक विशेष पंक्ति छन्द रश्मियों से होती है। इसका देवता इन्द्र तथा छन्द निचृत् त्रिष्टुप् होने से इसके दैवत व छान्दस प्रभाव से इन्द्रतत्त्व तीक्ष्ण तेज व बलों से युक्त होता है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(अलातृणः, वलः, इन्द्रः, व्रजः) 'अलातृणोऽलमातर्दनो मेघः वलो वृणोतेः व्रजो व्रजत्यन्तरिक्षे' सबको आच्छादित व बाधित करने वाले आसुर मेघ किंवा जलीय मेघ अन्तरिक्ष में इतस्ततः गमन करते रहते हैं। वे दोनों ही प्रकार के मेघ इन्द्रतत्त्व द्वारा सब ओर से विदीर्ण वा छिन्न-भिन्न किये जाते वा किए जाने योग्य होते हैं अर्थात् विभिन्न आसुर मेघ तीव्र विद्युत् तरंगों के द्वारा ही छिन्न-भिन्न होते हैं और लोक निर्माण की प्रक्रिया निर्बाध होती है। उधर वायुमण्डल में विद्यमान जलीय मेघ भी तीव्र विद्युत् तरंगों के प्रहार से छिन्न-भिन्न

होकर बरसते हैं।

(गोः, पुरा, हन्तोः, भयमानः, व्यार) 'गोरेतस्या माध्यमिकाया वाचः पुरा हननाद्भयमानो व्यार' इन्द्रतत्त्व द्वारा इन दोनों ही प्रकार के मेघों पर तीक्ष्ण प्रहार करके उन्हें छिन्न-भिन्न करने से पूर्व ही अन्तरिक्ष में व्याप्त ऐन्द्री वाक् रश्मियाँ उन मेघों को विशेष रूप से चलायमान वा शिथिल कर देती हैं। इसके अतिरिक्त विद्युत् गर्जना से उत्पन्न तीव्र ध्वनि तरंगों के कारण भी इन दोनों प्रकार के मेघों में ऐसी प्रतिक्रिया होने लगती है और वे मेघ थरथराने लगते हैं।

(सुगान्पथः, अकृणोत्, निरजे, गाः) 'सुगान्पथो अकृणोन्निरजे गाः सुगमनान्पथोऽकरोत् निर्गमनाय गवाम्' [यहाँ स्कन्दस्वामी व पण्डित भगवद्दत्त रिसर्च स्कॉलर ने 'निर्गमनाय' पाठ स्वीकार किया है तथा मुकुन्द झा शर्मा, आचार्य भगीरथ शास्त्री एवं स्वामी ब्रह्ममुनि परिव्राजक ने 'निरजनाय' पाठ को स्वीकार किया है, परन्तु अर्थ सबने समान ही किया है।] वे छन्द रश्मियाँ विद्युत् की घोर गर्जना से कॉस्मिक मेघों अथवा जलीय मेघों के अन्दर [गौः = अन्नं वै गौः (तै.ब्रा.३.९.८.३), अन्नं हि गौः (श.ब्रा.४.३.४.२५), यद् गोः पयः (तै.आ.५.१०.१)] संगमनीय पदार्थ की धाराओं अथवा जल धाराओं के निकास के लिए सुगम एवं विस्तृत मार्ग निर्मित करती हैं, (प्रावन्, वाणीः, पुरुहूतम्, धमन्तीः) 'प्रावन्वाणीः पुरुहूतं धमन्तीः आपो वा वहनात् वाचो वा वदनात् बहुभिराहूतमुदकं भवति धमतिर्गतिकर्मा' जिसके कारण वाणी अर्थात् पदार्थ की धाराएँ अथवा मेघों के अन्दर जल की धाराएँ बहने लग जाती हैं। यहाँ भाष्यकारों ने 'वाणीः' का अर्थ 'आपः' किया है, जिससे ये उपर्युक्त दोनों अर्थ निकलते हैं। वाणी पद का यहाँ दो प्रकार से निर्वचन किया है, जिसमें प्रथम यह है कि बहने वाला पदार्थ वाणी कहलाता है। इस कारण धाराओं में बहने वाला पदार्थ भी वाणी कहलाता है। वाणी नामक दूसरा पदार्थ ध्वनि तरंगें ही हैं। यहाँ जल वा धाराओं में बहने वाला अन्य कोई पदार्थ व्यापक रूप से विभिन्न रश्मि आदि पदार्थों द्वारा आकर्षित होकर तेजी से गमन करता है। जलीय मेघों के बरसने से उनका जल बिखरकर पृथिवी को सींचता है और आसुर मेघ बिखरकर व्यापक अन्तरिक्ष को सींचता है अर्थात् उसमें मिश्रित हो जाता है।

भावार्थ— विभिन्न प्रकार के आसुर मेघ एवं जलीय मेघ अन्तरिक्ष में इधर-उधर भ्रमण करते रहते हैं। ये मेघ तीव्र विद्युत् तरंगों के द्वारा छिन्न-भिन्न हो जाते हैं। इन विद्युत् तरंगों

के प्रभाव से इन दोनों ही प्रकार के मेघों में तीव्र कम्पन के साथ उच्च ध्वनियाँ भी होने लगती हैं। विद्युत् की घोर गर्जना और उनको उत्पन्न करने वाली नाना प्रकार की रश्मियाँ छिन्न-भिन्न हुए मेघ के पदार्थ के निकास के लिए सुगम और विस्तृत मार्ग प्रदान करती हैं। जलीय मेघ छिन्न-भिन्न होकर पृथिवी में व्याप्त हो जाता है और आसुर मेघ छिन्न-भिन्न होकर आकाशतत्त्व में विलीन हो जाता है।

* * * * *

= तृतीयः खण्डः =

उद्वृह रक्षः सहमूलमिन्द्र वृश्चा मध्यं प्रत्यग्रं शृणीहि।
आ कीवतः सललूकं चकर्थ ब्रह्मद्विषे तपुषिं हेतिमस्य॥

[ऋ.३.३०.१७]

उद्धर रक्षः सहमूलमिन्द्र। मूलं मोचनाद्वा। मोषणाद्वा। मोहनाद्वा। वृश्च मध्यम्। प्रति शृणीह्यग्रम्। अग्रमागतं भवति। आ कियतो देशात्।
सललूकं संलुब्धं भवति। पापकमिति नैरुक्ताः। सररुकं वा स्यात्।
सर्त्तेरभ्यस्तात्। तपुषिस्तपतेः। हेतिर्हन्तेः।
त्यं चिदित्था कत्पयं शयानम्॥ [ऋ.५.३२.६]
सुखपयसं सुखमस्य पयः।

अब १५२वें पद 'सललूकम्' का निगम प्रस्तुत करते हुए लिखा है—

उद्वृह रक्षः सहमूलमिन्द्र वृश्चा मध्यं प्रत्यग्रं शृणीहि।
आ कीवतः सललूकं चकर्थ ब्रह्मद्विषे तपुषिं हेतिमस्य॥

इस मन्त्र का ऋषि, देवता तथा छन्द एवं उनके प्रभाव पूर्व मन्त्र के समान समझें। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(उत्, वृह, रक्षः, सहमूलम्, इन्द्र) 'उद्धर रक्षः सहमूलमिन्द्र मूलं मोचनाद्वा मोषणाद्वा

मोहनाद्वा' वह इन्द्रतत्त्व अपनी तीक्ष्ण वज्र रश्मियों के द्वारा राक्षस संज्ञक हिंसक पदार्थों को मूल सहित उखाड़ देता है अथवा छिन्न-भिन्न कर देता है। यहाँ 'मूलम्' पद का तीन प्रकार से निर्वचन किया गया है। वह तीनों प्रकार का निर्वचन खण्ड ६.१ में दर्शाए 'मुष्टि:' के निर्वचनों के समान है, जिसे पाठक वहाँ देख सकते हैं। तदनुसार वह इन्द्रतत्त्व राक्षस संज्ञक हिंसक पदार्थों के प्रक्षेपक, ग्राहक एवं अदृष्ट होकर प्रहार करने के सामर्थ्य को उखाड़ फेंकता है अर्थात् समूल नष्ट कर देता है। वह इन्द्रतत्त्व हिंसक राक्षस संज्ञक पदार्थों की इन तीनों प्रकार की छिपी हुई शक्तियों के साथ-२ उनके उद्‌गम स्थल रूपी मूल पर भी प्रहार करता है। (वृश्चा, मध्यम्, प्रति, अग्रम्, शृणीहि) 'वृश्च मध्यम्। प्रति शृणीह्यग्रम्। अग्रमागतं भवति' वह उस हिंसक तत्त्व के मध्य भाग अथवा मध्यम चरण और उसके अग्रिम भाग अथवा शीर्ष चरण को नष्ट करता है। यहाँ अग्रभाग का अर्थ वह भाग है, जो प्रहार करते समय देव पदार्थ के निकट आया हुआ होता है।

(आ, कीवत:, सललूकम्, चकर्थ) 'आ कियतो देशात् सललूकं संलुब्धं भवति पापकमिति नैरुक्ता: सररुकं वा स्यात् सर्त्तेरभ्यस्तात्' यहाँ उस राक्षस संज्ञक पदार्थ के बारे में और व्याख्या करते हुए कहा है कि वह कितने दूर देश तक पहुँचा हुआ है अर्थात् वह अति दूर तक फैला हुआ होता है। वह लोभी अर्थात् देव पदार्थ को अपनी हिंसक शक्तियों के प्रहार से विमुग्ध वा भ्रान्त करता रहता है। इसलिए उसे नैरुक्त आचार्य पापक अर्थात् पतित करने वाला कहते हैं। वह पदार्थ सररुक भी कहा जाता है, क्योंकि वह निरन्तर इधर-उधर स्वच्छन्द गमन करता रहता है। यहाँ 'सररुकम्' पद 'सृ' धातु से अभ्यास को द्वित्व होकर व्युत्पन्न होता है। ऐसे पतनकारी पदार्थ को इन्द्रतत्त्व [चकर्थ = कृन्त (ऋषि दयानन्द भाष्य)] छिन्न-भिन्न करके दूर फेंक देता है। (अस्य, ब्रह्मद्विषे, तपुषिम्, हेतिम्) 'तपुषिस्तपते: हेतिर्हन्ते:' [ब्रह्म = ब्रह्माणि कर्माणि (निरु.१२.३४), हेति: = वज्रनाम (निघं.२.२०)] वह इन्द्र विभिन्न देव कणों के यजन कर्म से द्वेष करने वाले अर्थात् उसको बाधित करने वाले उस राक्षस संज्ञक पदार्थ के ऊपर तीव्र तापयुक्त वज्र रश्मियों का तीक्ष्ण प्रहार करता है।

भावार्थ— तीक्ष्ण विद्युत् तरंगें बाधक एवं हिंसक पदार्थ को समूल छिन्न-भिन्न कर देती हैं। वो उसकी प्रक्षेपक और प्रहारक क्षमता को समूल नष्ट कर देती हैं। वे बाधक एवं हिंसक पदार्थ के स्रोतों को भी नष्ट कर देती हैं। वह बाधक एवं हिंसक पदार्थ इस सृष्टि

में दूर-२ तक गमन करता हुआ व्याप्त रहता है। इस पदार्थ को नष्ट करने वाली तीक्ष्ण विद्युत् तरंगें कहीं-२ उच्च तापयुक्त भी होती हैं।

ऋषि दयानन्द ने इस मन्त्र का आधिभौतिक भाष्य किया है, जिसे हम यहाँ उद्धृत कर रहे हैं—

''**पदार्थः** — (उत्) उत्कृष्टे (वृह) वर्धस्व (रक्षः) दुष्टाचारम् (सहमूलम्) मूलेन सह वर्तमानम् (इन्द्र) दुष्टानां विदारक (वृश्च) छिन्धि। अत्र द्वयचोतस्तिङ इति दीर्घः। (मध्यम्) मध्ये भवम् (प्रति) (अग्रम्) अग्रभागम् (शृणीहि) हिन्धि (आ) (कीवतः) कियतः। अत्र वर्णव्यत्ययेन यस्य स्थाने वः। (सललूकम्) सम्यक् लुब्धम् (चकर्थ) कृन्त (ब्रह्मद्विषे) यो ब्रह्म परमात्मानं वेदं वा द्वेष्टि तस्मै (तपुषिम्) प्रतापयुक्तम् (हेतिम्) वज्रम् (अस्य) एतस्योपरि।

भावार्थः — मनुष्यैः कदाचिदपि धार्मिकाणामुपरि शस्त्रप्रहारो नैव कार्यो न च शस्त्रैर्हननेन विना दुष्टास्त्यक्तव्याः। एवं कृते सति सर्वतो सुखस्य वृद्धिः स्यात्।

पदार्थ— हे (इन्द्र) दुष्ट पुरुषों के नाशकर्त्ता! आप (उत्) उत्तमता के साथ (वृह) सुख वृद्धि करो (सहमूलम्) जड़सहित (रक्षः) बुरे आचार को (वृश्च) तोड़ो (अस्य) इस के ऊपर (तपुषिम्) प्रतापयुक्त (हेतिम्) वज्र को फेंक के इस के (मध्यम्) मध्य में उत्पन्न हुए और (अग्रम्) अग्रभाग के (प्रति) प्रति (शृणीहि) नाश करो तथा (ब्रह्मद्विषे) ब्रह्म परमात्मा वा वेद के लिए वर्त्तमान (सललूकम्) अच्छी तरह लोभी (कीवतः) कितनों को (आ) सब प्रकार काटो।

भावार्थ— मनुष्यों को चाहिये कि कभी भी धार्मिक पुरुषों के ऊपर शस्त्रों का प्रहार न करें और दुष्ट पुरुषों को शस्त्रों से मारे बिना न छोड़ें, ऐसा करने से सब प्रकार सुख की वृद्धि होवे।''

अब १५३वें पद 'कत्पयम्' का निगम इस प्रकार प्रस्तुत किया गया गया है— 'त्वं चिदित्था कत्पयं शयानम् ... (जघान)'। इस मन्त्र का देवता इन्द्र और छन्द भुरिक् पंक्ति है। इस कारण इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से इन्द्रतत्त्व अपने बाहुरूप बलों को विस्तृत करने लगता है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(त्यम्, चित्, इत्था, कत्पयम्, शयानम्) 'सुखपयसं सुखमस्य पयः' वह इन्द्रतत्त्व अर्थात् तीव्र विद्युत् तरंगें अन्तरिक्ष में सोए हुए अर्थात् फैले हुए सुखकारी जल से परिपूर्ण मेघों को इस प्रकार से नष्ट करता है अर्थात् उन्हें छिन्न-भिन्न करके वृष्टि कराता है।

विस्रुह आपो भवन्ति। विस्रवणात्।
वया इव रुरुहुः सप्त विस्रुहः। [ऋ.६.७.६]
इत्यपि निगमो भवति। वीरुध ओषधयो भवति। विरोहणात्।
वीरुधः पारयिष्णवः। [ऋ.१०.९७.३] इत्यपि निगमो भवति।
नक्षद्दाभम्। अश्नुवानदाभम्। अभ्यशनेन दभ्नोतीति वा।
नक्षद्दाभं ततुरिं पर्वतेष्ठाम्। [ऋ.६.२२.२]
इत्यपि निगमो भवति। अस्कृधोयुरकृध्वायुः।
कृध्विति ह्रस्वनाम। निकृत्तं भवति।
यो अस्कृधोयुरजरः स्वर्वान्। [ऋ.६.२२.३]
इत्यपि निगमो भवति। निशृम्भा निश्रथ्यहारिणः॥ ३॥

अब १५४वें पद 'विस्रुहः' का निर्वचन करते हुए लिखा है— 'विस्रुह आपो भवन्ति विस्रवणात्' अर्थात् 'विस्रुहः' आपः को कहते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि जल, विभिन्न प्राण रश्मियाँ एवं विभिन्न प्रकार के संयोज्य कण आदि पदार्थ 'विस्रुहः' कहलाते हैं, क्योंकि ये विविध रूपों में बहते रहते हैं। इसका निगम इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है— 'वया इव रुरुहुः सप्त विस्रुहः'। इस मन्त्र का देवता वैश्वानर और छन्द जगती होने से इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से सबका नायक वैश्वानर अग्नि रूप विद्युत् वा ताप दूर-२ तक व्याप्त होने लगता है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(वयाः, इव, रुरुहुः, सप्त, विस्रुहः) [वयाः = पशवो वै वयांसि (श.ब्रा.९.३.३.७), प्राणो वै वयः (ऐ.ब्रा.१.२८)] इस सृष्टि में सात प्रकार के कण एवं सात प्रकार के लोक उत्पन्न होते हैं और वे लोक व कण प्राण व छन्द रश्मियों की भाँति विविध प्रकार से स्रवणशील रहते हैं अर्थात् सरकते हुए अपने मार्गों पर गति करते रहते हैं। यहाँ 'इव' पद को पदपूरक मानने पर मन्त्र का आशय है कि ये सभी प्रकार के लोक वा कण विशेष रूप से

स्रवणशील तभी होते हैं, जब विभिन्न प्राण व छन्द रश्मियाँ, जो इनके सर्पण के लिए उत्तरदायी होती हैं, प्रकट व सक्रिय हो चुकी होती हैं। इनके अभाव में कण वा लोक गमन नहीं कर सकते।

अब १५५वें पद 'वीरुधः' का निर्वचन करते हुए लिखते हैं— 'वीरुध ओषधयो भवति विरोहणात्' अर्थात् वीरुध ओषधियों को कहते हैं, क्योंकि ये अनेक प्रकार से उगती हैं। [ओषधिः = अग्नेर्वा एषा तनूः यदोषधयः (तै.ब्रा.३.२.५.७), ओषधयो बर्हिः (ऐ.ब्रा.५.२८), ओषधयः खलु वै वाजः (तै.ब्रा.१.३.७.१)] यहाँ ओषधि अन्तरिक्ष में विद्यमान वे मरुत् रश्मियाँ हैं, जो उत्तेजित व सम्पीडित होकर ऊष्मा को उत्पन्न करने में सक्षम होती हैं। इन्हें वीरुध इस कारण कहते हैं, क्योंकि ये विशेष एवं विविध रूप से प्रकट होने वाली होती हैं।

इसका निगम इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है— 'वीरुधः पारयिष्णवः'। इसका देवता ओषधिस्तुतिः तथा छन्द निचृत् अनुष्टुप् है। इस कारण इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से ऊष्मा को उत्पन्न करने वाली प्राण व मरुत् रश्मियाँ प्रकाशित होने लगती हैं। इसके साथ ही इनका प्रकाशन तीक्ष्णता से परन्तु अनुकूलतापूर्वक ही होता है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(वीरुधः, पारयिष्णवः) विशेष एवं विविध रूप से उत्पन्न वा प्रकट होने वाली ओषधि संज्ञक प्राण व मरुत् आदि रश्मियाँ नाना प्रकार के देव कणों को असुरादि बाधक पदार्थों से पार लगाने वाली होती हैं और उनको यजन कर्मों में भी पार लगाती हैं।

अब १५६वें पद 'नक्षद्दाभम्' का निर्वचन करते हुए लिखते हैं— 'नक्षद्दाभम् अश्नुवानदाभम् अभ्यशनेन दभ्नोतीति वा' अर्थात् व्यापक होकर नाश करने वाला अथवा व्यापक होकर गति देने वाला अथवा अपनी व्याप्ति से नष्ट करने वाला पदार्थ नक्षद्दाभम् कहलाता है। हमारी दृष्टि में यह पदार्थ इन्द्रतत्त्व ही होता है। इसका निगम इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है— 'नक्षद्दाभं ततुरिं पर्वतेष्ठाम् ..... (पितरः अभि वाजयन्तः)'। इस मन्त्र का देवता इन्द्र और छन्द त्रिष्टुप् होने से इन्द्रतत्त्व तीक्ष्ण तेज और बल से युक्त होता है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(नक्षद्दाभम्, ततुरिम्, पर्वतेष्ठाम्) मेघरूपी पर्वत अर्थात् विशाल कॉस्मिक मेघ अथवा

जलीय मेघ में स्थित सृजन या वर्षण क्रियाओं को बाधाओं से पार लगाने वाले उपर्युक्त नक्षद्दाभम् इन्द्रतत्त्व को (पितरः, अभि, वाजयन्तः) नाना प्रकार की प्राण रश्मियाँ सब ओर से बल प्रदान करते हुए नाना प्रकार के कणों के मध्य संयोजक बल उत्पन्न करती हैं अथवा जलीय मेघ के अन्दर मेघों को छिन्न-भिन्न करके [वाजः = वाजी वेजनवान् (निरु.२.२८)] तीव्र हलचल उत्पन्न करने के लिए इन्द्रतत्त्व को बल प्रदान करती हैं।

तदनन्तर १५७वें पद 'अस्कृधोयुः' का निर्वचन करते हुए लिखते हैं—

'अस्कृधोयुरकृध्वायुः कृध्विति ह्रस्वनाम निकृत्तं भवति'।

यहाँ कृधु ह्रस्व को कहते हैं और अस्कृधोयुः ह्रस्व अर्थात् जो अल्प आयु वाला न हो अर्थात् चिरस्थायी को कहते हैं और ह्रस्व को कृधु इसलिए कहते हैं, क्योंकि यह कटा होता है अर्थात् बड़े भाग से कटकर छोटा भाग बनता है। यहाँ इसका निगम इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है— 'यो अस्कृधोयुरजरः स्ववर्वान्'। इस मन्त्र का देवता इन्द्र और छन्द स्वराट् पंक्ति है। इस कारण इसके छान्दस और दैवत प्रभाव से इन्द्रतत्त्व प्रकाशित होता हुआ विस्तार को प्राप्त करने लगता है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(यः, अस्कृधोयुः, अजरः, स्ववर्वान्) जो इन्द्रतत्त्व चिरकाल तक रहने वाले और कभी जीर्ण वा दुर्बल न होने वाले प्रकाश व विद्युत् से युक्त होता है अर्थात् तारों के अन्दर उनके जीवनकाल में तारों में विद्यमान तीव्र विद्युत् तरंगें तारों की आयु तक न तो नष्ट होती हैं और न पुरानी होती हैं। ये तरंगें प्रकाश एवं विद्युत् से सदैव परिपूर्ण रहती हैं।

तदुपरान्त १५८वें पद 'निशृम्भा' का निर्वचन करते हुए लिखते हैं— 'निशृम्भा निश्रथ्यहारिणः' अर्थात् कभी शिथिल न होने वाली गति से ले जाने वाला पदार्थ 'निशृम्भा' कहलाता है। इस पद का निगम अगले खण्ड में प्रस्तुत किया गया है।

* * * * *

= चतुर्थः खण्डः =

आजासः पूषणं रथे निश्रृम्भास्ते जनश्रियम्।
देवं वहन्तु बिभ्रतः ॥ [ऋ.६.५५.६]
आवहन्त्वजाः पूषणं रथे। निश्रथ्यहारिणस्ते। जनश्रियं जातश्रियम्।
बृहदुक्थो महदुक्थाः। वक्तव्यमस्मा उक्थमिति। बृबदुक्थो वा।
बृबदुक्थं हवामहे। [ऋ.८.३२.१०] इत्यपि निगमो भवति।
ऋदूदरः सोमः। मृदूदरः। मृदुरुदरेष्विति वा।
ऋदूदरेण सख्या सचेय। [ऋ.८.४८.१०] इत्यपि निगमो भवति।
ऋदूपे इत्युपरिष्टाद् व्याख्यास्यामः। पुलुकामः पुरुकामः।
पुलुकामो हि मर्त्यः। [ऋ.१.१७९.५] इत्यपि निगमो भवति।
असिन्वती असङ्खादन्त्यौ।
असिन्वती बप्सती भूर्यत्तः। [ऋ.१०.७९.१] इत्यपि निगमो भवति।

इस मन्त्र का ऋषि बार्हस्पत्य भरद्वाज है अर्थात् इस छन्द रश्मि की उत्पत्ति सूत्रात्मा वायु से उत्पन्न प्राण नामक प्राण रश्मियों से होती है। इसका देवता पूषा और छन्द गायत्री होने से इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से सबका पोषक सूर्यलोक श्वेतवर्णीय तेजस्वी होता है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(आ, अजासः, पूषणम्, रथे) 'आवहन्त्वजाः पूषणं रथे' [अजासः = अज गतिक्षेपणयोः पचाद्यच् प्रथमाबहुवचने जसि असुग् आगमः (वै.को.), पुष्टिकर्त्तुरश्वाः (ऋषि दयानन्द भाष्य)] सबके पोषक सूर्यलोक की गति और क्षेपण बलयुक्त आशुगामिनी किरणें सब ओर रमणीय छन्द और प्राणादि रश्मियों के वाहन पर सवार होकर (निश्रृम्भाः, ते) 'निश्रथ्यहारिणस्ते' कभी शिथिल न होने वाली गति से गमन करती हैं अर्थात् सूर्य की किरणें अपरिवर्तनीय गति से ही गमन करती हैं। वे किरणें (देवम्, जनश्रियम्, वहन्तु, बिभ्रतः) 'जनश्रियं जातश्रियम्' [श्रीः = श्रीर्देवाः (श.ब्रा.२.१.४.९)] दीप्ति उत्पन्न करने वाले देव कणों को धारण करते हुए वहन करती हैं अर्थात् सूर्य की किरणें सूक्ष्म कणों को

प्रकाशित भी करती हैं और उन्हें उठाकर भी ले जाती हैं।

इस मन्त्र का ऋषि दयानन्द ने आधिभौतिक भाष्य किया है, जो इस प्रकार है—

''**पदार्थः** — (आ) (अजासः) पुष्टिकर्त्तुरश्वाः (पूषणम्) पोषकं सूर्य्यम् (रथे) रमणीये जगति (निशृम्भाः) नित्यं सम्बद्धारः (ते) (जनश्रियम्) जनानां शोभा लक्ष्मीर्यस्य तम् (देवम्) दिव्यगुणं विद्वांसम् (वहन्तु) प्राप्नुवन्तु (बिभ्रतः) धारकान् पोषकान्।

भावार्थः — हे विद्वांसो यूयं शरीरात्मपुष्टिकरान्पदार्थान् विदित्वोपयुज्यैश्वर्यं प्राप्नुत।

पदार्थ— हे मनुष्यो! जो (निशृम्भाः) नित्यसम्बन्ध करने वाले (अजासः) पुष्टिकर्त्ता सूर्य्य के किरणरूप अश्व (पूषणम्) पुष्टि करने वाले सूर्य्य वा (जनश्रियम्) जिसके मनुष्यों की शोभा विद्यमान उस (देवम्) दिव्यगुण वाले विद्वान् के (बिभ्रतः) धारक अर्थात् पुष्टि करने वालों और धारण करने वालों को (रथे) रमणीय जगत् में (आ, वहन्तु) अच्छे प्रकार प्राप्त करें (ते) वे सर्व चाही हुई वस्तु को प्राप्त होते हैं।

भावार्थ— हे विद्वानो! तुम शरीर और आत्मा की पुष्टि करने वाले पदार्थों को जानकर और उनसे उपयोग लेकर ऐश्वर्य को प्राप्त होओ।''

तदुपरान्त १५९वें पद 'बृबदुक्थम्' का निर्वचन करते हुए कहते हैं— 'बृहदुक्थो महदुक्थाः वक्तव्यमस्मा उक्थमिति बृबदुक्थो वा' अर्थात् व्यापक रूप से अथवा विशाल मात्रा में उक्थ अर्थात् छन्द व प्राण रश्मियाँ जिसमें विद्यमान होती हैं, उसे 'बृबदुक्थ' कहते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि जिसमें बड़ी मात्रा में छन्दादि रश्मियाँ प्रकाशित होती हैं, वह पदार्थ बृबदुक्थ कहा जाता है। इसका निगम प्रस्तुत करते हुए लिखते हैं— 'बृबदुक्थं हवामहे .... (ऊतये)'। इस मन्त्र का देवता इन्द्र तथा छन्द गायत्री होने से इसके दैवत व छान्दस प्रभाव से इन्द्रतत्त्व तेजस्वी व श्वेतवर्णीय होता है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(बृबदुक्थम्, हवामहे, ऊतये) अनेक छन्दादि रश्मियों से प्रकाशित इन्द्रतत्त्व को विभिन्न संयोज्य कण आदि पदार्थ असुरादि पदार्थों से रक्षा हेतु आकर्षित करते हैं।

अब १६०वें पद 'ऋदूदरः' का निर्वचन करते हुए लिखते हैं— 'ऋदूदरः सोमः मृदूदरः मृदुरुदरेष्विति वा' अर्थात् 'ऋदूदर' सोम को कहते हैं। यहाँ मृदु को ही ऋदु कहा

गया है अर्थात् मृदु है उदर जिसका, उसे ऋदूदर कहते हैं। [मृदुः = म्रदते म्रदितुं शक्यते स मृदुः (उ.को.१.२८)। उदरम् = समुद्र उदरम् (तै.सं.७.५.२५.२), उदरं॑ सदः (मै.सं.३.८.८, क.सं.४०.३)] अथवा उदरों में मृदु होता है जिसके, उसे मृदूदर वा ऋदूदर कहते हैं। यहाँ सोम पदार्थ को ऋदूदर वा मृदूदर कहने का तात्पर्य यह है कि सोम पदार्थ अन्तरिक्ष में आश्रित होता है अथवा अन्तरिक्ष में सोम पदार्थ का विखण्डन होता रहता है। यहाँ सोम पदार्थ से तात्पर्य सभी मूर्तिमान् पदार्थों से है, जैसा कि ऋषि दयानन्द ने अपने ऋग्वेद भाष्य १.२.१ में 'सोमाः' पद का अर्थ किया है। यहाँ सोम से तात्पर्य मरुत् रश्मियाँ भी है। ये मरुत् रश्मियाँ आकाश में ही विद्यमान होती हैं और आकाश में ही इनके संयोग और वियोग आदि की प्रक्रियाएँ एवं उनके विभाजन की प्रक्रियाएँ चलती हैं।

इस पद का निगम इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है— 'ऋदूदरेण सख्या सचेय'। इस मन्त्र का देवता सोम और छन्द त्रिष्टुप् होने से इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से सोम पदार्थ तीव्र तेजस्वी होता है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(ऋदूदरेण, सख्या, सचेय) आकाश में विद्यमान सोम पदार्थ अपने साथ संगमनीय आग्नेय पदार्थ के साथ विद्यमान इस छन्द रश्मि की कारणभूत ऋषिरूप प्रगाथ काण्व अर्थात् विशेष सक्रिय सूत्रात्मा वायु रश्मियों के साथ संगत होने लगता है अर्थात् आग्नेय एवं सौम्य कणों, वर्तमान भाषा में विद्युत् धनावेशित एवं ऋणावेशित ऐसे कणों, जो परस्पर संगत होने वाले होते हैं, के मध्य सूत्रात्मा वायु रश्मियाँ अधिक सक्रिय होने लगती हैं, जिससे वे दोनों प्रकार के कण परस्पर संगत हो जाते हैं।

तदनन्तर १६१वें 'ऋदूपे' पद के निर्वचन के विषय में केवल इतना ही कहा है कि इसकी व्याख्या आगे इसी ग्रन्थ में खण्ड ६.३३ में की जाएगी।

अब १६२वें पद 'पुलुकामः' का निर्वचन करते हुए कहा है— 'पुलुकामः पुरुकामः' अर्थात् व्यापक कामना वाला पदार्थ पुरुकाम कहलाता है। इसका अर्थ यह है कि जिन पदार्थों की संयोजकता अधिक होती है, वे पदार्थ पुरुकाम वा पुलुकाम कहलाते हैं। इसका निगम इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है— 'पुलुकामो हि मर्त्यः'। इस मन्त्र का देवता दम्पती एवं छन्द निचृत् बृहती है। इस कारण इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से स्त्री एवं पुरुष रूप कणों वा रश्मियों में संयोजक गुण समृद्ध होकर पदार्थ के संघनन की प्रक्रिया तीक्ष्णतापूर्वक होने लगती है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(पुलुकामः, हि, मर्त्यः) जो कण आदि पदार्थ जितनी कम आयु वाले होते हैं, वे कण उतना ही अधिक संयोजक गुण प्रदर्शित करते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि जिन कणों वा तरंगों की आयु जितनी अधिक होती है, वे उतना ही कम संयोजक गुण दर्शाते हैं।

तदनन्तर १६३वें पद 'असिन्वती' का निर्वचन करते हुए लिखते हैं— 'असिन्वती असङ्खादन्त्यौ' अर्थात् जो पदार्थ बिना चबाए भी अधिक खा जाते हैं अर्थात् जो पदार्थ किसी अन्य पदार्थ को बिना छिन्न-भिन्न किए नष्ट कर देते हैं, वे पदार्थ असिन्वती कहलाते हैं। यह पद 'षिञ् बन्धने' धातु से निष्पन्न होता है, लेकिन यहाँ यह धातु बन्धन के स्थान पर खादन अर्थ में प्रयुक्त है। इसका निगम इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है— 'असिन्वती बप्सती भूर्यत्तः'। इस मन्त्र का देवता अग्नि और छन्द पादनिचृत् त्रिष्टुप् है। इस कारण इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से अग्नितत्त्व तीक्ष्ण तेज और बल से युक्त होता है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(असिन्वती, बप्सती, भूरि, अत्तः) तीक्ष्ण अग्नि की ज्वालाएँ पदार्थ को बिना चबाए अथवा पीसे हुए पदार्थ को बहुत अधिक मात्रा में खा जाती हैं अर्थात् नष्ट कर देती हैं। कोई भी पदार्थ प्रायः कूट-पीस कर सूक्ष्म अवयवों में बदलकर नष्ट किया जाता है अर्थात् कारण में लीन किया जाता है, परन्तु अग्नि की तीक्ष्ण ज्वालाएँ किसी पदार्थ को बहुत अधिक मात्रा में होने पर भी शीघ्रतापूर्वक जलाकर भस्म कर देती हैं। इस प्रकार जलने एवं अन्य प्रकार से नष्ट होने की क्रियाओं में यह मौलिक अन्तर है।

कपनाः कम्पनाः। क्रिमयो भवन्ति।

मोषथा वृक्षं कपनेव वेधसः। [ऋ.५.५४.६] इत्यपि निगमो भवति।

भाऋजीकः। प्रसिद्धभाः।

धूमकेतुः समिधा भाऋजीकः। [ऋ.१०.१२.२] इत्यपि निगमो भवति।

रुजाना नद्यो भवन्ति। रुजन्ति कूलानि।

सं रुजानाः पिपिष इन्द्रशत्रुः। [ऋ.१.३२.६] इत्यपि निगमो भवति।

जूर्णिर्जवतेर्वा। द्रवतेर्वा। दूनोतेर्वा।

क्षिप्ता जूर्णिर्न वक्षति। [ऋ.१.१२९.८] इत्यपि निगमो भवति।

परि घ्रंसमोमना वां वयो गात्। [ऋ.७.६९.४]
पर्यगाद्वां घ्रंसमहरवनायान्नम्॥ ४॥

यहाँ १६४वें पद का निर्वचन करते हुए लिखा है— 'कपनाः कम्पनाः क्रिमयो भवन्ति' अर्थात् 'कपनः' पद कम्पन का वाचक है। इसके साथ ही यह कम्पन क्रिमि की भाँति रेंगने वाला अर्थात् मन्द-मन्द गति से गमन करने वाला होना चाहिए। इसका निगम प्रस्तुत करते हुए लिखते हैं— 'मोषथा वृक्षं कपनेव वेधसः ... (अर्णसम्)'। इस मन्त्र का देवता मरुतः तथा छन्द भुरिक् जगती है। इस कारण इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से मरुत् रश्मियाँ अपनी बाहुरूप शक्तियों के साथ दूर-दूर तक व्याप्त होने लगती हैं। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(मोषथा, वृक्षम्, कपना, इव, वेधसः) [वृक्षः = व्रश्चनात् वृत्वा क्षां तिष्ठतीति वा (निरु.२.६)। वेधाः = इन्द्रो वै वेधाः (ऐ.ब्रा.६.१०), मेधाविनाम (निघं.३.१५), वेधसे विधात्रे (निरु.१०.६)] मन्द गति से गमन करने वाली विभिन्न मरुत् रश्मियाँ वृक्ष संज्ञक तेजस्वी लोकों, जिनके विषय में हम पूर्व में खण्ड २.६ में लिख चुके हैं, को धीरे-२ तेजहीन कर देती हैं। उस समय इन्द्रतत्त्व उन तेजस्वी लोकों में प्रवाहित होने वाली आपः अर्थात् सूक्ष्म कणों की धाराओं को छुपा देता है अर्थात् वे धाराएँ धीरे-२ लुप्त होने लगती हैं। ध्यातव्य है कि यह प्रक्रिया उस समय होती है, जब कोई तारा अपने जीवन की समाप्ति की ओर अग्रसर होता है।

तदनन्तर १६५वें पद 'भाऋजीकः' का निर्वचन करते हुए लिखा है— 'भाऋजीकः प्रसिद्धभाः' अर्थात् जिसकी दीप्ति प्रसिद्ध हो चुकी हो अर्थात् जो पदार्थ निर्बाध रूप से ज्योतिर्मय हो गया हो अथवा जल उठा हो वा जल रहा हो, उसे भाऋजीकः कहते हैं। इस पद का निगम इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है— 'धूमकेतुः समिधा भाऋजीकः'। इस मन्त्र का देवता अग्नि तथा छन्द निचृत् त्रिष्टुप् होने से इसके दैवत व छान्दस प्रभाव से अग्नितत्त्व तीक्ष्ण तेजस्वी व बलवान् होता है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(समिधा, धूमकेतुः, भाऋजीकः) धूम से जाना जाने वाला अग्नि अर्थात् धूम्रयुक्त अग्नि अधिक ईन्धन के सहयोग से अर्थात् ईन्धन के द्वारा तीव्र होकर जलने लगता है अथवा धूमकेतु नामक खगोलीय संरचनाएँ सूर्य की किरणों से प्रदीप्त होकर तीव्रता से तप्त होने

लगती हैं।

अब १६६वें पद 'रुजाना:' का निर्वचन करते हुए लिखते हैं— 'रुजाना नद्यो भवन्ति रुजन्ति कूलानि' अर्थात् नदियों को रुजाना: कहते हैं, क्योंकि ये किनारों को तोड़ने वा विकृत करने वाली होती हैं अथवा जो टेढ़े-मेढ़े किनारों वाली होती हैं। इसका निगम इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है— '(महावीरम्) ... सं रुजाना: पिपिष इन्द्रशत्रु:'। इस मन्त्र का देवता इन्द्र और छन्द त्रिष्टुप् होने से इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से इन्द्रतत्त्व तीव्रतर होने लगता है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(महावीरम्, सम्, रुजाना:, पिपिष, इन्द्रशत्रु:) [महावीरम् = असौ वै महावीरो योऽसौ (सूर्य:) तपति (कौ.ब्रा.८.३, ७), शिरो वा एतद्यज्ञस्य यन्महावीर: (कौ.ब्रा.८.३), स एष महावीरो मध्यन्दिनो सर्ग: (कौ.ब्रा.८.७)] सूर्यलोक में उसके केन्द्रीय भाग, जिसमें यजन प्रक्रियाएँ सर्वाधिक तीव्र गति से होती हैं, को लक्ष्य करके बहने वाली सौर नदियाँ अथवा सौर कूप सृजन प्रक्रियाओं में बाधा डालने वाले इन्द्रशत्रु अर्थात् असुर पदार्थ को पीस डालते हैं। इसका अर्थ यह है कि सूर्यादि तेजस्वी लोकों के अन्दर भी असुर पदार्थ विद्यमान होता है, जो नाना प्रकार की सृजन प्रक्रियाओं में बाधा उत्पन्न करता है, ऐसी ही बाधा को सौर नदियों वा सौर कूपों में तीव्र वेग से बहने वाला पदार्थ छिन्न-भिन्न करता रहता है।

तदनन्तर १६७वें पद 'जूर्णि:' का निर्वचन करते हुए लिखते हैं— 'जूर्णिर्जवतेर्वा द्रवतेर्वा दूनोतेर्वा' अर्थात् जो पदार्थ बहता हुआ गति करता है और ऊष्मा की मात्रा को बढ़ाता हुआ असुरादि पदार्थ को छिन्न-भिन्न करता है अथवा बड़े कणों को तोड़कर छोटे कणों में परिवर्तित करता है, उसे जूर्णि कहते हैं। इसका निगम इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है— 'क्षिप्ता जूर्णिर्न वक्षति'। इस मन्त्र का देवता इन्द्र एवं छन्द स्वराट् शक्वरी है। इस कारण इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से इन्द्रतत्त्व अत्यन्त तीक्ष्ण रूप से प्रकाशित और बलवान् होता है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(क्षिप्ता, जूर्णि:, न, वक्षति) [वक्षति = वक्षि = वह (निरु.८.१९)। यह पद 'वक्ष रोषे संघाते च' धातु से भी व्युत्पन्न हो सकता है।] तारों के केन्द्र सौर कूपों में प्रक्षिप्त की जाने वाली गर्म-गर्म पदार्थ की धाराएँ आन्तरिक भाग में विक्षुब्ध होती हुई संघात को प्राप्त नहीं होती हैं अर्थात् वे सब ओर से आने वाली धाराएँ परस्पर मिलकर स्थूल कणों का निर्माण

नहीं करती हैं। इसके साथ ही वे धाराएँ केन्द्रीय भाग तक भी व्याप्त नहीं हो पाती हैं।

इसके पश्चात् १६८वें पद 'ओमना' का निगम प्रस्तुत करते हुए लिखते हैं— 'परि घ्रंसमोमना वां वयो गात्'। इस मन्त्र का देवता अश्विनौ और छन्द निचृत् त्रिष्टुप् होने से इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से प्रकाशित एवं अप्रकाशित कण अर्थात् विकिरण एवं कण तीव्र तेज और बल से युक्त होने लगते हैं। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(परि, गात्, वाम्, घ्रंसम्, ओमना, वयः) 'पर्यगाद्वां घ्रंसमहरवनायान्नम्' [अहः = अहः स्वर्गः (श.ब्रा.१३.२.१.६), अग्निर्वाऽहः सोमो रात्रिः (श.ब्रा.३.४.४.१५), अहर्वै स्वर्गो लोकः (ऐ.ब्रा.५.२४.), अहरेव सविता (गो.पू.१.३३)। वयः = अन्ननाम (निघं.२.७), पशवो वै वयांसि (श.ब्रा.९.३.३.७)] सूर्यादि तेजस्वी लोकों के अन्दर कणों तथा विकिरणों की रक्षा और कान्ति के लिए अर्थात् उनकी ऊर्जा व मार्गों की रक्षा के लिए विभिन्न संयोज्य छन्द व प्राण रश्मियाँ सब ओर व्याप्त रहती हैं।

* * * * *

पञ्चमः खण्डः

उपलप्रक्षिणी। उपलेषु प्रक्षिणाति। उपलप्रक्षेपिणी वा।
[इन्द्र ऋषीन् पप्रच्छ। दुर्भिक्षे केन जीवतीति। तेषामेकः प्रत्युवाच।
शकटं शाकिनी गावो जालमस्यन्दनं वनम्।
उदधिः पर्वतो राजा दुर्भिक्षे नव वृत्तयः॥
इति सा निगदव्याख्याता]॥ ५॥

अब १६९वें पद 'उपलप्रक्षिणी' का निर्वचन करते हुए लिखते हैं— 'उपलप्रक्षिणी उपलेषु प्रक्षिणाति उपलप्रक्षेपिणी वा' [उपलः = मेघनाम (निघं.१.१०)] अर्थात् मेघों को अपनी तीक्ष्ण हिंसक वा छेदक शक्ति के द्वारा विदीर्ण करने वाली अथवा उन मेघों को दूर-२ तक प्रक्षिप्त करने वाली तीक्ष्ण विद्युत् को उपलप्रक्षिणी कहते हैं।

इसके आगे सम्पूर्ण भाग प्रक्षिप्त है। स्कन्दस्वामी ने इस पाठ पर टीका नहीं लिखी

है। आचार्य भगीरथ शास्त्री (हिन्दी टीका) ने भी इसे प्रक्षिप्त मानकर छोड़ दिया है। पण्डित मुकुन्द झा शर्मा ने इस पर टीका लिखी है और कारिका में विद्यमान 'जालम्' पद से 'मछली पकड़ने का जाल' यह अर्थ ग्रहण किया है। स्वामी ब्रह्ममुनि परिव्राजक ने इस पर टीका नहीं लिखी है, परन्तु 'जालमस्यन्दनम्' के स्थान पर 'जालमत्स्यन्दनम्' यह पाठ ग्रहण किया है। पण्डित भगवद्दत्त रिसर्च स्कॉलर ने इस पाठ की व्याख्या की है और इसे प्रक्षिप्त नहीं माना है। वस्तुतः पण्डित जी बहुश्रुत विद्वान् होने के उपरान्त भी प्राचीन साहित्य में नीरक्षीर-विवेक से प्रक्षिप्त एवं वास्तविक पाठों का भेद करने में सर्वथा विफल रहे और उन्होंने सभी प्राचीन ग्रन्थों को समान दृष्टि से देखकर अनेकत्र गम्भीर भूलें कर डाली हैं। हमारी दृष्टि में यह उदाहरण अर्थात् यह सम्पूर्ण पाठ ग्रन्थकार के उस उद्देश्य, जिसे लेकर उन्होंने इस ग्रन्थ की रचना की है, के सर्वथा प्रतिकूल है। यह कारिका और सम्पूर्ण उदाहरण न केवल अवैदिक है, अपितु वेदविरुद्ध मत्स्याहार को प्रेरित भी करता है, भले ही यह प्रेरणा दुर्भिक्ष के आपातकाल के अन्तर्गत की हो। ग्रन्थकार का उद्देश्य वैदिक पदों का निर्वचन करना है, न कि किसी अवैदिक ग्रन्थ के पदों का। इस कारण हम इस प्रकरण को सर्वथा प्रक्षिप्त मानकर छोड़ रहे हैं। यहाँ यह भी तो ध्यातव्य है कि इस कारिका में 'उपलप्रक्षिणी' पद है ही नहीं। इस 'उपलप्रक्षिणी' पद का निगम अगले खण्ड में प्रस्तुत किया गया है।

* * * * *

= षष्ठः खण्डः =

कारुरहं ततो भिषगुपलप्रक्षिणी नना।
नानाधियो वसूयवोऽनुगा इव तस्थिम इन्द्रायेन्दो परि स्त्रव॥

[ऋ.९.११२.३]

कारुरहमस्मि। कर्ता स्तोमानाम्। ततो भिषक्। तत इति सन्ताननाम। पितुर्वा पुत्रस्य वा। उपलप्रक्षिणी सक्तुकारिका। नना नमतेः। माता वा दुहिता वा। नानाधियो नानाकर्माणः। वसूयवो वसुकामाः।

अन्वास्थिताः स्मो गाव इव लोकम्। इन्द्रायेन्दो परिस्त्रव। इत्यध्येषणा। आसीन ऊर्ध्वामुपसि क्षिणाति। [ऋ.१०.२७.१३] उपस्थे।

इस मन्त्र का ऋषि शिशु है। [शिशुः = अयं वाव शिशुर्योऽयं मध्यमः प्राणः (श.ब्रा.१४.५.२.२)। मध्यम् = त्रिष्टुप्छन्दऽइन्द्रो देवता मध्यम् (श.ब्रा.१०.३.२.५)] इसका अर्थ यह है कि इस छन्द रश्मि की उत्पत्ति त्रिष्टुप् छन्द रश्मियों एवं इन्द्रतत्त्व की प्रधानता के काल में मध्यम प्राण अर्थात् व्यान प्राण से होती है। इस समय यह प्राण विशेष तीक्ष्ण होता है अर्थात् उसके साथ प्राण और अपान का युग्म तीक्ष्ण रूप में विद्यमान होता है। यहाँ यह भी सम्भव है कि विभिन्न त्रिष्टुप् छन्द रश्मियाँ ही इस छन्द रश्मि को उत्पन्न करती हों। इस मन्त्र का देवता सोम और छन्द विराट् पंक्ति होने से इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से सोम पदार्थ विविध रूपों में प्रकाशित होता हुआ फैलता जाता है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(कारुः, अहम्) 'कारुरहमस्मि कर्ता स्तोमानाम्' मैं अर्थात् इस छन्द रश्मि की कारणभूत शिशु रश्मियाँ विभिन्न स्तोमों को उत्पन्न करती हैं। [स्तोमः = गायत्रीमात्रो वै स्तोमः (कौ.ब्रा.१९.८), अन्नं वै स्तोमाः (श.ब्रा.९.३.३.६), वीर्यं वै स्तोमाः (तां.ब्रा.२.५.४)] अर्थात् इनसे अनेक प्रकार के गायत्री छन्द रश्मि समूह, जो विशेष संयोजक गुणों एवं शक्ति से युक्त होते हैं, उत्पन्न होते हैं। (ततः, भिषक्) 'ततो भिषक् तत इति सन्ताननाम पितुर्वा पुत्रस्य वा' [भिषक् = अथ प्रतिहर्ता (प्रतिपद्यते) भिषग्वा व्यानो वा (श.ब्रा.४.२.५.३)] वे ही शिशुरूप रश्मियाँ विस्तृत होती हुई विभिन्न बाधक पदार्थों पर प्रतिप्रहार करने में समर्थ होती हैं। वे उस पदार्थ को कम्पायमान करके दूर धकेल देती हैं, वे ऐसी रश्मियाँ अर्थात् गायत्री छन्द रश्मि समूह पिता और पुत्र रूप होकर निरन्तर विस्तृत होते चले जाते हैं। यहाँ ऐसा प्रतीत होता है कि वे रश्मि समूह एक शृंखला के रूप में उत्तरोत्तर वृद्धि को प्राप्त करते हुए अर्थात् क्रमिक रूप में एक-दूसरे से उत्पन्न होते हुए फैलते चले जाते हैं।

(उपल, प्रक्षिणी, नना) 'उपलप्रक्षिणी सक्तुकारिका नना नमतेः माता वा दुहिता वा' [सक्तुः = सक्तुः सचतेर्दुर्धावो भवति कसतेर्वा स्याद् विपरीतस्य विकसितो भवति (निरु.४.१०), देवानां वाऽएतद् रूपं यत्सक्तवः (श.ब्रा.१३.२.१.३)] वे शिशु रूप स्तोम

रश्मियाँ पूर्व खण्ड में वर्णित उपलप्रक्षिणी संज्ञक कॉस्मिक मेघों के अन्दर विद्यमान विद्युत् का रूप भी धारण कर सकती हैं तथा सक्तुरूप देव पदार्थ, जिनके विषय में हम पूर्व में खण्ड ४.१० में लिख चुके हैं, ऐसे देव पदार्थों को भी उत्पन्न करने लगती हैं। वे स्तोमरूप रश्मियाँ विभिन्न देव कणों के प्रति आकृष्ट होने के स्वभाव वाली होने से नना भी कहलाती हैं। ये नानारूप रश्मियाँ माता एवं दुहिता दोनों रूपों को प्राप्त होती हैं। [माता = मातरः नदीनाम (निघं.१.१३), माता अन्तरिक्षम् निर्मीयन्तेऽस्मिन् भूतानि (निरु.२.८)] अर्थात् इन रश्मियों से अन्तरिक्ष में नाना प्रकार के पदार्थ उत्पन्न होकर धाराओं के रूप में बहने लगते हैं और फिर उन धाराओं में से कुछ पदार्थ दूर तक छिटक कर चले जाते हैं और इस प्रकार इन माता और दुहिता संज्ञक पदार्थों की भी एक शृंखला चल पड़ती है।

(नानाधियः, वसूयवः, अनु, गाः, इव, तस्थिम) 'नानाधियो नानाकर्माणः वसूयवो वसुकामाः अन्वास्थिताः स्मो गाव इव लोकम्' ये सभी पदार्थ नाना प्रकार के प्रकाश को उत्पन्न करते हुए नाना प्रकार की क्रियाओं को जन्म देते हैं। विभिन्न प्रकार के कणों एवं छन्दादि रश्मियों को तेजयुक्त करके उनमें आकर्षण आदि बलों को समृद्ध वा उत्पन्न करते हैं। ये विभिन्न लोकों में सूर्य की किरणों के समान अनुकूलतापूर्वक स्थित होते हुए नाना प्रकार के कर्मों को सम्पादित करते हैं अथवा इस सृष्टि में जिस प्रकार की छन्द रश्मियाँ वा तरंगें विद्यमान होती हैं, उसी प्रकार ये शिशु संज्ञक रश्मि समूह नाना प्रकार की क्रियाओं, बलों एवं प्रकाश को उत्पन्न करते हैं। (इन्द्राय, इन्दो, परि, स्रव) 'इन्द्रायेन्दो परिस्रव इत्यध्येषणा' इन रश्मि समूहों के उपर्युक्त कर्मों के करने पर इन्दु अर्थात् सोम पदार्थ सर्वत्र प्रवाहित होता हुआ इन्द्र अर्थात् तीक्ष्ण विद्युत् तरंगों अथवा सूर्यादि लोक के निर्माण की प्रक्रिया को सम्पन्न करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है अर्थात् इन सब प्रक्रियाओं के चलते तारों के निर्माण की प्रक्रिया तीव्र होने लगती है। यह छन्द रश्मि इन सभी प्रक्रियाओं को प्रेरित करती वा गति प्रदान करती है।

भावार्थ— गायत्री छन्द रश्मियाँ विशेष संयोजक गुणों से युक्त होती हैं। ये छन्द रश्मियाँ व्यान रश्मियों से भी उत्पन्न होती हैं। व्यान रश्मियाँ बाधक पदार्थों पर प्रहार करके उन्हें कम्पायमान करते हुए दूर धकेल देती हैं। विभिन्न गायत्री छन्द रश्मियाँ शृंखलाबद्ध होकर उत्तरोत्तर वृद्धि को प्राप्त करते हुए एक-दूसरे से उत्पन्न होती चली जाती हैं। ये रश्मियाँ विद्युत् को उत्पन्न करती और नाना प्रकार के कणों में आकर्षण बलों को उत्पन्न करती हैं।

इनके कारण अन्तरिक्ष में नाना प्रकार के पदार्थों की धाराएँ बहने लगती हैं। इन धाराओं में नाना प्रकार के पदार्थों की उत्पत्ति होती रहती है और यह पदार्थ सूर्यादि लोकों के निर्माण में सहायक होता है।

तदनन्तर १७०वें पद 'उपसि' का निगम प्रस्तुत करते हुए लिखा है— 'आसीन ऊर्ध्वामुपसि क्षिणाति'। इस मन्त्र का देवता इन्द्र तथा छन्द पादनिचृत्त्रिष्टुप् होने के कारण इसके दैवत एवं छान्दस प्रभाव से इन्द्रतत्त्व तीक्ष्ण तेज व बल से युक्त होता है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(आसीनः, ऊर्ध्वाम्, उपसि, क्षिणाति) इन्द्रतत्त्व विभिन्न लोकों के ऊपरी भाग के उपसि = उपस्थे निकट स्थित होकर विभिन्न बाधक पदार्थों को नष्ट करता है।

प्रकलविद् वणिग्भवति। कलाश्च वेद प्रकलाश्च।
दुर्मित्रासः प्रकलविन्मिमाना। [ऋ.७.१८.१५] इत्यपि निगमो भवति।
अभ्यर्धयज्वाभ्यर्धयन् यजति।
सिषक्ति पूषा अभ्यर्धयज्वा। [ऋ.६.५०.५] इत्यपि निगमो भवति।
ईक्ष ईशिषे।
ईक्षे हि वस्व उभयस्य राजन्। [ऋ.६.१९.१०] इत्यपि निगमो भवति।
क्षोणस्य क्षयणस्य।
महः क्षोणस्याश्विना कण्वाय। [ऋ.१.११७.८]
इत्यपि निगमो भवति॥ ६ ॥

अब १७१वें पद 'प्रकलवित्' का निर्वचन करते हुए लिखते हैं— 'प्रकलविद् वणिग्भवति कलाश्च वेद प्रकलाश्च' अर्थात् प्रकलवित् वणिक् को कहते हैं। आधिभौतिक अर्थ में इसका अर्थ व्यापारी है, जो व्यापार की कलाओं और प्रकलाओं को अच्छी तरह समझता है, परन्तु आधिदैविक पक्ष में इस अर्थ का कोई महत्त्व नहीं है। हम पूर्व में खण्ड २.१७ में 'पणिः' एवं 'वणिक्' पदों की आधिदैविक व्याख्या कर चुके हैं। पाठकों को इस प्रकरण को समझने के लिए वह व्याख्या पढ़नी चाहिए। वहाँ वणिक् अर्थात् पणि एक

प्रकार की रश्मियों का नाम है, जो त्रिष्टुप् एवं गायत्री का बृहती रश्मियों के साथ एक विशेष प्रकार का मिश्रण रूप होता है। यह मिश्रण सूर्यलोक के बाहरी तल पर विद्यमान कोरोना नामक क्षेत्र में विद्यमान होता है। इन रश्मियों में शोधक एवं प्रकाशक गुण विशेष होता है। ऐसी रश्मियों को ही यहाँ प्रकलवित् कहा है। इसका कारण बताते हुए लिखा है कि इन रश्मियों में कला एवं प्रकला विशेष रूप से विद्यमान होती हैं। इसका अर्थ यह है कि इस क्षेत्र में लघु एवं बृहत् दोनों ही प्रकार के अंश वा क्षेत्र होते हैं, जिनमें निरन्तर ध्वनियाँ उत्पन्न होती रहती हैं तथा वे क्षेत्र इधर-उधर उड़ते वा स्थानान्तरित होते रहते हैं।

ध्यातव्य है कि कला पद 'कल शब्दसंख्यानयोः' तथा 'कल क्षेपे' इन दो धातुओं से निष्पन्न होता है। इसी दृष्टि से हमने यह अर्थ किया है। यहाँ यह भी अर्थ प्रकाशित होता है कि ये कला और प्रकला नामक क्षेत्र ध्वनि उत्पन्न करने के साथ-२ प्रकाश को बाहर की ओर फेंकने में भी सहयोगी होते हैं।

अब इसका निगम प्रस्तुत करते हुए लिखा है— '(विश्वानि, भोजनाः) दुर्मित्रासः प्रकलविन्मिमाना ... (अधवन्त)'। इस मन्त्र का देवता इन्द्र और छन्द त्रिष्टुप् होने से इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से इन्द्रतत्त्व तीव्र तेज और बल से युक्त होता है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(विश्वानि, भोजनाः, मिमानाः, दुर्मित्रासः) [भोजनम् = धननाम (निघं.२.१०), मिमानाः = उत्पादयन्तः (ऋषि दयानन्द भाष्य)] सूर्यादि लोकों के बाहरी भागों में विभिन्न प्रकार के संयोज्य वा अवशोष्य कणों को उत्पन्न करते हुए ऐसे पदार्थ, जो बाधक पदार्थों के साथ संश्लिष्ट हो चुके होते हैं। (प्रकलवित्, अधवन्त) उन ऐसे पदार्थों को पूर्वोक्त वणिक् वा पणिः संज्ञक रश्मियाँ तीक्ष्णता से कम्पायमान करती हैं, जिसके कारण वे पदार्थ बाधक पदार्थों से पृथक् होकर शुद्ध होने लगते हैं।

अब १७२वें पद 'अभ्यर्धयज्वा' का निर्वचन करते हुए लिखते हैं— 'अभ्यर्ध-यज्वाभ्यर्धयन् यजति' अर्थात् [अर्धम् = हरतेर्विपरीतात् धारयतेर्वा स्याद् उद्धृतं भवति ऋध्नोतेर्वा स्यात् ऋद्धतमो विभागः (निरु.३.२०), वर्द्धनम् (म.द.ऋ.भा.४.३२.१)] सब ओर से बढ़ता और ऊपर उठता हुआ यजन प्रक्रिया को समृद्ध करता है। इसका निगम इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है— '(रोदसी) सिषक्ति पूषा अभ्यर्धयज्वा'। इस मन्त्र का देवता विश्वेदेवा है, जो यहाँ रोदसी प्रतीत होता है तथा इसका छन्द निचृत् त्रिष्टुप् है। इस कारण

इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से प्रकाशित और अप्रकाशित दोनों प्रकार के कण तीक्ष्ण तेज और बल से युक्त होते हैं। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(रोदसी, अभ्यर्धयज्वा, पूषा, सिषक्ति) वर्द्धमान होता हुआ सृष्टि की विभिन्न क्रियाओं का पोषक कॉस्मिक मेघ प्रकाशित और अप्रकाशित कणों से अन्तरिक्ष को सींचता हुआ सूर्य एवं पृथ्वी आदि लोकों का निर्माण करता है। उस कॉस्मिक मेघ में नाना प्रकार की यजन क्रियाएँ हो रही होती हैं।

तदुपरान्त १७३वें पद 'ईक्षे' का निर्वचन करते हुए लिखते हैं— 'ईक्ष ईशिषे' अर्थात् शासन करता है, इसे ही ईक्षे कहा गया है। इसका निगम इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है— '(इन्द्र) ईक्षे हि वस्व उभयस्य राजन्'। इस मन्त्र का देवता इन्द्र और छन्द विराट् त्रिष्टुप् होने से सूर्यादि लोक विविध रूपों में तीव्रतापूर्वक प्रकाशित होते हैं। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

[वसु = प्रजा वै पशवो वसु (तै.सं.५.२.४.४), धननाम (निघं.२.१०)] (इन्द्र, राजन्) प्रकाशित होता हुआ इन्द्रतत्त्व अर्थात् तीक्ष्ण विद्युत् तरंगें (हि, उभयस्य, वस्वः) निश्चित ही प्रकाशित एवं अप्रकाशित दोनों ही प्रकार के पदार्थों पर (ईक्षे) शासन करती हैं अर्थात् सभी प्रकार के पदार्थ विद्युत् के द्वारा ही नियन्त्रित और संचालित होते हैं।

तदनन्तर १७४वें पद 'क्षोणस्य' का निर्वचन करते हुए लिखते हैं— 'क्षोणस्य क्षयणस्य' यहाँ 'क्षयणम्' पद 'क्षि निवासगत्योः' धातु से निष्पन्न होता है। यद्यपि यह पद 'क्षि हिंसायाम्' धातु से भी व्युत्पन्न हो सकता है, परन्तु ग्रन्थकार ने इसे निवास और गति अर्थ वाला ही स्वीकार किया है। इस कारण 'क्षोणस्य' का अर्थ है— निवास वा गति करते हुए के। इसका निगम प्रस्तुत करते हुए लिखा है— 'महः क्षोणस्याश्विना कण्वाय ....(अदत्तम्)'। इस मन्त्र का देवता अश्विनौ और छन्द विराट् त्रिष्टुप् होने से व्यापक प्रकाशित और अप्रकाशित कण विविध रूप में प्रकाशित और बलयुक्त होते हैं। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(अश्विनौ) विभिन्न प्रकाशित और अप्रकाशित लोकों वा कणों में विद्यमान प्राणापान रश्मियाँ (कण्वाय, महः, क्षोणस्य, अदत्तम्) सूत्रात्मा वायु रश्मियों के लिए व्यापक स्थान प्रदान करती हैं। इससे यह संकेत मिलता है कि विभिन्न प्रकार के प्रकाशित वा अप्रकाशित

कणों के संयोजन की प्रक्रिया के समय सूत्रात्मा वायु रश्मियों के संयोजन कर्म में प्राण एवं अपान रश्मियों तथा अर्थापत्ति से व्यान रश्मियों की भी अनिवार्य भूमिका होती है।

* * * * *

सप्तमः खण्डः

अस्मे ते बन्धुः। [यजु.४.२२] वयमित्यर्थः।
अस्मे यातं नासत्या सजोषाः। [ऋ.१.११८.११] अस्मानित्यर्थः।
अस्मे समानेभिर्वृषभ पौंस्येभिः। [ऋ.१.१६५.७] अस्माभिरित्यर्थः।
अस्मे प्र यन्धि मघवन्नृजीषिन्। [ऋ.३.३६.१०] अस्मभ्यमित्यर्थः।
अस्मे आराच्चिद् द्वेषः सनुतर्युयोतु। [ऋ.६.४७.१३] अस्मदित्यर्थः।
ऊर्व इव पप्रथे कामो अस्मे। [ऋ.३.३०.१९] अस्माकमित्यर्थः।
अस्मे धत्त वसवो वसूनि। [यजु.८.१८] अस्मास्वित्यर्थः।

यहाँ इन सभी सात उदाहरण रूप निगमों में १७५वाँ 'अस्मे' पद क्रमशः सातों विभक्तियों में प्रयुक्त हुआ है, जिसमें से प्रथम निगम इस प्रकार है— 'अस्मे ते बन्धुः'।

यहाँ 'अस्मे' पद 'वयम्' अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। इस मन्त्र का देवता वाक् एवं विद्युत् है तथा छन्द ब्राह्मी पंक्ति होने से इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से वाक् रश्मियाँ एवं विद्युत् व्यापक रूप से विस्तृत होने लगते हैं। इसका आधिदैविक अर्थ इस प्रकार है—

(अस्मे, ते, बन्धुः) 'वयम्' हम अर्थात् इस छन्द रश्मि की कारणभूत वत्स संज्ञक रश्मियाँ [वत्सः = स्वव्याप्त्या सर्वाऽऽच्छादकः (म.द.ऋ.भा.१.९५.४), अयमेव वत्सो योऽयं पवते (श.ब्रा.१२.४.१.११)] अर्थात् सूत्रात्मा वायु रश्मियाँ विभिन्न वाक् रश्मियों और विद्युत् को बाँधने वा संगत करने वाली होती हैं।

अब अगला निगम इस प्रकार है, जहाँ 'अस्मे' पद 'अस्मान्' अर्थ में प्रयुक्त हुआ है— '(आ) अस्मे यातं नासत्या सजोषाः'। इस मन्त्र का देवता अश्विनौ और छन्द भुरिक्

पंक्ति होने से इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से प्रकाशित व अप्रकाशित कण वा लोक अपने बाहुरूप बलों के साथ विस्तृत होने लगते हैं। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(अस्मे) 'अस्मान्' अर्थात् इस छन्द रश्मि की कारणभूत कक्षीवान् रश्मियों, जिनके विषय में हम पूर्व में लिख चुके हैं, को (नासत्या, सजोषाः, आ, यातम्) परस्पर एक-दूसरे के साथ संगमनीय प्रकाशित व अप्रकाशित कणों वा लोकों, [सत्यम् = असावादित्यः सत्यम् (तै.ब्रा.२.१.११.१), तद्यत्तत्सत्यम् असौ स ऽआदित्यः (श.ब्रा.६.७.१.२)] जो सूर्यादि लोकों में विद्यमान होते हैं, के साथ सब ओर से संगत किया जाता है अर्थात् कक्षीवान् रश्मियाँ उन लोकों वा कणों को परस्पर संगत करने लगती हैं।

अब 'अस्मे' पद का तीसरा निगम इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है— 'अस्मे समानेभिर्वृषभ पौंस्येभिः ... (चकर्थ)'। यहाँ 'अस्मे' पद तृतीया विभक्ति अर्थात् 'अस्माभिः' अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। इस मन्त्र का ऋषि अगस्त्य है अर्थात् इस छन्द रश्मि की उत्पत्ति बाधक रश्मियों की बाधा से सर्वथा मुक्त अगस्त्य संज्ञक सूक्ष्म प्राण विशेष से उत्पन्न विशेष प्रकार की रश्मियों से होती है। इसका देवता इन्द्र और छन्द भुरिक् पंक्ति होने से इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से इन्द्रतत्त्व अपने बाहुरूप बलों के साथ विस्तृत होने लगता है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(समानेभिः, पौंस्येभिः, अस्मे, वृषभ) हमारे अर्थात् उपर्युक्त अगस्त्य संज्ञक सूक्ष्म ऋषि प्राण रश्मियों के द्वारा वह बलवान् इन्द्रतत्त्व उन्हीं के समान निर्बाध बल को प्राप्त करता है। इसका अर्थ यह है कि ये ऋषि रश्मियाँ जैसी बलवती होती हैं अर्थात् जैसे-२ उनकी तीव्रता बढ़ती वा घटती है, वैसे-२ इस छन्द रश्मि के प्रभाव से इन्द्रतत्त्व का भी प्रभाव बढ़ता वा घटता रहता है।

अब अगला निगम 'अस्मे' पद का ही प्रस्तुत करते हुए लिखते हैं— 'अस्मे प्र यन्धि मघवन्नृजीषिन् ... (रायः)'। यहाँ 'अस्मे' पद चतुर्थी विभक्ति में प्रयुक्त 'अस्मभ्यः' अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। इस मन्त्र का ऋषि विश्वामित्र है। इसका अर्थ यह है कि इस छन्द रश्मि की उत्पत्ति सबके साथ संगत होने के स्वभाव वाली विश्वामित्र संज्ञक अनुष्टुप् छन्द रश्मियों से होती है अथवा 'वेदविज्ञान-आलोकः' ७.१६.१ में वर्णित विश्वामित्र संज्ञक पंक्ति छन्द रश्मियों से इसकी उत्पत्ति होती है। इसका देवता इन्द्र और छन्द त्रिष्टुप् होने से

इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से इन्द्रतत्त्व तीव्र तेज और बल से युक्त होता है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(मघवन्, ऋजीषिन्) वज्र रश्मियों से युक्त इन्द्रतत्त्व [ऋजीषी = ऋजीषी वज्री (ऋ.५.४०.४)] (अस्मे) 'अस्मभ्यः' उपर्युक्त विश्वामित्र संज्ञक विभिन्न प्रकार की रश्मियों के लिए अर्थात् उन रश्मियों को (रायः, प्र, यन्धि) [रायः = धननाम (निघं. २.१०), पशवो वै रायः (श.ब्रा.३.३.१.८)] विभिन्न छन्द रश्मियाँ, मरुत् रश्मियाँ वा सूक्ष्म कण प्रदान करता है अर्थात् वे विश्वामित्र संज्ञक रश्मियाँ अन्य छन्द व मरुत् रश्मियों वा सूक्ष्म कणों से युक्त होने लगती हैं। इसके कारण उन सभी पदार्थों में संगतिकरण की प्रक्रिया तीव्र होने लगती है।

तदुपरान्त 'अस्मे' पद का अगला निगम इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है— '(इन्द्रः) अस्मे आराच्चिद् द्वेषः सनुतर्युयोतु'। यहाँ 'अस्मे' पद पञ्चमी विभक्ति अर्थात् 'अस्मत्' अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। इस मन्त्र का ऋषि गर्ग है। [गर्गः = गृणात्युपदिशतीति गर्गः (उ.को.१.१२८)] इसका अर्थ यह है कि इसकी उत्पत्ति ऐसे सूक्ष्म प्राण रश्मियों से होती है, जो मन्द दीप्ति वाले होकर नाना रश्मि आदि पदार्थों को नियन्त्रित वा मार्गदर्शित करते हैं। इसका देवता इन्द्र और छन्द भुरिक् पंक्ति होने से इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से इन्द्रतत्त्व अपने बाहुरूप सामर्थ्य के साथ विस्तृत होता है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(अस्मे, आरात्, चित्) 'अस्मत्' इसकी कारणरूप गर्ग ऋषि रश्मियों से दूर भी एवं निकट भी (इन्द्रः, द्वेषः, सनुतः, युयोतु) [सनुतः = सततम् (म.द.ऋ.भा.१.९२.११)] वह इन्द्र तत्त्व प्रतिकर्षक असुरादि पदार्थों को निरन्तर दूर करता वा नष्ट करता रहता है, जिसके कारण इन ऋषि रश्मियों से उत्पन्न छन्द रश्मियों से प्रभावित विभिन्न पदार्थ असुरादि बाधक पदार्थों से मुक्त रहते हैं।

तदनन्तर 'अस्मे' पद का छठा निगम प्रस्तुत करते हुए लिखते हैं— '(इन्द्र) ऊर्व इव पप्रथे कामो अस्मे'। यहाँ 'अस्मे' पद 'अस्माकम्' अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। इस मन्त्र का ऋषि विश्वामित्र है, जिसका तात्पर्य पूर्ववत् समझ सकते हैं। इसका देवता इन्द्र और छन्द त्रिष्टुप् होने से इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से इन्द्रतत्त्व तीव्र तेजस्वी और बलयुक्त होता है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(इन्द्र, ऊर्व, इव) [ऊर्वम् = दोषहिंसनम् (म.द.ऋ.भा.१.७२.८), आच्छादकम् (म.द.ऋ. भा.४.२८.५)] वह इन्द्रतत्त्व आच्छादक एवं अनिष्ट पदार्थों को नष्ट करने वाले अग्नितत्त्व के समान अथवा अग्नि के द्वारा अनिष्ट पदार्थ के दूर होते ही (अस्मे, पप्रथे) विभिन्न प्रकार के आकर्षण बलों को सब ओर फैलाने लगता है। इसका अर्थ यह है कि शोधक अग्नि के प्रबल होने पर इन्द्रतत्त्व के बल समृद्ध और विस्तृत होते हैं।

अब 'अस्मे' पद का अन्तिम और सातवाँ निगम इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है— 'अस्मे धत्त वसवो वसूनि'। यहाँ 'अस्मे' पद सप्तमी विभक्ति अर्थात् 'अस्मासु' अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। इस मन्त्र का ऋषि अत्रि है। इसका अर्थ यह है कि इस छन्द रश्मि की उत्पत्ति सबमें सतत व्याप्त सूत्रात्मा वायु रश्मियों से होती है। इसका देवता गृहपति और छन्द त्रिष्टुप् होने से इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से [गृहपतिः = असौ वै गृहपतिर्योऽसौ तपत्येष पतिः ऋतवो गृहाः (ऐ.ब्रा.५.२५), अग्निर्गृहपतिरिति हैक आहुः सोऽस्य लोकस्य गृहपतिः (ऐ.ब्रा.५.२५)] सूर्यलोक में अग्नितत्त्व तीव्र तेज व बल से युक्त होता है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(वसवः, अस्मे, वसूनि, धत्त) [वसुः = पशवो वै वसुः (तां.ब्रा.७.१०.१७), यज्ञो वै वसुः (श.ब्रा.१.७.१.९), रश्मिनाम (निघं.१.५), धननाम (निघं.२.१०)] सूर्यलोक के अन्दर विद्यमान अग्नि विभिन्न कणों वा रश्मियों को सूत्रात्मा वायु रश्मियों में स्थापित करता है। इसका अर्थ यह है कि जब सूर्य के अन्दर ऊष्मा की मात्रा अत्यधिक हो जाती है, तब विभिन्न रश्मियाँ सूक्ष्म कणों को सूत्रात्मा वायु रश्मियों के साथ संयुक्त करके उनके संयोजन की प्रक्रिया को समृद्ध करती हैं।

पाथोऽन्तरिक्षम्। पथा व्याख्यातम्।

श्येनो न दीयन्नन्वेति पाथः। [ऋ.७.६३.५] इत्यपि निगमो भवति।

उदकमपि पाथ उच्यते। पानात्।

आ चष्ट आसां पाथो नदीनाम्। [ऋ.७.३४.१०] इत्यपि निगमो भवति।

अन्नमपि पाथ उच्यते। पानादेव।

देवानां पाथ उप वक्षि विद्वान्। [ऋ.१०.७०.१०] इत्यपि निगमो भवति।

सवीमनि प्रसवे।

देवस्य वयं सवितुः सवीमनि। [ऋ.६.७१.२] इत्यपि निगमो भवति।

सप्रथाः सर्वतः पृथुः।

त्वमग्ने सप्रथा असि। [ऋ.५.१३.४] इत्यपि निगमो भवति।

विदथानि वेदनानि।

विदथानि प्र चोदयन्। [ऋ.३.२७.७] इत्यपि निगमो भवति॥ ७॥

अब १७६वें पद 'पाथः' का निर्वचन करते हुए लिखते हैं— 'पाथोऽन्तरिक्षम् पथा व्याख्यातम्' अर्थात् 'पाथः' अन्तरिक्ष को कहते हैं। इसकी व्याख्या 'पथिन्' शब्द के अनुसार होती है। इसकी व्याख्या २.२८ में की जा चुकी है, जहाँ कहा गया है— 'पन्थाः पततेर्वा पद्यतेर्वा पन्थतेर्वा'। इसकी व्याख्या वहीं देखें। इस व्याख्या से अन्तरिक्ष वा आकाशतत्त्व के स्वरूप का भी स्पष्ट बोध हो रहा है। इस व्याख्या का सम्बन्ध ग्रन्थकार ने अन्तरिक्षवाची 'पाथः' पद की व्याख्या से जोड़ा है, ऐसा करना न तो अनावश्यक है और न कोई साधारण बात। वस्तुतः यहाँ 'पथिन्' शब्द की 'पाथः' से तुलना करने से निम्नानुसार अनेक अर्थ प्रकट होते हैं, जिससे 'पाथः' अर्थात् आकाशतत्त्व के स्वरूप के निम्न गुण प्रकट होते हैं—

१. आकाश सभी कणों व तरंगादि पदार्थों का मार्ग है अर्थात् वे आकाश के अभाव में न तो गमन कर सकते हैं और न ठहर ही सकते हैं।

२. आकाशतत्त्व के सूक्ष्म अवयव पदार्थों की ओर गिरते वा झुकते रहते हैं। इसके साथ ही सभी पदार्थ आकाश में ही किंवा आकाश रूपी आधार पर गमन करते हैं। उसके उतार-चढ़ाव के अनुसार ही उन सभी पदार्थों का मार्ग निर्धारित होता है।

३. आकाशतत्त्व स्वयं भी विभिन्न बलों के कारण कम्पन करता वा स्थानान्तरित होता रहता है अर्थात् यह भी सघन वा विरल होता रहता है वा हो सकता है। यहाँ स्थानान्तरण का अर्थ प्रायः हिलना-डुलना मानना चाहिए।

४. आकाशतत्त्व की सूक्ष्म इकाईयाँ अपने ही अक्ष पर घूर्णन करती रहती हैं।

'पाथः' पद का निगम इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है— 'श्येनो न दीयन्नन्वेति पाथः ... (मित्रावरुणा)'। इस मन्त्र का देवता सूर्य तथा मित्रावरुण है। इसका छन्द निचृत्

त्रिष्टुप् होने से इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से सूर्यलोक के अन्दर प्रकाशित एवं अप्रकाशित कण तीक्ष्ण तेज और बल से युक्त होकर सूर्य को तेजस्वी बनाते हैं। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(मित्रावरुणा, श्येनः, न) [श्येनः = श्येन आदित्यो भवति श्यायतेर्गतिकर्मणः (निरु.१४.१३), श्येनो वै वयसां क्षेपिष्ठ (ष.ब्रा.४.२)] तेजस्वी और बलवान् सूर्यलोक के समान ही प्राणापान वा प्राणोदान रश्मियाँ एवं प्रकाशित और अप्रकाशित कण वा तरंगें (पाथः, दीयन्, अनु, एति) तीव्र तेज और बल से युक्त होकर [दीयन् = दीयति गतिकर्मा (निघं.२.४)] गति करते हुए आकाश के मार्गों का अथवा आकाश में बने मार्गों का अनुसरण करते हैं। इसका अर्थ यह है कि अन्तरिक्ष में जब सूर्यलोक किसी विशाल लोक का परिक्रमण कर रहा होता है, उस समय प्राणापान रश्मियाँ एवं कुछ प्रकाशित एवं अप्रकाशित कणों की धाराएँ सूर्यलोक का अनुसरण करती हैं अथवा प्राणापान द्वारा बनाये मार्गों पर सूर्यलोक गमन करता है। ये मार्ग आकाश में ही विद्यमान होते हैं।

अब 'पाथः' पद का दूसरा निर्वचन करते हुए लिखते हैं— 'उदकमपि पाथ उच्यते पानात्' अर्थात् उदक को भी 'पाथः' कहा जाता है, क्योंकि इसे पीया जाता है। इसका आशय यह है कि तरल पदार्थ को भी 'पाथः' कहते हैं, क्योंकि इनका अवशोषण किया जाता है। इसका निगम इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है— 'आ चष्ट आसां पाथो नदीनाम् ... (वरुणः)'। इसका देवता विश्वेदेवा तथा छन्द निचृत् त्रिपाद् गायत्री है। हमारे मत में इसका देवता वरुण है। इस कारण इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से वरुण अर्थात् सूर्यलोक तेजस्वी श्वेतवर्णीय होने लगता है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(वरुणः) सूर्यलोक का सर्वोत्कृष्ट भाग अर्थात् मध्य भाग (आसाम्, नदीनाम्, पाथः) सूर्यलोक में विद्यमान इन नदियों के अन्दर बहने वाले तरल पदार्थ को (आ, चष्टे) देखता है अर्थात् अपनी ओर आकृष्ट करता रहता है।

तदनन्तर 'पाथः' का तीसरा निर्वचन करते हुए लिखते हैं— 'अन्नमपि पाथ उच्यते पानादेव' अर्थात् संयोज्य पदार्थ भी 'पाथः' कहलाते हैं, क्योंकि वे एक-दूसरे को संयुक्त करते रहते हैं। इसका निगम इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है— 'देवानां पाथ उप वक्षि विद्वान् ... (देवः)'। इस मन्त्र का देवता आप्रियः तथा छन्द निचृत् त्रिष्टुप् है। [आप्रियः = प्राणा वा आप्रियः (कौ.ब्रा.१८.१२)] इस कारण इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से

विभिन्न प्राण रश्मियाँ तीव्र तेज से युक्त होती हैं। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(देवः, देवानाम्, पाथः, विद्वान्) कोई देव कण अन्य देव कणों के द्वारा संयोज्य होने पर अर्थात् जब किसी कण को अन्य कण अपनी ओर आकृष्ट कर रहे होते हैं, उस समय वह कण (उप, वक्षि) उन कणों के समीप पहुँचने हेतु गमन करने लगता है अथवा जब विभिन्न कणों के द्वारा अवशोष्य रश्मि आदि पदार्थ उनके निकट उत्पन्न वा विद्यमान होता है, तब विभिन्न कण उस अवशोष्य पदार्थ की ओर बहने लगते हैं।

तदनन्तर १७७वें पद 'सवीमनि' का निर्वचन करते हुए लिखते हैं— 'सवीमनि प्रसवे' अर्थात् 'सवीमनि' पद 'सू प्रेरणे' और 'सूङ् प्राणिगर्भविमोचने' इन दो धातुओं से व्युत्पन्न प्रसवे अर्थ में प्रयुक्त होता है अर्थात् प्रेरण, उत्पादन और उड्डयन अर्थ की सप्तमी विभक्ति एकवचन में इस 'सवीमनि' पद का प्रयोग हुआ है। इसका निगम इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है— 'देवस्य वयं सवितुः सवीमनि'। इस मन्त्र का देवता सविता और छन्द निचृत् जगती होने से इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से सूर्यलोक की किरणें तेजी से फैलने लगती हैं। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(वयम्) हम अर्थात् इस छन्द रश्मि की कारणभूत ऋषि रश्मियाँ [इसका ऋषि बार्हस्पत्य भरद्वाज है अर्थात् इस छन्द रश्मि की उत्पत्ति सूत्रात्मा वायु से उत्पन्न प्राण नामक प्राण रश्मियों से होती है।] अर्थात् प्राण रश्मियाँ (देवस्य, सवितुः, सवीमनि) सबके प्रकाशक और प्रेरक सूर्यलोक की उत्पत्ति, प्रेरणा अर्थात् बल एवं उसके अन्दर उत्पन्न होने वाले नाना प्रकार के कणों की उत्पत्ति प्रक्रिया में अपनी महती एवं अनिवार्य भूमिका निभाती हैं।

तदनन्तर १७८वें पद 'सप्रथाः' का निर्वचन करते हुए लिखते हैं— 'सप्रथाः सर्वतः पृथुः' अर्थात् जो पदार्थ सब ओर फैला हुआ होता है, वह सप्रथाः कहलाता है। इसका निगम इस प्रकार उद्धृत किया है— 'त्वमग्ने सप्रथा असि'। इस मन्त्र का देवता अग्नि और छन्द निचृत् गायत्री होने से इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से अग्नितत्त्व तीक्ष्ण एवं श्वेतवर्णयुक्त होता है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(त्वम्, अग्ने, सप्रथाः, असि) वह अग्नितत्त्व इस सृष्टि में सब ओर फैला हुआ है अर्थात् वह सर्वत्र व्याप्त है, कहीं प्राण तत्त्व के रूप में, कहीं ऊष्मा, विद्युत् व प्रकाश के रूप में।

तदनन्तर १७९वें पद 'विदथानि' का निर्वचन करते हुए लिखते हैं— 'विदथानि

वेदनानि' अर्थात् विज्ञानपूर्वक सत्ता वाले पदार्थ ही विदथानि कहलाते हैं। यहाँ इसका निगम इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है— '(देवः) विदथानि प्रचोदयन्'। इस मन्त्र का देवता अग्नि और छन्द निचृत् गायत्री होने से इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से अग्नितत्त्व तीक्ष्ण श्वेतवर्णयुक्त होता है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(देवः, विदथानि, प्र, चोदयन्) दिव्य वाक् तत्त्व अथवा 'ओम्' रश्मियाँ विज्ञानपूर्वक इस सृष्टि में सूक्ष्म से लेकर सूक्ष्मतम और स्थूल से लेकर स्थूलतम सभी जड़ पदार्थों को निरन्तर एवं अच्छी प्रकार प्रेरित करती रहती हैं। 'ओम्' रश्मियों का साक्षात् सम्बन्ध निरन्तर ही ईश्वर से होने के कारण इनमें ज्ञान गुण सदैव रहता है। इसी कारण सम्पूर्ण सृष्टि में सभी कार्य ज्ञानपूर्वक ही होते हैं।

* * * * *

अष्टमः खण्डः

श्रायन्त इव सूर्यं विश्वेदिन्द्रस्य भक्षत।
वसूनि जाते जनमान ओजसा प्रति भागं न दीधिम॥ [ऋ.८.९९.३]
समाश्रिताः सूर्यमुपतिष्ठन्ते। अपि वोपमार्थे स्यात्।
सूर्यमिवेन्द्रमुपतिष्ठन्त इति। सर्वाणीन्द्रस्य धनानि विभक्ष्यमाणाः।
स यथा धनानि विभजति जाते च जनिष्यमाणे च। तं वयं भागमनुध्यायाम्।
ओजसा बलेन। ओज ओजतेर्वा। उब्जतेर्वा।
आशीराश्रयणाद्वा। आश्रपणाद्वा। अथेयम् इतराशीराशास्तेः।
इन्द्राय गाव आशिरम्। [ऋ.८.६९.६] इत्यपि निगमो भवति।
सा मे सत्याशीर्देवेषु। [तै.सं.३.२.७] इति वा।

तदनन्तर १८०वें पद 'श्रायन्तः' का निगम इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है—

श्रायन्त इव सूर्यं विश्वेदिन्द्रस्य भक्षत।

वसूनि जाते जनमान ओजसा प्रति भागं न दीधिम॥

इस मन्त्र का ऋषि नृमेध है। [नृ = नरो ह वै देवविशः (जै.ब्रा.१.९०)। देवविशः = मरुतो ह वै देवविशोऽन्तरिक्षभाजना ईश्वराः (कौ.ब्रा.७.८)] इसका अर्थ यह है कि यह छन्द रश्मि आकाश में विद्यमान नियन्त्रक शक्तिसम्पन्न विभिन्न प्रकार की मरुत् रश्मियों के संगमन अथवा इनको संगत करने वाली प्राण रश्मि विशेष से उत्पन्न होती है। इसका देवता इन्द्र और छन्द निचृत् बृहती होने से इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से इन्द्रतत्त्व तीक्ष्णता से पदार्थ का संघनन करने लगता है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(श्रायन्तः, इव, सूर्यम्) 'समाश्रिताः सूर्यमुपतिष्ठन्ते अपि वोपमार्थे स्यात्' विभिन्न पदार्थ सूर्य की रश्मियों पर आश्रित रहकर सूर्य में ठहरे हुए होते हैं अर्थात् सूर्य के अन्दर जो भी कण विद्यमान होते हैं, उनके साथ सूर्य की रश्मियाँ अवश्य संगत रहती हैं। यहाँ 'इव' पद पदपूरण हेतु ही प्रयुक्त हुआ है। यहाँ ग्रन्थकार इसके विकल्प में 'इव' पद को उपमा अर्थ में भी स्वीकार करते हैं। (विश्वा, इत्, इन्द्रस्य, भक्षत) 'सूर्यमिवेन्द्रमुपतिष्ठन्त इति सर्वाणीन्द्रस्य धनानि विभक्ष्यमाणाः' सूर्य की किरणों के समान ही अथवा सूर्य की किरणों के साथ-२ वे सभी कण इन्द्र अर्थात् विद्युत् के निकट भी रहते हैं। विद्युत् के निकट रहने वाले वे सभी कणादि पदार्थ विखण्डित भी होते रहते हैं अथवा विखण्डनीय होते हैं अथवा वे कण विद्युत् के सानिध्य से नाना प्रकार के उपयोग में आते रहते हैं।

(वसूनि, जाते, जनमाने) 'स यथा धनानि विभजति जाते च जनिष्यमाणे च' वे इन्द्र एवं अग्नि जब विभिन्न कणों का विभाजन कर रहे होते हैं, उस समय वे उत्पन्न हो चुके कणों अर्थात् विद्यमान कणों एवं उत्पन्न होने वाले कणों को परस्पर पृथक् करते रहते हैं। ऐसा वे इन्द्र और अग्नि कैसे करते हैं, यह मन्त्र के चतुर्थ पाद में स्पष्ट किया है। (ओजसा, प्रति, भागम्, न, दीधिम) 'तं वयं भागमनुध्यायाम् ओजसा बलेन ओज ओजतेर्वा उब्जतेर्वा' [ध्यामा = ध्यायते स ध्यामा, परिमाणं तेजो वा (उ.को.४.१५२), यहाँ 'ध्यै चिन्तायाम्' धातु प्रकाशित करने के अर्थ में प्रयुक्त है।] उन विभक्त हुए पदार्थों के प्रत्येक भाग को उपर्युक्त नृमेध संज्ञक रश्मियाँ अपने अनुकूल अथवा अपने समान प्रकाशित करने लगती हैं या प्रकाशित करती हैं। यह कैसे करती हैं, इसके लिए लिखा कि ये रश्मियाँ अपने ओज बल के द्वारा ऐसा करती है। यहाँ 'ओजः' पद 'ओज शक्तौ' एवं 'उब्ज आर्जवे' इन दो धातुओं से व्युत्पन्न होता है। 'उब्ज आर्जवे' धातु का अर्थ दबाना एवं दमन करना भी है।

इससे यह संकेत मिलता है कि वे रश्मियाँ इन्द्र और अग्नि के माध्यम से उन कण आदि पदार्थों को अपने शक्तिशाली संपीडक बलों के द्वारा ही प्रदीप्त करती हैं।

भावार्थ— सूर्य के अन्दर विद्यमान विभिन्न कणों के साथ सूर्य रश्मियाँ अवश्य संगत रहती हैं। वे कण विद्युत् आवेशयुक्त होते हैं। इस कारण वे नाना प्रकार की संयोग-वियोग की प्रक्रियाओं में संलग्न रहते हैं। विद्युत् और ऊष्मा पदार्थ के सम्पीडन में अपनी भूमिका निभाती हैं।

तदनन्तर १८१वें पद 'आशीः' का निर्वचन करते हुए लिखते हैं— 'आशीरा-श्रयणाद्वा आश्रपणाद्वा अथेयम् इतराशीराशास्तेः' अर्थात् जो पदार्थ अन्य पदार्थों को आश्रय देते हैं अथवा उन्हें परिपक्व बनाते हैं, वे 'आशीः' कहलाते हैं। इनके विषय में महर्षि तित्तिर का कथन है— 'मित्रावरुणावाशिषा सहागच्छताम्' (तै.आ.३.८.१) अर्थात् मित्र एवं वरुण, जो क्रमशः प्रकाशित एवं अप्रकाशित पदार्थों का नाम है, आशीः संज्ञक विभिन्न प्राण एवं छन्दादि रश्मियों के साथ ही गमन करते हैं। जिस प्रकार यहाँ आश्रय देने वाले को 'आशीः' कहा है, उसी प्रकार 'श्रीः' पद का अर्थ भी आश्रय देने वाला होता है, जिसके विषय में कहा है— 'अथ यत् प्राणाऽ अश्रयन्त तस्मादु प्राणाः श्रियः' (श.ब्रा.६.१.१.४), 'श्रीर्वै पशवः श्री शक्वर्यः' (तां.ब्रा.१३.२.२)।

ये आशीः संज्ञक प्राण व छन्दादि रश्मियाँ न केवल विभिन्न पदार्थों को आश्रय देती हैं, अपितु उन्हें परिपक्व बनाकर नाना प्रकार के कर्मों को करने में सक्षम भी बनाती हैं। यही नहीं उन पदार्थों का निर्माण भी इन्हीं के द्वारा होता है, इसलिए भी इन्हें आशीः कहते हैं। यहाँ पकाना क्रिया महत्त्वपूर्ण है। जिस प्रकार पकाया हुआ आलू खाने योग्य होता है, उसी प्रकार विभिन्न कण एवं तरंगें उत्पन्न होकर इतनी ऊर्जा को प्राप्त कर लेती हैं, जिससे कि वे कण वा तरंगें वांछित कर्मों को करने में समर्थ हो जाती हैं। इस प्रक्रिया को ही उनका परिपक्व होना माना जाता है।

यहाँ ग्रन्थकार 'आशीः' पद का अन्य अर्थ भी करते हैं, जो आङ्पूर्वक 'शासु इच्छायाम्' धातु से निष्पन्न होने पर निकलता है अर्थात् जो पदार्थ सब ओर से अन्य पदार्थों को आकृष्ट करने वाले होते हैं, वे आशीः कहलाते हैं। यहाँ इच्छा का अर्थ आकर्षण करना समझना चाहिए।

'आशीः' पद का निगम इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है— 'इन्द्राय गाव आशिरम् ... (दुदुह्रे)'। इस मन्त्र का देवता इन्द्र और छन्द गायत्री होने से इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से इन्द्रतत्त्व तेजस्वी श्वेतवर्णयुक्त होता है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(गावः, इन्द्राय, आशिरम्, दुदुह्रे) [गौः = अन्नमु गौः (श.ब्रा.७.५.२.१९), अन्तरिक्षं गौः (ऐ.ब्रा.४.१५), गावो वा आदित्याः (ऐ.ब्रा.४.१७)] विभिन्न संयोज्य कण, प्रकाशाणु वा आकाशतत्त्व वैद्युत बल उत्पन्न करने के लिए विभिन्न प्रकार की प्राण व छन्दादि रश्मियों को दुहते हैं अर्थात् इन रश्मियों को उत्पन्न करके उन कणादि पदार्थों को उनसे परिपूर्ण करते हैं।

'आशीः' पद का एक निगम और प्रस्तुत करते हैं— 'सा मे सत्याशीर्देवेषु.... (भूयात्)।' इसका देवता विश्वेदेवा है। इसका अर्थ यह है कि यह छन्द रश्मि विभिन्न प्रकार की प्राण रश्मियों से उत्पन्न होती है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(मे, सा, सत्या, आशीः, देवेषु) विभिन्न देव कणों में निरन्तर विद्यमान प्राण एवं छन्दादि रश्मियाँ अन्य देव कणों में (भूयात्) संचरित वा प्रतिष्ठित होती रहती हैं अर्थात् दो विभिन्न संयोज्य कणों के मध्य दोनों के अन्दर विद्यमान प्राण व छन्दादि रश्मियाँ एक-दूसरे की ओर निरन्तर संचरित होती रहती हैं।

यदा ते मर्तो अनु भोगमानळादिद् ग्रसिष्ठ ओषधीरजीगः।

[ऋ.१.१६३.७]

यदा ते मर्तो भोगमन्वापदथ ग्रसितृतम ओषधीरगारीः।
जिगर्तिर्गिरतिकर्मा वा। गृणातिकर्मा वा। गृह्णातिकर्मा वा।
मूरा अमूर न वयं चिकित्वो महित्वमग्ने त्वमङ्ग वित्से॥ [ऋ.१०.४.४]
मूढा वयं स्मः। अमूढस्त्वमसि। न वयं विद्मो महत्त्वमग्ने।
त्वं तु वेत्थ। शशमानः शंसमानः।
यो वां यज्ञैः शशमानो ह दाशति। [ऋ.१.१५१.७]
इत्यपि निगमो भवति।

देवो देवाच्या कृपा। [ऋ.१.१२७.१]
देवो देवान्प्रत्यक्तया कृपा। कृप् कृपतेर्वा। कल्पतेर्वा॥ ८॥

अब १८२वें पद 'अजीगः' का निगम इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है— 'यदा ते मर्तो अनु भोगमानळादिद् ग्रसिष्ठ ओषधीरजीगः'। इस मन्त्र का देवता अश्व अग्नि है तथा छन्द त्रिष्टुप् है। इस कारण इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से आशुगामी अग्नि तीव्र तेज और बल से युक्त होता है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(यदा, ते, मर्तः) 'यदा ते मर्तः' जब आशुगामी अग्नि के साथ विद्यमान मनुष्य नामक प्राक् वर्णित कण (भोगम्, अनु, अनाट्, आत्, इत्, ग्रसिष्ठः) 'भोगमन्वापदथ ग्रसितृतम' उस अग्नि को अवशोषण हेतु प्राप्त कर लेते हैं, तब वे कण अग्नि को बहुत अधिक अवशोषित करके तप्त हो उठते हैं।

(ओषधीः, अजीगः) 'ओषधीरगारीः जिगर्तिर्गिरतिकर्मा वा गृणातिकर्मा वा गृह्णातिकर्मा वा' ऐसे मनुष्य नामक कण तीव्र अवशोषण शक्ति से सम्पन्न होकर [ओषधीः = औषधो वै सोमो राजा (ऐ.ब्रा.३.४०), सौम्याऽऔषधयः (श.ब्रा.१२.१.१.२)] सोम रश्मियों को अवशोषित करने लगते हैं। उन्हें अपनी ओर आकृष्ट करने लगते हैं और ऐसा करते समय ध्वनि और प्रकाश को भी उत्पन्न करते हैं।

इस प्रकार यहाँ 'अजीगः' पद का तीन प्रकार से निर्वचन किया गया है—

१. पदार्थ को निगलने वाला।
२. प्रकाश वा ध्वनि उत्पन्न करने वाला।
३. ग्रहण वा आकर्षण करने वाला।

अब १८३वें पद 'अमूरः' का जो निगम यहाँ प्रस्तुत किया है, उसे हम सम्पूर्ण रूप में प्रस्तुत करते हैं—

मूरा अमूर न वयं चिकित्वो महित्वमग्ने त्वमङ्ग वित्से।
शये वव्रिश्चरति जिह्वयादन्रेरिह्यते युवतिं विश्पतिः सन्॥

इस मन्त्र का ऋषि 'आप्त्यस्त्रितः' है। इसका अर्थ यह है कि [आप्त्यः = आप्त्यम् = आप्तव्यम् (निरु.११.२१)] इस छन्द रश्मि की उत्पत्ति प्राणापानव्यान रश्मियों के त्रित

की व्याप्ति से होती है अर्थात् इस त्रिक् से ही इसकी उत्पत्ति होती है। इस मन्त्र का देवता अग्नि तथा छन्द निचृत् त्रिष्टुप् होने से इसके दैवत व छान्दस प्रभाव से अग्नितत्त्व तीक्ष्ण तेज व बल से युक्त होता है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(चिकित्वः, अमूर, अग्ने, त्वम्) 'अमूढस्त्वमसि अग्ने' [अग्निः = वागेवाग्निः (श.ब्रा.३.२.२.१३), आत्मैवाग्निः (श.ब्रा.६.७.१.२०), पुरुषोऽग्निः (श.ब्रा.१०.४.१.६)] परमात्म चेतना से उत्पन्न 'ओम्' रश्मियाँ चेतना और ज्ञानयुक्त व्यवहार करती हैं। इस कारण वे कभी भी भ्रान्त नहीं होतीं। सम्पूर्ण सृष्टि में सभी क्रियाएँ ज्ञानपूर्वक ही होती हैं, उसका कारण ये रश्मियाँ ही हैं, जिन्हें यहाँ अग्नि कहा गया है।

(वयम्, मूराः, न, महित्वम्) 'मूढा वयं स्मः न वयं विद्मो महत्त्वम्' हम अर्थात् इस छन्द रश्मि की कारणभूत प्राणापानव्यान रूपी त्रिक बिना 'ओम्' रश्मियों के मूढ़ अर्थात् भ्रान्त होता है। इसका अर्थ यह है कि 'ओम्' रश्मियों के बिना ये तीन प्राण रश्मियाँ न तो सक्रिय होती हैं और न ज्ञानपूर्वक सृष्टिरचना की दिशा में वे बढ़ने में ही समर्थ होती हैं और न वे अपने महत्त्व अर्थात् अपने प्राणत्व को [महान् = प्राण ऽएव महान् (श.ब्रा.१०.४.१.२३)] ही प्राप्त कर पाती हैं अर्थात् उनकी उत्पत्ति भी नहीं हो पाती है। (त्वम्, अङ्ग, वित्से) 'त्वं तु वेत्थ' [अङ्गम् = क्षिप्रनाम (निरु.५.१७), अङ्गनादञ्चनाद्वा (निरु.४.३)] वह 'ओम्' रश्मि रूप अग्नि सभी रश्मि आदि पदार्थों की अंगरूप होकर अत्यन्त त्वरित गति से इस प्राणादि त्रिकरूपी रश्मि समूह को प्राप्त करके अथवा उसको उत्पन्न करके ज्ञानपूर्वक सक्रिय करती है।

(शये, वव्रिः, चरति) [वव्रिः = रूपनाम (निघं.३.७), अङ्गीकर्ता (म.द.ऋ.भा.५.१९.१)] वह 'ओम्' रश्मि, जो सबको अंगीकार करती है तथा अरूप प्रकृति पदार्थ को रूप प्रदान करती है। वह 'ओम्' रश्मि सोए हुए प्रकृति पदार्थ में विचरण करने लगती है अर्थात् स्पन्दित होने लगती है।

(जिह्वया, अदन्, रेरिह्यते) [रेरिह्यते = रिहतीत्यर्चतिकर्मसु पठितम् (निघं.३.१४)। जिह्वा = जयति यया सा जिह्वा (उ.को.१.१५४)। अदन् = अत्ता चराचरग्रहणात् (ब्रह्मसूत्र १.२.९)] वह 'ओम्' रश्मि अपने नियन्त्रक सामर्थ्य से प्राणादि त्रिक रश्मि समूह को ग्रहण वा संगत करके प्रकाशित वा सक्रिय करती है। (विश्पतिः, युवतिम्, सन्) वह 'ओम्' रश्मि सभी उत्पन्न पदार्थों की पालिका और संरक्षिका होकर मिश्रण और अमिश्रण की क्रियाएँ जिसमें

होती हैं, उस प्रकृति पदार्थ को प्रकाशित वा सक्रिय करती हुए प्राणादि त्रिक आदि सभी पदार्थों को सक्रिय व प्रकाशित करती है। इसका आशय यह है कि जिस प्रकार ईश्वर परा 'ओम्' रश्मि के माध्यम से मूल प्रकृति को सक्रिय करता है, उसी प्रकार परा 'ओम्' रश्मि पश्यन्ती 'ओम्' रश्मि के माध्यम से प्राणादि पदार्थों को सक्रिय करती है।

भावार्थ— इस सृष्टि में सभी क्रियाएँ विज्ञानपूर्वक ही होती हैं। इस विज्ञान की मूल वाहिका 'ओम्' रश्मियाँ होती हैं। 'ओम्' रश्मियों के बिना किसी भी प्रकार की उत्पत्ति आदि प्रक्रियाएँ सम्भव नहीं हैं। 'ओम्' रश्मि ही अरूप प्रकृति पदार्थ को रूप प्रदान करती है। यही नाना प्रकार की रश्मियों को उत्पन्न करके उन्हें दिशा प्रदान करती है। यही नाना प्रकार के त्रिक उत्पन्न करके नाना कणों को उत्पन्न करती है।

अब १८४वें पद 'शशमानः' का निर्वचन करते हुए लिखते हैं— 'शशमानः शंसमानः' अर्थात् प्रकाशित होते हुए को शशमान कहते हैं। इसका निगम इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है— 'यो वां यज्ञैः शशमानो ह दाशति ... (कविः, होता)'। इस मन्त्र का देवता मित्रावरुण और छन्द जगती होने से प्रकाशित और अप्रकाशित कणों के मध्य अन्योन्य क्रिया समृद्ध होकर ऊर्जा के उत्सर्जन व अवशोषण की प्रक्रिया समृद्ध होती है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(यः, शशमानः, कविः, होता) [कविः = कविः क्रान्तदर्शनो भवति कवतेर्वा (निरु.१२.१३), असौ वाऽआदित्यः कविः (श.ब्रा.६.७.२.४)] जो क्रान्तदर्शी होतारूप सूर्यलोक नाना प्रकार की यजन क्रियाओं के द्वारा प्रकाशित होता हुआ अन्तरिक्ष में (वाम्, ह, दाशति) प्रकाशित एवं अप्रकाशित दोनों ही प्रकार के कणों को उत्सर्जित करता रहता है। यहाँ 'ह' इस बात का सूचक है कि सूर्यलोक अवश्य ही इन दोनों ही प्रकार के पदार्थों को तब तक उत्सर्जित करता रहता है, जब तक कि उसके अन्दर यजन क्रियाएँ चलती रहती हैं।

अब १८५-१८७वें पद 'देवः', 'देवाच्या' एवं 'कृपा' इन तीनों पदों का निगम इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है— 'देवो देवाच्या कृपा'। इस मन्त्र का देवता अग्नि और छन्द अष्टि है। इस कारण इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से अग्नितत्त्व बहुत विस्तृत होने लगता है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(देवः) 'देवः' कमनीय एवं प्रकाशित होता हुआ अग्नि अपने नियन्त्रक सामर्थ्य के द्वारा (देवाच्या) 'देवान्प्रत्यक्तया' विभिन्न देव कणों की ओर गमन करते हुए (कृपा) 'कृपा कृप् कृपतेर्वा कल्पतेर्वा' कृपा को प्राप्त कराता है। यहाँ 'कृपा' पद का निर्वचन 'कृप दौर्बल्ये' तथा 'कृपू सामर्थ्ये' इन दो धातुओं से निष्पन्न माना है। इसका तात्पर्य यह है कि अग्नितत्त्व देव कणों के सामर्थ्य को दुर्बल भी कर सकता है एवं उसे बढ़ा भी सकता है। ऐसा दोनों प्रकार का विपरीत प्रभाव अग्नितत्त्व में देखा जाता है। यह दोनों प्रकार का प्रभाव भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में देखा जाता है।

* * * * *

= नवमः खण्डः =

अश्रवं हि भूरिदावत्तरा वां विजामातुरुत वा घा स्यालात्।
अथा सोमस्य प्रयती युवभ्यामिन्द्राग्नी स्तोमं जनयामि नव्यम्॥

[ऋ.१.१०९.२]

अश्रौषं हि बहुदातृतरौ वाम्। विजामातुः। असुसमाप्ताज्जामातुः।
विजामातेति शश्वद् दाक्षिणाजाः क्रीतापतिमाचक्षते।
असुसमाप्त इव वरोऽभिप्रेतः। जामाता। जा अपत्यम्। तन्निर्माता।
उत वा घा स्यालात्। अपि च स्यालात्। स्याल आसन्नः संयोगेनेति नैदानाः।
स्यात् लाजानावपतीति वा। लाजाः लाजतेः। स्यं शूर्पं स्यतेः।
शूर्पमशनपवनम्। शृणातेर्वा।
अथ सोमस्य प्रदानेन युवाभ्यामिन्द्राग्नी स्तोमं जनयामि नव्यं नवतरम्।
ओमासः इत्युपरिष्टाद् [निरु.१२.४०] व्याख्यास्यामः॥ ९॥

तदनन्तर १८८वें पद 'विजामातुः' का निगम प्रस्तुत करते हुए लिखते हैं—

अश्रवं हि भूरिदावत्तरा वां विजामातुरुत वा घा स्यालात्।
अथा सोमस्य प्रयती युवभ्यामिन्द्राग्नी स्तोमं जनयामि नव्यम्॥

इस मन्त्र का ऋषि आङ्गिरस कुत्स है अर्थात् इस छन्द रश्मि की उत्पत्ति अग्नि की ज्वालाओं में विद्यमान वज्ररूप रश्मियों से होती है। इसका देवता इन्द्राग्नि और छन्द त्रिष्टुप् होने से इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से इन्द्र और अग्नितत्त्व तीव्र तेज और बल से युक्त होते हैं। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(अश्रवम्, हि, भूरिदावत्तरा, वाम्) 'अश्रौषं हि बहुदातृतरौ वाम्' इस छन्द रश्मि की कारणभूत वज्ररूप ऋषि रश्मियाँ ही इन्द्र और अग्नि दोनों तत्त्वों, जो व्यापक मात्रा में विभिन्न कण आदि पदार्थों को देने वाले अर्थात् उन्हें उत्पन्न करने वाले होते हैं, को गति प्रदान करती हैं। इसका अर्थ यह है कि वज्र रश्मियाँ जब बाधक असुरादि पदार्थों को नष्ट वा नियन्त्रित कर लेती हैं, तभी विद्युत् और अग्नि विभिन्न पदार्थों के उत्पादन की प्रक्रिया को सम्पादित कर पाते हैं। जब इन्द्र और अग्नि दोनों का मेल होता है, तभी विभिन्न पदार्थों को उत्पन्न करने की प्रक्रिया होती है।

(विजामातुः, उत, वा, घा, स्यालात्) 'विजामातुः असुसमाप्ताज्जामातुः विजामातेति शश्वद् दाक्षिणाजाः क्रीतापतिमाचक्षते असुसमाप्त इव वरोऽभिप्रेतः जामाता जा अपत्यम् तन्निर्माता उत वा घा स्यालात् अपि च स्यालात् स्याल आसन्नः संयोगेनेति नैदानाः स्यात् लाजानावपतीति वा लाजाः लाजतेः स्यं शूर्पं स्यतेः शूर्पमशनपवनम् शृणातेर्वा' [जामाता = जायां कन्यां माति मिनोति मिमीते मार्जयति वा स जामाता (उ.को.२.९७) अर्थात् जो पदार्थ कमनीय एवं उत्पादिका तरंगों को फैलाता, उन्हें प्रक्षिप्त करता, उन्हें मापता और उनमें समाया हुआ होता है, उस पदार्थ को जामाता कहते हैं।] जामातारूप उक्त कमनीय और प्रक्षेपक पदार्थ जब अपने गुणों को पूर्ण रूप से प्राप्त नहीं कर पाता, तब ऐसा पदार्थ विजामाता कहलाता है। ऐसा पदार्थ सूर्यादि तेजस्वी लोकों के अन्दर विद्यमान होता है। उन लोकों के दक्षिणी ध्रुव क्षेत्र में ऊष्मा का अशान्त क्षेत्र विद्यमान होता है, उस क्षेत्र में उत्पन्न पदार्थ निरन्तर ही [इन लोकों के दक्षिणी क्षेत्र के विषय में 'वेदविज्ञान-आलोकः' १.७ पठनीय है।] विजामाता संज्ञक पदार्थ को [पतिः = पालकः सूत्रात्मा वायुः (तु.म.द.ऋ. भा.५.४६.३)] सूत्रात्मा वायु रश्मियों को ग्रहण करने वाले के रूप में देखते हैं। इसका अर्थ यह है कि दक्षिणी भाग में विद्यमान अग्नि एवं मास रश्मियाँ उस विजामाता संज्ञक पदार्थ को संयोजक गुणों से ऐसा समृद्ध कर देती हैं कि वे पदार्थ सूत्रात्मा वायु रश्मियों से विशेष सम्पन्न पदार्थ की भाँति व्यवहार करने लगते हैं। [वरः = वरो वरयितव्यो भवति

(निरु.१.७), वर इव वै स्वर्गो लोकः (जै.ब्रा.२.९९)]

उक्त विजामाता संज्ञक पदार्थ सूर्यलोक के अविकसित केन्द्रीय भाग के समान व्यवहार करता है। इसका अर्थ यह है कि उस पदार्थ में ऊष्मा के साथ-साथ संयोज्यता का गुण भी अधिक होता है, परन्तु वहाँ केन्द्रीय भाग की भाँति संलयन आदि क्रियाएँ नहीं होतीं। यहाँ ग्रन्थकार ने 'जामाता' पद का निर्वचन करते हुए लिखा है कि जामाता संज्ञक पदार्थ अन्य पदार्थों को उत्पन्न करने वाला होता है, परन्तु विजामाता संज्ञक पदार्थ में ऐसा सामर्थ्य नहीं होता। हमारे मत में सूर्य का केन्द्रीय भाग जामातारूप होता है। उस विजामाता संज्ञक पदार्थ से एवं [स्यालः = श्यालः (आ.को. - श्यै+कालन्)] स्याल संज्ञक पदार्थ से भी इन्द्र और अग्नितत्त्व नाना प्रकार के पदार्थों को उत्पन्न कराते हैं, यद्यपि विजामाता संज्ञक पदार्थ में संलयन क्रियाएँ नहीं होतीं, पुनरपि ऐसा प्रतीत होता है कि तारों के दक्षिणी भाग में अनेक कण आदि पदार्थों का निर्माण होता रहता है। यहाँ ग्रन्थकार निदान शास्त्र (शब्द व्युत्पत्ति शास्त्र) के आचार्यों के मत को उद्धृत करते हुए लिखते हैं कि स्याल संज्ञक पदार्थ जामाता संज्ञक पदार्थों से निकटता से संगत रहते हैं। इस कारण तारों के केन्द्रीय भाग के ऊपर स्थित सन्धि भाग को स्याल कहते हैं, ऐसा हमारा मत है।

ग्रन्थकार ने स्याल नामक पदार्थ के विषय में लिखा है कि यह लाजा संज्ञक पदार्थों को [लाजाः = आदित्यानां वा एतद्रूपं यल्लाजाः (तै.ब्रा.३.८.१४.४)] अर्थात् आदित्य की किरणों, जो केन्द्रीय भाग से आती हैं, को सब ओर बिखेरते रहते हैं, इसके साथ ही यहाँ 'स्यालः' पद में जो 'स्यम्' शब्द विद्यमान है, उस स्यम् संज्ञक पदार्थ के द्वारा ही स्याल संज्ञक पदार्थ सूर्य की किरणों को बिखेरने में सक्षम होते हैं। यहाँ स्यम् संज्ञक पदार्थ को ग्रन्थकार ने शूर्प नाम भी दिया है, [शूर्पम् = शृणाति हिनस्तीति शूर्पम् (उ.को.३.२६)] जिसका अर्थ है—भेदन-छेदन करने वाला। इसका अर्थ है कि स्याल संज्ञक पदार्थ अर्थात् उस सन्धि क्षेत्र में कुछ ऐसी रश्मियाँ विद्यमान होती हैं, जो बाहरी भाग से आने वाले पदार्थ को छिन्न-भिन्न करके संलयन योग्य कणों को केन्द्रीय भाग की ओर प्रवाहित कर देती हैं तथा केन्द्रीय भाग से आने वाली तरंगों को बाहर की ओर प्रक्षिप्त करती रहती हैं। ये शूर्प संज्ञक रश्मियाँ अन्न अर्थात् संयोज्य कणों का शोधन करके उन्हें केन्द्रीय भाग की ओर भेजती रहती हैं और ऐसा करते समय वे अवांछित कणों वा रश्मियों को नष्ट वा विदीर्ण भी करती रहती हैं। यहाँ ग्रन्थकार के निर्वचन से भी यही आशय निकलता है, जिसे हम

ऊपर भी व्यक्त कर चुके हैं।

(अथा, सोमस्य, प्रयती, युवभ्याम्, इन्द्राग्नी) 'अथ सोमस्य प्रदानेन युवाभ्यामिन्द्राग्नी' इसके अनन्तर सोम पदार्थ किंवा सौम्य कणों की धाराओं के प्रवाह के द्वारा तुम दोनों अर्थात् वे इन्द्र और अग्नितत्त्व दोनों मिलकर (स्तोमम्, जनयामि, नव्यम्) 'स्तोमं जनयामि नव्यम् नवतरम्' विभिन्न प्रकार की नवीन-२ किरणों को उत्पन्न करते रहते हैं। यहाँ ऐसा प्रतीत हो रहा है कि तारों के अन्दर होने वाली नाभिकीय संलयन की क्रियाओं के लिए वांछित पदार्थ को केन्द्रीय भाग तक लाने में सौम्य कण (इलेक्ट्रॉन) आदि ऋणावेशित कणों की धाराओं की भी अनिवार्य भूमिका होती है।

भावार्थ— तीक्ष्ण वज्र रश्मियाँ इन्द्र और अग्नि तत्त्व को निर्बाध गति प्रदान करती हैं। इन दोनों पदार्थों के मेल से अनेक पदार्थ उत्पन्न होते हैं। सूर्यादि तेजस्वी लोकों के दक्षिणी ध्रुव में ऊष्मा का अशान्त क्षेत्र विद्यमान होता है। इस क्षेत्र में संयोजक गुणों की विशेष प्रबलता होती है। इस भाग में नाभिकीय संलयन की क्रियाएँ तो नहीं होतीं, परन्तु नाना प्रकार के कणों का निर्माण अवश्य होता रहता है। तारों के सन्धि भाग जहाँ सूर्य की किरणों को बाहर फेंकने का कार्य करते हैं, वहीं ये नाना कणों का विखण्डन भी करते हैं। ये भाग संलयनीय कणों को छान-छानकर केन्द्रीय भाग की ओर भेजते रहते हैं और अवांछित कणों को बाहर फेंकते रहते हैं। तारों के अन्दर होने वाली नाभिकीय संलयन की क्रियाओं को सम्पन्न करने के लिए वांछित पदार्थ को केन्द्रीय भाग तक लाने के लिए इलेक्ट्रॉन आदि ऋणावेशित कणों की धाराएँ भी अपनी अनिवार्य भूमिका निभाती हैं।

तदनन्तर १८९वें पद 'ओमासः' के विषय में यहाँ केवल यही कहा है कि इस पद की व्याख्या आगे अर्थात् खण्ड १२.४० में की जायेगी।

* * * * *

= दशमः खण्डः =

सोमानं स्वरणं कृणुहि ब्रह्मणस्पते।
कक्षीवन्तं य औशिजः ॥ [ऋ.१.१८.१]

सोमानं सोतारं प्रकाशनवन्तं कुरु ब्रह्मणस्पते कक्षीवन्तमिव य औशिजः। कक्षीवान्कक्ष्यावान्। औशिज उशिजः पुत्रः। उशिग्वष्टेः कान्तिकर्मणः। अपि त्वयं मनुष्यकक्ष एवाभिप्रेतः स्यात्। तं सोमानं सोतारं मां प्रकाशनवन्तं कुरु ब्रह्मणस्पते॥ १०॥

अब १९०वें पद 'सोमानम्' का निगम प्रस्तुत किया गया है—

सोमानं स्वरणं कृणुहि ब्रह्मणस्पते।
कक्षीवन्तं य औशिजः॥

इस मन्त्र का ऋषि काण्व मेधातिथि है अर्थात् इस छन्द रश्मि की उत्पत्ति सूत्रात्मा वायु रश्मियों से होती है। इसका देवता ब्रह्मणस्पति और छन्द विराट् गायत्री होने से इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से [ब्रह्मणस्पतिः = एष वै ब्रह्मणस्पतिर्यऽएष (सूर्यः) तपति (श.ब्रा.१४.१.२.१५)] सूर्यलोक विविध प्रकार से प्रकाशित होने लगता है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(ब्रह्मणस्पते, सोमानम्, स्वरणम्, कृणुहि) 'सोमानं सोतारं प्रकाशनवन्तं कुरु ब्रह्मणस्पते।' [सोमानम् = यः सवत्यैश्वर्य्यं करोतीति तं यज्ञानुष्ठातारम् (ऋषि दयानन्द भाष्य)] वेद एवं ब्रह्माण्ड का पालक परमात्मा अथवा विभिन्न बलों का उत्पादक परमात्मा अथवा 'ओम्' रश्मियाँ नाना प्रकार के पदार्थों को उत्पन्न करने वाले एवं नाना पदार्थों को सम्पीडित करने एवं फैलाने वाले सूर्यलोक को प्रकाशमान करती हैं अर्थात् तेजस्वी लोकों के प्रकाशित होने एवं उनके अन्दर नाना प्रकार के पदार्थों को उत्पन्न करने के पीछे मूल निमित्त कारण ईश्वर रूपी चेतन तत्त्व एवं उसकी साधनभूत 'ओम्' रश्मियाँ ही हैं। उन्हीं से प्रेरित होकर नाना प्रकार के द्रव्य, गुण व कर्म उत्पन्न होते हैं, जिनमें प्रकाशित होना भी एक कर्म है।

(कक्षीवन्तम्, यः, औशिजः) कक्षीवन्तमिव य औशिजः कक्षीवान्कक्ष्यावान् औशिज उशिजः पुत्रः उशिग्वष्टेः कान्तिकर्मणः अपि त्वयं मनुष्यकक्ष एवाभिप्रेतः स्यात् तं सोमानं सोतारं मां प्रकाशनवन्तं कुरु ब्रह्मणस्पते' [औशिक् = असौ वाऽआदित्यः कविः (श.ब्रा. ६.७.२.४), उशिगसि कविः (तै.सं.१.३.३.१, मै.सं.१.२.१२)] उशिक् संज्ञक सूर्यलोक दीप्तिमान् एवं आकर्षण आदि बलों से युक्त होकर विशाल आदित्य लोक के चारों ओर परिक्रमण करता है, उस समय वह कक्ष संज्ञक रश्मियों, जिनके बारे में हम पूर्व में खण्ड

२.२ में लिख चुके हैं, से युक्त होता है। जहाँ ये रश्मियाँ विद्यमान होती हैं, वह क्षेत्र औशिज कहलाता है। इसका कारण यह है कि ये रश्मियाँ सूर्यलोक से ही उत्पन्न होती हैं। [मनुष्यः = मनुष्या वै विश्वे देवाः (काठ.सं.१९.१२)] यहाँ सूर्यलोक के साथ-साथ मनुष्य अर्थात् सभी देव कणों का भी ग्रहण करना चाहिए अर्थात् जिस प्रकार सूर्यलोक के गमन मार्ग में कक्ष संज्ञक रश्मियाँ अपनी जो भूमिका निभाती हैं, उसी प्रकार विभिन्न सूक्ष्म कणों अथवा तरंगाणुओं (क्वाण्टा) के मार्गों में भी ये रश्मियाँ अपनी वही भूमिका निभाती हैं। उन कणों को भी सबकी सम्पीडक और प्रेरक सूत्रात्मा वायु रश्मियाँ अथवा 'ओम्' रश्मियाँ निरन्तर प्रकाशयुक्त व सक्रिय करती रहती हैं।

इस मन्त्र का ऋषि दयानन्द ने आधिभौतिक अर्थ किया है, जिसे हम यहाँ उद्धृत कर रहे हैं—

"**पदार्थः** — (सोमानम्) यः सवत्यैश्वर्य्यं करोतीति तं यज्ञानुष्ठातारम् (स्वरणम्) यः स्वरति शब्दार्थसम्बन्धानुपदिशति तम् (कृणुहि) सम्पादय। उतश्च प्रत्ययाच्छन्दो वा वचनम्। अष्टा.६.४.१०६। इति [वार्त्तिकेन] विकल्पाद्धेर्लोपो न भवति। (ब्रह्मणः) वेदस्य (पते) स्वामिन्नीश्वरः। षष्ठ्याः पतिपुत्रपृष्ठपारपदपयस्पोषेषु। अष्टा.८.३.५३ इति सूत्रेण षष्ठ्या विसर्जनीयस्य सकारादेशः। (कक्षीवन्तम्) याः कक्षासु कराङ्गुलिक्रियासु भवाः शिल्प-विद्यास्ताः प्रशस्ता विद्यन्ते यस्य तम्। कक्षा इत्यङ्गुलिनामसु पठितम्। निघं.२.५ अत्र कक्षाशब्दाद् भवे छन्दसि इति यत्, ततः प्रशंसायां मतुप्। कक्ष्यायाः संज्ञायां मतौ संप्रसारणं कर्त्तव्यम्। अष्टा.६.१.३७ अनेन वार्त्तिकेन संप्रसारणम्। आसन्दीवद.। अष्टा.८.२.१२ इति निपातनान्मकारस्य वकारादेशः। (यः) अहम् (औशिजः) य उशिजि प्रकाशे जातः स उशिक् तस्य विद्यावतः पुत्र इव।

इमं मन्त्रं निरुक्तकार एवं व्याख्यातवान् — सोमानं सोतारं प्रकाशनवन्तं कुरु ब्रह्मणस्पते कक्षीवन्तमिव य औशिजः। कक्षीवान् कक्ष्यावानौशिज उशिजः पुत्र उशिग्वष्टेः कान्तिकर्म-णोऽपि त्वयं मनुष्यकक्ष एवाभिप्रेतः स्यात्तं सोमानं सोतारं मां प्रकाशनवन्तं कुरु ब्रह्मणस्पते! निरु.६.१०॥

भावार्थः — अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः। इह कश्चिद्विद्याप्रकाशे प्रादुर्भूतो मनुष्योऽस्ति स एवाध्यापकः सर्वशिल्पविद्यासम्पादको भवितुमर्हति। ईश्वरोऽपीदृशमेवानुगृह्णाति।

पदार्थ— (ब्रह्मणस्पते) वेद के स्वामी ईश्वर! (यः) जो मैं (औशिजः) विद्या के प्रकाश में संसार को विदित होने वाला और विद्वानों के पुत्र के समान हूँ, उस मुझको (सोमानम्) ऐश्वर्य्य सिद्ध करने वाले यज्ञ का कर्त्ता (स्वरणम्) शब्द अर्थ के सम्बन्ध का उपदेशक और (कक्षीवन्तम्) कक्षा अर्थात् हाथ वा अंगुलियों की क्रियाओं में होने वाली प्रशंसनीय शिल्पविद्या का कृपा से सम्पादन करने वाला (कृणुहि) कीजिये।

भावार्थ— इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालङ्कार है। जो कोई विद्या के प्रकाश में प्रसिद्ध मनुष्य है, वही पढ़ाने वाला और सम्पूर्ण शिल्पविद्या के प्रसिद्ध करने योग्य है, क्योंकि ईश्वर भी ऐसे ही मनुष्य को अपने अनुग्रह से चाहता है।''

* * * * *

एकादशः खण्डः

इन्द्रासोमा समघशंसमभ्य१घं तपुर्ययस्तु चरुरग्निवाँ इव।
ब्रह्मद्विषे क्रव्यादे घोरचक्षसे द्वेषो धत्तमनवायं किमीदिने॥

[ऋ.७.१०४.२]

इन्द्रासोमावघस्य शंसितारम्। अघं हन्तेः। निर्ह्रसितोपसर्गः। आहन्तीति। तपुस्तपतेः। चरुर्मृच्चयो भवति। चरतेर्वा। समुच्चरन्त्यस्मादापः। ब्रह्मद्विषे ब्राह्मणद्वेष्ट्रे। क्रव्यादे। क्रव्यमदते। घोरचक्षसे घोरख्यानाय। क्रव्यं विकृत्ताज्जायत इति नैरुक्ताः। द्वेषो धत्तम्। अनवायमनवयवम्। यदन्ये न व्यवेयुः। अद्वेषस इति वा। किमीदिने। किमिदानीमिति चरते। किमिदं किमिदमिति वा। पिशुनाय चरते। पिशुनः पिंशतेः। विपिंशतीति॥ ११ ॥

तदनन्तर अब १९१वें एवं १९२वें पदों 'अनवायम्' एवं 'किमीदिने' का निगम इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है—

इन्द्रासोमा समघशंसमभ्य१घं तपुर्ययस्तु चरुरग्निवाँ इव।
ब्रह्मद्विषे क्रव्यादे घोरचक्षसे द्वेषो धत्तमनवायं किमीदिने॥

इस मन्त्र का ऋषि वसिष्ठ है। इसका अर्थ यह है कि इस छन्द रश्मि की उत्पत्ति 'वेदविज्ञान-आलोकः' ७.१६.१ में वर्णित गायत्री रश्मियों से होती है, जब अग्नि एवं प्राणतत्त्व की प्रधानता होती है। इसका भाव यह भी है कि इस छन्द रश्मि की उत्पत्ति सूर्य के केन्द्रीय भाग अथवा उसके निकटवर्ती भाग में होती है। हमारे इस कथन का यह अर्थ कदापि नहीं है कि ब्रह्माण्ड में अन्यत्र ये रश्मियाँ उत्पन्न नहीं होती हैं। इसका देवता इन्द्रासोमौ रक्षोहणौ और छन्द आर्षी जगती होने से इन्द्र एवं सोमतत्त्व दूर-२ तक फैलने लगते हैं। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(इन्द्रासोमा, सम्, अघशंसम्, अभि, अघम्) 'इन्द्रासोमावघस्य शंसितारम् अघं हन्तेः निर्ह्रसितोपसर्गः आहन्तीति' इन्द्रतत्त्व एवं सोम रश्मियाँ अघ अर्थात् पतनकारी असुरादि पदार्थों को नष्ट करने वाले होते हैं वा नष्ट करते हैं। यहाँ ग्रन्थकार ने 'अघम्' पद को आङ्पूर्वक 'हन्' धातु से निष्पन्न माना है तथा 'आङ्' उपसर्ग को ह्रस्व आदेश किया हुआ माना है। इसका अर्थ है कि सोमयुक्त इन्द्रतत्त्व सब ओर से उक्त असुर पदार्थ को प्राप्त करके नष्ट वा छिन्न-भिन्न करके दूर फेंक देता है। यहाँ 'सम्' उपसर्ग से संकेत मिलता है कि इन्द्रतत्त्व इस क्रिया को अच्छी प्रकार से सम्पन्न करता है। (तपुः, ययस्तु, चरुः, अग्निवान्, इव) 'तपुस्तपतेः चरुर्मृच्चयो भवति चरतेर्वा समुच्चरन्त्यस्मादापः' [तपुः = तपुः तपेः कर्मण्युप्रत्यये अभिसन्तप्यमान इत्यर्थः (स्कन्दस्वामी भाष्य)] इन्द्र और सोम द्वारा ताड़ित असुर पदार्थ सन्तप्त होता हुआ क्षीण हो जाता है अथवा इन्द्र और सोम द्वारा असुरादि पदार्थ को नष्ट वा नियन्त्रित कर लेने पर देव पदार्थ सन्तप्त होकर यजन क्रियाओं के लिए प्रयत्नशील हो उठता है अर्थात् वह पतनकारिणी असुरादि रश्मियों के प्रहार से मुक्त हो जाता है। [चरुः = मेघनाम (निघं.१.१०), चरति चर्यतेऽग्निना भक्ष्यत इति चरुः (उ.को.१.७)] ऐसा इसी प्रकार होता है, जैसे ब्रह्माण्ड में विद्यमान सम्पीड्य मेघ अग्नि के द्वारा सम्पीडित एवं सन्तप्त होते हैं। यहाँ 'इव' पद उपमार्थक है। दूसरे पक्ष में जब 'इव' पद को अनर्थक मानें, तब अर्थ होगा कि असुर तत्त्व के नियन्त्रण के पश्चात् अग्नितत्त्व मेघरूप पदार्थों को सन्तप्त व सम्पीडित करने लगता है अथवा अग्नि से संयुक्त मेघरूप पदार्थ सन्तप्त होने लगते हैं।

(ब्रह्मद्विषे, क्रव्यादे, घोरचक्षसे) 'ब्रह्मद्विषे ब्राह्मणद्वेष्ट्रे क्रव्यादे क्रव्यमदते घोरचक्षसे घोरख्यानाय क्रव्यं विकृत्ताज्जायत इति नैरुक्ताः' सोमयुक्त इन्द्रतत्त्व ब्रह्म अर्थात् [ब्रह्म = विद्युत् ह्येव ब्रह्म (श.ब्रा.१४.८.७.१), तद् ब्रह्म तदिदमन्तरिक्षम् (जै.उ.२.९.६), अन्ननाम (निघं.२.७)] संयोज्य पदार्थों के मध्य कार्यरत विद्युन्मय आकाश तत्त्व के प्रति प्रतिकर्षण का भाव रखने वाले, छिन्न-भिन्न हुए पदार्थ को खाने वा नष्ट करने वाले एवं अति विक्षुब्ध दिखाई देने वा क्रियाएँ करने वाले के लिए [यहाँ काटे वा छिन्न-भिन्न किए जाने वाले मेघों को ही 'क्रव्यम्' कहा है, ऐसा प्राचीन नैरुक्तों का मत है।] (द्वेषः, धत्तम्, अनवायम्) 'द्वेषो धत्तम् अनवायमनवयवम् यदन्ये न व्यवेयुः अद्वेषस इति वा' अर्थात् इन अनिष्ट पदार्थों के प्रति इन्द्र व सोम पदार्थ प्रतिकर्षण का भाव उत्पन्न करते हैं। वह प्रतिकर्षण अखण्ड वा अनवरत होता है, जिसे पाप संज्ञक पदार्थों के प्रति विपरीत भाव नहीं दर्शाने वाले पदार्थ भी नहीं हटा सकते हैं। ऐसा प्रतिकर्षण भाव क्यों होता है, इसका कारण कहा—

(किमीदिने) 'किमीदिने किमिदानीमिति चरते किमिदं किमिदमिति वा पिशुनाय चरते पिशुनः पिंशतेः विपिंशतीति' यहाँ 'किम्' पद प्राणवाचक एवं अन्न अर्थात् संयोज्य कण आदि पदार्थों के वाचक 'कः' वा 'कम्' का द्वितीया एकवचनान्त छान्दस प्रयोग है। इसका भाव यह है कि जिस समय यह छन्द रश्मि उत्पन्न होती है, उस समय प्राण रश्मियाँ उस क्षेत्र में विशेष रूप से विचरण करने वा स्पन्दित होने लगती हैं तथा सभी पदार्थों में प्राण रश्मियाँ ही विशेष रूप से विचरण करते हुए सम्पूर्ण देव पदार्थ को उज्ज्वल प्रकाश से युक्त करने लगती हैं तथा इसके साथ ही ये विविध रूपों वाले प्रकाश को उत्पन्न करने लगती हैं। इससे सम्पूर्ण कॉस्मिक मेघ नाना रूपों व रंगों से युक्त होकर भासने लगता है। रूप व रंगों की विविधता में इस मन्त्र में विद्यमान 'किमीदिने' पद का प्रभाव ही विशेष रूप से उत्तरदायी होता है। यहाँ 'पिश अवयवे' धातु का अर्थ प्रकाश करना है।

भावार्थ— मरुद् रश्मियों से समृद्ध तीक्ष्ण विद्युत् तरंगें सृजन प्रक्रिया में बाधक असुरादि पदार्थों को नष्ट करती हैं, जिससे सृजन प्रक्रिया तीव्र हो उठती है। सम्पीडित होते हुए खगोलीय मेघ तेजी से संतप्त होने लगते हैं। बाधक असुर पदार्थ के विद्युन्मय आकाशतत्त्व के प्रति प्रतिकर्षण का भाव रखने के कारण विभिन्न पदार्थों के मध्य होने वाली यजन क्रियाएँ बाधित होती हैं। तीक्ष्ण विद्युत् तरंगें इन असुर पदार्थों के प्रति प्रतिकर्षक वा

प्रक्षेपक प्रभाव दर्शाती हैं, जिसके कारण इन पदार्थों को दूर कर दिया जाता है। इस मन्त्र के प्रभाव से सम्पूर्ण खगोलीय मेघ नाना प्रकार के रंगों से युक्त प्रकाश उत्पन्न करने लगता है।

* * * * *

= द्वादशः खण्डः =

कृणुष्व पाजः प्रसितिं न पृथ्वीं याहि राजेवामवाँ इभेन।
तृष्वीमनु प्रसितिं द्रूणानोऽस्तासि विध्य रक्षसस्तपिष्ठैः॥ [ऋ.४.४.१]
कुरुष्व पाजः। पाजः पालनात्। प्रसितिमिव पृथ्वीम्। प्रसितिः प्रसयनात्। तन्तुर्वा। जालं वा। याहि राजेवामात्यवान्। अभ्यमनवान्। स्ववान्वा। इराभृता गणेन। गतभयेन हस्तिनेति वा। तृष्व्यानु प्रसित्या द्रूणानः। तृष्वीति क्षिप्रनाम। तरतेर्वा। त्वरतेर्वा। असिता असि। विध्य रक्षसः। तपिष्ठैस्तप्ततमैः। तृप्ततमैः। प्रपिष्ठतमैरिति वा।

तदनन्तर १९३वें पद 'अमवान्' का निगम प्रस्तुत करते हैं—

कृणुष्व पाजः प्रसितिं न पृथ्वीं याहि राजेवामवाँ इभेन।
तृष्वीमनु प्रसितिं द्रूणानोऽस्तासि विध्य रक्षसस्तपिष्ठैः॥

इस मन्त्र का ऋषि वामदेव है अर्थात् इस छन्द रश्मि की उत्पत्ति श्रेष्ठ प्राण रश्मि अर्थात् प्राण नामक प्राण रश्मि से होती है। इसका देवता अग्नीरक्षोहा तथा छन्द भुरिक् पंक्ति होने से इसके दैवत व छान्दस प्रभाव से राक्षस संज्ञक हिंसक पदार्थ को नष्ट करने वाला अग्नि अपने बल व वेग के साथ फैलने लगता है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(कृणुष्व, पाजः, प्रसितिम्, न, पृथ्वीम्) 'कुरुष्व पाजः पाजः पालनात् प्रसितिमिव पृथ्वीम् प्रसितिः प्रसयनात् तन्तुर्वा जालं वा' [पाजः = बलनाम (निघं.२.९), अन्ननाम (निघं. २.७)] राक्षसरूप हिंसक पदार्थ का हन्ता अग्नि अपने संयोजक बलों को इस प्रकार

फैलाता है, जैसे कोई तन्तु अथवा जाल फैलाया हुआ होता है अथवा जब तीक्ष्ण अग्नि अपने संयोजक बलों को विस्तृत करने लगता है, उस समय आकाश तत्त्व जाल के समान अपने प्रकृष्ट बन्धक बलों से युक्त होकर विभिन्न कणादि को बाँधने लगता है। यहाँ 'पृथ्वी' पद से कण व आकाश तत्त्व दोनों का ही ग्रहण होता है। इससे स्पष्ट संकेत मिलता है कि हिंसक राक्षस संज्ञक पदार्थ की उपस्थिति में आकाश तत्त्व में विद्यमान सूत्रात्मा वायु रश्मियों के बन्धन अपेक्षाकृत शिथिल हो जाते हैं।

(याहि, राजा, इव, अमवान्) 'याहि राजेवामात्यवान् अभ्यमनवान् स्ववान्वा' [अमात्यः = यह पद 'अमा' अव्यय पद से 'अव्ययात्त्यप्' (अष्टा.४.२.१०३) से त्यप् प्रत्यय होकर शैषिक अर्थ में निष्पन्न होता है। यहाँ 'अमा' गृहवाचक है, ऐसा निघण्टु ३.४ एवं निरुक्त ११.४६ से प्रमाणित है।] वह बलवान् अग्नि अपने रश्मि जाल के साथ इस प्रकार व्याप्त होता है, जैसे कोई राजा अपने अमात्यों के साथ राजसभा में प्रवेश करता है। यहाँ 'इव' पद उपमार्थक है। जब इसे अनर्थक मानें, तब इसका अर्थ इस प्रकार है—

अग्नितत्त्व के प्रकाशित होने पर कॉस्मिक मेघ नाना प्रकार के बलों से युक्त होते हुए देदीप्यमान होने लगता है अर्थात् सन्दीप्त अवस्था को प्राप्त होने लगता है। वह मेघ अथवा तीक्ष्ण अग्नि [अमवान् = यह पद 'अम गतिशब्दसंभक्तिषु' धातु से व्युत्पन्न होता है।] गरजता हुआ हिंसक पदार्थों को नष्ट करने वाली तीक्ष्ण विद्युत् से युक्त हो जाता है।

(इभेन, तृष्वीम्, अनु, प्रसितिम्, द्रूणानः, अस्ता) 'इराभृता गणेन गतभयेन हस्तिनेति वा तृष्व्यानु प्रसित्या द्रूणानः तृष्वीति क्षिप्रनाम तरतेर्वा त्वरतेर्वा असिता असि' वह रक्षोहा अग्नि [इरा = अन्ननाम (निघं.२.७)] विभिन्न संयोज्य कणों को धारण करने वाले मेघ समूहों के साथ तथा अकम्पित हरणशील बलों के द्वारा अर्थात् किसी बाधा से अविचलित रहने वाले बलों के द्वारा [द्रूणाति वधकर्मा (निघं.२.१९)] अनुकूलतापूर्वक विभिन्न कणादि पदार्थों को बन्धन बल प्रदान करने वाली गति एवं बल के द्वारा हिंसक व बाधक पदार्थों पर प्रहार करते हुए वह अग्नि शीघ्रतापूर्वक तैरते हुए के समान अर्थात् प्रत्येक बाधक पदार्थ की बाधा को पार करते हुए उन्हें दूर फेंकने वाला होता है अर्थात् उसे नष्ट वा छिन्न-भिन्न करके दूर फेंकता रहता है। (विध्य, रक्षसः, तपिष्ठैः) 'विध्य रक्षसः तपिष्ठैस्तप्ततमैः तृप्ततमैः प्रपिष्ठतमैरिति वा' वह अग्नि अपनी तृप्ततम, तप्ततम अर्थात् बल की दृष्टि से परिपूर्ण तथा अत्यन्त पिसी हुई अर्थात् सूक्ष्म किरणों के द्वारा उस राक्षस संज्ञक पदार्थ को

नष्ट व प्रक्षिप्त करता है।

भावार्थ— विद्युत् बल की रश्मियाँ एवं आकाश दोनों ही जाल के समान सूक्ष्म एवं स्थूल पदार्थों को बाँधने वाले होते हैं। हिंसक असुर पदार्थ की उपस्थिति में आकाश रश्मियों के बन्धन शिथिल हो जाते हैं। जब कोई खगोलीय मेघ संतप्त होने लगता है, उस समय उसके अन्दर नाना प्रकार के बल उत्पन्न होने लगते हैं और उसमें नाना प्रकार के गम्भीर घोष भी उत्पन्न होने लगते हैं। उस समय उसके अन्दर देव और असुर पदार्थों के मध्य भारी संघर्ष होता है।

ऋषि दयानन्द ने इस मन्त्र का आधिभौतिक भाष्य किया है, जिसे हम यहाँ उद्धृत कर रहे हैं—

''**पदार्थः** — (कृणुष्व) (पाजः) बलम् (प्रसितिम्) प्रबद्धाम् (न) इव (पृथ्वीम्) भूमिम् (याहि) (राजेव) (अमवान्) बलवान् (इभेन) हस्तिना (तृष्वीम्) पिपासिताम् (अनु) (प्रसितिम्) बन्धनम् (द्रूणानः) शीघ्रकारी (अस्ता) प्रक्षेप्ता (असि) (विध्य) (रक्षसः) दुष्टान् (तपिष्ठैः) अतिशयेन सन्तापकैः शस्त्रादिभिः।

भावार्थः — अत्रोपमालङ्कारः। हे राजजना यूयं पृथ्वीव दृढं बलं कृत्वा राजवन्न्यायाधीशा भूत्वा तृषिताम्मृगीमनुधावन्वृक इव दुष्टान् दस्यूननुधावन्तस्तान् घ्नत।

पदार्थ— हे सेना के ईश आप (राजेव) राजा के सदृश (अमवान्) बलवान् (इभेन) हाथी से (याहि) जाइये प्राप्त हूजिये (प्रसितिम्) दृढ़ बंधी हुई (पृथ्वीम्) भूमि के (न) सदृश (पाजः) बल (कृणुष्व) करिये जिस से (प्रसितिम्) बन्धन और (तृष्वीम्) पियासी के प्रति (अनु, द्रूणानः) अनुकूल शीघ्रता करने वाले और (अस्ता) फेंकने वाले (असि) हो इस से (तपिष्ठैः) अतिशय सन्ताप देने वाले शस्त्र आदिकों से (रक्षसः) दुष्टों को (विध्य) पीड़ा देओ।

भावार्थ— इस मन्त्र में उपमालंकार है। हे राजसम्बन्धी जनो! आप लोग पृथ्वी के सदृश बन कर के राजा के सदृश न्यायाधीश होकर पिपासित मृगी के पीछे दौड़ते हुए भेड़िये के सदृश दुष्ट डाकू जो कि अनुधावन करते अर्थात् जो कि पथिकादिकों के पीछे दौड़ते हुये उनका नाश करो।''

यस्ते गर्भममीवा दुर्णामा योनिमाशये। [ऋ.१०.१६२.२]
अमीवाभ्यमनेन व्याख्यातः। दुर्णामा क्रिमिर्भवति। पापनामा।
क्रिमिः क्रव्ये मेद्यति। क्रमतेर्वा स्यात्सरणकर्मणः। क्रामतेर्वा।
अति क्रामन्तो दुरितानि विश्वा। [तुलना - अथर्व.१२.२.२८]
अतिक्रममाणाः। दुर्गतिगमनानि सर्वाणि।
अप्वा। यदेनया विद्धोऽपवीयते। व्याधिर्वा। भयं वा।
अप्वे परेहि। [ऋ.१०.१०३.१२] इत्यपि निगमो भवति।
अमतिः। अमामयी मतिः। आत्ममयी।
ऊर्ध्वा यस्यामतिर्भा अदिद्युतत् सवीमनि [अथर्व.७.१४.२]
इत्यपि निगमो भवति। श्रुष्टि इति क्षिप्रनाम। आशु अष्टीति॥ १२॥

अब १९४वें पद 'अमीवा' का निगम प्रस्तुत करते हुए लिखते हैं—

'यस्ते गर्भममीवा दुर्णामा योनिमाशये।'

इस मन्त्र का देवता गर्भ संस्रावे प्रायश्चित्तम् तथा छन्द निचृदनुष्टुप् है। [प्रायश्चित्तम् = यज्ञो हि यज्ञस्य प्रायश्चित्तिः (मै.सं.१.८.३), गर्भः = संवत्सरे वृद्धा गर्भाः प्रजायन्ते (मै.सं.१.६.१२), गर्भो देवानाम् (यजु.३७.१४)] इस कारण इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से कॉस्मिक मेघों में सूर्यादि तारों के बनने की प्रक्रिया के समय केन्द्रीभूत होते हुए पदार्थ की धाराओं के इधर-उधर बिखरने वा बहने पर पदार्थ को पुनः संगत करने हेतु विभिन्न छन्द रश्मियों को अनुकूल बल एवं ऊर्जा प्राप्त होते हैं, जिससे पदार्थ की धाराएँ पुनः केन्द्रीभूत होने लग जाती हैं। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(यः, ते, गर्भम्, योनिम्) कॉस्मिक मेघ में विभिन्न तारों के जो गर्भ पल रहे होते हैं अथवा उन तारों के निर्माण में आवश्यक पदार्थ जहाँ उत्पन्न वा विद्यमान होता है, वहाँ (अमीवा, दुर्णामा, आशये) 'अमीवाभ्यमनेन व्याख्यातः दुर्णामा क्रिमिर्भवति पापनामा क्रिमिः क्रव्ये मेद्यति क्रमतेर्वा स्यात्सरणकर्मणः क्रामतेर्वा' [अमीवा = इसे इसी खण्ड में 'अमवान्' पद के अर्थ के समान समझ लेना चाहिए। नाम = नामानि (प्राणस्य) दामानि (ऐ.आ.२.१.६)। दाम = दमनसाधनम् (म.द.ऋ.भा.१.१६२.८)] भेदन और छेदन शक्ति से सम्पन्न गम्भीर

घोष करता हुआ हिंसक राक्षस संज्ञक पदार्थ अपने अनिष्ट बन्धक बलों के साथ सब ओर फैलने लगता है। यहाँ ग्रन्थकार ने दुर्णामा का अर्थ क्रिमि किया है तथा ग्रन्थकार के मत में वह राक्षस संज्ञक पदार्थ देव पदार्थ को पतित अर्थात् विचलित करता और उसको काट-२ कर छिन्न-भिन्न करने वाला होता है। साथ ही वह देव पदार्थ पर आक्रमण करने के लिए तीव्रता से दौड़ता रहता है।

यहाँ ग्रन्थकार ने मन्त्र का पूर्वार्द्ध ही उद्धृत किया है। हम यहाँ अर्थ को पूर्णता और स्पष्टता प्रदान करने हेतु इस मन्त्र के उत्तरार्द्ध को उद्धृत और व्याख्यात कर रहे हैं—

'अग्निष्टं ब्रह्मणा सह निष्क्रव्यादमनीनशत्'

इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(अग्निः, तम्, क्रव्यादम्) रक्षोहाग्नि उन अपरिपक्व छोटे-२ मेघों में विद्यमान छेदक और भेदक हिंसक पदार्थ को (ब्रह्मणा, सह, निर्, अनीनशत्) [ब्रह्म = ब्रह्म वै त्रिवृत् (तां.ब्रा. २.१६.४)। त्रिवृत् = त्रिवृद्वै वज्रः (कौ.ब्रा.३.२)] त्रिवृत् अर्थात् तीन गायत्री छन्द रश्मियों की समूह रूपी वज्र की सहायता से नितान्त नष्ट कर देता है अर्थात् उसकी हिंसक शक्तियों का नाश कर देता है। 'क्रव्यम्' पद के विषय में पूर्व खण्ड द्रष्टव्य है।

अब १९५वें पद 'दुरितम्' का निगम प्रस्तुत करते हुए लिखा है— 'अति क्रामन्तो दुरितानि विश्वा'। इसका भाष्य करते हुए ग्रन्थकार ने लिखा है— 'अतिक्रममाणाः दुर्गतिगमनानि सर्वाणि' अर्थात् पतनकारी पाप संज्ञक पदार्थों की सभी गतियों का अतिक्रमण करते हुए। यह मन्त्र अपूर्ण है, इस कारण यहाँ अर्थ भी अपूर्णता लिए हुए है। हमारे मत में यह पदार्थ रक्षोहाग्नि हो सकता है, जो पाप संज्ञक पदार्थों का अतिक्रमण करने में समर्थ होता है।

अब १९६वें पद 'अप्वा' का निर्वचन करते हुए लिखते हैं— 'अप्वा यदेनया विद्धोऽपवीयते व्याधिर्वा भयं वा' अर्थात् अप्वा उस पदार्थ को कहते हैं, जिससे ताड़ित वा विद्ध पदार्थ अपने वांछित कर्म वा गति से भ्रान्त हो जाता है, जैसे व्याधि अथवा भय। इस प्रकार जो पदार्थ किसी अन्य पदार्थ के द्वारा विकृत रूप से धारण किये जाते हैं अथवा जो पदार्थ अपनी वांछित गतियों वा मार्गों से कम्पित वा विचलित हो जाते हैं, उन्हें अप्वा कहते हैं। इसका निगम प्रस्तुत करते हुए ग्रन्थकार ने मन्त्र के दो पदों को ही उद्धृत किया

है, वे पद इस प्रकार हैं— 'अप्वे परेहि'। इसका आधिदैविक अर्थ इस प्रकार है—

(अप्वे, परेहि) अपनी गति वा मार्गों से भ्रान्त होने वाले पदार्थ यजन क्रियाओं से दूर हो जाते हैं। यहाँ मन्त्र का छोटा सा भाग ही उद्धृत होने से अर्थ भली-भाँति स्पष्ट नहीं होता, पुनरपि यहाँ भ्रान्त कणादि पदार्थों के पुनः अनुकूल गति प्राप्त करने का संकेत है।

अब १९७वें पद 'अमतिः' का निर्वचन करते हुए लिखते हैं— 'अमतिः अमामयी मतिः आत्ममयी' अर्थात् विभिन्न बलों से युक्त दीप्ति एवं सूत्रात्मा वायु रश्मियों से विशेष सम्पन्न अथवा अपने शुद्ध स्वरूप में विद्यमान दीप्ति को अमति कहते हैं। यहाँ इसका निगम इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है— 'ऊर्ध्वा यस्यामतिर्भा अदिद्युतत् सवीमनि'। इस मन्त्र का देवता सूर्य एवं छन्द अनुष्टुप् होने से इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से सूर्यलोक अधिक तेजस्वी होने लगता है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(ऊर्ध्वा, यस्य, अमतिः) जिस सूर्यलोक की दीप्ति विशेष बल और वेग से युक्त होकर ऊर्ध्वगामिनी होती है, (भाः, अदिद्युतत्, सवीमनि) उसकी वह दीप्ति सूर्यलोक की प्रेरणा वा नियन्त्रण में देदीप्यमान होती रहती है अर्थात् सूर्य के तल पर उठने वाली ऊँची-२ ज्वालाएँ सूर्य के आकर्षण बल के द्वारा प्रेरित वा नियन्त्रित होती हैं।

अब १९८वें पद 'श्रुष्टी' का निर्वचन करते हुए लिखते हैं— 'श्रुष्टि इति क्षिप्रनाम आशु अष्टीति' अर्थात् श्रुष्टी शीघ्रता को कहते हैं और शीघ्रतापूर्वक व्याप्त होना भी श्रुष्टी कहलाता है। इसका निगम अगले खण्ड में प्रस्तुत किया गया है।

* * * * *

≡ त्रयोदशः खण्डः ≡

ताँ अध्वर उशतो यक्ष्यग्ने श्रुष्टी भगं नासत्या पुरन्धिम्॥

[ऋ.७.३९.४]

तानध्वरे यज्ञे। उशतः कामयमानान्। यजाग्ने।
श्रुष्टी भगम्। नासत्यौ चाश्विनौ।

सत्यावेव नासत्यावित्यौर्णवाभः। सत्यस्य प्रणेतारावित्याग्रायणः।
नासिकाप्रभवौ बभूवतुरिति वा। पुरन्धिर्बहुधीः। तत्कः पुरन्धिः।
भगः पुरस्तात्। तस्यान्वादेश इत्येकम्। इन्द्र इत्यपरम्। स बहुकर्मतमः।
पुरां च दारयितृतमः। वरुण इत्यपरम्। तं प्रज्ञया स्तौति।
इमामू नु कवितमस्य मायाम्। [ऋ.५.८५.६] इत्यपि निगमो भवति।
रुषत् इति वर्णनाम। रोचतेर्ज्वलतिकर्मणः।
समिद्धस्य रुशददर्शि पाजः। [ऋ.५.१.२] इत्यपि निगमो भवति॥ १३॥

इस मन्त्र का देवता विश्वेदेवा तथा छन्द विराट् त्रिष्टुप् होने से सभी देव पदार्थ विविध रूपों वाले तेज से युक्त होने लगते हैं। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(तान्, अध्वरे, उशतः, यक्षि) 'तानध्वरे यज्ञे उशतः कामयमानान् यज' उनको अर्थात् वे देव पदार्थ अबाधित यजन कर्म में एक-दूसरे को आकर्षित करते हुए संगत होने लगते हैं अर्थात् इस मन्त्र का ऋषि वसिष्ठ संज्ञक अग्नि एवं वेदविज्ञान-आलोक ७.१६.१ में वर्णित सप्तदश स्तोम अर्थात् सत्रह गायत्री रश्मियों का समूह विभिन्न कणों को संगत करने लगता है। (अग्ने, श्रुष्टी, भगम्) 'अग्ने श्रुष्टी भगम्' [भगः = यज्ञो भगः (श.ब्रा.६.३.१.१९)] वह अग्नि देव कणों की यजन प्रक्रिया को शीघ्रतापूर्वक सम्पादित करने लगता है।

(नासत्या) 'नासत्यौ चाश्विनौ सत्यावेव नासत्यावित्यौर्णवाभः सत्यस्य प्रणेतारावित्याग्रायणः नासिकाप्रभवौ बभूवतुरिति वा' [नासिका = नासिका नसतेः (निरु.६.१७)] और वह अग्नि क्या-२ कार्य करता है, यह बतलाने से पूर्व अश्विनौ की चर्चा इस प्रकार की है—

अश्विनौ अर्थात् सदा विद्यमान रहने वाले प्राणापान एवं प्राणोदान अथवा प्रकाशित एवं अप्रकाशित कण कॉस्मिक मेघ के निर्माण के समय से ही विद्यमान रहते हैं, ऐसा महर्षि और्णवाभ का मत है। इन अश्विनौ को महर्षि आग्रायण सत्य के प्रणेता अर्थात् उन विद्यमान प्रकाशित व अप्रकाशित कणों का प्रेरक कहते हैं। निश्चित ही ऐसे प्रेरक प्राण एवं अपान अथवा प्राण एवं उदान ही हो सकते हैं। अब ग्रन्थकार स्वयं अपना मत प्रस्तुत करते हुए लिखते हैं कि ये अश्विनौ नासिका से उत्पन्न वा समर्थ हुए होते हैं। नासिका के विषय में कहा गया है— 'नासिकेऽउ वै प्राणस्य पन्थाः' (श.ब्रा.१२.९.१.१४) अर्थात् प्राणापान

आदि रश्मियों के मार्ग को नासिका कहा गया है। इसका अर्थ है कि विभिन्न प्रकाशित व अप्रकाशित कण प्राणापान रश्मियों के मार्गों में ही उत्पन्न व समर्थ होते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि प्राणापानादि के अभाव में इनकी उत्पत्ति सम्भव नहीं और गति भी प्राणापान रश्मियों के सहगमन बिना सम्भव नहीं है। इस प्रकार तीनों प्रकार के गुणों से परिपूर्ण प्रकाशित और अप्रकाशित कण अग्नि के द्वारा और अधिक शीघ्रतापूर्वक प्रकाशित एवं क्रियाशील होने लगते हैं।

(पुरन्धिम्) 'पुरन्धिर्बहुधीः तत्कः पुरन्धिः भगः पुरस्तात् तस्यान्वादेश इत्येकम्' वह अग्नि पुरन्धि नामक पदार्थ को भी शीघ्रतापूर्वक क्रियाशील करता है। यह पुरन्धि नामक पदार्थ [धीः = कर्मनाम (निघं.२.१), प्रज्ञानाम (निघं.३.९), वाग्वै धीः (का.श.ब्रा.४.२.४.१३; ४.५.३.८)] अनेक प्रकार की क्रियाओं, वाक् रश्मियों और प्रकाश से युक्त होता है अर्थात् उनको धारण करने वाला होता है, इस कारण इसे पुरन्धि कहते हैं। यह पुरन्धि क्या होता है, इस विषय में स्पष्ट करते हैं कि 'पुरन्धिम्' पद 'भगम्' पद का विशेषण है। ऐसा ऋषि दयानन्द ने भी अपने वेदभाष्य में माना है। यहाँ ग्रन्थकार किन्हीं प्राचीन ऋषियों के मत को दर्शाते हुए लिखते हैं कि यह विशेषण 'भगम्' पद से पूर्व आना चाहिए, परन्तु मन्त्र में 'भगम्' पद का प्रयोग पहले किया गया है और 'पुरन्धिम्' पद का प्रयोग बाद में। इस प्रकार 'पुरन्धिम्' पद 'भगम्' अर्थात् यज्ञ किंवा यजन प्रक्रिया का विशेषण है। किसी भी यजन प्रक्रिया में अनेक प्रकार की वाक् रश्मियों एवं अनेक प्रकार की क्रियाओं की भूमिका होने के कारण यज्ञ को पुरन्धि कहा है। यह प्रथम मत हुआ।

द्वितीय मत इस प्रकार है— 'इन्द्र इत्यपरम् स बहुकर्मतमः पुरां च दारयितृतमः'। दूसरे आचार्य पुरन्धिम् को इन्द्र का विशेषण मानते हैं, क्योंकि इन्द्र भी विभिन्न क्रियाओं, तेज और वाक् रश्मियों को धारण करता है। वह अनेक प्रकार के कर्म करने में असुर पदार्थों के पुरों को भेदने में श्रेष्ठतम होने के कारण पुरन्धि कहलाता है।

तृतीय मत इस प्रकार है— 'वरुण इत्यपरम् तं प्रज्ञया स्तौति'। तीसरे पक्ष के आचार्य वरुण को पुरन्धि कहते हैं, क्योंकि सूर्य रूपी वरुण अपने प्रकाश व क्रियाओं के द्वारा सबको प्रकाशित करता है।

भावार्थ— सत्रह प्रकार की गायत्री छन्द रश्मियों के समूह विभिन्न कणों के संयोग में विशेष भूमिका निभाते हैं अथवा इन समूहों की उपस्थिति में संयोग प्रक्रिया तीव्र एवं

व्यापक होती है। विभिन्न प्रकार के सूक्ष्म कण और विकिरण प्राणापान युग्म की उपस्थिति में ही उत्पन्न होते हैं और उन्हीं के द्वारा गति व मार्गों को प्राप्त करते हैं। कहीं-२ इस कार्य को प्राणोदान का युग्म सम्पन्न करता है। अग्नितत्त्व अर्थात् ऊष्मा एवं विद्युत् दोनों की उपस्थिति में यजन प्रक्रियाएँ तीव्र होती हैं एवं प्रारम्भ भी इनकी उपस्थिति में ही होती हैं। तारों के अन्दर होने वाली यजन प्रक्रियाएँ अन्य प्रक्रियाओं की अपेक्षा अधिक तीव्र होती हैं।

यह सूर्यलोक भी नाना प्रकार के प्रकाश, कर्म व वाक् रश्मियों को धारण करने वाला होता है।

इसका निगम इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है— 'इमामू नु कवितमस्य मायाम् ... (नकिः, आ, दधर्ष)'। इस मन्त्र का देवता वरुण और छन्द निचृत् त्रिष्टुप् होने से सूर्यादि लोकों में तीक्ष्ण तेज और बलों की वृद्धि होती है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(इमाम्, ऊ, नु, कवितमस्य, मायाम्) [माया = प्रज्ञानाम (निघं.३.९), प्रज्ञापिका विद्युत् (तु.म.द.य.भा.१३.४४)] क्रान्तदर्शी सबके प्रकाशक सूर्यलोक की इस विद्युत् शक्ति एवं प्रकाशशीलता को कोई भी नहीं दबा सकता है। इस मन्त्र के देवता वरुण का भी विशेषण पुरन्धि है। यहाँ तात्पर्य यही है कि सूर्यादि तारों में विद्युत् एवं गुरुत्व बलों के साथ-२ प्रकाश और ऊष्मा की भी अत्यन्त प्रबलता होती है, जिन्हें असुरादि पदार्थ दबा नहीं सकते हैं।

इस प्रकार यह मन्त्र भी पुरन्धि का ही निगम सिद्ध होता है। यह 'पुरन्धि' १९९ वाँ पद है।

अब २००वें पद 'रुषत्' का निर्वचन करते हुए लिखते हैं— 'रुषत् इति वर्णनाम रोचतेर्ज्वलतिकर्मणः' अर्थात् वर्ण को रुषत् कहते हैं, क्योंकि यह वर्ण अर्थात् रंग चमकता हुआ होता है। इसका निगम इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है— 'समिद्धस्य रुशददर्शि पाजः ... (महान्, देवः)'। इस मन्त्र का देवता अग्नि और छन्द त्रिष्टुप् होने से इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से अग्नितत्त्व तीव्र तेजस्वी होता है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(समिद्धस्य, रुशत्) प्रदीप्त अग्नि के चमकते हुए तेज से (महान्, देवः, पाजः, अदर्शि) प्रकाशमान विशाल सूर्यलोक अत्यन्त बलवान् और तेजस्वी दिखाई देता है। इसका अर्थ यह है कि सूर्यलोक के तेज और बल का कारण विद्युत् अग्नि ही है।

* * * * *

= चतुर्दशः खण्डः =

अस्ति हि वः सजात्यं रिशादसो देवासो अस्त्याप्यम्। [ऋ.८.२७.१०]
अस्ति हि वः समानजातिता रेशयदारिणो देवाः।
अस्त्याप्यम्। आप्यमाप्नोतेः। सुदत्रः कल्याणदानः।
त्वष्टा सुदत्रो वि दधातु रायः। [ऋ.७.३४.२२] इत्यपि निगमो भवति।
सुविदत्रः कल्याणविद्यः।
आग्ने याहि सुविदत्रेभिरर्वाङ्। [ऋ.१०.१५.९] इत्यपि निगमो भवति।
आनुषक् इति नामानुपूर्वस्य। अनुषक्तं भवति।
स्तृणन्ति बर्हिरानुषक्। [ऋ.८.४५.१] इत्यपि निगमो भवति।
तुर्वणिः। तूर्णवनिः।
स तुर्वणिर्महाँ अरेणु पौंस्ये। [ऋ.१.५६.३] इत्यपि निगमो भवति।
गिर्वणाः देवो भवति। गीर्भिरेनं वनयन्ति।
जुष्टं गिर्वणसे बृहत्। [ऋ.८.८९.७] इत्यपि निगमो भवति॥ १४॥

अब २०१वें पद 'रिशादसः' का निगम इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है—

'अस्ति हि वः सजात्यं रिशादसो देवासो अस्त्याप्यम्।'

इसका देवता विश्वेदेवा तथा छन्द पाद निचृत् पंक्ति होने से इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से सभी देव पदार्थ तीक्ष्ण रूप से परिपक्व और विस्तृत होते हैं। इसका

आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(रिशादस:, देवास:) 'रेशयदारिणो देवा:' [यहाँ 'रिश हिंसायाम्' धातु का प्रयोग है। यहाँ पण्डित भगवद्दत्त रिसर्च स्कॉलर व स्कन्दस्वामी ने 'रेशयदारिण:' का प्रयोग किया है, वहीं आचार्य भगीरथ शास्त्री एवं पण्डित मुकुन्द झा शर्मा के भाष्य में 'रेशयदासिन:' का प्रयोग है। 'रेशयदारिण:' का अर्थ है— हिंसक पदार्थों को नष्ट करने वाले तथा 'रेशयदासिन:' का अर्थ है— हिंसक पदार्थों को क्षीण करने वाले। इस प्रकार अर्थ की दृष्टि से लगभग समानता ही है।] हिंसक राक्षसादि पदार्थों को नष्ट वा क्षीण करने वाले देव पदार्थ (व:, हि, सजात्यम्, अस्ति) 'अस्ति हि व: समानजातिता' तुम्हारे अर्थात् इस मन्त्र के देवता किंवा सभी देव पदार्थों, चाहे वे कण हों अथवा प्रकाशाणु (फोटोन्स), सबका समान जातित्व है। इसका अर्थ यह है कि जो तरंगें हिंसक पदार्थों को नष्ट करती हैं, वे भी कण वा प्रकाशाणु के रूप में ही होती हैं। (अस्त्याप्यम्) 'अस्त्याप्यम् आप्यमाप्नोते:' इसके साथ ही वे दोनों ही प्रकार के पदार्थ एक-दूसरे में व्याप्त भी होने योग्य होते हैं अथवा एक-दूसरे के साथ संगत होने योग्य होते हैं।

तदनन्तर २०२वें पद 'सुदत्र:' का निर्वचन करते हुए लिखते हैं— 'सुदत्र: कल्याणदान:' अर्थात् [कल्याणम् = कल्याणं कमनीयं भवति। (निरु.२.३)] कमनीय दान वा विभिन्न कण आदि पदार्थों का वाञ्छित संयोग होना कल्याणदान कहलाता है। इस सृष्टि में विभिन्न कण वा तरंग परस्पर संयुक्त व वियुक्त होते रहते हैं। इनमें जो संयोग-वियोग वाञ्छनीय पदार्थों को उत्पन्न करने में काम आते हैं, उन्हें कल्याणदान वा सुदत्र कहा जाता है। इस पद का निगम इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है— 'त्वष्टा सुदत्रो वि दधातु राय:'। इस मन्त्र का देवता विश्वेदेवा तथा छन्द निचृदार्षी त्रिष्टुप् होने से सभी देव पदार्थ तीव्र तेज व बलों से युक्त होते हैं। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(सुदत्र:, त्वष्टा) कमनीय संयोगादि प्रक्रियाओं को करने वाला त्वष्टा अर्थात् इन्द्र वा सूर्यलोक (विदधातु, राय:) विभिन्न प्रकार के कणादि पदार्थों को विविध प्रकार से धारण करता है। इसका आशय यह है कि इस सृष्टि में विद्युत् वा सूर्य किंवा सूर्य रश्मियाँ नाना प्रकार के पदार्थों के मध्य संयोगादि प्रक्रियाओं को समृद्ध करके विभिन्न प्रकार के पदार्थों का निर्माण करती रहती हैं। वे विद्युत् वा प्रकाशाणु इनके निर्माण के साथ-२ इनको धारण करने में भी समर्थ होते हैं।

तदुपरान्त २०३वें पद 'सुविदत्रः' का निर्वचन करते हुए लिखते हैं— 'सुविदत्रः कल्याणविद्यः' अर्थात् श्रेष्ठ ज्ञानयुक्त अथवा श्रेष्ठ व आकर्षक बलयुक्त अथवा श्रेष्ठ सत्तावान् पदार्थ 'सुविदत्रः' कहलाते हैं। इसका निगम इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है— 'आग्ने याहि सुविदत्रेभिरर्वाङ् ... (पितृभिः)'। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(अग्ने) अग्नितत्त्व (सुविदत्रेभिः, पितृभिः) [पितरः = तद् ये सोमेनेजानाः ते पितरः सोमवन्तः (श.ब्रा.२.६.१.७), पितृदेवत्यो वै सोमः (श.ब्रा.२.४.२.१२), प्राणो वै पिता (ऐ.ब्रा.२.३८)] अच्छी प्रकार विद्यमान सोम एवं प्राण रश्मियों के साथ (अर्वाक्, आ, याहि) नीचे की ओर गमन करता है अर्थात् सूर्यलोक से पृथ्वी आदि लोकों में पहुँचता है।

अब २०४वें पद 'आनुषक्' का निर्वचन करते हुए लिखते हैं— 'आनुषक् इति नामानुपूर्वस्य अनुषक्तं भवति' अर्थात् निरन्तर वा नियमपूर्वक कार्य करने वाले को आनुषक् कहते हैं, क्योंकि यह एक-दूसरे से निरन्तर सम्बद्ध होने वाली क्रियाओं से युक्त होता है। इसका निगम प्रस्तुत करते हुए लिखते हैं— 'स्तृणन्ति बर्हिरानुषक्'। इस मन्त्र का देवता इन्द्राग्नी और छन्द गायत्री होने से इन्द्र और अग्नितत्त्व श्वेतवर्णयुक्त तेज और बल से युक्त होते हैं। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(बर्हिः) अग्नि और इन्द्र की तरंगें आकाश तत्त्व में (आनुषक्, स्तृणन्ति) निरन्तर और नियमित पंक्तिबद्ध होकर फैलती हुई गमन करती हैं।

तदनन्तर २०५वें पद 'तुर्वणिः' का निर्वचन करते हुए लिखते हैं—'तुर्वणिः तूर्णवनिः' अर्थात् शीघ्रतापूर्वक सेवन वा अवशोषण करने वाला अथवा शीघ्रतापूर्वक पदार्थ का विभाजन करने वाला 'तुर्वणिः' कहलाता है। इस पद का निगम इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है— 'स तुर्वणिर्महाँ अरेणु पौंस्ये'। इस मन्त्र का देवता इन्द्र तथा छन्द निचृत् जगती होने से इन्द्रतत्त्व तीक्ष्णतापूर्वक दूर-२ तक फैलने लगता है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(सः, महान्) वह महान् इन्द्रतत्त्व (तुर्वणिः) विभिन्न कण आदि पदार्थों को अवशोषित करने की प्रक्रिया को अतिशीघ्रतापूर्वक करता है। (अरेणु, पौंस्ये) [रेणुः = रिणाति गच्छति हिनस्ति हन्यते वा स रेणुः (उ.को.३.३८)। पौंस्यम् = पौंस्ये संग्रामनाम (निघं. २.१७), पौंस्यानि बलनाम (निघं.२.९)] वह विभिन्न प्रकार की संघात वा संघर्षण की

तीक्ष्ण प्रक्रियाओं में भी अपने महान् बल के कारण कभी हिंसित नहीं होता।

तदनन्तर २०६वें पद 'गिर्वणाः' का निर्वचन करते हुए लिखते हैं— गिर्वणाः देवो भवति गीर्भिरेनं वनयन्ति' अर्थात् विभिन्न देव पदार्थ ही गिर्वणाः कहलाते हैं, क्योंकि वे सभी विभिन्न प्रकार की वाक् रश्मियों के द्वारा [वनयन्ति = वनोति कान्तिकर्मा (निघं.२.६)] प्रकाशित होते और आकर्षण आदि बलों से युक्त होते हैं। इसके साथ ही वे पदार्थ वाक् रश्मियों के द्वारा ही एक-दूसरे को विखण्डित, अवशोषित वा संगत करते हैं। इसका निगम इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है— 'जुष्टं गिर्वणसे बृहत् ... (सामन्, तपत)'। इस मन्त्र का देवता इन्द्र और छन्द बृहती होने से इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से इन्द्रतत्त्व विभिन्न पदार्थों के संघनन की प्रक्रिया को तीव्र करता है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(गिर्वणसे) विभिन्न देव पदार्थों अर्थात् कणों वा लोकों के निर्माण के लिए (बृहत्, सामन्, तपत, जुष्टम्) बृहत् साम रश्मियों [बृहत् साम = 'वेदविज्ञान-आलोकः' ४.१३.१ के अनुसार 'त्वामिद्धि हवामहे साता वाजस्य कारवः। त्वां वृत्रेष्विन्द्र सत्पतिं नरस्त्वां काष्ठा-स्वर्वतः॥' (ऋ.६.४६.१) इस मन्त्र को बृहत् साम कहते हैं।] को परस्पर संगत अथवा अन्य छन्द रश्मियों के साथ संगत एवं संतप्त करने लगता है, जिससे पदार्थ के संघनन की प्रक्रिया तीव्र होने लगती है।

* * * * *

= पञ्चदशः खण्डः =

असूर्ते सूर्ते रजसि निषत्ते ये भूतानि समकृण्वन्निमानि।

[ऋ.१०.८२.४]

असुसमीरिताः सुसमीरिते। वातसमीरिताः। माध्यमिका देवगणाः।
ते रसेन पृथिवीं तर्पयन्तो भूतानि च कुर्वन्ति।
त आयजन्त। [ऋ.१०.८२.४]

इत्यतिक्रान्तं प्रतिवचनम्।

अम्यक्सा त इन्द्र ऋष्टिः। [ऋ.१.१६९.३]

अमाक्तेति वा। अभ्यक्तेति वा।

यादृश्मिन्धायि तमपस्यया विदत्। [ऋ.५.४४.८]

यादृशेऽधायि तमपस्ययाविदत्।

उस्त्रः पितेव जारयायि यज्ञैः॥ [ऋ.६.१२.४]

उस्त्र इव गोपिता अजायि यज्ञैः॥ १५॥

अब २०७वें पद 'असूर्ते सूर्ते' का निगम प्रस्तुत करते हुआ लिखा है—

'असूर्ते सूर्ते रजसि निषत्ते ये भूतानि समकृण्वन्निमानि।'

इस मन्त्र का देवता विश्वकर्मा और छन्द भुरिक् त्रिष्टुप् होने से [विश्वकर्मा = इन्द्रो वै वृत्रं हत्वा विश्वकर्माऽभवत् प्रजापतिः प्रजाः सृष्ट्वा विश्वकर्माऽभवत् (ऐ.ब्रा.४.२२), अयं वै वायुर्विश्वकर्मा योऽयं पवतऽएष हीदं सर्वं करोति (श.ब्रा.८.१.१.७)] इन्द्र एवं वायुतत्त्व अपने बाहुरूप बलों की दृष्टि से तीव्र तेजस्वी और बलवान् होते हैं। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(असूर्ते) 'असुसमीरिताः वातसमीरिताः' असु अर्थात् विभिन्न प्रकार की वायु रश्मियों किंवा प्राण एवं छन्द रश्मियों के द्वारा प्रेरित (सूर्ते, रजसि) 'सुसमीरिते' अच्छी प्रकार विस्तृत अन्तरिक्ष में (ये, निषत्ते) 'माध्यमिका देवगणाः' नाना प्रकार के देव पदार्थ अर्थात् सूक्ष्म कण व तरंग आदि पदार्थ विद्यमान होते हैं।

(भूतानि, सम्, अकृण्वन्, इमानि) 'ते रसेन पृथिवीं तर्पयन्तो भूतानि च कुर्वन्ति' [रसः = रसो वा आपः (श.ब्रा.३.३.३.१८), वाङ्नाम (निघं.१.११)] वे देव पदार्थ अन्तरिक्ष एवं पृथिवी आदि लोकों को तृप्त करते हुए अर्थात् उन्हें परिपूर्ण करते हुए नाना प्रकार के स्थूल पदार्थों को जन्म देते हैं अर्थात् अन्तरिक्षस्थ सूक्ष्म पदार्थों से स्थूल पदार्थों की उत्पत्ति होती है।

मन्त्र के इस भाग में जो 'ये' सर्वनाम पद आया है, उसका प्रतिवचन इसी मन्त्र के पूर्वार्ध में अतिक्रान्त हुआ है अर्थात् पूर्व में ही दिया हुआ है, जो इस प्रकार है— 'त

आयजन्त' अर्थात् वे देव पदार्थ अर्थात् कण वा तरंगें, जिनकी चर्चा ऊपर की गई है, मर्यादापूर्वक यजन क्रिया करते हैं अर्थात् उनका पारस्परिक संगतिकरण निश्चित नियमों के आधार पर होता रहता है। ये नियम सबके नियामक ईश्वर द्वारा ही बनाए व संचालित किए जाते हैं, वह ईश्वर परा 'ओम्' रश्मि रूपी कालतत्त्व के द्वारा सम्पूर्ण सृष्टि का नियमपूर्वक संचालन निरन्तर करता रहता है।

अब २०८वें पद 'अम्यक्' का निर्वचन करते हुए लिखते हैं— 'अमाक्तेति वा अभ्यक्तेति वा' अर्थात् अमाक्त (अ+मा+क्त) अथवा अभ्यक्ता (अभि+अक्ता) को अम्यक् कहते हैं। इसका निगम इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है— 'अम्यक्सा त इन्द्र ऋष्टिः ... (अस्मे)'। इस मन्त्र का देवता इन्द्र और छन्द भुरिक् पंक्ति होने से इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से इन्द्रतत्त्व अपने बाहुरूप बलों के साथ फैलने तथा परिपक्व होने लगता है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(इन्द्र, सा, ते, ऋष्टिः) इन्द्रतत्त्व की उन वज्ररूप तीक्ष्ण रश्मियों की प्राप्ति अर्थात् उनका आक्रमण (अस्मे, अम्यक्) हमें अर्थात् इस छन्द रश्मि की कारणरूप ऋषि रश्मियों अर्थात् अगस्त्य संज्ञक ऋषि रश्मियों, जो असुरादि पदार्थों के आक्रमणों से मुक्त रहती हैं, को प्राप्त नहीं होता है। इसका अर्थ यह है कि ऐसी निर्बाध रश्मियों पर वज्र रश्मियों के आक्रमण की कोई आवश्यकता नहीं होती। यहाँ ग्रन्थकार ने दूसरा विकल्प यह दिया कि वे वज्र रश्मियाँ अगस्त्य संज्ञक रश्मियों की ओर आती तो हैं, परन्तु वे सरलतापूर्वक सीधे गमन कर जाती हैं अर्थात् वे अगस्त्य संज्ञक रश्मियों के साथ नहीं टकराती हैं, बल्कि मार्ग में यदि कोई असुरादि पदार्थ विद्यमान हो, तो उन्हें नष्ट करते हुए सीधी चली जाती हैं।

अब २०९वें पद 'यादृश्मिन्' का निगम इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है—'यादृश्मिन्धायि तमपस्यया विदत्'। इस मन्त्र का देवता विश्वेदेवा और छन्द जगती होने से इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से सभी देव पदार्थ दूर-दूर तक फैलने लगते हैं। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(यादृश्मिन्, धायि) 'यादृशेऽधायि' सभी देव पदार्थ जिस प्रकार से धारण किए जाते हैं, (तम्, अपस्यया, विदत्) 'तमपस्ययाविदत्' [अपस्यः = अपस्तु कर्मसु साध्व्यः अत्र 'सुपां सुलुक्' इति जसः स्थाने सुः (म.द.य.भा.१०.७)] वैसे ही वे पदार्थ नाना प्रकार की प्राण रश्मियों की नाना प्रकार की क्रियाओं के द्वारा एक-दूसरे को प्राप्त करते हैं। इसका अर्थ

यह है कि इस सृष्टि में विभिन्न प्रकार के पदार्थ नाना प्रकार की प्राणादि रश्मियों को धारण किए होते हैं। वे पदार्थ उन प्राणादि रश्मियों की क्रिया करने की नाना प्रवृत्तियों के द्वारा एक-दूसरे को आकर्षित एवं प्रतिकर्षित करते रहते हैं।

तदनन्तर २१०वें पद 'जारयायि' का निगम इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है— 'उस्रः पितेव जारयायि यज्ञैः'। इस मन्त्र का देवता अग्नि एवं छन्द निचृत् पंक्ति होने से इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से अग्नितत्त्व तीक्ष्णतापूर्वक फैलने लगता है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(उस्रः, पिता, इव) 'उस्र इव गोपिता [उस्रः = रश्मिनाम (निघं.१.५)] जिस प्रकार से विभिन्न किरणें उत्पन्न होती हैं, उसी प्रकार विभिन्न किरणों का उत्पादक व पालक अग्नि वा सूर्य (यज्ञैः, जारयायि) 'अजायि यज्ञैः' नाना प्रकार की प्राणादि रश्मियों वा कणों के संगमन से उत्पन्न होता है। इसका तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार कोई तरंगाणु नाना प्रकार की छन्द व प्राणादि रश्मियों के संगमन से उत्पन्न होता है, उसी प्रकार सूक्ष्म विद्युदावेशित कण (कथित मूलकण) एवं सूर्य्यादि विशाल लोक नाना प्रकार की प्राण व छन्दादि रश्मियों के संगमन से उत्पन्न होते हैं। इससे यह संकेत मिलता है कि तरंगाणु (क्वाण्टा) एवं सूक्ष्मकण = कथित मूल कण तथा सूर्य्यादि लोकों के निर्माण की प्रक्रिया में बहुत समानता है। इसमें एक समानता यह है कि पहले किसी कण वा लोक के केन्द्रीय भाग का निर्माण होता है, उसके पश्चात् शनैः-शनैः पदार्थ के संघनन से इन तरंगाणु, कण वा सूर्य्यादि लोकों का निर्माण हो जाता है।

* * * * *

= षोडशः खण्डः =

प्र वोऽच्छा जुजुषाणासो अस्थुरभूत विश्वे अग्रियोत वाजाः ॥

[ऋ.४.३४.३]

प्रास्थुर्वो जोषयमाणा अभवत सर्वे। अग्रगमनेनेति वा। अग्रगरणेनेति वा।

अग्रसम्पादिन इति वा। अपि वा अग्रमित्येतत् अनर्थकमुपबन्धमाददीत।
अद्धीदिन्द्र प्रस्थितेमा हवींषि चनो दधिष्व पचतोत सोमम्॥
[ऋ.१०.११६.८]

अद्धीन्द्र प्रस्थितानीमानि हवींषि। चनो दधिष्व।
चनः इत्यन्ननाम। पचतिर्नामीभूतः।
तं मेदस्तः प्रति पचताग्रभीष्टाम्। [यजु.२१.६०] इत्यपि निगमो भवति।
अपि वा मेदसश्च पशोश्च। सात्त्वं द्विवचनं स्यात्।
यत्र ह्येकवचनार्थः प्रसिद्धं तद्भवति।
पुरोळा अग्ने पचतः। [ऋ.३.२८.२] इति यथा।

अब २११वें पद 'अग्रिया' का निगम प्रस्तुत किया गया है—

'प्र वोऽच्छा जुजुषाणासो अस्थुरभूत विश्वे अग्रियोत वाजाः॥'

इस मन्त्र का देवता ऋभवः तथा छन्द स्वराट् पंक्ति है। [ऋभवः = ऋभव उरु भान्तीति वा ऋतेन भान्तीति वा ऋतेन भवन्तीति वा (निरु.११.१६), आदित्यरश्मयोऽप्यृभव उच्यन्ते (निरु.११.१७), ऋभवो वा इन्द्रस्य प्रियं धाम (तां.ब्रा.१४.२.५)] इसका अर्थ यह है कि इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से सूर्य की किरणें प्रकाशित होती हुई फैलने लगती हैं। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(वः, अच्छा, जुजुषाणासः, प्र, अस्थुः) 'प्रास्थुर्वो जोषयमाणा अभवत' सूर्य की किरणों [अच्छा = अच्छाभेराप्तुमिति शाकपूणिः (निरु.५.२८)] का सेवन करने की इच्छा करते हुए अर्थात् उनको अवशोषित करने के लिए विभिन्न कण आदि पदार्थ उनके सम्मुख अर्थात् उनके अभिमुख तीव्रतापूर्वक उनको प्राप्त करने के लिए गमन करते हैं।

(उत, विश्वे, अग्रिया, वाजाः, अभूत) 'सर्वे अग्रगमनेनेति वा अग्रगरणेनेति वा अग्रसम्पादिन इति वा अपि वा अग्रमित्येतत् अनर्थकमुपबन्धमाददीत' [वाजः = बलनाम (निघं.२.९), अन्ननाम (निघं.२.७)। यह 'वज गतौ' धातु से व्युत्पन्न होता है।] सभी प्रकार के कण आदि पदार्थ सूर्य की किरणों के आगे अर्थात् उनके अभिमुख होकर गमन करते हैं और अभिमुख होकर ही उनको निगलते वा अवशोषित करते हैं और अभिमुख होकर ही

[सम्+पद = ढूँढना (सं.धा.को.)] सूर्य की किरणों को खोजते हैं।

इसका अर्थ यह है कि जब कोई प्रकाशाणु किसी सौम्य कण (इलेक्ट्रॉन) की ओर गमन करता है, तो वह उस प्रकाशाणु की दिशा में उसे ग्रहण करने के लिए उसकी ओर घूम जाता है और उसकी स्थिति ऐसी हो जाती है कि मानो वह प्रकाशाणु को खोज रहा हो और उसे ग्रहण करने के लिए आतुर हो।
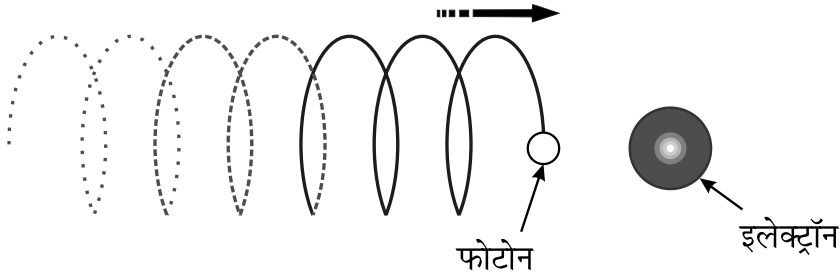
यहाँ ग्रन्थकार का एक मत यह भी है कि 'अग्रिया' पद 'अग्र' ही है और इसके साथ 'या' यह निरर्थक ही जुड़ा हुआ है अर्थात् 'अग्र' को ही 'अग्रिया' लिखा गया है अर्थात् उपबन्ध = प्रत्यय को निरर्थक ही ग्रहण किया गया है। ध्यान रहे कि अग्रिया को अग्र मानकर भी मन्त्र का अर्थ यही होगा।

अब २१२वें पद 'चन:' का निगम इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है— 'अद्धीदिन्द्र प्रस्थितेमा हवींषि चनो दधिष्व पचतोत सोमम्'। इस मन्त्र का देवता इन्द्र तथा छन्द आर्ची स्वराट् त्रिष्टुप् होने से इसके दैवत व छान्दस प्रभाव से इन्द्रतत्त्व विशेष व तीव्र रूप से प्रकाशित होने लगता है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(इन्द्र:, इत्, इमा, प्रस्थिता, हवींषि, अद्धि) 'अद्धीन्द्र प्रस्थितानीमानि हवींषि' वह इन्द्रतत्त्व प्रत्यक्षरूपेण निकट विद्यमान हविरूप पदार्थों को, विशेषकर मरुद् रश्मियों को अवशोषित करता रहता है। यहाँ 'प्र' पूर्वक 'स्था' धातु से निकट विद्यमान के साथ-२ 'गमन कर रही', ऐसा अर्थ भी अभिप्रेत है। इससे संकेत मिलता है कि जो मरुत् रश्मियाँ इन्द्रतत्त्व से दूर जा रही हों, उन्हें भी इन्द्रतत्त्व अपनी ओर आकृष्ट करके अवशोषित करता रहता है। यहाँ 'इत्' पदपूरक मात्र है। [हवि: = मासा हवींषि (श.ब्रा.११.२.७.३)] यहाँ 'हवि:' पद का अर्थ मास रश्मियाँ भी है, जो विभिन्न छन्दादि रश्मियों, तरंगाणुओं व कणों के संयोग में संधानक का कार्य करती हैं। वह इन्द्रतत्त्व इन मास रश्मियों की हवियों को भी

अवशोषित करके विभिन्न संयोगादि क्रियाओं को सम्पादित करने में अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है। (चनः, दधिष्व, पचता, उत, सोमम्) 'चनो दधिष्व चनः इत्यन्ननाम पचतिर्नामीभूतः' [पचता = पचतानि पक्तव्यानि (म.द.य.भा.२१.६०)] वह इन्द्रतत्त्व विभिन्न अन्नरूप संयोज्य कणादि पदार्थों को धारण व पुष्ट करता है अर्थात् उन पदार्थों का अस्तित्व ही विद्युत् के आश्रय पर होता है। इसके अतिरिक्त वह इन्द्रतत्त्व परिपक्व वा तेजस्वी हुए सोम पदार्थ को भी धारण करता है। इसका आशय यह है कि सभी धन वा ऋणावेशित अथवा उदासीन कणों को विद्युत् ही धारण करती है। यहाँ 'पचता' पद आख्यात के स्वरूप का प्रातिपदिक है।

तदनन्तर २१३वें पद 'पचता' का अन्य निगम प्रस्तुत किया गया है— '(इन्द्रः) तं मेदस्तः प्रति पचताग्रभीष्टाम्'। इसका देवता लिङ्गोक्ता तथा छन्द धृतिः है। इस कारण इसके दैवत व छान्दस प्रभाव से विभिन्न पदार्थों का धारण व पोषण होता है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(तम्, प्रति, मेदस्तः) 'अपि वा मेदसश्च पशोश्च' [मेदः = मेदो वै मेधः (श.ब्रा.३.८.४.६)। मेदसः = ञिमिदा स्नेहने (दिवा.) धातोरौणादिक असुन् (वै.को.)। पशुः = पशवो वै सविता (श.ब्रा.३.२.३.११), द्रष्टव्यः (म.द.य.भा.२३.१७)] उस सूर्यलोक के अन्दर विद्यमान विभिन्न प्राण व छन्द रश्मियाँ तथा विभिन्न द्रष्टव्य कण, जो संयोजक बलों से अति सम्पन्न होते हैं। (इन्द्रः, पचता, अग्रभीष्टाम्) 'सात्त्वं द्विवचनं स्यात्' उन कणों व छन्दादि रश्मियों के साथ-२ अन्य अनेक मासादि सन्धानक रश्मियों, जो परिपक्व अवस्था अर्थात् पूर्ण सक्रियावस्था में होती हैं, को इन्द्रतत्त्व ग्रहण करते हैं। विदित रहे कि यहाँ द्रव्य विषय होने से 'पचता' 'पचतौ' का रूप है और 'पचतौ' का अर्थ है— 'पक्वौ'। यहाँ द्विवचन होने से पशु के दो अर्थों का हमने ग्रहण किया है। एक अर्थ है— प्राण व छन्दादि रश्मियाँ तथा दूसरा अर्थ है— द्रष्टव्य कण। यहाँ 'अग्रभीष्टाम्' यह क्रियापद भी द्विवचनान्त है, इस कारण यहाँ 'इन्द्रः' पद से भी दो अर्थों का ग्रहण होता है। जहाँ 'पशु' का अर्थ द्रष्टव्य कण ग्रहण करें, वहाँ 'इन्द्र' का अर्थ विद्युत् होगा और जब 'पशु' का अर्थ प्राण व छन्दादि रश्मियाँ अथवा मासादि रश्मियाँ ग्रहण करें, तब 'इन्द्र' का अर्थ 'वाक्' व 'मन' ही हो सकता है, क्योंकि तत्त्वदर्शियों ने कहा है— 'मन ऽएवेन्द्रः' (श.ब्रा.१२.९.१.१३), 'वाग्वा इन्द्रः' (कौ.ब्रा.२.७)।

यह द्विवचन का उदाहरण हुआ, अब लिखते हैं— 'यत्र ह्येकवचनार्थः प्रसिद्धं तद्भवति' अर्थात् जहाँ एकवचन का अर्थ होता है, वहाँ प्रसिद्ध रूप 'पचतः' का प्रयोग ही पाया जाता है। इसका निगम इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है— 'पुरोळा अग्ने पचतः'। इस मन्त्र का देवता अग्नि और छन्द निचृत् गायत्री होने से अग्नितत्त्व तीक्ष्ण श्वेतवर्णीय तेज से युक्त होता है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(पुरोळाः) [पुरोळा = पुरोडाश इति मे मतम्। पुरोडाशः = य एभ्यो यज्ञं प्रारोचयत्तस्मात् पुरोदाशः, पुरोदाशो ह वै नामैतद् यत् पुरोडाश इति (श.ब्रा.१.६.२.५), यजमानो वै पुरोडाशः (तै.सं.१.५.२.३)] विभिन्न संयोज्य कणों को प्रकाशित और (पचतः, अग्ने) उन्हें परिपक्व करता हुआ अर्थात् उन्हें विशेष सक्रिय करता हुआ अग्नि यजन क्रिया को परिष्कृत करता है।

शुरुधः आपो भवन्ति। शुचं संरुन्धन्ति।

ऋतस्य हि शुरुधः सन्ति पूर्वीः। [ऋ.४.२३.८] इत्यपि निगमो भवति।

अमिनः अमितमात्रः। महान्भवति। अभ्यमितो वा।

अमिनः सहोभिः। [ऋ.६.१९.१] इत्यपि निगमो भवति।

जज्झतीः आपो भवन्ति। शब्दकारिण्यः।

मरुतो जज्झतीरिव। [ऋ.५.५२.६] इत्यपि निगमो भवति।

अप्रतिष्कुतः। अप्रतिष्कृतः। अप्रतिस्खलितो वा।

अस्मभ्यमप्रतिष्कुतः। [ऋ.१.७.६] इत्यपि निगमो भवति।

शाशदानः शाशाद्यमानः।

प्र स्वां मतिमतिरच्छाशदानः। [ऋ.१.३३.१३]

इत्यपि निगमो भवति॥ १६॥

अब २१४वें पद 'शुरुधः' का निर्वचन करते हुए लिखते हैं— 'शुरुधः आपो भवन्ति शुचं संरुन्धन्ति' अर्थात् विभिन्न प्रकार के सूक्ष्म कण, जो सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में फैले हुए हैं, शुरुध कहलाते हैं। इसका कारण बतलाते हुए कहा है कि ये कण ही दीप्ति अर्थात्

प्रकाश व ऊष्मा को अच्छी प्रकार रोकते हैं। इस ब्रह्माण्ड में दो प्रकार के पदार्थ अर्थात् कण एवं प्रकाशाणु सर्वत्र भरे हुए हैं। इनमें से कणों की यह विशेषता होती है कि वे मार्ग में आए हुए प्रकाशाणुओं को अपनी ओर आकृष्ट करके अवशोषित करने की प्रवृत्ति रखते हैं, भले ही उन्हें वह प्रकाशाणु तत्काल ही क्यों न उत्सर्जित करना पड़े। इन कणों के अभाव में विद्युत् चुम्बकीय तरंगें निर्बाध रूप से गमन करती रहती हैं। उधर इस ब्रह्माण्ड में जो भी प्रकाश एवं ऊष्मा का अनुभव होता है, वह भले ही प्रकाशाणु का गुण हो, परन्तु बिना कणों की विद्यमानता के कहीं भी प्रकाश और ऊष्मा का अनुभव नहीं हो सकता। इसलिए इन कणों को 'शुरुध' कहते हैं। इस पद का निगम इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है— 'ऋतस्य हि शुरुधः सन्ति पूर्वीः'। इस सम्पूर्ण मन्त्र की व्याख्या आगे १०.४१ खण्ड में करेंगे।

अब २१५वें पद 'अमिनः' का निर्वचन करते हुए लिखते हैं—

'अमिनः अमितमात्रः महान्भवति अभ्यमितो वा'

अर्थात् जो अपरिमित परिमाण वाला अर्थात् अति विस्तारयुक्त होता है। इसके साथ ही वह अहिंसनीय भी होता है, उसे 'अमिनः' कहा गया है। यहाँ 'अभ्यमितः' शब्द नञ् पूर्वक 'मीञ् हिंसायाम्' धातु से क्त प्रत्यय होकर व्युत्पन्न होता है। इस पद का निगम इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है— '(इन्द्रः) अमिनः सहोभिः'। इस मन्त्र का देवता इन्द्र और छन्द भुरिक् पंक्ति होने से इन्द्रतत्त्व अपने बाहुरूप बलों के साथ विस्तृत होता है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(इन्द्रः, अमिनः) अपरिमित क्षेत्र में फैला हुआ असुरादि पदार्थों के द्वारा कभी नष्ट न होने योग्य इन्द्रतत्त्व (सहोभिः) अपने प्रतिरोधक वा धारक बलों के द्वारा यजन प्रक्रियाओं को समृद्ध करता है।

तदनन्तर २१६वें पद 'जज्झतीः' का निर्वचन करते हुए लिखते हैं— 'जज्झतीः आपो भवन्ति शब्दकारिण्यः' अर्थात् विभिन्न प्रकार के सूक्ष्म कण, जो सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में व्याप्त हो रहे हैं, जज्झती कहलाते हैं। ये सभी कण गमन करते हुए निरन्तर शब्द उत्पन्न करते रहते हैं। स्कन्दस्वामी ने इसका भाष्य करते हुए लिखा है— ''आपोऽभिधेयाः शब्दकारिण्य इति मेघात् पतन्त्यो जज्झतीरित्येवंरूपं शब्दं कुर्वन्तीत्येवंरूपशीलधर्माः।''

यहाँ स्कन्दस्वामी ने आपः का अर्थ जल ग्रहण करके मेघ से गिरती हुई बूँदों से 'जज्झती' शब्द उत्पन्न होने की बात कही है। हमारे मत में सूक्ष्म कणों से भी इसी प्रकार की अति मन्द ध्वनियाँ उत्पन्न होती रहती हैं। ये ध्वनियाँ मध्यमा वाणी के रूप में होती हैं, ऐसा हमारा मत है। यहाँ इस पद का निगम इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है— 'मरुतो जज्झतीरिव ... (रुक्मैः, आ, अर्त्त)'। इस मन्त्र का देवता मरुतः एवं छन्द पंक्ति होने से इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से मरुत् रश्मियाँ दूर-२ तक फैलने लगती हैं। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(मरुतः, जज्झतीः, इव) विभिन्न मरुत् रश्मियाँ 'जज्झती' इस शब्द को मध्यमा रूप में गुँजाने वाले तीव्रगामी कणों के समान (रुक्मैः, आ, अर्त्त) अपनी मन्द दीप्तियों के द्वारा सब ओर व्याप्त होती हैं। इसका अर्थ यह है कि मरुत् रश्मियाँ भी 'जज्झतीः' शब्दरूप सूक्ष्म ध्वनियों को उत्पन्न करती हुए गमन करती हैं। हमारे मत में ये ध्वनियाँ पश्यन्ती वाणी का रूप ही हो सकती हैं।

अब २१७वें पद 'अप्रतिष्कुतः' का निर्वचन प्रस्तुत करते हुए लिखते हैं— 'अप्रतिष्कुतः अप्रतिष्कृतः अप्रतिस्खलितो वा' अर्थात् जो पदार्थ किसी शक्तिशाली बाधक अनिष्ट पदार्थ पर आक्रमण करने के लिए गमन करते समय अनिष्ट पदार्थ से पराभूत होकर वापिस नहीं लौटता, वह पदार्थ 'अप्रतिष्कुतः' वा 'अप्रतिष्कृतः' कहलाता है। इसके साथ ही वह उस हिंसक वा अनिष्ट पदार्थ पर आक्रमण करते समय स्खलित नहीं होता है अर्थात् अप्रतिस्खलित किंवा डटा ही रहता है। उसे अप्रतिष्कुत कहते हैं। इसका निगम इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है— 'अस्मभ्यमप्रतिष्कुतः ... (चरुम्, पावृधि)'। इस मन्त्र का देवता इन्द्र और छन्द गायत्री होने से इन्द्रतत्त्व श्वेतवर्णीय तेज से युक्त होता है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(अस्मभ्यम्) इस छन्द रश्मि की कारणभूत मधुच्छन्दा ऋषि रूप रश्मियों से सम्पन्न विभिन्न संयोज्य कणों के यजन कर्म को सम्पन्न कराने के लिए (अप्रतिष्कुतः) उपर्युक्त विशेषताओं से सम्पन्न इन्द्रतत्त्व (चरुम्, अपावृधि) [चरुः = मेघनाम (निघं.१.१०), चरति चर्यतेऽग्निना भक्ष्यत इति चरुः (उ.को.१.७)। अपावृधि = अप निवारणे। निपातस्य च (अष्टा.६.३.१३६) इति दीर्घः। वृधि उद्घाटयोद्घाटयति वा। (ऋषि दयानन्द भाष्य)] कॉस्मिक मेघों को खोल देता है अर्थात् उन मेघों में इन्द्रतत्त्व के कारण नाना प्रकार की

यजन क्रियाएँ होने लगती हैं। यहाँ 'चरुम्' पद से आसुर मेघों का भी ग्रहण करणीय है, क्योंकि यजन प्रक्रिया प्रारम्भ करने हेतु इन्द्रतत्त्व आसुर मेघों को खोलकर बिखेर देता है।

तदुपरान्त २१८वें पद 'शाशदानः' का निर्वचन करते हुए लिखा है— 'शाशदानः शाशाद्यमानः' यह पद 'शद्लृ शातने' धातु से व्युत्पन्न है। इसका अर्थ है कि जो पदार्थ बार-बार बाधक वा हिंसक पदार्थों को मारते-फेंकते वा जीर्ण करते रहते हैं, वे पदार्थ 'शाशदानः' कहलाते हैं। इस पद का निगम इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है— 'प्र स्वां मतिमतिरच्छाशदानः ... (इन्द्रः)'। इस मन्त्र का देवता इन्द्र तथा छन्द त्रिष्टुप् होने से इन्द्रतत्त्व तीक्ष्ण तेज व बल से युक्त होता है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(इन्द्रः, शाशदानः) असुरादि बाधक व हिंसक पदार्थों को फेंकता, मारता वा दुर्बल करता हुआ इन्द्रतत्त्व (स्वां, मतिम्) [मतिः = वाग्वै मतिर्वाचा हीदं सर्वं मनुते (श.ब्रा.८.१.२.७), प्रजा वै मतयः (तै.आ.५.६.८)] अपनी प्रजारूप तेजयुक्त वज्र रश्मियों को (प्र, अतिरत्) प्रकृष्टार्थे संतरति प्लावयति इति महर्षि दयानन्द भाष्यः अर्थात् प्रकृष्ट रूप से तारता वा समृद्ध करता है। इसका अर्थ यह है कि जब इन्द्रतत्त्व असुरादि पदार्थों पर प्रहार करता है, उस समय ही वह तीक्ष्ण वज्र रश्मियों को प्रकट कर देता है और जैसे-२ वे वज्र रश्मियाँ असुरादि पदार्थ पर प्रहार करने हेतु गमन करती हैं, वैसे-वैसे उनकी तीव्रता बढ़ती ही जाती है। इस कारण ही वे उन असुरादि पदार्थों को छिन्न-भिन्न कर पाती हैं।

* * * * *

सप्तदशः खण्डः

सृप्रः सर्पणात्। इदमपीतरत् सृप्रमेतस्मादेव। सर्पिर्वा। तैलं वा।
सृप्रकरस्नमूतये। [ऋ.८.३२.१०] इत्यपि निगमो भवति।
करस्नौ बाहू। कर्मणां प्रस्नातारौ। सुशिप्रम् एतेन व्याख्यातम्।
वाजे सुशिप्र गोमति। [ऋ.८.२१.८] इत्यपि निगमो भवति।
शिप्रे हनू नासिके वा। हनुर्हन्तेः। नासिका नसतेः।

विष्यस्व शिप्रे वि सृजस्व धेने। [ऋ.१.१०१.१०] इत्यपि निगमो भवति। धेना दधातेः। रंसु रमणात्।
स चित्रेण चिकिते रंसु भासा। [ऋ.२.४.५] इत्यपि निगमो भवति।

अब २१९वें पद 'सृप्रः' का निर्वचन करते हुए लिखते हैं— 'सृप्रः सर्पणात् इदमपीतरत् सृप्रमेतस्मादेव सर्पिर्वा तैलं वा' अर्थात् जो पदार्थ सरकते हुए गमन करते हैं अथवा सर्पिलाकार गमन करते हैं, वे 'सृप्र' कहलाते हैं। इसके अनेक उदाहरण इस सृष्टि में पाये जाते हैं। यहाँ ग्रन्थकार ने दो लौकिक उदाहरण देकर उन्हें भी सृप्र नाम दिया है। ये दो पदार्थ हैं— सर्पिः एवं तैल अर्थात् पिघला हुआ घृत व तेल भी सृप्र कहलाते हैं। [सर्पिः = उदकनाम (निघं.१.१२), यदसर्पत् तत् सर्पिः (मै.सं.२.३.४)] उधर सृष्टि में वे सभी पदार्थ, जो अन्य पदार्थों को सिञ्चित करके संतृप्त करने वाले होते हैं, वे भी 'सर्पिः' कहलाते हैं। इस प्रकार अनेक प्रकार की सूक्ष्म रश्मियाँ भी सृप्र कहलाती हैं। इसका निगम प्रस्तुत करते हैं— 'सृप्रकरस्नमूतये ... (हवामहे)'। इस मन्त्र का देवता इन्द्र तथा छन्द गायत्री होने से इन्द्रतत्त्व श्वेतवर्णीय तेजयुक्त होता है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(सृप्रकरस्नम्) 'करस्नौ बाहू कर्मणां प्रस्नातारौ' विभिन्न प्रकार की क्रियाओं से सम्पृक्त दूर-२ तक फैले हुए बाहुरूप बलों से युक्त इन्द्रतत्त्व को (ऊतये, हवामहे) अपने रक्षण, गति एवं बलादि से सम्पन्नता हेतु सभी देव पदार्थ सतत आकृष्ट करते रहते हैं किंवा बिना इन्द्रतत्त्व के इन देव पदार्थों का असुरादि बाधक व हिंसक पदार्थों से रक्षण के साथ-२ उनमें गति एवं बलादि का होना भी सम्भव नहीं है। यहाँ 'करस्न' शब्द से यह भी अर्थ निकलता है कि इन्द्रतत्त्व के बल सदैव सक्रिय रहते हैं।

तदनन्तर २२०वें पद 'सुशिप्रम्' को 'सृप्रः' की भाँति व्याख्यात माना है। इसका अर्थ यह है कि 'सु' पूर्वक 'शिप्रम्' तथा 'सृप्र' को 'शिप्र' आदेश होकर 'सुशिप्रम्' पद का निर्वचन माना है। इसका निगम इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है— 'वाजे सुशिप्र गोमति...(आ, शिशीहि)'। इस मन्त्र का देवता इन्द्र और छन्द निचृत् पंक्ति होने से इन्द्रतत्त्व तीक्ष्णतापूर्वक परिपक्व और विस्तृत होता है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(वाजे, गोमति) [वाजः = अन्ननाम (निघं.२.७), वाजे = संग्रामनाम (निघं.२.१७), वीर्यं वै वाजाः (श.ब्रा.३.३.४.७), वाजो वै स्वर्गो लोकः (तां.ब्रा.१८.७.१२), वाजो वै पशवः (ऐ.ब्रा.५.८)] सूर्यादि तेजस्वी लोकों के केन्द्रीय भाग में तीव्र संयोज्य बलों से सम्पन्न प्राण व छन्दादि रश्मियों एवं कणों के संघात की प्रक्रिया, जिसमें नाना प्रकार की किरणों का भी निरन्तर संघात होता रहता है किंवा वे किरणें उस केन्द्रीय भाग में प्रचुरता से विद्यमान होती हैं, उस ऐसे केन्द्रीय भाग में (सुशिप्र) 'शिप्रे हनू नासिके वा हनुर्हन्तेः नासिका नसतेः' [नासिका = नसते गतिकर्मा (निघं.२.१४)] उत्तम प्रहारक एवं प्रापक शक्ति से सम्पन्न इसके साथ ही नाना प्रकार की प्राणादि रश्मियों के प्रवाह को मार्ग प्रदान करने वाला किंवा उनसे सम्पन्न इन्द्रतत्त्व (आ, शिशीहि) [शिशीहि = शिशीतिर्दानकर्मा (निरु.५.२३)] नाना प्रकार के कणों एवं विकिरणों का सब ओर से आदान-प्रदान करता है।

अब इसी पद के स्थान पर 'शिप्रे' पद का यह निगम प्रस्तुत किया गया है— '(इन्द्र) विष्यस्व शिप्रे वि सृजस्व धेने'। इस मन्त्र का देवता इन्द्र एवं छन्द निचृत् त्रिष्टुप् होने से इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से इन्द्रतत्त्व तीक्ष्ण रक्तवर्णीय तेज से युक्त परिपक्व होता हुआ विस्तृत होता है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(इन्द्र, शिप्रे) इन्द्रतत्त्व अपनी असुरादि संहारक एवं नाना प्रकार के देव कणों की प्रापक शक्ति को प्राप्त करने के लिए (विसृजस्व, धेने) 'धेना दधातेः' [धेनाः = अन्नं वै धेनाः (श.ब्रा.७.५.२.११), वाङ्नाम (निघं.१.११)] संयोजक बलों से युक्त नाना प्रकार की वाक् रश्मियों को छोड़ता अर्थात् उत्सर्जित करता है। इसके साथ ही वह इन्द्रतत्त्व (वि, ष्यस्व) स्वराज्येन विशेषतः प्राप्नुहि -ऋषि दयानन्द वेदभाष्य। अपने वैद्युत तेज के द्वारा सभी देव पदार्थों को विशेष रूप से व्याप्त करता है, जिसके कारण वे पदार्थ संघातों को प्राप्त होने लगते हैं।

अब २२१वें पद 'रंसु' का निर्वचन प्रस्तुत करते हैं— 'रंसु रमणात्' अर्थात् जो पदार्थ नाना प्रकार की क्रियाएँ करने के स्वभाव वाले होते हैं, वे रंसु कहलाते हैं। इस पद का निगम इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है— 'स चित्रेण चिकिते रंसु भासा'। इस मन्त्र का देवता अग्नि और छन्द आर्षी पंक्ति होने से इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से अग्नितत्त्व तेजस्वी और विस्तृत होने लगता है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(सः, चित्रेण, भासा) वह अग्नि अपने अद्भुत प्रकाश के द्वारा (रंसु, चिकिते) गति वा

नाना प्रकार क्रीड़ा करते हुए विभिन्न देव कणों को प्रकाशित करके जनाता है। इसका अर्थ यह है कि विभिन्न कण अग्नि के अभाव में कभी भी किसी के द्वारा देखे वा अनुभव नहीं किए जा सकते हैं।

द्विबर्हा। द्वयोः स्थानयोः परिवृढः। मध्यमे च स्थान उत्तमे च।
उत द्विबर्हा अमिनः सहोभिः। [ऋ.६.१९.१] इत्यपि निगमो भवति।
अक्रः। आक्रमणात्।
अक्रो न बभ्रिः समिथे महीनाम्। [ऋ.३.१.१२] इत्यपि निगमो भवति।
उराणः। उरु कुर्वाणः।
दूत ईयसे प्रदिव उराणः। [ऋ.४.७.८] इत्यपि निगमो भवति।
स्तियाः। आपो भवन्ति। स्त्यायनात्।
वृषा सिन्धूनां वृषभः स्तियानाम्। [ऋ.६.४४.२१]
इत्यपि निगमो भवति।
स्तिपाः स्तियापालनः। उपस्थितान्पालयतीति वा।
स नः स्तिपा उत भवा तनूपाः। [ऋ.१०.६९.४] इत्यपि निगमो भवति।

तदनन्तर २२२वें पद 'द्विबर्हः' का निर्वचन करते हुए लिखते हैं— 'द्विबर्हा द्वयोः स्थानयोः परिवृढः मध्यमे च स्थान उत्तमे च'। इसका अर्थ यह है कि जो पदार्थ मध्यम एवं उत्तम अन्तरिक्ष एवं द्युलोक में एक साथ बढ़ा हुआ होता है अर्थात् विस्तार को प्राप्त होता है, उसे द्विबर्हः कहते हैं। निश्चित ही ऐसा पदार्थ इन्द्रतत्त्व ही होता है। इसका निगम इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है— 'उत द्विबर्हा अमिनः सहोभिः ... (इन्द्रः, वावृधे)'। इस मन्त्र का देवता इन्द्र तथा छन्द भुरिक् पंक्ति होने से इसके दैवत व छान्दस प्रभाव से इन्द्रतत्त्व अपने बाहुरूप बलों के साथ विस्तृत एवं परिपक्व होने लगता है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(उत, द्विबर्हाः, इन्द्रः, अमिनः) और वह इन्द्रतत्त्व, जो अन्तरिक्ष एवं द्युलोक दोनों ही क्षेत्रों में सब ओर वर्धमान होता है तथा जो अपरिमित बल तथा असुरादि हिंसक व बाधक

पदार्थों के द्वारा सदैव अहिंसनीय ही होता है, (सहोभिः, वावृधे) अपने प्रतिरोधक व धारक बलों के साथ निरन्तर समृद्ध होता जाता है। यहाँ 'द्विबर्हः' पद से यह भी संकेत मिलता है कि सूर्यादि लोकों के निर्माण के समय सूर्य का केन्द्रीय भाग, जो द्युलोक का चरम रूप है एवं उसका बाहरी क्षेत्र, जिसमें आकाशतत्त्व अपेक्षाकृत अधिक विस्तृत होता है, दोनों ही स्थानों पर इन्द्रतत्त्व अपने बलों के साथ समृद्ध होता रहता है। इन लोकों के बाहरी विशाल भाग में विद्युत् बलों की दुर्बलता रहने पर केन्द्रीय भाग का भी निर्माण नहीं हो सकता।

तदनन्तर २२३वें पद 'अक्रः' का निर्वचन करते हुए लिखते हैं— 'अक्रः आक्रमणात्' अर्थात् जिस पर आक्रमण करना सहज न हो अर्थात् जिसे पार करना दुष्कर हो, वह पदार्थ 'अक्रः' कहलाता है। इसका निगम इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है— 'अक्रो न बभ्रिः समिथे महीनाम् ... (अग्निः)'। इस मन्त्र का देवता अग्नि तथा छन्द निचृत् त्रिष्टुप् होने से इसके दैवत व छान्दस प्रभाव से अग्नितत्त्व तीक्ष्ण तेज व बल से युक्त होता है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(अक्रः, न, अग्निः) तीक्ष्ण अग्नि अभेद्य पदार्थों के समान किंवा वह अग्नि आसुर पदार्थों के द्वारा आक्रमण न होने योग्य होता है अर्थात् उस पर बाधक वा हिंसक पदार्थ का प्रभाव नहीं होता है, ऐसा अक्रः अग्नि (बभ्रिः, समिथे, महीनाम्) [समिथे = संग्रामनाम (निघं.२.१७)] नाना प्रकार के संग्राम अर्थात् संघर्षण वा संघातों की प्रक्रिया के समय [मही = मही महती (निरु.४.२१), वाङ्नाम (निघं.१.११), द्यावापृथिवीनाम (निघं.३.३०)] व्यापक वाक् रश्मिसमूह एवं उसके द्वारा द्यु एवं पृथिव्यादि लोकों वा कणों को धारण करता है। यहाँ यह भी संकेत मिलता है कि विभिन्न संघात वा संघर्षण की प्रक्रियाओं के समय अग्नितत्त्व विभिन्न प्रकाशित व अप्रकाशित कणों को धारण करता है एवं उन्हें पुष्ट करता अर्थात् बल प्रदान करता है।

तदनन्तर २२४वें पद 'उराणः' का निर्वचन करते हुए लिखते हैं— 'उराणः उरु कुर्वाणः' अर्थात् किसी अल्प पदार्थ को व्यापक वा बृहत् बनाने वाला किंवा किसी संकुचित क्षेत्र में विद्यमान पदार्थ को व्यापक बनाने वाला पदार्थ 'उराणः' कहलाता है। इस पद का निगम इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है— 'दूत ईयसे प्रदिव उराणः'। इस मन्त्र का देवता अग्नि और छन्द निचृत् त्रिष्टुप् होने से अग्नितत्त्व तीक्ष्ण तेज से युक्त होता है।

इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(दूतः, प्रदिवः) [दूतः = जवतेर्वा द्रवतेर्वा वारयतेर्वा (निरु.५.१)। प्रदिवः = पूर्वेष्वप्यहस्सु (निरु.४.८)] वह अग्नितत्त्व दूत रूप बनकर प्राचीन एवं अर्वाचीन दोनों ही प्रकार के तारों के अन्दर (उराणः, ईयसे) अनेक प्रकार के अल्प शक्ति वाले पदार्थों को महती शक्तिसम्पन्न बनाता है तथा एक क्षेत्र में विद्यमान पदार्थों को दूर-दूर क्षेत्रों में फैलाता रहता है। यहाँ दूतः पद के निर्वचन को समझकर अग्नि का दूत कर्म जानने के लिए पूर्व में व्याख्यात खण्ड ५.१ पठनीय है।

अब २२५वें पद 'स्तियाः' का निर्वचन करते हुए लिखते हैं— 'स्तियाः आपो भवन्ति स्त्यायनात्' अर्थात् स्तियाः आपः को कहते हैं। इसका अर्थ यह है कि विभिन्न तन्मात्राएँ अर्थात् विभिन्न प्रकार के अणुओं की धाराएँ 'स्तियाः' कहलाती हैं। यह पद 'स्त्यै शब्दसंघातयोः' धातु से व्युत्पन्न होता है। इसका अर्थ यह है कि पदार्थ की जो धाराएँ ध्वनि उत्पन्न करती हुई संघात को प्राप्त होती हैं, उन्हें स्तिया कहते हैं। इसका निगम इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है— 'वृषा सिन्धूनां वृषभः स्तियानाम्'। इस मन्त्र का देवता इन्द्र और छन्द त्रिष्टुप् होने से इन्द्रतत्त्व तीव्र तेजस्वी होता है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(वृषा, सिन्धूनाम्) [सिन्धुः = सिन्धुः स्रवणात् (निरु.५.२७), सिन्धूनाम् = स्यन्दमानानाम् (निरु.१०.५) तद् यदेतैरिदं सर्वं सितं तस्मात् सिन्धवः (जै.उ.१.२९.९)] वह इन्द्रतत्त्व प्रवहणशील पदार्थों तथा बन्धक बलों से युक्त पदार्थों को बल प्रदान करने वाला होता है। इसका अर्थ यह है कि पदार्थ की धाराएँ एवं संयोजक बलों से युक्त पदार्थ विद्युत् बलों के प्रभाव से अधिक सक्षम वा सक्रिय होने लगते हैं। इसलिए ऋषियों का कथन है— 'इन्द्रो वै वृषा' (तां.ब्रा.९.४.३)। इसके साथ ही संयोजी बलों से युक्त विभिन्न कणों के बलों को भी इन्द्रतत्त्व समृद्ध करता है। इन्द्र के कारण ही सूर्य एवं कॉस्मिक मेघ आदि के अन्दर पदार्थ की धाराएँ बहती रहती हैं। (वृषभः, स्तियानाम्) ध्वनि उत्पन्न करने वाले एवं संघात को प्राप्त हो रहे कणों को इन्द्रतत्त्व ही बल प्रदान करता है।

अब २२६वें पद 'स्तिपाः' का निर्वचन करते हुए लिखते हैं— 'स्तिपाः स्तियापालनः उपस्थितान्पालयतीति वा' अर्थात् जो पदार्थ बहते हुए पदार्थ की धाराएँ एवं ध्वनि उत्पन्न करने वाले पदार्थों का पालक और रक्षक होता है, वह पदार्थ स्तिपाः कहलाता

है। जो पदार्थ अपने सम्मुख उपस्थित पदार्थों के पालक होते हैं, वे भी 'स्तिपाः' कहलाते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि जो पदार्थ अपने सम्मुख उपस्थित पदार्थों की बाधक व हिंसक आदि पदार्थों से रक्षा करते हैं, वे 'स्तिपाः' कहलाते हैं। इस पद का निगम इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है— 'स नः स्तिपा उत भवा तनूपाः'। इस मन्त्र का देवता अग्नि तथा छन्द निचृत् त्रिष्टुप् होने से इसके दैवत व छान्दस प्रभाव से अग्नितत्त्व तीक्ष्ण तेज से युक्त होता है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(सः) वह अग्नितत्त्व (नः) हमारे अर्थात् इस छन्द रश्मि की कारणरूप ऋषि रश्मियों [इस मन्त्र का ऋषि वाध्र्यश्वः सुमित्रः है। यहाँ वध्रि का अर्थ स्वामी ब्रह्ममुनि परिव्राजक ने अपने वेदभाष्य में नियन्त्रित अश्व किया है।] अर्थात् नियन्त्रित एवं सुसंयोजक बलों से सम्पन्न सूक्ष्म रश्मियों के सम्मुख (स्तिपाः) विद्यमान विभिन्न संयोजक कणों वा रश्मियों (उत) और (तनूपाः) [तनूः = तन्यन्ते कर्माण्यनेनेति तनुः (उ.को.१.७), आत्मा वै तनूः (श.ब्रा. ६.७.२.६)] उनके मध्य नाना प्रकार की संयोजक क्रियाओं को विस्तार देने वाली सूत्रात्मा वायु रश्मियों का पालक व रक्षक (भवा) होता है। इसका अर्थ यह है कि अग्नि की उपस्थिति में ही सूत्रात्मा वायु एवं अन्य संयोजक रश्मियाँ विशेष क्रियाशील व प्रभावी होती हैं। अवगत रहे कि अग्नितत्त्व सूत्रात्मा वायु रश्मियों की अपेक्षा बहुत स्थूल पदार्थ है, पुनरपि यहाँ अग्नि को सूत्रात्मा वायु रश्मियों का रक्षक कहने का तात्पर्य मात्र यही है कि ऊष्मा और विद्युत् की उपस्थिति में संयोजक बल अधिक प्रभावी होते हैं।

जबारु जवमानरोहि। जरमाणरोहि। गरमाणरोहीति वा।

अग्रे रुप आरुपितं जबारु। [ऋ.४.५.७] इत्यपि निगमो भवति।

जरूथं गरूथं गृणातेः।

जरूथं हन्यक्षि राये पुरन्धिम्। [ऋ.७.९.६] इत्यपि निगमो भवति।

कुलिश इति वज्रनाम। कूलशातनो भवति।

स्कन्धांसीव कुलिशेना विवृक्णाहिः शयत उपपृक् पृथिव्याः।

[ऋ.१.३२.५]

स्कन्धो वृक्षस्य। समास्कन्नो भवति। अयमपीतरस्कन्ध एतस्मादेव।

आस्कन्नं काये। अहिः शयते। उपपर्चनः पृथिव्याः।
तुञ्जः तुञ्जतेर्दानकर्मणः॥ १७॥

अब २२७वें पद 'जबारु' का निर्वचन करते हुए लिखते हैं— 'जबारु जवमानरोहि जरमाणरोहि गरमाणरोहीति वा' यहाँ 'जवति गतिकर्मा' (निघं.२.१४) धातु का प्रयोग है। उधर महर्षि याज्ञवल्क्य का कथन है— 'वीर्यं वै जवः' (श.ब्रा.१३.४.२.२)। यहाँ उपर्युक्त निर्वचन का अर्थ यह है कि जबारु उस तीव्र गतिशील लोक को कहते हैं, जो अत्यन्त बल एवं वेगपूर्वक अपने मार्ग पर आरूढ़ होता है, जो [जरा = जरा स्तुतिः (निरु.१०.८), जरते अर्चतिकर्मा (निघं.३.१४), यजमानो जरिता (ऐ.ब्रा.३.३८)] तीव्रता से प्रकाशित होता हुआ एवं अपने साथ असंख्य प्रकार की रश्मियों को संगत करता हुआ साथ ही अनेक लोकों को भी अपने साथ संगत करता हुआ अपनी कक्षाओं में आरूढ़ होता है। इसके अतिरिक्त जो गमन करते हुए नाना प्रकार के सूक्ष्म पदार्थों और आकाशीय पिण्डों को निगलता हुआ अपने मार्ग पर आरूढ़ होता है, वह लोक जबारु कहलाता है। हमारी दृष्टि में सूर्यादि विशाल तेजस्वी लोक जबारु कहलाते हैं। यहाँ 'जरमाणः' से यह भी संकेत मिलता है कि अपनी कक्षा में उठता हुआ कोई भी तारा आकाशगंगा के केन्द्र के गुरुत्व बल के प्रबल बन्धनों को जीर्ण करता हुआ तीव्र वेग से अपनी कक्षा में स्थापित होता है। पण्डित भगवद्दत्त रिसर्च स्कॉलर ने इसके भाष्य में पृथिवी से सूर्य का ऊपर उठना माना है, वह भी सत्य है, क्योंकि इन दोनों लोकों के मध्य दूरी भी बढ़ी थी। उनका भाष्य इस प्रकार है—

"इन्द्र की फैली हुई भुजाएं। इन का भौतिक रूप अन्वेषणीय है। गोमति वाजे। गौओं वाले संग्राम में। रश्मिविशेषों के संग्राम का इन शब्दों में संकेत है। द्विबर्हाः। महान् इन्द्र मध्यम स्थान और द्युः स्थान में बढ़ा हुआ है। इन्द्र का अपना स्थान अन्तरिक्ष में है, पर वह तृतीय स्थान में भी बढ़ा हुआ है। इस वृद्धि का प्रकार भी मन्त्रों से देखना चाहिए। स्तियाः, ये कैसे आपः हैं। इन आपः से अन्तरिक्षस्थ नदियाँ कैसे भरी रहती हैं। इन का स्त्यायन किन नियमों के अन्तर्गत होता है, ये सब वेद की विद्याओं के विषय हैं।

जबारु, वेग से आरोहण करने वाला आदित्य मण्डल देवों द्वारा पृथिवी से ऊपर चढ़ा कर आरोपित किया गया। इसी भाव को एक ऋक् कहती है— [इन्द्र] आ सूर्यं रोहयद् दिवि (१.७.३) इन्द्र ने सूर्य को आरोहयत् = चढ़ाया द्युलोक में। पुनश्च तैत्तिरीय

संहिता का प्रवचन द्रष्टव्य है— असावादित्योऽस्मिन् लोक आसीत् तं देवाः पृष्ठैः परिगृह्य सुवर्गं लोकम् अगमयन् (७.३.१०) मै.सं. में भी ऐसा ही विज्ञान बताया गया है— इह वा असा आदित्य आसीत्। तमितोऽध्यमुं लोकम् अहरन्। (१.११.७) यह सूर्य पहले पृथिवी के पास ही था। तदनु उसे देवों ने ऊपर-ऊपर चढ़ा कर द्युलोक में स्थापित किया। यास्क ने जबारु पद के निर्वचन जवमानरोहि = वेगपूर्वक आरोहण करने वाला कहकर सारा भाव स्पष्ट किया है। यास्क के इस पद के शेष दो निर्वचन भी गम्भीर तथ्यों का संकेत करते हैं। जब आदित्य मण्डल ऊपर की ओर वेग से चढ़ रहा था, तब यह अनेक पदार्थों को जीर्ण करता जा रहा था और अनेक पदार्थों को गरमाण करता हुआ अर्थात् निगलता हुआ जा रहा था। दुर्ग और स्कन्द ने इन दोनों भावों को स्पष्ट नहीं किया। सायण इन भावों को समझ नहीं पाया। वेदविद्या बहुत काल से लुप्त सी हो रही है।''

इसका निगम इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है— 'अग्रे रुप आरुपितं जबारु'। इस मन्त्र का देवता वैश्वानर अग्नि तथा छन्द निचृत् त्रिष्टुप् होने से इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से सूर्यादि लोकों का अग्नि तीक्ष्ण तेज और बल से युक्त होता है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(अग्रे, रुपः) [रुपः = रुप विमोहने धातोः क्विप् (वै.को.)] भ्रान्त पथों पर गमन करते हुए विभिन्न ग्रहादि लोकों के अपनी स्थिर कक्षा में आरोहण करने से पूर्व (आरुपितम्, जबारु) सूर्यादि तारे [आरोहणम् = आ+रुह+णिच्+ल्युट्, पुकागमः (वै.को.)] अपनी स्थिर कक्षाओं में आरूढ़ हो जाते हैं। ग्रहों से पूर्व तारों के आरोहण की प्रक्रिया के लिए 'वेदविज्ञान-आलोकः' ४.१८.४ पठनीय है।

तदनन्तर २२८वें पद 'जरूथम्' का निर्वचन करते हुए लिखते हैं— 'जरूथं गरूथं गृणातेः' अर्थात् गरूथम् को ही जरूथम् कहा गया है, जिसका अर्थ है— [गृणाति अर्चतिकर्मा (निघं.३.१४)] प्रकाशित होने वाला अथवा प्रकाशित होता हुआ ध्वनि तरंगें उत्पन्न करने वाला। इसका निगम इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है— '(वसिष्ठः) जरूथं हन्यक्षि राये पुरन्धिम्'। इस मन्त्र का देवता अग्नि और छन्द स्वराट् पंक्ति होने से इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से अग्नि प्रकाशित और परिपक्व होता हुआ विस्तृत होता है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(वसिष्ठः, जरूथम्, हन्) सबको बसाने वाला अग्नि प्रकाश एवं ध्वनि से सम्पन्न अवस्था

को प्राप्त करता हुआ (राये) [रायः = पशवो वै रायः (श.ब्रा.३.३.१.८), धननाम (निघं. २.१०)। पशवः = पशवो वै सविता (श.ब्रा.३.२.३.११) अन्नं पशवः (श.ब्रा.६.२.१. १५)] विभिन्न संयोज्य कणों को संघनित करके सूर्यलोक के निर्माण के लिए (पुरन्धिम्, यक्षि) अनेक छन्दादि रश्मियों को धारण करने वाले तथा अनेक प्रकार के कर्म करने वाले इन्द्रतत्त्व को अपने साथ संगत करता है। इस सबका आशय यह है कि सूर्यलोक के निर्माण के समय ऊष्मा एवं विद्युत् दोनों के ही संगम की अनिवार्यता होती है।

अब २२९वें पद 'कुलिशः' का निर्वचन करते हुए लिखते हैं— 'कुलिश इति वज्रनाम कूलशातनो भवति' अर्थात् कुलिश वज्र रश्मियों को कहते हैं और इनको कुलिश इस कारण कहते हैं, क्योंकि वज्र रश्मियाँ जिस पदार्थ पर आक्रमण करती हैं, उस पदार्थ के किनारों का ही छेदन करके उन्हें छिन्न-भिन्न करती हैं। इसका निगम इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है— 'स्कन्धांसीव कुलिशेना विवृक्णाहिः शयत उपपृक् पृथिव्याः'। इस मन्त्र का देवता इन्द्र एवं छन्द त्रिष्टुप् होने से इन्द्रतत्त्व तीव्र तेज और बल से युक्त होता है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(स्कन्धांसि, इव, कुलिशेना) 'स्कन्धो वृक्षस्य समास्कन्नो भवति अयमपीतरस्कन्ध एतस्मादेव आस्कन्नं काये' [वृक्षः = व्रश्चनात् वृत्वा क्षां तिष्ठतीति वा (निरु.२.६)] इन्द्रतत्त्व अपनी वज्र रश्मियों के द्वारा वृक्ष की शाखाओं की भाँति (विवृक्णा) असुर आदि पदार्थ को छिन्न-भिन्न करता है। यहाँ 'इव' पद को अनर्थक मानकर यह तथ्य प्रकट होता है कि पृथिव्यादि लोकों को आच्छादित करने वाले आसुर मेघ को इन्द्रतत्त्व अपनी वज्र रश्मियों से छिन्न-भिन्न कर देता है।

(अहिः, शयते, उपपृक्, पृथिव्याः) 'अहिः शयते उपपर्चनः पृथिव्याः' [अहिः = मेघनाम (निघं.१.१०), अथ यदपात्समभवत्तस्मादहिः (श.ब्रा.१.६.३.९)] वह छिन्न-भिन्न हुआ आसुर मेघ पृथिवी अर्थात् आकाश को स्पर्श करता हुआ गति वा शक्ति से विहीन होकर सो जाता है अर्थात् जब इन्द्रतत्त्व के प्रहार से आसुर मेघ छिन्न-भिन्न हो जाता है, तब उसके अवयव निष्क्रिय होकर आकाश में समा जाते हैं अथवा बिखर जाते हैं।

अब २३०वें पद 'तुञ्जः' का निर्वचन करते हुए लिखते हैं—

'तुञ्जः तुञ्जतेर्दानकर्मणः'

अर्थात् तुञ्जः दान को कहते हैं। यह पद दानार्थक तुञ्ज धातु से व्युत्पन्न होता है। इसका निगम अगले खण्ड में प्रस्तुत किया गया है।

* * * * *

= अष्टादशः खण्डः =

तुञ्जेतुञ्जे य उत्तरे स्तोमा इन्द्रस्य वज्रिणः।
न विन्धे अस्य सुष्टुतिम्॥ [ऋ.१.७.७]
दाने दाने य उत्तरे स्तोमा इन्द्रस्य वज्रिणो नास्य तैर्विन्दामि समाप्तिं स्तुतेः।
बर्हणा परिबर्हणा।
बृहच्छ्रवा असुरो बर्हणा कृतः। [ऋ.१.५४.३]
इत्यपि निगमो भवति॥ १८॥

'तुञ्जः' पद का निगम इस प्रकार है—

तुञ्जेतुञ्जे य उत्तरे स्तोमा इन्द्रस्य वज्रिणः।
न विन्धे अस्य सुष्टुतिम्॥

इस मन्त्र का ऋषि मधुच्छन्दा है, जिसका अर्थ पूर्ववत् समझें। इसका देवता इन्द्र और छन्द गायत्री होने से इन्द्रतत्त्व श्वेतवर्णीय तेजयुक्त होता है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(तुञ्जे, तुञ्जे) 'दाने दाने' विभिन्न कणों के दान की प्रत्येक प्रक्रिया में अर्थात् जब कोई सूक्ष्म कण किसी अन्य स्थूल कण से पृथक् होता है, उस समय (ये, उत्तरे, स्तोमाः, इन्द्रस्य, वज्रिणः) 'य उत्तरे स्तोमा इन्द्रस्य वज्रिणः' वज्र रश्मियों से युक्त इन्द्रतत्त्व की जो भी उत्कृष्ट रश्मियाँ होती हैं अर्थात् जो भी वज्र रश्मियाँ होती हैं, उन्हें (न, विन्धे) 'न तैर्विन्दामि' मधुच्छन्दा नामक ऋषि रश्मियाँ व्याप्त नहीं करती हैं। (अस्य, सुष्टुतिम्) 'अस्य समाप्तिं स्तुतेः' और न ही उस दान प्रक्रिया की समाप्ति पर जो भी स्तोम रश्मियाँ

उत्पन्न होती हैं, उन्हें ही मधुच्छन्दा ऋषि रश्मियाँ प्राप्त करती हैं।

भावार्थ— जब किसी स्थूल कण से सूक्ष्म कण पृथक् हो रहे होते हैं, उस सम्पूर्ण प्रक्रिया के अन्तराल में प्राणादि आकर्षण बलयुक्त रश्मियाँ उन पृथक्कर्त्री रश्मियों में व्याप्त नहीं हो सकती हैं। यदि ऐसा हो जाता, तो पृथक्करण वा विखण्डन की प्रक्रिया ही नहीं हो पाती, बस इसका यही आशय है।

ऋषि दयानन्द ने इस मन्त्र का आध्यात्मिक भाष्य किया है, जिसे हम यहाँ उद्धृत कर रहे हैं—

"**पदार्थः** — (तुञ्जेतुञ्जे) दातव्ये दातव्ये (ये) (उत्तरे) सिद्धान्तसिद्धाः (स्तोमाः) स्तुतिसमूहाः (इन्द्रस्य) सर्वदुःखविनाशकस्य (वज्रिणः) वज्रोऽनन्तं प्रशस्तं वीर्य्यमस्यास्तीति तस्य। अत्र भूमार्थे प्रशंसार्थे च मतुप्। वीर्य्यं वै वज्रः। श.ब्रा.७.३.१.५ (न) निषेधार्थे (विन्धे) विन्दामि। अत्र वर्णव्यत्ययेन दकारस्य धकारः। (अस्य सुष्टुतिम्) परमेश्वरस्य शोभनां स्तुतिम्।

यास्कमुनिरिमं मन्त्रमेवं व्याख्यातवान्— तुञ्जस्तुञ्जतेर्दानकर्मणः। दाने दाने य उत्तरे स्तोमा इन्द्रस्य वज्रिणो नास्य तैर्विन्दामि समाप्तिं स्तुतेः। निरु.६.१८॥

भावार्थः — ईश्वरेणास्मिन् जगति जीवानां सुखायैतेषु पदार्थेषु स्वशक्तेर्यावन्तो दृष्टान्ता यादृशं रचनं यादृशा गुणा उपकारार्थं रक्षिता वर्त्तन्ते तावतः सम्पूर्णान् वेत्तुं नाहं समर्थोऽस्मि। नैव कश्चिदीश्वरगुणानां समाप्तिं वेत्तुमर्हति। कुतः, तस्यैतेषामनन्तत्वात्। परन्तु मनुष्यैरेतेभ्यः पदार्थेभ्यो यावानुपकारो ग्रहीतुं शक्योऽस्ति तावान्प्रयत्नेन ग्राह्य इति।

पदार्थ— (ये) जो (वज्रिणः) अनन्त पराक्रमवान् (इन्द्रस्य) सब दुःखों के विनाश करने हारे (अस्य) इस परमेश्वर के (तुञ्जेतुञ्जे) पदार्थ पदार्थ के देने में (उत्तरे) सिद्धान्त से निश्चित किये हुए (स्तोमाः) स्तुतियों के समूह हैं, उनसे भी (अस्य) परमेश्वर की (सुष्टुतिम्) शोभायमान स्तुति का पार मैं जीव (न) नहीं (विन्धे) पा सकता हूँ।

भावार्थ— ईश्वर ने इस संसार में प्राणियों के सुख के लिये इन पदार्थों में अपनी शक्ति से जितने दृष्टान्त वा उनमें जिस प्रकार की रचना और अलग-अलग उनके गुण तथा उनसे उपकार लेने के लिये रक्खे हैं, उन सब के जानने को मैं अल्पबुद्धि पुरुष होने से समर्थ कभी नहीं हो सकता और न कोई मनुष्य ईश्वर के गुणों की समाप्ति जानने को समर्थ है,

क्योंकि जगदीश्वर अनन्त गुण और अनन्त सामर्थ्य वाला है, परन्तु मनुष्य उन पदार्थों से जितना उपकार लेने को समर्थ हो, उतना सब प्रकार से लेना चाहिये।''

अब २३१वें पद 'बर्हणा' का निर्वचन इस प्रकार किया गया है— 'बर्हणा परिबर्हणा' अर्थात् 'बर्हणा' पद का अर्थ है— सब ओर वर्धमान से अर्थात् चारों ओर बढ़े हुए से। इसका निगम इस प्रकार है— 'बृहच्छ्रवा असुरो बर्हणा कृतः'। इस मन्त्र का देवता इन्द्र तथा छन्द निचृज्जगती होने से इन्द्रतत्त्व तीक्ष्णतापूर्वक दूर-२ तक विस्तृत होने लगता है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(बर्हणा) वह इन्द्रतत्त्व अपनी सर्वतः वृद्धि के द्वारा (बृहच्छ्रवा, असुरः, कृतः) [बृहच्छ्रवणं यस्य सः मेघो वा -ऋषि दयानन्द भाष्य]। आसुर मेघ पर आक्रमण करके उसे घोर गर्जना से युक्त करता है। इसका अर्थ यह है कि जब इन्द्रतत्त्व आसुर मेघ पर आक्रमण करता है, उस समय इन्द्रतत्त्व की वज्र रश्मियाँ बल की दृष्टि से बढ़ रही होती हैं और आसुर मेघ खण्ड-२ होते हुए घोर गर्जना करने लगता है, इसी कारण उसे बृहच्छ्रवा कहा गया है।

* * * * *

एकोनविंशः खण्डः

यो अस्मै घ्रंस उत वा य ऊधनि सोमं सुनोति भवति द्युमाँ अह।
अपाप शक्रस्ततनुष्टिमूहति तनूशुभ्रं मघवा यः कवासखः॥

[ऋ.५.३४.३]

घ्रंसः इत्यहर्नाम। ग्रस्यन्तेऽस्मिन् रसाः। गोरूध उद्धततरं भवति।
उपोनद्धमिति वा। स्नेहानुप्रदानसामान्याद्रात्रिरप्यूध उच्यते।
स योऽस्मा अहन्यपि वा रात्रौ सोमं सुनोति भवत्यह द्योतनवान्।
अपोहत्यपोहति। शक्रः। तितनिषुं धर्मसन्तानादपेतमलङ्करिष्णुमयज्वानम्।
तनूशुभ्रं तनूशोभयितारम्। मघवा। यः कवासखः। यस्य कपूयाः सखायः।
न्याविध्यदिलीबिशस्य दृळहा वि शृङ्गिणमभिनच्छुष्णमिन्द्रः॥

[ऋ.१.३३.१२]

निरविध्यदिलाबिलशयस्य दृढानि। व्यभिनच्छृङ्गिणं शुष्णमिन्द्रः॥ १९॥

तदनन्तर २३२वें पद 'ततनुष्टिम्' का निगम इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है—

यो अस्मै घ्रंस उत वा य ऊधनि सोमं सुनोति भवति द्युमाँ अह।
अपाप शक्रस्ततनुष्टिमूहति तनूशुभ्रं मघवा यः कवासखः॥

इस मन्त्र का ऋषि संवरण प्राजापत्य है। इसका तात्पर्य यह है कि इस छन्द रश्मि की उत्पत्ति प्रजापति रूप प्राण नामक प्राण रश्मियों से उत्पन्न आच्छादक रश्मि विशेष से होती है। इसका देवता इन्द्र व छन्द जगती होने से इन्द्रतत्त्व व्यापक क्षेत्र में फैलने लगता है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(यः, अस्मै) जो पदार्थ इस इन्द्र अर्थात् सूर्यलोक के लिए (घ्रंसे, उत, वा) 'घ्रंसः इत्यहर्नाम ग्रस्यन्तेऽस्मिन् रसाः' [अहः = अहः स्वर्गः (श.ब्रा.१३.२.१.६), अहर्वै स्वर्गो लोकः (ऐ.ब्रा.५.२४), अहरेव सविता (गो.पू.१.३३)] उसके केन्द्रीय भाग, जिसमें विभिन्न रस-रूप तन्मात्राओं का निरन्तर प्रवहण होता रहता है, उस भाग में अथवा (यः, ऊधनि) 'गोरूध उद्धततरं भवति उपोनद्धमिति वा स्नेहानुप्रदान सामान्याद्रात्रिरप्यूध उच्यते स योऽस्मा अहन्यपि वा रात्रौ' [ऊधा = यच्छुक्लं तदह्नो रूपं यत्कृष्णं तद्रात्रेः (मै.सं. ३.६.६), रात्रिनाम (निघं.१.७)] यहाँ 'ऊधः' से तात्पर्य सूर्यलोक के उस भाग से है, जो केन्द्रीय भाग के ऊपर दूर तक उठा हुआ होता है, विशेषकर सूर्यलोक के शेष विशाल भाग के तल से भी कुछ ऊपर उठे हुए भागों को ऊध कहा गया है। यहाँ तरप् प्रत्यय के प्रयोग का यही प्रयोजन है। ये उठे हुए भाग सूर्यलोक के ऊपर सौर कूपों के निकट स्थित कृष्ण क्षेत्र हो सकते हैं। इसी कारण इन भागों को निकटता से बँधे हुए कहा गया है, यह बन्धन सौर कूपों के साथ ही हो सकता है। 'ऊध' पद रात्रिरूप कृष्ण भागों के लिए भी प्रयुक्त है। इसके अतिरिक्त सूर्य के ऊपर उपर्युक्त जो भाग अपेक्षाकृत अधिक तेजस्वी होता है, उस को भी अहन् कहते हैं। इस प्रकार सूर्य के केन्द्रीय भाग व सूर्य के तल पर अधिक तेजस्वी भागों के साथ-२ सौर कूपों में भी (सोमम्, सुनोति) 'सोमं सुनोति' सोम रश्मियाँ प्रवाहित होती हैं अर्थात् सम्पूर्ण सूर्यलोक में सोमतत्त्व बहता रहता है। इसका तात्पर्य यह भी है कि सूर्य में सर्वत्र ऋणात्मक कणों का प्रवाह भी होता रहता है। इस कारण (अह,

द्युमान्, भवति) 'अह द्योतनवान्' इससे समस्त सूर्यलोक निश्चित ही तेजस्वी होता है। इसके साथ ही वह विद्युत् चुम्बकीय क्षेत्रों से युक्त होता है। इसका अर्थ है कि सम्पूर्ण सूर्यलोक में विद्युत् चुम्बकीय क्षेत्रों के कारण धनावेशित व ऋणावेशित कणों की असंख्य विशाल धाराएँ निरन्तर बहती रहती हैं।

(शक्रः, ततनुष्टिम्) 'शक्रः तितनिषुं धर्मसन्तानादपेतमलङ्करिष्णुमयज्वानम्' शक्तिशाली इन्द्रतत्त्व सूर्यलोक में प्रवाहित होने वाली विभिन्न धाराओं में विभिन्न प्रकार के कणों, जो धारण और आकर्षण बलों के विस्तार से पृथक् हो चुके होते हैं अर्थात् जिनकी संयोजन शक्ति समाप्त वा अति न्यून हो चुकी होती है, वे कण जिनकी क्रियाशीलता वा धारण-शीलता समाप्त हो चुकी होती है एवं जो कण अपनी तीव्र ऊर्जा वा विभिन्न बाधक पदार्थों आदि के कारण संगमन प्रक्रिया से रहित हो चुके हैं अथवा जो संयोजक धर्म से विहीन ही होते हैं, इन ऐसे सभी कणों को (अप, अप, ऊहति) 'अपोहत्यपोहति' बार-२ दूर करता है अर्थात् उन कारणों, जिनके कारण वे कण परस्पर संगमन क्रिया नहीं कर पा रहे होते हैं, को दूर हटाता रहता है।

(तनूशुभ्रम्) 'तनूशुभ्रं तनूशोभयितारम्' यहाँ 'शोभयितारम्' पद 'शुभ शुम्भ भाषणे हिंसायाञ्च' धातु से व्युत्पन्न हुआ है। इस कारण इसका अर्थ यह है कि जो पदार्थ विभिन्न धाराओं को फैलाने में हिंसक बाधा उत्पन्न करते हुए तीव्र घोष करते हैं, उन पदार्थों को तथा (यः, कवासखः) 'यः कवासखः यस्य कपूयाः सखायः' जो कपूया संज्ञक पदार्थ, जिनकी व्याख्या हम पूर्व में खण्ड ५.२४ में कर चुके हैं, ऐसे दोनों पदार्थों को (मघवा) 'मघवा' वह इन्द्रतत्त्व दूर करता है अर्थात् उनके कार्यों में आने वाले विघ्नों को दूर करता है, जिससे वे सभी पदार्थ सूर्यलोक में होने वाली क्रियाओं में अनुकूलतापूर्वक सक्रिय रहते हैं।

भावार्थ— सूर्यलोक के केन्द्रीय भाग में सौर कूपों के द्वारा निरन्तर सूक्ष्म कणों का प्रवहण होता रहता है। सूर्य के तल पर जो सौर कूप विद्यमान होते हैं, उनके निकट कुछ उभरे हुए चमकीले भाग विद्यमान होते हैं। उन भागों तथा सौर कूपों में निरन्तर ऋणात्मक कणों का भी प्रवाह होता रहता है। इस प्रकार सूर्यलोक में धनावेशित और ऋणावेशित दोनों ही प्रकार के कणों की विशाल धाराएँ निरन्तर बहती रहती हैं। इन धाराओं के अन्दर कुछ ऐसे पदार्थों, जो यजन क्रिया में बाधक होते हैं, को तीक्ष्ण विद्युत् तरंगें पृथक् करके दूर फेंकती

रहती हैं।

ऋषि दयानन्द ने इस मन्त्र का आधिभौतिक भाष्य किया है, जिसे हम यहाँ उद्धृत कर रहे हैं—

''**पदार्थः** — (यः) (अस्मै) (घ्रंसे) दिने। घ्रंस इत्यहर्नाम। निघं.१.९ (उत) अपि (वा) पक्षान्तरे (यः) (ऊधनि) उषः समये (सोमम्) जलम् (सुनोति) पिबति (भवति) (द्युमान्) बहुविद्याप्रकाशः (अह) विशेषेण ग्रहणे (अपाप) दूरीकरणे (शक्रः) शक्तिमान् (ततनुष्टिम्) विस्तारम् (ऊहति) वितर्कयति (तनूशुभ्रम्) शुभ्रा शुद्धा तनूर्यस्य तम् (मघवा) प्रशंसितधनवान् (यः) (कवासखः) कविः सखा यस्य।

भावार्थः — ये मनुष्या अहर्निशं पुरुषार्थयन्ति ते सततं सुखिनो जायन्ते।

पदार्थ— हे मनुष्यो! (यः) जो (अस्मै) इस के लिये (घ्रंसे) दिन में (उत) भी (वा) अथवा (ऊधनि) प्रभातसमय में (सोमम्) जल का (सुनोति) पान करता और (अह) विशेष करके ग्रहण करने में (द्युमान्) बहुत विद्या प्रकाश वाला (भवति) होता तथा (यः) जो (शक्रः) शक्तिमान् (ततनुष्टिम्) विस्तार की (ऊहति) तर्कना करता और (यः) जो (कवासखः) विद्वान् जन मित्र जिस के ऐसा (मघवा) प्रशंसित धनयुक्त पुरुष (तनूशुभ्रम्) शुद्ध शरीर वाले की तर्कना करता है, वह निरन्तर दुःख को (अपाप) दूर करने की तर्कना करता है।

भावार्थ— जो मनुष्य दिन और रात्रि पुरुषार्थ करते हैं, वे निरन्तर सुखी होते हैं।''

अब २३३वें पद 'इलीबिशः' का निगम प्रस्तुत करते हुए लिखते हैं— 'न्याविध्य-दिलीबिशस्य दृळ्हा वि शृङ्गिणमभिनच्छुष्णमिन्द्रः'। इस मन्त्र का देवता इन्द्र और छन्द निचृत् त्रिष्टुप् होने से इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से इन्द्रतत्त्व तीक्ष्ण तेज और बल से युक्त होता है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(इन्द्रः) 'इन्द्रः' तीव्र शक्तिसम्पन्न इन्द्रतत्त्व (इलीबिशस्य, दृळ्हा) 'इलाबिलशयस्य दृढानि' [इला = अन्ननाम (निघं.२.७)। बिलम् = बिलं भरं भवति बिभर्तेः (निरु.२.१७), इसकी व्याख्या करते हुए हम पूर्व में यह स्पष्ट कर चुके हैं कि कॉस्मिक मेघ एवं तारों को भी बिल कहा जाता है।] सूर्यादि तारों के अन्दर एवं उनके बाहरी भाग में शयन करने वाले

किंवा उनको आच्छादित करने वाले विशेष बलसम्पन्न आसुर मेघों, जो (शृङ्गिणम्, शुष्णम्) 'शृङ्गिणम् शुष्णम्' विभिन्न कणों की यजन प्रक्रिया को सोखने अर्थात् उसे नष्ट करने की क्षमता वाली तीक्ष्ण तरंगों वा रश्मियों से युक्त होते हैं, को (नि, आविध्यत्, वि, अभिनत्) 'निरविध्यत् व्यभिनत्' छिन्न-भिन्न करके पूर्ण रूप से नष्ट करता है अर्थात् उस असुर पदार्थ को पूर्ण रूप से निष्क्रिय कर देता है, जिससे यजन प्रक्रियाएँ समुचित रूप से होने लगती हैं।

* * * * *

= विंशः खण्डः =

अस्मा इदु प्र भरा तूतुजानो वृत्राय वज्रमीशानः कियेधाः।
गोर्न पर्व वि रदा तिरश्चेष्यन्नर्णांस्यपां चरध्यै॥ [ऋ.१.६१.१२]
अस्मै प्रहर। तूर्णं त्वरमाणाः। वृत्राय वज्रमीशानः।
कियेधाः कियद्धा इति वा। क्रममाणधा इति वा।
गोरिव पर्वाणि विरद मेघस्य। इष्यन्नर्णांसि। अपां चरणाय। भूमिः भ्राम्यतेः।
भूमिरस्यृषिकृन्मर्त्यानाम्। [ऋ.१.३१.१६] इत्यपि निगमो भवति।
विष्पितो विप्राप्तः।
पारं नो अस्य विष्पितस्य पर्षन्॥ [ऋ.७.६०.७]
इत्यपि निगमो भवति॥ २०॥

यहाँ २३४वें पद 'कियेधाः' का निगम प्रस्तुत किया गया है, जो इस प्रकार है—

अस्मा इदु प्र भरा तूतुजानो वृत्राय वज्रमीशानः कियेधाः।
गोर्न पर्व वि रदा तिरश्चेष्यन्नर्णांस्यपां चरध्यै॥

इस मन्त्र का ऋषि गोतम नोधा है। [नोधा = नोधा ऋषिर्भवति नवनं दधाति (निरु.४.१६)] इसका अर्थ यह है कि यह रश्मि सूर्यतल पर विद्यमान ऐसी ऋषि रश्मियों,

जो नाना प्रकार के प्रकाश को उत्पन्न करने वाली होती हैं, से उत्पन्न होती है। इसका देवता इन्द्र और छन्द भुरिक् पंक्ति होने से इसके दैवत व छान्दस प्रभाव से इन्द्रतत्त्व अपने बाहुरूप बलों के साथ परिपक्व होकर फैलने लगता है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(कियेधाः) 'कियेधाः कियद्धा इति वा क्रममाणधा इति वा' वह इन्द्रतत्त्व कितने ही प्रकार की छन्दादि रश्मियों, बलों के द्वारा कितने ही पदार्थों को धारण करता है। वह गमन करते हुए विभिन्न कणों वा लोकों को भी धारण करता है अर्थात् कोई भी कण अथवा लोक जब गतिशील होता है, तब वह इन्द्रतत्त्व के बल द्वारा ही गति करने में समर्थ होता है। (ईशानः, तूतुजानः) 'ईशानः तूर्णं त्वरमाणाः' वह इन्द्रतत्त्व ऐश्वर्ययुक्त होकर विभिन्न पदार्थों को नियन्त्रित करने में समर्थ होने के साथ-२ अति तीव्रगामी एवं आशुकारी होता है। (अपाम्, चरध्यै, इष्यन्, अर्णांसि) 'अपां चरणाय इष्यन्नर्णांसि' [अर्णाः = नदीनाम (निघं.१.१३)] वह इन्द्र विभिन्न तारों में नाना प्रकार की नदीरूप धाराओं को प्रवाहित करते हुए तथा उनमें नाना प्रकार के सूक्ष्म कणों को प्रवाहित करने के लिए (वृत्राय, वज्रम्) 'वृत्राय वज्रम्' आच्छादक एवं बाधक आसुर मेघों को वज्र रश्मियों के द्वारा छिन्न-भिन्न करता है।

(गोः, न, पर्व, विरदा) 'गोरिव पर्वाणि विरद मेघस्य' वह कैसे छिन्न-भिन्न करता है, इसको उपमा द्वारा समझाते हुए कहा है कि जैसे इन्द्र की वज्र रश्मियाँ गो अर्थात् विभिन्न लोकों अथवा कणों के मध्य स्थित सन्धि भागों को काटती हैं, वैसे ही वे रश्मियाँ मेघरूप पदार्थों को छिन्न-भिन्न करती हैं। यहाँ दूसरा अर्थ यह है कि जैसे ही वज्र रश्मियों का प्रहार होता है, विभिन्न कणों वा लोकों के सन्धि भाग शिथिल होने वा टूटने लगते हैं और धीरे-२ सम्पूर्ण मेघ छिन्न-भिन्न होकर बिखर जाता है। (अस्मै, इत्, उ, प्र, भर, तिरश्चा) 'अस्मै प्रहर' वह इन्द्रतत्त्व इस कार्य के लिए अदृष्ट एवं कुटिल गतियों वाली वज्र रश्मियों का प्रहार करता है।

भावार्थ— तीक्ष्ण इन्द्रतत्त्व अर्थात् विद्युत् तरंगें इस सृष्टि में नाना प्रकार के बलों को उत्पन्न करती हैं। विद्युत् ही सभी कणों वा लोकों को धारण करती व गति कराती है। विद्युत् के कारण ही विभिन्न लोक वा कण परस्पर एक-दूसरे को धारण करते हैं। विद्युत् ही अवांछनीय पदार्थों को नष्ट वा नियन्त्रित करती है। सूक्ष्म वज्ररूप रश्मियाँ विभिन्न लोकों, कणों वा मेघों के सन्धिभागों पर प्रहार करके उन्हें छिन्न-भिन्न करती हैं।

ऋषि दयानन्द ने इस मन्त्र का आधिभौतिक भाष्य किया है, जो इस प्रकार है—

"**पदार्थः** — (अस्मै) वक्ष्यमाणाय (इत्) अपि (उ) उक्तार्थे (प्र) प्रकृष्टतया (भर) धर (तूतुजानः) त्वरमाणः (वृत्राय) मेघायेव शत्रवे (वज्रम्) शस्त्रसमूहम् (ईशानः) ऐश्वर्यवानैश्वर्यहेतुर्वा (कियेधाः) कियतो गुणान् धरतीति (गोः) वाचः (न) इव (पर्व) अङ्गमङ्गम् (वि) विशेषार्थे (रद) संसेध (तिरश्चा) तिर्यग्गत्या (इष्यन्) जानन् (अर्णांसि) जलानि (अपाम्) जलानाम् (चरध्यै) चरितुं भक्षितुं गन्तुम्।

भावार्थः — अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः। हे सेनेश! त्वं यथा प्राणवायुना ताल्वादिषु ताडनं कृत्वा भिन्नान्यक्षराणि पदानि विभज्यन्ते तथैव शत्रोर्बलं छिन्नं भिन्नं कृत्वाङ्गानि विभक्तानि कृत्वैवं विजयस्व।

पदार्थ— हे सभाद्यध्यक्ष! (कियेधाः) कितने गुणों को धारण करने वाला (ईशानः) ऐश्वर्य्ययुक्त (तूतुजानः) शीघ्र करने हारे आप जैसे सूर्य्य (अपाम्) जलों के सम्बन्ध से (अर्णांसि) जलों के प्रवाहों को (चरध्यै) बहाने के अर्थ (वृत्राय) मेघ के वास्ते वर्त्तता है वैसे (अस्मै) इस शत्रु के वास्ते शस्त्र को (प्र) अच्छे प्रकार (भर) धारण कर (तिरश्चा) टेढ़ी गति वाले वज्र से (गोर्न) वाणियों के विभाग के समान (पर्व) उसके अंग-अंग को काटने को (इष्यन्) इच्छा करता हुआ (इदु) ऐसे ही (विरद) अनेक प्रकार हनन कीजिये।

भावार्थ— इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालङ्कार है। हे सेनापते! आप जैसे प्राण वायु से तालु आदि स्थानों में जीभ का ताड़न कर भिन्न-भिन्न अक्षर वा पदों के विभाग प्रसिद्ध होते हैं, वैसे ही सभाध्यक्ष शत्रु बल को छिन्न-भिन्न और अङ्गों को विभागयुक्त करके इसी प्रकार शत्रुओं को जीता करे।"

पण्डित भगवद्दत्त रिसर्च स्कॉलर ने इस मन्त्र की व्यापक विवेचना की है, जिसे हम पाठकों के लाभ के लिए यहाँ उद्धृत कर रहे हैं—

"अस्मा इदु ऋक् नोधा ऋषि की है। वेद का मन्त्रकृत् नोधा ऋषि पृथिवी पर का मानव नहीं है। गोः न पर्व = रश्मि के जोड़ों को जैसे। यह सुविदित है कि इन्द्र अथवा सूर्य के जो हरि हैं, वे रश्मयः ही हैं। एक-एक रश्मि के दो वर्ण गो.उ.६.६ में कहे हैं। सम्भवतः वर्णों का सन्धिस्थान कोई पर्व भी हो। मरुतः भी रश्मियाँ रखते हैं। यथा—

मरुतो रश्मयः। (तां.ब्रा.१४.१२.६) रश्मियों के पर्व हैं। निरुक्त २.६ में पूर्व कहा गया है— सर्वेऽपि रश्मयो गावः उच्यन्ते। तथा च— आदित्योऽपि गौरुच्यते। औपमन्यव कहता है कि उस में भी पर्व हैं। यह वहीं यास्क ने एक अन्य मन्त्र के प्रमाण से दर्शाया है।

अब प्रश्न होता है कि हम ने इस ऋक् में गोः पद का पशु रूपी गौः अर्थ न कर के रश्मि अर्थ क्यों किया है, तो इसका उत्तर स्पष्ट है। ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के ६१ सूक्त में यह ऋक् है। उसका ऋषि नोधा है। वेदमन्त्रों में जितने ऋषि नाम हैं, वे सब दिव्य विभूतियाँ हैं। उन के द्वारा प्रजापति = ईश्वर की प्रेरणा से स्वाभाविक रूप में ही मन्त्र अथवा ब्रह्म किए गए। उन्हीं मन्त्रों और उन के अर्थों का दर्शन करने वाले पार्थिव ऋषि हुए। पार्थिव ऋषियों ने दिव्य विभूतियों के नाम पर ही अपने नाम रखे।

अब यास्क मुनि की महती सूक्ष्मेक्षिका देखिए। उस ने जब भी केवल दिव्य ऋषियों का स्मरण किया, तब उस ने उन के नामों के व्याख्यान के समय क्रिया के वर्तमान काल का रूप लिखा। ये दिव्य ऋषि अनादि हैं, वे सदा हैं। अतः उन के नामों के साथ वर्तमान काल के रूप का प्रयोग ही शोभा देता है। यथा- ऋषिः कुत्सो भवति। (३.११), नोधा ऋषिर्भवति। (४.१६), च्यवन ऋषिर्भवति। (४.१९), ऋषिर्नदो भवति। (५.२) पर जब इन नामों के अनुकरण पर अपना नाम रखने वाले पार्थिव ऋषियों, पार्थिव राजाओं अथवा तद्विषयक पार्थिव घटनाओं का उल्लेख अभिप्रेत हुआ, तो वहाँ यास्क ने बभूव क्रियारूप का प्रयोग किया।

दिव्य नोधाः — अब नोधा ऋषि का प्रसङ्ग देखिए। अस्मा इदु, इस प्रतीक वाले १२वें मन्त्र से आगे इस सूक्त के १४वें मन्त्र में— सद्यो भुवद् वीर्याय नोधाः अर्थात् नोधा ऋषि तत्काल वीर्यवान् हो गया, ऐसा कथन है। यहाँ दिव्य नोधाः का वर्णन है। अब नोधा विषयक तां.ब्रा.७.१०.१० का प्रवचन देखिए। तदनुसार सृष्टि बनते समय देवों ने ब्रह्म = वेदमन्त्रों का विभाग करते हुए कक्षीवान् के पुत्र नोधा को एक साम दिया। वह नौधस साम हुआ। उस दिव्य कक्षीवान् के नाम पर किसी पार्थिव ऋषि ने भी अपना नाम कक्षीवान् रखा।

दिव्य नोधाः की गौएं — वही दिव्य नोधाः ऋक् १० में कहता है— गा न व्राणा अवनीरमुञ्चत्। गौएं हमारी [जो] वृत्र से आवृत हो गईं, [उन्हीं ने] अवनीः = रक्षा करने वाली आपः अमुञ्चतू = छोड़ीं। ये वृत्रासुर से आवृत गौएं पार्थिव गौएं नहीं हैं। ये मरुतों

की रश्मियाँ ही गावः हैं, जिन्होंने आपः छोड़ीं। मरुत ही आपः का च्यावन करते हैं। अग्निर्वा इतो वृष्टिमीट्टे। मरुतोऽसुतश्च्यावयन्ति। (मै.सं.२.१.८) नोधा की वैसी गौएं = रश्मियाँ ही प्रस्तुत ऋक् में वर्णित हैं। ये पार्थिव गौएं नहीं हैं, प्रत्युत अन्तरिक्षस्थ रश्मियों का कोई प्रकार हैं। उन में से किसी रश्मि के पर्वों के कटने का संकेत यहाँ है।

गौएं रश्मियाँ भी हैं, ऐसे प्रमाण वेद में बहुधा मिलते हैं। उपायन उषसां गोमतीनाम्। (ऋ.२.२८.२) अर्थात् आगमन पर उषाओं के, रश्मियों से युक्त हुईं के। गो का रश्मि अर्थ वेद के विद्वानों में अति प्रसिद्ध है।

अतः इस मन्त्र से यह कभी सिद्ध नहीं हो सकता कि वेदधर्म को मानने वाले प्राचीन आर्य गोवध करते थे। ऐसा कथन वेदविद्या से अनभिज्ञ लोग ही करते हैं। यदि कोई कहे कि यह अर्थ उसे मान्य नहीं, तो उसे इन तर्कों का खण्डन तर्कयुक्त मार्ग से करना चाहिए।

उक्षा और वशा का अर्थ — इस लेख में जिस ऋक् का प्रमाण है, वह निम्नलिखित है—

उक्षान्नाय वशान्नाय सोमपृष्ठाय वेधसे। स्तोमैर्विधेमाग्नये॥ (ऋ.८.४३.११)

इस ऋगन्तर्गत उक्षा और वशा पदों का ठीक अर्थ जानने के लिए इस ऋक् वाले सूक्त का ऋषि और देवता जानना आवश्यक है। ऋषि है इस का विरूप आङ्गिरस और देवता अग्निः। अङ्गिरा ऋषि अग्निः के योग से जन्मा एक प्राणविशेष है। उस के आठ पुत्र हैं। पार्थिव अङ्गिरा के आठ पुत्रों में से भी विरूप आङ्गिरस एक है। दिव्य अङ्गिरा की सन्तति द्युलोक और अन्तरिक्ष में है। उपस्थित सूक्त में अन्तरिक्षस्थ जातवेदः अग्निः का भी कई बार (मन्त्र २.६.२३ में) स्मरण है। अतः इस सूक्त की देवता अग्निः का सम्बन्ध अन्तरिक्ष लोक से अवश्य है। उस अन्तरिक्षस्थ अग्निः के प्रकरण में उक्षा पद का संगत अर्थ आगे स्पष्ट करते हैं।

१. उक्षा पद का अर्थ - उक्षा का साधारण अर्थ सेक्ता है। यह अर्थ ऋग्वेद से ही स्पष्ट है। यथा, मरुतों के सूक्त में उक्षन्ते अश्वान् [मरुतः]। (२.३४.३) अर्थात् सींचते हैं [मरुत] अश्वों को [आदित्य आदि के अश्वों को।] यहाँ उक्षन्त क्रियापद है। उस का दूसरा अर्थ बनता ही नहीं। ध्यान रहे कि मरुतों का यह सिञ्चन कर्म अन्तरिक्ष में है।

ऋग्वेद का अगला मन्त्रांश भी द्रष्टव्य है। प्राञ्चो मदन्त्युक्षणो अजुर्या देवाः।

(ऋ.३.७.७) अर्थात् प्राची दिक् की ओर जाते हुए हर्ष को प्राप्त होते हैं, उक्षणः [= सोम] सेक्ता जीर्ण न होने वाले देव। यहाँ उक्षणः विशेषण है देवाः का।

अगला ऋगंश भी अत्यधिक स्पष्ट है। [देवाः] औक्षन् घृतैः अर्थात् [देवों ने] सींचा [इस अग्निः को] घृतों से।

अतः उक्षा जब नाम पद होता है, तो वह सिञ्चन समर्थ पदार्थ का द्योतक है, क्योंकि बैल सिञ्चन समर्थ है, अतः वह भी उक्षा कहाता है। पर यह निर्विवाद है कि बैल के अतिरिक्त अन्य अनेक पदार्थ भी जो सिञ्चन समर्थ हैं, प्रकरणानुकूल उक्षा नाम धारते हैं।

२. उक्षा अन्तरिक्ष में — ऋग्वेद का अगला मन्त्र उक्षा पद का अर्थ खोलने में अत्यन्त सहायक है—

उक्षा समुद्रो अरुषः सुपर्णः पूर्वस्य योनिं पितुरा विवेश।
मध्ये दिवो निहितः पृश्निरश्मा वि चक्रमे रजसस्पात्यन्तौ॥ (ऋ.५.४७.३)

अर्थात् उक्षा समुद्र है, अरुषः = दीप्तिमान् है, सुपर्णः श्रेष्ठ परों वाला है। उस ने पूर्वपिता की योनि को घेर लिया। मध्य में द्युलोक के रखा है अश्मा पृश्नि, वह घूमता है, रजसः = लोकों के, पाति = रक्षा करता है, अन्तौ किनारों को।

मै. गत समुद्रे पाठ के अनुसार अर्थ है— उक्षा समुद्र में [अन्तरिक्ष रूप समुद्र में।]

निश्चय ही यहाँ उक्षा पद बैल का वाचक नहीं है और पिता की योनि पद भी ध्यान देने योग्य है, क्योंकि पिता जो पुमान् है, उस की योनि नहीं होती। अतः यहाँ योनि का अर्थ उत्पत्ति-स्थान ही लिया जा सकता है। वह उक्षा पूर्व पिता (= द्युलोक?) के उत्पत्ति-स्थान को घेरता है। अतः उक्षा का सर्वत्र बैल अर्थ करना वेदविद्या के नितरां विपरीत है।

३. उक्षा पृश्निः — ऋग्वेद १.१६४.४३ मन्त्र का उत्तरार्ध भी द्रष्टव्य है—

उक्षाणं पृश्निमपचन्त वीरास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्॥

अर्थात् उक्षा पृश्नि को पकाया वीरों ने, ये धर्म पहले थे।

शौनक का प्रामाणिक अर्थ — इस मन्त्र पर बृहद्देवता ४.४१ में एक शाखा के कोषों का

पाठ है— सोम उक्षा अर्थात् इस मन्त्र में उक्षा पद का अर्थ सिञ्चन समर्थ सोम है। इस अर्थ की कोई विज्ञ पुरुष अवहेलना नहीं कर सकता। अनुक्रमणी में कात्यायन ने भी उक्षा पद से सोम का ग्रहण किया है। अतः इस मन्त्रार्ध का अर्थ है— बहुवर्ण सोम को पकाया वीरों ने।

इस प्रकार ऋग्वेद ५.४७.३ का स्पष्ट अर्थ हुआ, सोम ही समुद्र आदि है। यह समुद्र अन्तरिक्षस्थ है। अन्तरिक्ष में ही सोम का उक्षा रूप व्याप्त है। वहीं से वह पृथिवी पर की ओषधियों आदि में जीवन का सिञ्चन करता है। वही सोम पूर्व पिता = द्युलोक में होने वाले अपने उत्पत्ति स्थान में प्रविष्ट हो गया।

उक्षा, द्यावापृथिवी का धारक, पोषक- ऋग्वेद १०.३१.८ में एक और मन्त्रांश है— उक्षा स द्यावापृथिवी बिभर्ति अर्थात् उक्षा वह द्युलोक और पृथिवीलोक का धारणकर्त्ता है। द्युलोक का यह पार्थिव पशु बैल धारण करता है, यह कथन बनता ही नहीं। अतः यह उक्षा बैल पशु नहीं है। वह सूक्ष्म सोम और परमात्मा है। इस प्रकार समझना चाहिए कि उक्षा पद देख कर उस का बैल अर्थ कर देना विज्ञ पुरुषों को शोभा नहीं देता।

४. देव पशु — वेद में जहाँ-२ देवों और पितरों = प्राणों के लिए पशुओं का किसी प्रकार का भी विधान है, वह सब इन देव पशुओं का है। द्युलोक और अन्तरिक्ष के अनेक सूक्ष्म पदार्थ ही देव पशु हैं। उन का स्वरूप और ठीक अर्थ समझने के लिए वैदिक विज्ञान के अध्ययन की आवश्यकता है। इस विषय में निम्न उद्धृत प्रवचन बहुत प्रकाश डालता है—

स्वर्भानुर्वा आसुरः सूर्यं तमसाविध्यत्। तस्य देवास्तमोऽपाघ्नन्। यत् प्रथमं तमोऽपाघ्नन् साविः कृष्णाभवत् ... यद् अध्यस्ताद् अपाकृन्तत् साविर्वशाभवत्। तेऽब्रुवन् देवपशुमिमं कामायालभामहा इति। अथ वा इयं तर्हि ऋक्षासीत्। अलोमिका।

अर्थात् जब पृथिवी पर अभी कोई वनस्पति और ओषधि नहीं उगी थी, तब असुर के पुत्र स्वर्भानु ने सूर्य को तमः = अन्धकार से बींधा। उस सूर्य के अन्धकार को देवों ने नष्ट किया। वह अन्धकार चार बार नष्ट किया गया। चौथी बार जो नीचे तमः काटा गया, वह अविर्वशा हो गई।

आगे पाठ है— अथो आहुर्यः प्रथमः तमस्यपहते सूर्यस्य रश्मिर्यूपस्य चषाले वातनोत् साविर्वशाभवत् इति। (मै.सं.२.५.२) अर्थात् वेद ज्ञाता ब्रह्मवादी कहते हैं। उस

दैवी यज्ञ में सूर्य की जो पहली रश्मि यूप के चषाल में फैली, वही अविर्वशा हुई।

५. वेद के ईसाई यहूदी अनुवादक — वैदिक पदों के इन गम्भीर अर्थों के होते हुए, जो अत्याचार इन ईसाई स्कॉलर नामधारी अनुवादकों ने वेदार्थ पर किया है, वह अक्षम्य है। उन्हीं का अनुकरण कर के भारतीय लोग भी वेद में एक कसाई खाना मानने लगे हैं।

इसी प्रसङ्ग में वैदिक विद्वानों को एक दूसरा मन्त्र भी देखना चाहिए—

पीवानं मेषम् अपचन्त वीराः। (ऋ.१०.२७.१७)

अर्थात् मोटे मेष को पकाया वीरों ने [इन्द्र के लिए।] मेष और मेषी विषयक अनेक मन्त्र वेद में हैं। इन्द्र स्वयं एक मेष बना था। उन को पार्थिव मेढा समझना सरासर भूल है। ये सब अन्तरिक्ष के पदार्थ हैं।

६. वशा — उक्षा पद के साथ वशा पद पर पहले कुछ प्रकाश डाल दिया गया है। अब अधिक देखिए। भगवान् ऐतरेय का प्रवचन है— यद् वशम् अस्रवत् सा वशाऽभवत्। तस्मात् सा हविरिव। (१३.२६)

अर्थात् जब गायत्री छन्द सोम को नीचे ला रहा था, तब सोमपाल कृशानु ने उस के एक पाद में एक तीर मारा। उस तीर के व्रण से जो मेद बहा, वह वशा हुई। विचारने का स्थान है कि आग्नेय परमाणुओं का संयोगविशेष ही सोमपाल कृशानु है। उस का तीर कोई विद्युत् धारा है। उसी धारा से वायव्य क्षेत्र में छन्दों में गतिरोध हो कर व्रण हुआ। उस से ही मेद बहा और तब वशा जन्मी। यह वशा पार्थिव वन्ध्या गौः नहीं है। परन्तु उस दैवी घटना की दृष्टि से याज्ञिक लोग किसी यज्ञ में किसी वशा = वन्ध्या गौः का आलम्भन करते थे। वही आलम्भन क्रिया उत्तर काल में बदली और मांस भक्षण प्रिय लोगों ने यज्ञ में पशु वध आरम्भ कर दिया। अतः मूल मन्त्र में वशा का अर्थ वन्ध्या गौः नहीं, अपितु आदित्य रश्मियों का कोई प्रकार है।

७. मन्त्रार्थ — अतः ऋग्वेद ८.४३.११ का ठीक अर्थ है— उक्षान्नाय = सोम का एक प्रकार जिस का अन्न है, उस के लिए, वशान्नाय = आदित्य की रश्मि का अन्तरिक्षस्थ स्नेहांश युक्त जिस का अन्न है, उस के लिए, सोमपृष्ठाय = विशुद्ध सोम जिस के पृष्ठ भाग पर है, उस अग्निः के लिए।

इस देवपशु वशा का स्नेहांश ही वर्षा के साथ पृथिवी पर आकर ओषधियों और वनस्पति आदिकों में स्नेह का रूप धारण करता है और अग्निः जो अमरधर्मा हो कर अन्तरिक्ष में सदा जातवेदः रूप में वर्तमान है, वह अपना अन्न सोम और स्नेह से ग्रहण करता है। इस अर्थ के बिना इस मन्त्र की सूक्ष्मविद्या दर्शाने वाली स्थिति कदापि समझ में नहीं आ सकती। विदित रहे कि उक्षा और वशा के ही नहीं, प्रत्युत अज, मेष और अश्व आदि के अर्थ भी जानने चाहिए।''

अब २३५वें पद 'भृमिः' का निर्वचन करते हुए लिखते हैं— 'भृमिः भ्राम्यतेः' अर्थात् भ्रमणशील पदार्थों को भृमि कहते हैं। इस पद का निगम इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है— '(अग्ने) ... भृमिरस्यृषिकृन्मर्त्यानाम्'। इस मन्त्र का देवता अग्नि और छन्द त्रिष्टुप् होने से इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से अग्नि तीव्र तेजयुक्त होता है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(अग्ने, भृमिः, असि) अग्नितत्त्व सभी कणों वा लोकों में निरन्तर भ्रमण करता रहता है अर्थात् उसका स्वभाव सदैव भ्रमणशील ही होता है। (ऋषिकृत्, मर्त्यानाम्) वह अग्नि विभिन्न प्रकार के विनाशी कण आदि पदार्थों को तीव्रगामी एवं सततगामी बनाता है, जिससे वे कण सूर्य की किरणों की भाँति गमन आदि कर्म करने में समर्थ होते हैं।

तदनन्तर २३६वें पद 'विष्पितः' का निर्वचन करते हुए लिखते हैं— 'विष्पितो विप्राप्तः' अर्थात् विविध रूपों में प्राप्त होने वाला पदार्थ विष्पितः कहलाता है। इसका निगम इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है— 'पारं नो अस्य विष्पितस्य पर्षन्'।

इस मन्त्र का देवता मित्रावरुण और छन्द निचृत् त्रिष्टुप् होने से इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से मित्रावरुण अर्थात् प्रकाशित व अप्रकाशित कण वा लोक तीक्ष्ण तेज और बल से युक्त होते हैं। इसका ऋषि वसिष्ठ है। इसका तात्पर्य यह है कि इस छन्द रश्मि की उत्पत्ति ऊष्मा की अवस्था में प्राण नामक प्राण रश्मियों से होती है अथवा 'वेदविज्ञान-आलोकः' ७.१६.१ में वर्णित सप्तदश स्तोम रूपी सत्रह गायत्री छन्द रश्मियों के समूह विशेष से होती है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(अस्य, पारम्, नः, विष्पितस्य) इस ब्रह्माण्ड, जो विविध रूपों से युक्त है, उसके पार तक मित्रावरुण एवं प्रकाशित वा अप्रकाशित कणों को सप्तदश स्तोम रूपी गायत्री छन्द रश्मि

समूह विशेष (पर्षन्) ले जाते हैं अथवा प्राण, अपान एवं उदान रश्मियाँ इन गायत्री समूहों को ब्रह्माण्ड के पार तक ले जाती हैं। इसका अर्थ यह है कि इस ब्रह्माण्ड में छोटे और बड़े लोक वा लोकसमूह विद्यमान हैं, उनके बाहर रिक्तस्थान माने जाने वाले आकाश में भी असंख्य मात्रा में प्रकाशित व अप्रकाशित कण दूर-२ तक भरे रहते हैं। विभिन्न लोकों के मध्य एवं विभिन्न आकाशगंगाओं के मध्य जो भी आकाश तत्त्व विद्यमान है, उस सम्पूर्ण क्षेत्र में विभिन्न कण और तरंगाणु भरे रहते हैं। इसके साथ ही इन कणों के मध्य जो भी रिक्तस्थान प्रतीत होता है अथवा माना जाता है, उसमें प्राण, अपान एवं उदान रूपी मित्रावरुण रश्मियाँ भरी रहती हैं अर्थात् कहीं भी कोई रिक्तस्थान नहीं है।

* * * * *

एकविंशः खण्डः

तन्नस्तुरीपमद्भुतं पुरु वारं पुरु त्मना।
त्वष्टा पोषाय वि ष्यतु राये नाभा नो अस्मयुः॥ [ऋ.१.१४२.१०]
तन्नः। तूर्णापि। महत्। सम्भृतम्। आत्मना। त्वष्टा धनस्य पोषाय विष्यतु। इति। अस्मयुः। अस्मान्कामयमानः। रास्पिनो रास्पी। रपतेर्वा। रसतेर्वा। रास्पिनस्यायोः। [ऋ.१.१२२.४] इत्यपि निगमो भवति।

अब २३६वें पद 'तुरीपम्' का निगम इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है—

तन्नस्तुरीपमद्भुतं पुरु वारं पुरु त्मना।
त्वष्टा पोषाय वि ष्यतु राये नाभा नो अस्मयुः॥

इस मन्त्र का ऋषि दीर्घतमा है, जिसका तात्पर्य पूर्ववत् समझें। इसका देवता त्वष्टा तथा छन्द अनुष्टुप् है। इस कारण इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से तीक्ष्ण भेदक विद्युत् तरंगें अनुकूलतापूर्वक अपने कार्यों को करने में सहयोग प्राप्त करती हैं। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(तत्, नः) 'तन्नः' वह तीक्ष्ण इन्द्रतत्त्व हमारे अर्थात् दीर्घतमा संज्ञक ऋषि रश्मियों के अन्दर (तुरीपम्, अद्भुतम्, पुरुवारम्) 'तूर्णापि महत् सम्भृतम्' शीघ्र ही व्याप्त होकर आश्चर्यजनक रूप से विस्तृत क्षेत्र को आच्छादित करने लगता है। इसका अर्थ यह है कि तीक्ष्ण भेदक विद्युत् तरंगें अन्तरिक्षस्थ पदार्थ अथवा सूर्यादि लोकों में विद्यमान पदार्थ को आश्चर्यजनक ढंग से आच्छादित करती हुई अच्छी प्रकार धारण करने लगती हैं। (पुरु, त्मना, त्वष्टा) 'आत्मना त्वष्टा' वह इन्द्रतत्त्व सूत्रात्मा वायु रश्मियों के द्वारा एवं अपने विस्तृत शरीर अर्थात् प्रभाव क्षेत्र के द्वारा (पोषाय, वि, ष्यतु) 'धनस्य पोषाय विष्यतु इति' विभिन्न सूक्ष्म कण आदि पदार्थों को पुष्ट करने अर्थात् उनको ऊर्जा प्रदान करने के लिए उनमें विशेष रूप से व्याप्त होकर उनके मध्य विद्यमान बाधक असुरादि पदार्थों को नष्ट करता है।

(राये) [रायः = पशवो वै रायः (काठ.सं.३२.२; २६.६)] विभिन्न मरुत् एवं छन्द रश्मियों तथा अनेक प्रकार के दृश्य कणों को ऊर्जा प्रदान करने के लिए (नाभा, नः, अस्मयुः) 'अस्मयुः अस्मान्कामयमानः' [नाभिः = नाभ्या (पुरुषस्य) आसीदन्तरिक्षम् (काठ.संक. १०१.८, तै.आ.३.१२.६), अथ त्रिष्टुप् नाभिरेव सा (जै.ब्रा.१.२५४, तु.जै.ब्रा.१.१२७)] वह तीक्ष्ण इन्द्रतत्त्व दीर्घतमा ऋषि रश्मियों को आकर्षित करता हुआ उनके अन्दर विद्यमान त्रिष्टुप् छन्द रश्मियों एवं उनसे सम्पन्न आकाशतत्त्व को भी विशेष रूप से व्याप्त करने लगता है। इसके कारण विभिन्न कण आदि पदार्थ अपेक्षित ऊर्जा को प्राप्त करके परस्पर संगमन करने लगते हैं।

भावार्थ— विद्युत् सूत्रात्मा वायु रश्मियों पर सवार होकर सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में व्याप्त होती है, जिसके कारण ही सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में नाना प्रकार के संगमन आदि कर्म सम्पन्न होते हैं।

इस मन्त्र का ऋषि दयानन्द ने आधिभौतिक अर्थ किया है, जिसे हम यहाँ उद्धृत कर रहे हैं—

"**पदार्थः** — (तत्) (नः) अस्मभ्यम् (तुरीपम्) तूर्णं रक्षकम् (अद्भुतम्) आश्चर्यस्वरूपम् (पुरु) बहु (वा) (अरम्) अलम् (पुरु) बहु (त्मना) आत्मना (त्वष्टा) विद्याधर्मेण राजमानः (पोषाय) पुष्टिकराय (वि) (स्यतु) प्राप्नोतु (राये) धनाय (नाभा) नाभौ (नः) अस्माकम् (अस्मयुः) अस्मान्कामयमानः।

भावार्थः — यो विद्वानस्मान्कामयेत तं वयमपि कामयेमहि योऽस्मान्नाकामयेत तं वयमपि न कामयेमहि तस्मात् परस्परस्य विद्यासुखे कामयमानावाचार्य्यविद्यार्थिनौ विद्योन्नतिं कुर्याताम्।

पदार्थ— हे विद्वान् (अस्मयुः) हम लोगों की कामना करने वाले (त्वष्टा) विद्या और धर्म से प्रकाशमान आप (नः) हम लोगों के (पुरु) बहुत (पोषाय) पोषण करने के लिये और (राये) धन होने के लिये (नाभा) नाभि में प्राण के समान (वि, ष्यतु) प्राप्त होवें और (त्मना) आत्मा से जो (तुरीपम्) तुरन्त रक्षा करने वाला (अद्भुतम्) अद्भुत आश्चर्य्यरूप (पुरु, वा, अरम्) बहुत वा पूरा धन है (तत्) उसको (नः) हम लोगों के लिये प्राप्त कीजिये [= कराइये]।

भावार्थ— जो विद्वान् हम लोगों की कामना करे उसकी हम लोग भी कामना करें। जो हम लोगों की कामना न करे उसकी हम भी कामना न करें, इससे परस्पर विद्या और सुख की कामना करते हुए आचार्य और विद्यार्थी लोग विद्या की उन्नति करें।''

तदनन्तर २३७वें पद 'रास्पिनः' का निर्वचन करते हुए लिखते हैं— 'रास्पिनो रास्पी रपतेर्वा रसतेर्वा' अर्थात् ध्वनि उत्पन्न करने वाले पदार्थ को रास्पिन कहते हैं। इसका निगम इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है— 'रास्पिनस्यायोः'। इस मन्त्र का ऋषि कक्षीवान् है। इसका आशय पूर्ववत् समझें। इसका देवता विश्वेदेवा एवं छन्द निचृत् पंक्ति होने से इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से सूर्यलोक के तल पर विद्यमान सभी पदार्थ तीक्ष्णतापूर्वक परिपक्व और विस्तृत होने लगते हैं। इसका आधिदैविक अर्थ इस प्रकार है—

(रास्पिनस्य, आयोः) [आयुः = अन्नमु वाऽआयुः (श.ब्रा.९.२.३.१६), आयुर्वीर्यं हिरण्यम् (मै.सं.१.७.५, काठ.सं.९.२, क.सं.८.५), आयुस्संवत्सरः (मै.सं.४.६.८, काठ.सं.१०.४, ११.८)] सूर्यलोक के तल पर तीव्र गर्जना करते हुए पदार्थ नाना प्रकार के संयोज्य कणों को स्वर्णिम तेजयुक्त करने लगते हैं। इसके साथ ही वे तेजयुक्त पदार्थ सूर्यलोक के तल पर संवत्सर अर्थात् तेजस्वी एवं कृष्ण क्षेत्रों (ब्लैक स्पॉट) को उत्पन्न करते हैं। संवत्सर के विषय में महर्षि जैमिनी का कथन है— 'तस्य (आदित्यस्य) यद् भाति तत् संवद्, यन्मध्ये कृष्णं मण्डलं तत् सर इत्यधिदैवतम्' (जै.ब्रा.२.२८, तु.जै.ब्रा.२.६०)। ये कृष्ण क्षेत्र ही सौर कूप के रूप में जाने जाते हैं।

ऋञ्जतिः प्रसाधनकर्मा।

आ व ऋञ्जस ऊर्जां व्युष्टिषु। [ऋ.१०.७६.१] इत्यपि निगमो भवति।]
ऋजुः इत्यप्यस्य भवति।
ऋजुनीती नो वरुणः। [ऋ.१.९०.१] इत्यपि निगमो भवति।
प्रतद्वसू प्राप्तवसू।
हरी इन्द्र प्रतद्वसू अभि स्वर। [ऋ.८.१३.२७]
इत्यपि निगमो भवति॥ २१ ॥

तत्पश्चात् २३८वें पद 'ऋञ्जतिः' का निर्वचन करते हुए लिखते हैं— 'ऋञ्जतिः प्रसाधनकर्मा' अर्थात् प्रसाधन कर्म को ऋञ्जति कहा जाता है अर्थात् प्रकृष्ट रूप से नियन्त्रण करना ऋञ्जनम् कहा जाता है। इसका निगम प्रस्तुत करते हुए लिखा है— 'आ व ऋञ्जस ऊर्जां व्युष्टिषु'। इस ऋचा का देवता ग्रावाणः तथा छन्द पादनिचृज्जगती है। [ग्रावाणः = मेघनाम (निघं.१.१०), ग्रावाणो हन्तेर्वा गृणातेर्वा गृह्णातेर्वा (निरु.९.८), यज्ञमुखꣳ हि ग्रावाणः (मै.सं.४.५.२), पशवो ग्रावाणः (तां.ब्रा.९.९.१३)] इस कारण इसके दैवत एवं छान्दस प्रभाव से संयोज्य कण वा रश्मियाँ अधिक सक्रिय होने लगती हैं। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(वः, वि, उष्टिषु, ऊर्जाम्, आ, ऋञ्जसे) उन कॉस्मिक मेघों के अन्दर सम्पादित होने वाली नाना प्रकार की उष्टियों अर्थात् बलों की नाना क्रियाओं में अर्थात् उन क्रियाओं के समय विभिन्न संयोज्य कण व रश्मि आदि पदार्थ ऊर्जा को प्रकृष्ट रूप से प्राप्त वा सिद्ध करने लगते हैं। यहाँ उष्टि का अर्थ उषा भी ग्रहण कर सकते हैं, तब इस ऋचा का तात्पर्य है कि जब कॉस्मिक मेघों में विविध प्रकार की ऊष्मा अर्थात् सुन्दर लालिमायुक्त प्रकाश की उत्पत्ति होती है, उस समय विभिन्न प्रकार के संयोज्य कण व रश्मि आदि पदार्थ ऊर्जा को सब ओर से प्राप्त करने लगते हैं।

तदनन्तर २३९वें पद 'ऋजुनीती' के निर्वचन में कहते हैं— 'ऋजुः इत्यप्यस्य भवति' अर्थात् 'ऋजुनीती' पद में 'ऋजुः' पद भी 'ऋञ्जति प्रसाधनकर्मा' धातु से व्युत्पन्न होता है। इसका निगम इस प्रकार उद्धृत किया है— 'ऋजुनीती नो वरुणः'। इस ऋचा की उत्पत्ति राहूगण पुत्र अर्थात् धनञ्जय रश्मि से होती है। इस ऋचा का देवता विश्वेदेवा तथा छन्द पिपीलिकामध्या गायत्री होने से इसके दैवत व छान्दस प्रभाव से सभी देव पदार्थ

तेजस्वी व बलवान् होते हैं। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(नः) हम अर्थात् धनञ्जय रश्मियों अथवा धनञ्जय रश्मियों द्वारा वहन की जाने वाली आग्नेय किरणों को (वरुणः) [वरुणः = अपानो वरुणः (श.ब्रा.८.४.२.६), यः प्राणः स वरुणः (गो.उ.४.११), व्यानो वरुणः (श.ब्रा.१२.९.१.१६)] प्राण, अपान एवं व्यान रश्मियों का त्रिक (ऋजुनीती) सरल मार्ग में वहन कराने में सहायक होता है। इससे सिद्ध हो रहा है कि प्रकाश की किरणों के सरलरेखीय गमन के लिए धनञ्जय रश्मियों के साथ-२ इस त्रिक की महती भूमिका होती है।

अब २४०वें पद 'प्रतद्वसू' का निर्वचन करते हुए लिखते हैं— 'प्रतद्वसू प्राप्तवसू' अर्थात् विभिन्न प्रकार के कणादि पदार्थों को प्राप्त वा व्याप्त करने वाला पदार्थ प्रतद्वसू कहलाता है। इसका निगम इस प्रकार है— 'हरी इन्द्र प्रतद्वसू अभि स्वर'। इस ऋचा का देवता इन्द्र तथा छन्द निचृदुष्णिक् है। इसका तात्पर्य है कि इसके दैवत व छान्दस प्रभाव से इन्द्रतत्त्व तीक्ष्ण उष्णता को उत्पन्न करता है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(प्रतद्वसू) विभिन्न प्रकार के कण वा रश्मि आदि पदार्थों में व्याप्त वा उनको प्राप्त (हरी, इन्द्रः) अपनी हरणशील व प्रतिकर्षणशील रश्मियों के साथ इन्द्रतत्त्व (अभि, स्वर) [स्वरतीति गतिकर्मसु (निघं.२.१४)] विभिन्न कणादि पदार्थों की ओर ध्वनि करता हुआ गमन करता है अथवा वह इन्द्रतत्त्व दो हरणशील रश्मियों प्राण व अपान के साथ विभिन्न कणादि पदार्थों की ओर गमन करता है।

* * * * *

द्वाविंशः खण्डः

हिनोता नो अध्वरं देवयज्या हिनोत ब्रह्म सनये धनानाम्।
ऋतस्य योगे वि ष्यध्वमूधः श्रुष्टीवरीर्भूतनास्मभ्यमापः॥

[ऋ.१०.३०.११]

प्रहिणुत नोऽध्वरं देवयज्यायै। प्रहिणुत ब्रह्म धनस्य सनयाय। ऋतस्य योगे।

यज्ञस्य योगे। याज्ञे शकटे इति वा। शकटं शकृदितं भवति।
शनकैस्तकतीति वा। शब्देन तकतीति वा। सुखवतीः।
श्रुष्टीवरीः भूतनास्मभ्यमापः। सुखवत्यो भवतास्मभ्यमापः।
चोष्कूयमाण इन्द्र भूरि वामम्। [ऋ.१.३३.३]
ददिन्द्र बहु वननीयम्।
एधमानद्विळुभयस्य राजा चोष्कूयते विश इन्द्रो मनुष्यान्।
[ऋ.६.४७.१६]
व्युदस्यति। एधमानानहः द्वेष्टि असुन्वतः। सुन्वतोऽभ्यादधाति।
उभयस्य राजा। दिव्यस्य च पार्थिवस्य च।
चोष्कूयमाण इति चोष्कूयतेः चर्करीतवृत्तम्। सुमत् स्वयमित्यर्थः।

तदनन्तर २४१वें पद 'हिनोत' का निगम प्रस्तुत करते हुए लिखा है—

हिनोता नो अध्वरं देवयज्या हिनोत ब्रह्म सनये धनानाम्।
ऋतस्य योगे वि ष्यध्वमूधः श्रुष्टीवरीर्भूतनास्मभ्यमापः॥

इस ऋचा का ऋषि कवष ऐलूष है। इसका तात्पर्य यह है कि इस छन्द रश्मि की उत्पत्ति कवष ऐलूष नामक पदार्थ से होती है। इस पदार्थ के विषय में 'वेदविज्ञान-आलोकः' ग्रन्थ का खण्ड २.१९ पठनीय है। इसका देवता आपः तथा छन्द निचृत् त्रिष्टुप् होने से कवष ऐलूष नामक पदार्थ तीक्ष्ण तेज व बल के उत्पन्न होने के कारण प्राणादि रश्मियों से दूर नहीं हो पाता और इस क्षेत्र में तेज व बल उत्पन्न होने लगते हैं। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(हिनोता = हिनोत, नः, अध्वरम्, देवयज्या) 'प्रहिणुत नोऽध्वरं देवयज्यायै' विभिन्न आपः अर्थात् सर्वत्र व्याप्त प्राण रश्मियाँ विभिन्न देवकणों के संगमन हेतु कवष ऐलूष नामक ऋषि रश्मियों की ओर अध्वर अर्थात् हिंसक पदार्थों को नष्ट करने वाली एवं अहिंस्य सूक्ष्म वज्र रश्मियों को भेजती हैं। इसका भाव यह है कि देवकणों की संगति के समय कवष ऐलूष नामक ऋषि रश्मियों का प्राणापान रश्मियों के साथ संगम होता है, इससे बाधक रश्मि आदि पदार्थ नष्ट हो जाते हैं अथवा छिन्न-भिन्न होकर दूर हट जाते हैं। (हिनोत, ब्रह्म,

सनये, धनानाम्) 'प्रहिणुत ब्रह्म धनस्य सनयाय' वे आपः अर्थात् प्राण रश्मियाँ [ब्रह्म = ब्रह्म वै वाचः परमं व्योम (तै.ब्रा.३.९.५.५), अन्ननाम (निघं.२.७)] अन्तरिक्षस्थ विभिन्न संयोज्य वाक् रश्मियों को कवष ऐलूष ऋषि रश्मियों एवं उनसे उत्पन्न छन्द रश्मियों की ओर प्रेरित करती हैं, जिससे नाना प्रकार के धनों अर्थात् पदार्थों में विभाजनादि क्रियाएँ भी सम्पन्न होने लगती हैं।

(ऋतस्य, योगे) 'ऋतस्य योगे यज्ञस्य योगे याज्ञे शकटे इति वा शकटं शकृदितं भवति शनकैस्तकतीति वा शब्देन तकतीति वा' [शकृत् = शक्नोतीति शकृत् (उ.को.४.५९), शनकैः = शनैः शनैः (आ.को.)। शकटम् = शक्नोतीति शकटः (उ.को.४.८२)] नाना प्रकार की यजन क्रियाओं के योग में अथवा उन यजन क्रियाओं को वहन करने वाली रश्मियों वा कणों, जो यजनशील पदार्थों को वहन करने में समर्थ होती हैं, के अन्दर अथवा उनसे व्याप्त देव पदार्थों, जो शनैः-२ ध्वनि उत्पन्न करते हुए गमन करते रहते हैं, के अन्दर (ऊधः, विष्यध्वम्) [ऊधः = उषसम् (म.द.ऋ.भा.१.६४.५), रात्रिनाम (निघं.१.७)] कृष्ण एवं श्वेत लालिमायुक्त रंगों के प्रकाश उत्पन्न होने लगते हैं। इसके साथ ही उस विशाल पदार्थसमूह किंवा कॉस्मिक मेघ में कृष्ण व लालिमायुक्त क्षेत्र उभरने लगते हैं और कृष्णवर्ण युक्त क्षेत्र सौर कूपों के समान व्यवहार करने लगते हैं। (श्रुष्टीवरीः, अस्मभ्यम्, भूतन, आपः) 'सुखवतीः श्रुष्टीवरीः भूतनास्मभ्यमापः सुखवत्यो भवतास्मभ्य-मापः' इससे कवष ऐलूष संज्ञक ऋषि रश्मियों के लिए विभिन्न प्राण रश्मियाँ वा तन्मात्राएँ सुखयुक्त होती हैं। इसका अर्थ यह है कि [सुखम् = सुहितं खेभ्यः खं पुनः खनतेः (निरु.३.१३) की आधिदैविक व्याख्या में हम प्राण रश्मियों को भी सुख लिख चुके हैं, क्योंकि ये रश्मियाँ 'ख' अर्थात् आकाशतत्त्व को अच्छी प्रकार धारण करती व खोदती रहती हैं।] प्राण रश्मियाँ कवष ऐलूष संज्ञक रश्मियों एवं उनसे उत्पन्न विभिन्न छन्द रश्मियों एवं उनसे युक्त पदार्थों को प्राणत्व से युक्त करके नानाविध सक्रिय करती हैं।

भावार्थ— विभिन्न प्राण रश्मियाँ बाधक पदार्थों को नष्ट करने वाली विभिन्न रश्मियों को निरन्तर प्रेरित करती रहती हैं, जिसके कारण नाना प्रकार की संगमन क्रियाएँ निर्बाध सम्पन्न हो पाती हैं। प्राण रश्मियाँ विभाजक रश्मियों को भी प्रेरित करके नाना प्रकार की विभाजन क्रियाओं को सम्पादित करने में सहयोग करती हैं। नाना प्रकार की क्रियाओं के चलते विशाल खगोलीय मेघों में लालिमायुक्त क्षेत्रों के साथ-२ कृष्ण क्षेत्र भी उभरने लगते

हैं। ये कृष्ण वर्णयुक्त क्षेत्र सौर कूपों की भाँति ही व्यवहार करते हैं। प्राण और अपान रश्मियाँ आकाशतत्त्व की इकाईयों के मध्य सहजता से गमन करते हुए नाना प्रकार के कणों को भी सहजतया गमन कराती हैं।

तदनन्तर २४२वें पद 'चोष्कूयमाणः' का निगम इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है— 'चोष्कूयमाण इन्द्र भूरि वामम्'। इस मन्त्र का देवता इन्द्र तथा छन्द त्रिष्टुप् होने से इसके दैवत एवं छान्दस प्रभाव से इन्द्रतत्त्व तीव्र तेज व बल से युक्त होता है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(चोष्कूयमाणः) 'ददत्' देते हुए (इन्द्र) 'इन्द्र' इन्द्रतत्त्व (भूरि, वामम्) 'बहु वननीयम्' प्रभूत मात्रा में सेवनीय पदार्थों को। इसका आशय यह है कि इस सृष्टि में होने वाली विभिन्न क्रियाओं में इन्द्रतत्त्व विशाल मात्रा में संयोज्य कणादि पदार्थों को उपलब्ध कराता रहता है अर्थात् इन्द्रतत्त्व के कारण ही विभिन्न पदार्थ परस्पर संगमनार्थ यत्र-तत्र गमनागमन करते रहते हैं।

अब २४३वें पद 'चोष्कूयते' का निगम प्रस्तुत किया गया है— 'एधमानद्विळुभयस्य राजा चोष्कूयते विश इन्द्रो मनुष्यान्'। इस मन्त्र का देवता इन्द्र तथा छन्द त्रिष्टुप् होने से इसके दैवत व छान्दस प्रभाव से इन्द्रतत्त्व तीव्र तेज व बल से युक्त होता है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(उभयस्य, राजा, इन्द्रः) 'उभयस्य राजा दिव्यस्य च पार्थिवस्य च' द्युलोक एवं पार्थिव लोकों अर्थात् प्रकाशित, अप्रकाशित एवं अन्तरिक्ष लोकों में विद्यमान समस्त पदार्थसमूह का राजा वह इन्द्रतत्त्व [ध्यातव्य है कि यहाँ 'दिव्यस्य' एवं 'पार्थिवस्य' इन दोनों पदों से ही अन्तरिक्ष लोक का भी ग्रहण हो जाता है। इस कारण 'उभयस्य' पद से 'तीनों लोकों का', ऐसा अर्थ ग्राह्य है, क्योंकि समस्त पदार्थ समूह इन्द्रतत्त्व के कारण प्रकाशित व नियन्त्रित होता है।] (एधमानद्विट्, चोष्कूयते) 'एधमानानहः द्वेष्टि असुन्वतः सुन्वतोऽभ्या-दधाति व्युदस्यति चोष्कूयमाण इति चोष्कूयतेः चर्करीतवृत्तम्' [एधः = ञिइन्धी दीप्तौ (रुधा.) धातोर्घञ् प्रत्यये 'अवोदैधोद्मप्रश्रथहिमश्रथाः' (अष्टा.६.४.२९) सूत्रेण नलोपो गुणश्च निपात्यते। वर्धकार्थे तु एध वृद्धौ (भ्वा.) धातोः कर्त्तर्यच् (वै.को.)] प्रकाश व क्रियादि की दृष्टि से समृद्ध होते हुए पदार्थों से जो भी पदार्थ द्वेष कर रहा होता है अर्थात्

उन्हें दूर हटा रहा होता है, उस पदार्थ एवं जो पदार्थ सम्पीडित वा संगत नहीं हो रहे होते हैं, जिनमें संयोज्यता गुण अतिन्यून मात्रा में विद्यमान होता है, उन सभी पदार्थों को नष्ट कर देता अथवा दूर फेंक देता है। इसके साथ ही जो पदार्थ सम्पीडित वा संगत हो रहे होते हैं अर्थात् जिनमें संयोज्यता गुण विशेष रूप से विद्यमान होता है, उन पदार्थों को चारों ओर से धारण करता हुआ संगमनीय वा सम्पीडन योग्य क्षेत्र में पहुँचा देता है। ध्यातव्य है कि यह क्रिया सूर्य्यादि लोकों, ग्रहादि लोकों के साथ-२ कॉस्मिक मेघों के निर्माण के समय अन्तरिक्ष लोक में भी होती रहती है और इन्द्रतत्त्व की सर्वत्र यही भूमिका रहती है।

यहाँ 'चोष्कूयमाणः' एवं 'चोष्कूयते' दोनों ही पद 'कु शब्दे' धातु के यङ्लुगन्त के रूप हैं, ऐसा ग्रन्थकार का कथन है, परन्तु यहाँ इन पदों का अर्थ भिन्न-२ है। पूर्व उदाहरण में इसका अर्थ 'देना' तथा यहाँ अर्थ 'फेंकना, दूर हटाना' है। अब एक अन्य अर्थ और भी है। (विशः, मनुष्यान्) वह इन्द्रतत्त्व विभिन्न लोकों में विद्यमान मनुष्यवाची कणों को अथवा वह 'वेदविज्ञान-आलोकः' के २.३३ में वर्णित ऋ.३.१३ सूक्तरूप रश्मि समूह रूपी विट् सूक्त एवं [मनुष्यः = बहिः प्राणो वै मनुष्यः (तै.सं.६.१.१.४), मनुष्या वै विश्वे देवाः (काठ.सं.१९.१२)] सभी पदार्थों के बहिर्भागस्थ सूत्रात्मा वायु रश्मियों एवं उन सभी देव अर्थात् संयोज्य पदार्थों को सब ओर से आकर्षित वा धारण करता हुआ उन देवकणों की यजन प्रक्रिया को समृद्ध करता है। यहाँ 'चोष्कूयते' पद, जो पूर्व में आ चुका है, का अर्थ आकर्षण व धारण करना है।

अब २४४वें 'सुमत्' पद का निर्वचन करते हुए लिखा है— 'सुमत् स्वयमित्यर्थः' अर्थात् 'स्वयम्' को ही 'सुमत्' कहा गया है। इस पद का निगम निम्नानुसार उद्धृत किया गया है—

उप प्रागात्सुमन्मेऽधायि मन्म। [ऋ.१.१६२.७]

उपप्रैतु मां स्वयं यन्मे मनोऽध्यायि यज्ञेन। इत्याश्वमेधिको मन्त्रः।

दिविष्टिषु दिव एषणेषु।

स्थूरं राधः शताश्वं कुरुङ्गस्य दिविष्टिषु। [ऋ.८.४.१९]

स्थूरः। समाश्रितमात्रो महान् भवति। अणुरनु स्थवीयांसम्।

उपसर्गो लुप्तनामकरणः। यथा सम्प्रति। कुरुङ्गो राजा बभूव। कुरुगमनाद्वा। कुलगमनाद्वा। कुरुः कृन्ततेः। क्रूरमित्यप्यस्य भवति। कुलं कुष्णातेः। विकुषितं भवति। दूतो व्याख्यातः। जिन्वतिः प्रीतिकर्मा। भूमिं पर्जन्या जिन्वन्ति दिवं जिन्वन्त्यग्नयः। [ऋ.१.१६४.५१] इत्यपि निगमो भवति॥ २२॥

'सुमत्' पद का निगम इस प्रकार है— 'उप प्रागात्सुमन्मेऽधायि मन्म'। इसका ऋषि दीर्घतमा है, जिसका आशय पूर्ववत् समझें। इस मन्त्र का देवता अग्नि एवं छन्द त्रिष्टुप् होने से इसके दैवत व छान्दस प्रभाव से अग्नितत्त्व तीव्र तेज व बल से युक्त होता है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(उप, प्र, अगात्, सुमत्, मे) 'उपप्रैतु मां स्वयं यन्मे' जो विद्युत् अग्नि इस सृष्टि में विद्यमान है, वह स्वयमेव इस छन्द रश्मि की कारणरूप दीर्घतमा रश्मियों को निकटता से व्याप्त करती है। इसका अर्थ है कि दीर्घतमा ऋषि रश्मियाँ अग्नितत्त्व (विद्युत् वा ऊष्मादि) में स्वतः ही व्याप्त होकर उसे भी दूर-२ तक फैलाने में सहायक होती हैं। इसके साथ ही दीर्घतमा ऋषि रश्मियों से उत्पन्न अनेक प्रकार की छन्द रश्मियाँ भी अग्नितत्त्व को विस्तृत रूप से समृद्ध करने में सहायक होती हैं। यह प्रक्रिया स्वाभाविकरूपेण होती है, ऐसा ही 'सुमत्' पद का प्रयोजन है।

(मन्म, अधायि) 'मनोऽध्यायि यज्ञेन' [यज्ञः = वागु वै यज्ञः (श.ब्रा.१.१.४.११), वाग्वै यज्ञः (ऐ.ब्रा.५.२४), आत्मा वै यज्ञः (श.ब्रा.६.२.१.७)] वह अग्नितत्त्व दीर्घतमा ऋषि रश्मियों से समृद्ध मनस्तत्त्व द्वारा धारण किया जाता है। इसको और अधिक स्पष्ट करने के लिए लिखा कि यह प्रक्रिया यज्ञ अर्थात् विभिन्न प्रकार की वाक् एवं सूत्रात्मा वायु रश्मियों द्वारा सम्पन्न होती है। यहाँ संकेत मिलता है कि ऊष्मा, प्रकाश वा विद्युत् आदि किसी भी रूप में विद्यमान अग्नि के दीर्घतमा ऋषि रश्मियों के द्वारा विस्तृत व समृद्ध होने की प्रक्रिया में मनस्तत्त्व तक प्रभावित होता है। यह भी अवगम्य है कि [मनः = मनोऽन्तरिक्षलोकः (श.ब्रा.१४.४.३.११)] यहाँ 'मन' का अर्थ अन्तरिक्ष अर्थात् आकाश तत्त्व ग्रहण किया जाये। इसका तात्पर्य है कि अग्नि के विस्तार की प्रक्रिया में आकाश तत्त्व भी अनिवार्यरूपेण प्रभावित होता है।

'इत्याश्वमेधिको मन्त्रः' ऐसा कहकर ग्रन्थकार ने इस ऋचा को आश्वमेधिक मन्त्र कहा है। [अश्वमेधः = असावादित्योऽश्वमेधः (श.ब्रा.९.४.२.१८), एष वाऽश्वमेधो य ऽएष (सूर्य्यः) तपति (श.ब्रा.१०.६.५.८)] इसका तात्पर्य है कि यह छन्द रश्मि सूर्य्यादि तेजस्वी लोकों के अन्दर क्रियाशील रहती है और उपर्युक्त प्रभाव वही होता है।

तदनन्तर २४५वें पद 'दिविष्टिषु' का निर्वचन करते हुए लिखते हैं— 'दिविष्टिषु दिव एषणेषु' अर्थात् इस पद का अर्थ है— 'द्युलोक, विद्युत् अथवा प्रकाश के चाहने वालों में।' इस पद का निगम इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है— 'स्थूरं राधः शताश्वं कुरुङ्गस्य दिविष्टिषु ... (राज्ञः, सुभगस्य, त्वेषस्य)'। इस ऋचा का देवता 'कुरुङ्गस्य दानस्तुतिः' तथा छन्द विराड् बृहती है। 'कुरुङ्गः' पद का अर्थ इस मन्त्र के भाष्य में दर्शाया जायेगा। इस कारण इसका दैवत व छान्दस प्रभाव आधिदैविक भाष्य के पश्चात् दर्शायेंगे। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(दिविष्टिषु) दिव्य लोक चाहने वाली क्रियाओं वा द्रव्यों में अर्थात् जिन क्रियाओं से तेजस्वी लोकों की उत्पत्ति होती है, उन क्रियाओं वा द्रव्यों में (स्थूरम्) 'स्थूरः समाश्रितमात्रो महान् भवति अणुरनु स्थवीयांसम् उपसर्गो लुप्तनामकरणः यथा सम्प्रति' [स्थूर = स्थूल] अर्थात् जो एक मूल पर आश्रित अनेक सूक्ष्म अवयवों का समूह होता है। यहाँ ग्रन्थकार ने स्थूल वा स्थूर के निर्वचन के साथ-२ इसके विपरीत वा अवयव 'अणु' पद का भी निर्वचन करते हुए लिखा है कि 'अणुः' पद इस कारण सूक्ष्म का वाचक होता है, क्योंकि यह स्थूल पदार्थ का [अनु = अन्विति सादृश्यापरभावम् (निरु.१.३)] सादृश्यरूप एवं उसका अनुगामी होता है अथवा सूक्ष्म अवयव स्थूल पदार्थ का अपर रूप होता है। इसका अर्थ यह है कि किसी स्थूल पदार्थ के सूक्ष्म अवयव उस स्थूल पदार्थ के ही अन्दर अनुकूलतापूर्वक व्याप्त रहते हैं। यहाँ अनुकूलतापूर्वक का अर्थ यह है कि किसी भी स्थूल पदार्थ के सूक्ष्म अवयव उन गुणों से युक्त होते हैं, जिनके सदृश ही अवयवी स्थूल पदार्थ के गुण उत्पन्न होते हैं। 'अणुः' की निरुक्ति के विषय में निरुक्त-भाष्यकार स्वामी ब्रह्ममुनि परिव्राजक लिखते हैं—

''अनु सन् णत्वेन 'अणु' उच्यते। उपसर्गः सन् नामवाचको लुप्तनामप्रत्ययः। यथा सम्प्रति उपसर्गाद्वयं लुप्तनामप्रत्ययं 'साम्प्रतं' इत्यस्मिन्नर्थे प्रयुज्यते तथा- अनु पश्चाद्भावः- भवार्थेऽण् तस्य लोपे 'अनु-अणु'।''

पण्डित भगवद्दत्त रिसर्च स्कॉलर ने भी अपने निरुक्त-भाष्य में लिखा है—

"लुप्तनामकरणः [जिसका] लुप्त है [अगला] प्रत्यय। जैसे सम्प्रति [में तद्धित प्रत्यय वाले साम्प्रतं का प्रत्यय लुप्त मानकर, रूप मान लिया जाता है।]"

ऐसा विशाल (शताश्वम्, राधः) जिसके सैकड़ों अश्व हैं [अश्वः = वज्रो वाऽअश्वः (श.ब्रा.४.३.४.२७), अग्निर्वा अश्वः श्वेतः (श.ब्रा.३.६.२.५)] अर्थात् जिसमें अनेक प्रकार की श्वेतवर्णयुक्त वज्ररूप तरंगों का सामर्थ्य होता है। [राधृ सामर्थ्ये] यहाँ ऐसे आग्नेय मेघ का संकेत है, जो श्वेतवर्णीय होने के कारण तीव्र तप्त होता है और अपने तीव्र ताप के कारण जिसमें विद्यमान विभिन्न कणों का संगमन होकर नाना प्रकार के अणुओं का निर्माण होता है तथा बाधक असुरादि पदार्थों को नियन्त्रित कर लिया जाता है। इसके साथ वह मेघ अपने निकटवर्ती पदार्थों को भी रोकने में समर्थ होने के कारण उसका आकार बढ़ता जाता है। (कुरुङ्गस्य, राज्ञः, त्वेषस्य, सुभगस्य) 'कुरुङ्गो राजा बभूव कुरुगमनाद्वा कुलगमनाद्वा कुरुः कृन्ततेः क्रूरमित्यप्यस्य भवति कुलं कुष्णातेः विकुषितं भवति' [त्वेषः = त्विषिरित्यप्यस्य दीप्तिर्नाम भवति (निरु.१.१७), त्वेषः स भानुरर्णवो नृचक्षा ऽइति महान्त्स भानुरर्णवो नृचक्षा ऽइत्येतत्। (श.ब्रा.७.१.१.२३)। देवा वै नृचक्षसः (श.ब्रा.८.४.२.५)। भगः = यज्ञो भगः (श.ब्रा.६.३.१.१९)] ऐसे श्वेत मेघ रूप पदार्थ कुरुङ्ग के भाग होते हैं। यहाँ 'कुरुङ्ग' का निर्वचन इसके स्वरूप की उत्तम व्याख्या करता है। यह अति विशाल पदार्थ राजा अर्थात् तीव्रता से चमकने वाला, कुरुओं में गमन करने वाला अर्थात् तीव्र छेदनादि कर्मों से समृद्ध कुलों में गमन करने वाला अर्थात् विकुषित होने वाला होता है। इसका अर्थ यह है कि वह विशाल मेघ समूह [कुष निष्कर्षे = बाहर निकालना, चमकना (सं.धा.को.)] ऐसे चमकीले विशाल लोक का रूप धारण करने लगता है, जिसमें भरा हुआ पदार्थ बलपूर्वक बाहर की ओर ऐसे खिंचता रहता है, जैसे तीव्रता से उबलते हुए जल के पात्र में जल उबलता रहता है। वह विशाल लोक व्यापक भानुरूप होकर अपने निकटवर्ती देव पदार्थ को सब ओर से आकर्षित करता रहता है। इसके साथ-२ उस विशाल पदार्थ समूह में देव पदार्थ का संगमन वा संलयन भी तीव्र गति से होता रहता है। यहाँ जो 'कुरु' शब्द का निर्वचन किया गया है, उसी प्रकार से 'क्रूर' शब्द का निर्वचन भी माना गया है, क्योंकि क्रूर प्राणी भी दूसरे प्राणियों को काट-२ कर मारता है।

भावार्थ— इस मन्त्र में किसी विशाल तारे के बनने की प्रक्रिया के एक पक्ष को दर्शाया

गया है। इसमें श्वेतवर्णीय अनेक कॉस्मिक मेघ परस्पर मिलकर संघनित विशाल मेघ का निर्माण कैसे करते हैं, यह दर्शाया गया है। किसी तारे की निर्माण-प्रक्रिया बहुत ही विक्षोभयुक्त होती है। इसका 'दिविष्टिषु' पद भी यही संकेत करता है।

'दूतः' पद की व्याख्या खण्ड ५.१ में की जा चुकी है।

तदनन्तर २४६वें पद 'जिन्वति' का निर्वचन करते हुए लिखा है— 'जिन्वतिः प्रीतिकर्मा' अर्थात् प्रीति करने अर्थ में किंवा आकर्षित करने अर्थ में यह पद प्रयुक्त होता है। इसका निगम इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है— 'भूमिं पर्जन्या जिन्वन्ति दिवं जिन्वन्त्यग्नयः'। इस ऋचा के देवता सूर्य, पर्जन्य व अग्नि हैं। इसका छन्द विराडनुष्टुप् होने से सूर्य, पर्जन्य व अग्नि आदि के तेज में वृद्धि होती है और वे विविध प्रकार से प्रकाशित होने लगते हैं। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(पर्जन्याः) [पर्जन्यः = पर्जन्यस्तृपेराद्यन्तविपरीतस्य तर्पयिता जन्यः परो जेता वा परो जनयिता वा प्रार्जयिता वा रसानाम् (निरु.१०.१०)] पृथिव्यादि लोकों के निर्माण के समय होने वाली प्रक्रिया में ऐसे पर्जन्य अर्थात् मेघ पृथिव्यादि लोकों को तृप्त करते हैं अर्थात् उन लोकों को बनाने में अपनी भूमिका निभाते हैं। इन मेघों का वर्णन करते हुए कहा कि ये मेघ विभिन्न उत्पन्न पदार्थों को तृप्त करते, अपने निकटवर्ती अपेक्षाकृत सूक्ष्म पदार्थों को नियन्त्रित वा आकर्षित करने में श्रेष्ठ नाना प्रकार के पदार्थों को उत्पन्न करने व संगृहीत करने में श्रेष्ठ होते हैं। (भूमिम्, जिन्वन्ति) पृथिव्यादि लोकों के प्रति आकृष्ट होते रहते किंवा उन्हें अपनी ओर आकृष्ट करते रहते हैं। (अग्नयः) विभिन्न प्रकार की अग्नियाँ, उदाहरणतः गार्हपत्य, दाक्षिणाग्नि व आहवनीय अग्नि, जो द्युलोक अर्थात् किसी भी तारे के भिन्न-२ भागों में विद्यमान होती हैं, (दिवम्, जिन्वन्ति) तारों को तृप्त करती हैं अर्थात् ये तीनों ही अग्नियाँ तारों के निर्माण की सम्पूर्ण प्रक्रिया के साथ-२ उनमें होने वाली प्रत्येक क्रिया के लिए उत्तरदायिनी होती हैं। इन तीनों अग्नियों के विषय में 'वेदविज्ञान-आलोकः' पठनीय है।

* * * * *

= त्रयोविंशः खण्डः =

अमत्रोऽमात्रो। महान् भवति। अभ्यमितो वा।

महाँ अमत्रो वृजने विरप्शी। [ऋ.३.३६.४] इत्यपि निगमो भवति।

स्तवे वज्र्यृचीषमः [ऋ.१०.२२.२]

स्तूयते वज्री ऋचा समः। अनर्शरातिम् अनश्लीलदानम्।

अश्लीलं पापकम्। अश्रिमद्विषमम्।

अनर्शरातिं वसुदामुप स्तुहि। [ऋ.८.९९.४] इत्यपि निगमो भवति।

तदनन्तर २४७वें पद 'अमत्रः' का निर्वचन करते हुए लिखते हैं— 'अमत्रोऽमात्रो महान् भवति अभ्यमितो वा' अर्थात् जिसे मापा नहीं जा सके, जो अपरिमाण वाला महान् होवे, उसे 'अमत्रः' कहते हैं अथवा जो शत्रु रूप असुरादि पदार्थों के प्रहार से हिंसक न होने वाला होवे, उसे अमत्र कहते हैं। [अभ्यमितः = अहिंसितः (स्कन्दस्वामी)] इस पद का निगम इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है— 'महाँ अमत्रो वृजने विरप्शी... (उग्रम्, शवः, पत्यते, धृष्णु, ओजः)'। इसका देवता इन्द्र तथा छन्द भुरिक् पंक्ति होने से इन्द्रतत्त्व अपने बाहुरूप बलों के साथ परिपक्व एवं विस्तृत होता है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

वह इन्द्रतत्त्व (वृजने) [वृजनं बलनाम (निघं.२.९)] जिसमें विभिन्न प्रकार से बलों का व्यवहार किया जाता है, उस संग्राम में (अमत्रः) परिमाणरहित अर्थात् व्यापक परिमाण वाला (विरप्शी) [रप्शत् = रप व्यक्तायां वाचि (भ्वा.) धातोः शप् शपो शस्य न लोपश्छान्दसत्वात् (वै.को.)] विविध प्रकार के घोष करता हुआ (उग्रम्, शवः, धृष्णु, ओजः) तीक्ष्ण [शवः = शवसो महतो बलस्य (निरु.१२.२१), शवति गतिकर्मा (निघं. २.१४), बलं वै शवः (श.ब्रा.७.३.१.२९)। ओजः = वज्रो वाऽओजः (श.ब्रा.८.४.१.२०), बलनाम (निघं.२.९), ओजतेर्वा उब्जतेर्वा (निरु.६.८)] एवं ऐसे दृढ़ बल, जो पदार्थ को गति प्रदान करने वाले एवं सम्पीडित करने वाले होते हैं, जो बाधक पदार्थों को नष्ट वा नियन्त्रित करने एवं अपेक्षित पदार्थों को सब ओर से संगृहीत करने में सक्षम होते हैं, ऐसे (महान्, पत्यते) व्यापक व महान् बलों को प्राप्त होता है। यहाँ इन्द्रतत्त्व के अपरिमित

किंवा अति व्यापक गुणों, विशेषकर बलों की चर्चा की गयी है।

अब २४८वें पद 'ऋचीषमः' का निगम प्रस्तुत करते हैं— 'स्तवे वज्र्यृचीषमः'। इस ऋचा का देवता इन्द्र तथा छन्द निचृदनुष्टुप् होने से इसके दैवत व छान्दस प्रभाव से इन्द्रतत्त्व तीक्ष्णतापूर्वक अपने कार्यों को करने में सक्षम होता है। इसका ग्रन्थकार द्वारा किया गया आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

'स्तूयते वज्री ऋचा समः'। इसका अर्थ यह है कि वज्र रश्मियों का धारक एवं उन रश्मियों के द्वारा असुरादि बाधक तत्त्वों पर प्रहार करने वाला इन्द्रतत्त्व विभिन्न ऋक् रूप छन्द रश्मियों के समान अर्थात् उनके अनुसार ही प्रकाशित वा सक्रिय होता है। इसका तात्पर्य यह है कि इन्द्रतत्त्व किन-२ ऋक् रूप छन्द रश्मियों से निर्मित है किंवा उस क्षेत्र में कौन-२ सी ऋक् रूप छन्द रश्मियाँ विद्यमान हैं, तदनुसार अर्थात् उन्हीं के समान इन्द्रतत्त्व बल व तेज आदि गुणों से युक्त होता है। इससे स्पष्ट होता है कि इन्द्रतत्त्व की तीव्रता सदैव व सर्वत्र समान नहीं हो सकती, बल्कि वह उसकी अवयव रूप ऋक् रश्मियों व निकटवर्ती रश्मियों पर निर्भर रहती है। यहाँ 'ऋचीषमः' पद यही दर्शाता है।

तत्पश्चात् २४९वें पद 'अनर्शरातिम्' का निर्वचन करते हुए लिखते हैं—

'अनर्शरातिम् अनश्लीलदानम् अश्लीलं पापकम् अश्रिमद्विषमम्।'

इसका अर्थ है कि जो पदार्थ श्रीयुक्त नहीं होते अर्थात् जो अन्य पदार्थों को आश्रय न देने वाले तथा विपरीत वा बाधक प्रभाव डालने वाले होते हैं एवं कुटिल गतियुक्त होते हैं, जो पदार्थ ऐसे पापक पदार्थों से रहित होते हैं, वे अनश्लील कहे जाते हैं और उनका दान ही 'अनर्शरातिम्' कहा जाता है। इसका तात्पर्य यह है कि सृष्टि के कार्यों में सहायक और नाना प्रक्रियाओं को अपेक्षित बल आदि प्रदान करने वाले पदार्थों को देने की प्रक्रिया 'अनर्शरातिम्' कही जाती है। इसका निगम इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है— 'अनर्शरातिं वसुदामुप स्तुहि'। इस ऋचा का देवता इन्द्र तथा छन्द पंक्ति होने से इसके दैवत व छान्दस प्रभाव से इन्द्रतत्त्व परिपक्व एवं विस्तृत होने लगता है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(वसुदाम्) विभिन्न प्रकार के सूक्ष्म पदार्थों व बलों को प्रदान करने वाले, [वसुः = पशवो वै वसुः (तां.ब्रा.७.१०.१७), पशवो वसुः (श.ब्रा.३.७.३.११), प्राणा वै वसवः प्राणा हीदं

सर्वं वस्वाददते (जै.उ.४.२.३), यज्ञो वै वसुः (श.ब्रा.१.७.१.९)] नाना प्रकार की संयोज्य छन्द, मरुत् व प्राण रश्मियों को प्रदान करने वा उत्पन्न करने वाले (अनर्शरातिम्) बाधक वा पातक पदार्थों को नहीं, बल्कि साधक वा सहायक पदार्थों को प्रदान करने वाले इन्द्रतत्त्व को (उप-स्तुहि) सृष्टि के सभी पदार्थ निकटता से बुलाते हैं अर्थात् उन सभी के निकट इन्द्रतत्त्व प्रकाशित व सक्रिय होने लगता है। इन्द्रतत्त्व के उत्पन्न होते ही नाना प्रकार के पदार्थ उत्पन्न, सक्रिय व परस्पर संयुक्त होने लगते हैं।

अनर्वा अप्रत्यृतोऽन्यस्मिन्।
अनर्वाणं वृषभं मन्द्रजिह्वं बृहस्पतिं वर्धया नव्यमर्कैः। [ऋ.१.१९०.१]
अनर्वमप्रत्यृतमन्यस्मिन्। वृषभम्। मन्द्रजिह्वं मन्दनजिह्वम्।
मोदनजिह्वमिति वा। बृहस्पतिं वर्धय नव्यमर्कैः। अर्चनीयैः स्तोमैः।
असामि सामिप्रतिषिद्धम्। सामि स्यतेः।
असाम्योजो बिभृथा सुदानवः। [ऋ.१.३९.१०]
असुसमाप्तं बलं बिभृत कल्याणदानाः॥ २३॥

अब २५०वें पद 'अनर्वा' का निर्वचन करते हुए लिखते हैं— 'अनर्वा अप्रत्यृ-तोऽन्यस्मिन्' अर्थात् जो पदार्थ अन्य किसी पदार्थ में गया हुआ नहीं होता है अर्थात् किसी अन्य में व्याप्त वा आश्रित नहीं होता है, उस पदार्थ को अनर्वा कहते हैं अर्थात् स्वतन्त्र रहने वाला पदार्थ अनर्वा कहलाता है। इस पद का निगम इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है— 'अनर्वाणं वृषभं मन्द्रजिह्वं बृहस्पतिं वर्धया नव्यमर्कैः'। इस मन्त्र का देवता बृहस्पति तथा छन्द निचृत् त्रिष्टुप् है। [बृहस्पतिः = अयं वै बृहस्पतिर्योऽयं (वायुः) पवते (श.ब्रा. १४.२.२.१०)] इस कारण इसके दैवत व छान्दस प्रभाव से वायुतत्त्व अर्थात् विभिन्न प्राण व छन्द रश्मियाँ तीक्ष्ण बलवती होने लगती हैं। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(अनर्वाणम्) 'अनर्वमप्रत्यृतमन्यस्मिन्' स्वतन्त्र विचरण करने वाले (वृषभम्) 'वृषभम्' नाना प्रकार के सेचक बलों से युक्त (मन्द्रजिह्वम्) 'मन्द्रजिह्वं मन्दनजिह्वम् मोदनजिह्वमिति वा' उत्तेजित जिह्वा [जिह्वा = वाङ्नाम (निघं.१.११), जिह्वा कोकुवा जोहुवा (निरु. ५.२७)] अर्थात् विभिन्न प्रकार की ऐसी वाक् रश्मियों, जो निरन्तर मध्यमा वाणी रूप

सूक्ष्म ध्वनियाँ उत्पन्न करती हुई नाना प्रकार के संगमन कर्मों को सम्पादित करती रहती हैं। ऐसी उत्तेजित वाक् रश्मियों से युक्त (नव्यम्) 'नव्यम्' प्रकाशित होते हुए अर्थात् अदृश्य अतिसूक्ष्म दीप्ति से युक्त (बृहस्पतिम्) 'बृहस्पतिम्' वायुतत्त्व एवं उसकी अंगभूत विभिन्न छन्दादि रश्मियों को (अर्कैः) 'अर्कैः अर्चनीयैः स्तोमैः' [स्तोमः = गायत्रीमात्रो वै स्तोमः (कौ.ब्रा.१९.८), प्राणा वै स्तोमाः (श.ब्रा.८.४.१.३, जै.ब्रा.२.१३३)। अर्कः = प्राणो वाऽअर्कः (श.ब्रा. १०.४.१.२३)] विभिन्न प्राण एवं विभिन्न गायत्री छन्द रश्मियों के द्वारा (वर्धया = वर्धय) समृद्ध किया जाता है। इसका तात्पर्य यह है कि वायुतत्त्व के अन्दर जब प्राण रश्मियाँ अथवा विभिन्न गायत्री छन्द रश्मि समूहरूप स्तोम विशेष सक्रिय होते हैं, तब सम्पूर्ण वायुतत्त्व बल आदि की दृष्टि से समृद्ध होने लगता है। इस कारण वायुतत्त्व से अग्रिम पदार्थ अग्नि आदि की उत्पत्ति व वृद्धि के लिए ईश्वर द्वारा प्राण व गायत्री रश्मि समूहों को ही समृद्ध किया जाता है।

तदनन्तर २५१वें पद 'असामि' का निर्वचन करते हुए लिखते हैं— 'असामि सामिप्रतिषिद्धम् सामि स्यतेः' अर्थात् 'सामि' से विपरीत और 'सामि' का अर्थ है— समाप्त होने वाला। इस प्रकार 'असामि' का तात्पर्य है— समाप्त नहीं होने वाला। इसका निगम इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है— 'असाम्योजो बिभृथा सुदानवः'। इस मन्त्र का देवता मरुतः तथा छन्द विराट् सतः पंक्ति होने से इसके दैवत व छान्दस प्रभाव से विभिन्न मरुत् रश्मियाँ विविध प्रकार से प्रकाशित, परिपक्व व विस्तृत होती हैं। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(सुदानवः) 'कल्याणदानाः' कमनीय पदार्थों को प्रदान करने वाले अर्थात् जो पदार्थ अपने अवयवरूप अथवा बहिःस्थ संयोज्य पदार्थों को किन्हीं अन्य पदार्थों को प्रदान करते हैं। (असामि) 'असुसमाप्तम्' निरन्तर प्रभावी (ओजः) 'बलम्' सम्पीडक बलों को (बिभृथा) 'बिभृत' विशेष रूप से धारण करते हैं। यहाँ किसी पदार्थ द्वारा अपने अवयवभूत किसी पदार्थ को स्वयं से पृथक् करने में सम्पीडक बल की भूमिका का संकेत मिलता है। इससे प्रतीत होता है कि जब कोई पदार्थ अपने किसी अवयव को स्वयं से पृथक् कर किसी अन्य पदार्थ को देता अथवा उसकी ओर प्रक्षिप्त करता है, उस समय वह पदार्थ स्वयं को कुछ सिकोड़ता हुआ अपने किसी अवयव को पृथक् करता है। इस प्रकार प्रक्षेपक बलों के साथ-२ सम्पीडक बलों की भी यहाँ अनिवार्य भूमिका सिद्ध होती है।

इससे यह भी संकेत मिलता है कि जब कोई परमाणु (एटम) अपने किसी सोम्य कण (इलेक्ट्रॉन) को त्यागता है, तब उस प्रक्रिया में परमाणु की कक्षाएँ कुछ समय के लिए सम्पीडित होती हैं और जैसे ही सोम्य कण अर्थात् इलेक्ट्रॉन त्याग दिया जाता है, कक्षाएँ पूर्ववत् सामान्य स्थिति को प्राप्त कर लेती हैं।

* * * * *

= चतुर्विंशः खण्डः =

मा त्वा सोमस्य गल्दया सदा याचन्नहं गिरा।
भूर्णिं मृगं न सवनेषु चुक्रुधं क ईशानं न याचिषत्॥ [ऋ.८.१.२०]
मा चुक्रुध्वं त्वां सोमस्य गालनेन सदा याचन्नहम्। गिरा गीत्या स्तुत्या।
भूर्णिमिव मृगम्। न सवनेषु चुक्रुधम्। क ईशानं न याचिष्यत इति।
गल्दा धमनयो भवन्ति। गलनमासु धीयते।
आ त्वा विशन्त्विन्दव आ गल्दा धमनीनाम्।
नानाविभक्तीत्येते भवतः। आगलनाः धमनीनाम्। इति अत्रार्थः॥ २४॥

अब २५२वें पद 'गल्दया' का निगम इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है—

मा त्वा सोमस्य गल्दया सदा याचन्नहं गिरा।
भूर्णिं मृगं न सवनेषु चुक्रुधं क ईशानं न याचिषत्॥

इस मन्त्र का ऋषि 'मेधातिथिमेध्यातिथी काण्वौ' है। इसका अर्थ यह है कि इस छन्द रश्मि की उत्पत्ति महत्तत्त्व में सदैव विचरण करने वाली रश्मि अर्थात् सूत्रात्मा वायु से होती है। इसका देवता इन्द्र तथा छन्द आर्षी बृहती होने से इसके दैवत व छान्दस प्रभाव से इन्द्रतत्त्व व्यापक बलयुक्त होकर पदार्थ की संघनन प्रक्रिया को बढ़ाने लगता है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(मा, त्वा) 'मा चुक्रुध्वं त्वाम्' वह इन्द्रतत्त्व अत्यन्त क्षुब्ध नहीं होता है अर्थात् सृष्टि की

विभिन्न प्रक्रियाओं में इन्द्रतत्त्व विनाशकारी न होकर सम्यक् सन्तुलित बलों से युक्त होता है। (सोमस्य, गल्दया) 'सोमस्य गालनेन' नाना प्रकार के सौम्य कणों व सोम रश्मियों की प्रवाहित होती हुई धाराओं के साथ (सदा, याचन्, अहम्, गिरा) 'सदा याचन्नहम् गिरा गीत्या स्तुत्या' इस छन्द रश्मि की उपादान कारणभूत सूत्रात्मा वायु रश्मियाँ सदैव ही नाना प्रकार से प्रकाशित वा सक्रिय होती हुई विभिन्न छन्द रश्मियों के द्वारा विभिन्न कणों वा रश्मि आदि पदार्थों को चाहती अर्थात् आकर्षित करती रहती हैं। वस्तुतः सूत्रात्मा वायु रश्मियाँ अपनी शाखा व प्रशाखाओं के माध्यम से ज्ञानपूर्वक स्पन्दित होती हुई दैवी गायत्री 'ओम्' रश्मियों के द्वारा विभिन्न संयोज्य सूक्ष्म रश्मियों के माध्यम से अपेक्षाकृत स्थूल रश्मि वा कण आदि पदार्थों को चाहती अर्थात् खोजती रहती हैं।

(भूर्णिम्, मृगम्) 'भूर्णिमिव मृगम्' [भूर्णिः = बिभर्ति धरति सर्वमिति (उ.को.४.५३)। मृगः = मृगो मार्ष्टेर्गतिकर्मणः (निरु.१.२०)] इसकी तुलना करते हुए कहा है कि यह उपर्युक्त प्रक्रिया उसी प्रकार होती है, जिस प्रकार सबको धारण करने वाले विभिन्न लोक निरन्तर गमन करते हुए नाना सूक्ष्म पदार्थों को खोजते व अपनी ओर आकृष्ट करते रहते हैं। इस प्रकरण में आधिदैविक पक्ष में ज्ञातव्य है कि जब विभिन्न सूक्ष्म अवयवों के धारक कण वा लोक अन्य संयोज्य पदार्थों को खोजते वा आकृष्ट करने हेतु गमन कर रहे होते हैं, उस समय सूत्रात्मा वायु रश्मियों की उपर्युक्त क्रियाएँ होती हैं। (न, सवनेषु, चुक्रुधम्) 'न सवनेषु चुक्रुधम्' इन विभिन्न संयोग वा सम्पीडनादि क्रियाओं में ये लोक वा कण अति क्षुब्ध नहीं होते अर्थात् भले ही वे क्रियाएँ कितनी ही तीव्र गति से हो रही हों, संयोज्य कण वा लोक सन्तुलित व सम्यक् बलों के द्वारा यजन क्रियाओं को सम्पादित करते हैं, न कि विध्वंसक क्रियाओं के द्वारा अपना विनाश कर लेते हैं। (कः, ईशानम्, न, याचिषत्) 'क ईशानं न याचिष्यत इति' [कः = कः कमनो वा क्रमणो वा सुखो वा (निरु.१०.२२), याचति वधकर्मा (निघं.२.१९)] ध्यातव्य है कि यहाँ आधिभौतिक व आध्यात्मिक अर्थ में 'कः' पद प्रश्नवाचक है, परन्तु आधिदैविक अर्थ में 'कः' पद का अर्थ है— ऐसे सूक्ष्म कण आदि पदार्थ, जो किन्हीं अन्य पदार्थों को आकर्षित करने हेतु गतिशील हों तथा 'खम्' अर्थात् आकाशतत्त्व को अच्छी प्रकार धारण किये हुए हों। ऐसे पदार्थ कभी भी अपने नियन्त्रक वा प्रेरक पदार्थों को नष्ट नहीं करते।

ध्यातव्य है कि इस मन्त्र के प्रारम्भ में इन्द्रतत्त्व के अति विध्वंसक नहीं होने,

बल्कि सन्तुलित व सम्यक् बलों से युक्त होने की बात कही है, उसकी इस अन्तिम बात के साथ पूर्ण सङ्गति लगती है।

भावार्थ— इन्द्रतत्त्व तीक्ष्ण रूप से बलवान् होते हुए भी इस सृष्टि में विनाशकारी परिणाम नहीं देता है, बल्कि वह विभिन्न प्रक्रियाओं को सन्तुलित रूप से सम्पन्न कराने में सहयोग करता है। सूत्रात्मा वायु रश्मियाँ 'ओम्' रश्मियों की प्रेरणा से ज्ञानपूर्वक स्पन्दित होती हुई विभिन्न छन्दादि रश्मियों को आकर्षित करके नाना प्रकार के कर्मों को सम्पन्न करती हैं। विभिन्न संयोग वा सम्पीडन आदि क्रियाओं के समय सभी कण वा लोक पूर्ण सन्तुलन की अवस्था में ही होते हैं, भले ही वे क्रियाएँ कितनी ही तीव्र क्यों न हों। कोई भी सूक्ष्म कण आदि पदार्थ नाना प्रकार की क्रियाओं को करते समय कभी भी अपने प्रेरक वा नियन्त्रक पदार्थों को किसी भी प्रकार से हानि नहीं पहुँचाते।

यहाँ ग्रन्थकार ने 'गल्दा' का निर्वचन अन्य प्रकार से किया है, जो निम्नलिखित है— 'गल्दा धमनयो भवन्ति गलनमासु धीयते' अर्थात् शरीर की धमनियों को भी गल्दा कहा जाता है, क्योंकि उनके अन्दर बहता हुआ रक्त रखा हुआ होता है किंवा उनमें प्रवाहित रक्त धारण किया हुआ होता है। इसका अन्य निगम इस प्रकार उद्धृत किया गया है— 'आ त्वा विशन्त्विन्दव आ गल्दा धमनीनाम्'। यहाँ ग्रन्थकार का कथन है— 'नानाविभक्तीत्येते भवतः आगलनाः धमनीनाम् इति अत्रार्थः'। इस ऋचा का भाष्य हम निरुक्त भाष्यकार पण्डित भगवद्दत्त रिसर्च स्कॉलर का ही उद्धृत कर रहे हैं—

"पूर्व मन्त्र का पदक्रम वर्तमान शैली के अनुसार दूरान्वयी है। इसलिए यास्क ने 'मा चुक्रुधम्' को आरम्भ में ही लिख कर अर्थ स्पष्ट किया है। गल्दा पद वाला उदाहरण इस समय आपस्तम्ब और मानव श्रौत सूत्रों में ही उपलब्ध होता है। किसी मूल शाखा-संहिता में यह अवश्य होगा। स्कन्द ने अपने निरुक्तवृत्तिसमुच्चय में इस मन्त्र का उत्तरार्ध भी पढ़ा है। निघण्टु ४.३ में केवल गल्दया पद पढ़ कर तथा भाष्य में दूसरी विभक्ति वाले गल्दा रूप के पढ़ने और तदर्थ उदाहरण में किसी संहिता का पाठ देने से यास्क ने स्पष्ट किया है कि मूल निघण्टु के संकलन में उस ने अपने से पूर्व के निघण्टुओं का अनुसरण किया है, परन्तु अपनी व्यापक बुद्धि के कारण उस ने भाष्य में दूसरा उदाहरण भी दे दिया है। पहले निघण्टुओं में ऋग्वेद का ही अधिक आश्रय होगा। स्कन्द के अनुसार धमनियाँ गले की नाड़ियाँ होती हैं। अन्यत्र सब नाड़ियाँ ही धमनी नाम से कही जाती हैं।"

हमारे मत में इस ऋचा से यह भी संकेत मिलता है कि सूर्यरूपी इन्द्र के अन्दर अनेक खोखली नालियाँ विद्यमान होती हैं। इनमें विशाल व लघु दोनों प्रकार की ही नालियाँ होती हैं। इन्हें सौर कूप भी कहते हैं, जिनके बारे में पूर्व में अनेकत्र चर्चा की गयी है। इनके अन्दर इन्दु अर्थात् सोम रश्मियाँ एवं सौम्य कण किंवा ऋणायनों की धाराएँ प्रविष्ट होकर गमन करती रहती हैं। 'धमनीनाम् आगल्दाः' पदों से संकेत मिलता है कि उन गहरी गुफा रूप नालियों वा सौर कूपों के अन्दर अपेक्षाकृत लघु नालिकानुमा आकृतियाँ भी होती हैं, उन्हें ही यहाँ गल्दा कहा गया है। इन्हीं के अन्दर ऋणायनों वा सोम रश्मियों की धाराएँ बहती रहती हैं। इससे प्रकट होता है कि सौर कूपों के अन्दर ऋणायनों व धनायनों की पृथक्-२ व समानान्तर धाराएँ सदैव बहती रहती हैं, जो बाहरी भाग से केन्द्रीय भाग की ओर जाती हैं।

* * * * *

= पञ्चविंशः खण्डः =

न पापासो मनामहे नारायासो न जळहवः। [ऋ.८.६१.११]
न पापा मन्यामहे। नाधनाः। न ज्वलनेन हीनाः।
अस्त्यस्मासु ब्रह्मचर्यमध्ययनं तपो दानकर्मेत्यृषिरवोचत्।
बकुरो भास्करः। भयङ्करः। भासमानो द्रवतीति वा॥ २५॥

यहाँ २५३वें पद 'जळहवः' का निगम प्रस्तुत करते हुए लिखते हैं— 'न पापासो मनामहे नारायासो न जळहवः'। इसका देवता इन्द्र तथा छन्द निचृद् बृहती होने से इसके दैवत व छान्दस प्रभाव से इन्द्रतत्त्व तीक्ष्ण सम्पीडक बलों को उत्पन्न करने लगता है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(न, पापासः, मनामहे) 'न पापा मन्यामहे' [मन्यते = कान्तिकर्मा (निघं.२.६), मन्युः = मन्यतेर्दीप्तिकर्मणः क्रोधकर्मणो वधकर्मणो वा (निरु.१०.२९)] पापसंज्ञक बाधक व पातक असुर पदार्थ से ग्रस्त पदार्थ प्रकाशित नहीं होता है। इसके साथ ही जो पदार्थ अपने बल वा

गति से बार-२ च्युत होते रहते हैं, वे बाधक तत्त्वों को नष्ट नहीं कर पाते हैं। इस छन्द रश्मि की कारणभूत ऋषि रश्मियाँ बाधक पदार्थों को नष्ट करने वा स्वयं प्रदीप्त होने में उन पदार्थों को समर्थ कर देती हैं। ध्यातव्य है कि इस मन्त्र का ऋषि 'भर्गः प्रागाथः' है। इसका अर्थ यह है कि इस छन्द रश्मि की उत्पत्ति तीव्र ताप व प्रकाश की अवस्था को उत्पन्न करने में अपनी महती भूमिका निभाने वाली सूक्ष्म रश्मि विशेष से होती है। हमारी दृष्टि में किन्हीं गायत्री छन्द रश्मियों से ही इस छन्द रश्मि की उत्पत्ति होती है। इसी कारण एक तत्त्ववेत्ता का कथन है— 'गायत्र्येव भर्गः' (गो.पू.५.१५)।

(न, अरायसः) 'नाधनाः' [धनम् = डुधाञ् धारणपोषणयोः (जु.) धातोर्बाहु. औणादिक (उ.को.२.८१) क्युः प्रत्ययः (वै.को.), धिनोतीति सतः (निरु.३.९)] जो पदार्थ अपनी धारक, पोषक व तृप्तिकारक प्राणादि रश्मियों से विहीन हो अथवा जब उन रश्मियों की कुछ न्यूनता होवे, तब वे पदार्थ न तो प्रकाशित व प्रदीप्त होते हैं और न ही वे अपने बाधक वा हिंसक पदार्थों को नष्ट करने में सक्षम होते हैं (न, जळहवः) 'न ज्वलनेन हीनाः' और जो पदार्थ ऊष्माविहीन होते हैं, वे भी न तो प्रकाशित होते हैं और न वे असुरादि पदार्थों को नष्ट करने में ही सक्षम हो पाते हैं। इसके साथ ही इनको उपर्युक्त ऋषि रश्मियाँ अवश्य ऐसा नहीं बना पाती हैं।

भावार्थ— जो पदार्थ असुर पदार्थ से ग्रस्त हो जाता है, वह अपनी दीप्ति को खो देता है। कोई भी बलहीन पदार्थ किसी भी असुर पदार्थ को नष्ट नहीं कर सकता। जिन पदार्थों में ऊष्मा व प्रकाश की मात्रा कम होती है, वे पदार्थ असुरादि बाधक पदार्थों को नष्ट नहीं कर पाते हैं।

इस मन्त्र के भाष्य के पश्चात् ग्रन्थकार सांकेतिक शैली में लिखते हैं—

'अस्त्यस्मासु ब्रह्मचर्यमध्ययनं तपो दानकर्मेत्यृषिरवोचत्।'

अर्थात् इस छन्द रश्मि की कारणभूत ऋषि रश्मि भर्ग प्रगाथ कहती हैं कि उनके अन्दर चार पदार्थ विद्यमान हैं, जिनके कारण ही वे उपर्युक्त भाष्य में दर्शाये पदार्थों को प्रकाशित भी करती हैं तथा असुरादि बाधक पदार्थों को नष्ट वा नियन्त्रित करने में सक्षम भी बनाती हैं। वे चार प्रकार के पदार्थ इस प्रकार हैं—

१. ब्रह्मचर्यम् — [ब्रह्म = प्राणापानौ ब्रह्म (गो.पू.२.११), ब्रह्माणि कर्माणि (निरु.१२.

३४), वाग् ब्रह्म (गो.पू.२.११)] इन ऋषि रश्मियों का निरन्तर प्राणापान, विभिन्न सूक्ष्म वाग् रश्मियों अर्थात् 'ओम्' रश्मियों किंवा अनुष्टुप् छन्द रश्मियों रूपी ब्रह्म में विचरण करते हुए क्रियाशील रहना ही ब्रह्मचर्य से युक्त होना कहा गया है। जब ये रश्मियाँ प्राणापानादि की प्रधानता वाले क्षेत्र में विचरण करती हैं, तब उनकी क्षमता बढ़ जाती है।

२. अध्ययनम् — इसका अर्थ है कि ये ऋषि रश्मियाँ विभिन्न पदार्थों के ऊपर अधिष्ठित होकर गमन करने वाली होती हैं अर्थात् दुर्बल पदार्थों के ऊपर इनके मार्ग होते हैं, जिस कारण उन दुर्बल पदार्थों के बल व तेज में वृद्धि हो जाती है।

३. तपः — इसका अर्थ यह है कि इन ऋषि रश्मियों के अन्दर ऊष्मा की मात्रा विशेष होती है अर्थात् इनके सम्पर्क में आये पदार्थों का ताप बढ़ने लगता है। इसके साथ ही इन ऋषि रश्मियों के कारण 'तपः' संज्ञक मास एवं व्याहृति रश्मियाँ उत्पन्न व सक्रिय होती हैं। इनके कारण अग्नितत्त्व प्रबल तथा असुर तत्त्व निर्बल वा नष्ट होने लगता है।

४. दानकर्म — इन ऋषि रश्मियों के अधिक तेजस्वी होने के कारण विभिन्न पदार्थों के अन्दर दानादि क्रियाएँ तीव्रतर होने लगती हैं।

यहाँ कुछ पाठक लोक-प्रचलित शब्दों के इस प्रकार के अर्थों पर प्रश्न खड़े कर सकते हैं। उन्हें इस बात से कोई अन्तर नहीं पड़ता कि लोक-प्रचलित अर्थ करने से इस मन्त्र का ऋषि ऐतिहासिक हो जायेगा और वेद भी मानवकृत हो जायेगा। जो पाठक यह विचारें कि हमने इसी भय से अर्थों में खींच-तान की है, उन्हें हमारा 'वैदिक रश्मिविज्ञानम्' ग्रन्थ अवश्य पढ़ना चाहिए।

तत्पश्चात् २५४वें पद 'बकुरः' का निर्वचन करते हुए लिखते हैं— 'बकुरो भास्करः भयङ्करः भासमानो द्रवतीति वा' अर्थात् प्रकाश करने वाला, भय उत्पन्न करने वा किसी पदार्थ को कम्पित करने वाला तथा चमकता हुआ बहने वाला, ये तीनों अर्थ 'बकुरः' पद के हैं। इस पद का निगम अगले खण्ड में प्रस्तुत किया गया है।

* * * * *

= षड्विंशः खण्डः =

यवं वृकेणाश्विना वपन्तेषं दुहन्ता मनुषाय दस्रा।
अभि दस्युं बकुरेणा धमन्तोरु ज्योतिश्चक्रथुरार्याय॥

[ऋ.१.११७.२१]

यवमिव वृकेणाश्विनौ निवपन्तौ। वृको लाङ्गलं भवति। विकर्तनात्।
लाङ्गलं लगतेः। लाङ्गूलवद्वा। लाङ्गूलं लगतेः। लङ्गतेः। लम्बतेर्वा।
अन्नं दुहन्तौ मनुष्याय दर्शनीयौ। अभिधमन्तौ दस्युम्। बकुरेण ज्योतिषा वा।
उदकेन वा। आर्य ईश्वरपुत्रः। बेकनाटाः खलु कुसीदिनो भवन्ति।
द्विगुणकारिणो वा द्विगुणदायिनो वा। द्विगुणं कामयन्त इति वा।
इन्द्रो विश्वान्बेकनाटाँ अहर्दृश उत क्रत्वा पणीँरभि॥ [ऋ.८.६६.१०]
इन्द्रो यः सर्वान् बेकनाटान्। अहर्दृशः सूर्यदृशः।
य इमान्यहानि पश्यन्ति न पराणीति वा। अभिभवति कर्मणा।
पणींश्च वणिजः॥ २६॥

यवं वृकेणाश्विना वपन्तेषं दुहन्ता मनुषाय दस्रा।
अभि दस्युं बकुरेणा धमन्तोरु ज्योतिश्चक्रथुरार्याय॥

इस मन्त्र का ऋषि कक्षीवान् है, इसका तात्पर्य पूर्ववत् समझें। इसका देवता अश्विनौ तथा छन्द भुरिक् पंक्ति होने से इसके दैवत व छान्दस प्रभाव से सूर्य्यादि लोकों के अन्दर क्रियारत प्रकाशित व अप्रकाशित कण अथवा प्राणापान रश्मियाँ अपने बाहुरूप बलों के साथ परिपक्व एवं विस्तृत होती हैं। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(यवम्) [यवम् = वरुण्यो यवः (श.ब्रा.४.२.१.११), विड् वै यवः (श.ब्रा.१३.२.९.८)। विट् = विट् सप्तदशः (तां.ब्रा.१८.१०.९), विशः सप्तदशः (ऐ.ब्रा.८.४), विड् वै गर्भः (श.ब्रा.१३.२.९.६)। वरुणः = वरुण एव सविता (जै.उ.४.२७.३), अथ यत्रैतत्प्रदीप्ततरो भवति तर्हि हैष (अग्निः) भवति वरुणः (श.ब्रा.२.३.२.१०), स यदग्निर्घोरसंस्पर्शस्तस्य वारुणं रूपम् (ऐ.ब्रा.३.४)] जिस प्रकार किसी कॉस्मिक मेघ के अन्दर विद्यमान तीव्र

अग्नि के अन्दर विड् संज्ञक सूक्तरूप रश्मि समूह (ऋ.३.१३) [देखें— वेदविज्ञान-आलोक:, अध्याय-१०] एवं सप्तदश गायत्री छन्दसमूह द्वारा तारे आदि लोकों के गर्भों का बीजवपन किया जाता है, उसी प्रकार अथवा उसी समय (अश्विना, वपन्ता, इषम्) 'अश्विनौ निवपन्तौ अन्नम्' असंख्य प्रकाशित एवं अप्रकाशित कण [इषम् = अन्ननाम (निघं.२.७), अन्नं वा इषम् (कौ.ब्रा.२८.५)] नाना प्रकार के संयोज्य कणादि पदार्थों को सर्वत्र बोते हुए होते हैं अर्थात् बोते हैं। इसका अर्थ यह है कि उस समय उस क्षेत्र में नाना प्रकार के संयोज्य स्थूल कण वा कणों के संघात उत्पन्न होने लगते हैं। यह बीजवपन की क्रिया किसके द्वारा सम्पादित होती है, इसके लिए कहा (वृकेण) 'वृको लाङ्गलं भवति विकर्तनात् लाङ्गलं लगतेः लाङ्गूलवद्वा लाङ्गूलं लगतेः लङ्गतेः लम्बतेर्वा' [वृकः = वज्रनाम (निघं.२.२०)। यहाँ लाङ्गल एवं लाङ्गूल से शुनः लाङ्गूल रश्मियों का ग्रहण अपेक्षित है, जिनके विषय में 'वेदविज्ञान-आलोक:' ७.१५.३ में इस प्रकार वर्णन है— ''ये ऐसी रश्मियाँ होती हैं, जो अन्तरिक्ष में शीघ्रतया दोलन करती हुई किसी अन्य रश्मि के पीछे चिपक कर पिछड़ती हुई गति करती हैं अर्थात् उस रश्मि का अनुसरण करती रहती हैं।'' ये रश्मियाँ यहाँ छेदन शक्ति से सम्पन्न भी होती हैं, इसी कारण इन्हें वृक कहा है।]

यह क्रिया छेदन शक्तिसम्पन्न शुनः लाङ्गूल संज्ञक रश्मियों के द्वारा होती है। ज्ञातव्य है कि 'वेदविज्ञान-आलोक:' के उपर्युक्त प्रकरण में तारों के अन्दर नाभिकीय संलयन क्रिया के लिए शुनःशेप संज्ञक छन्द रश्मियों की आवश्यकता होती है, जबकि कॉस्मिक मेघ में इस स्थिति में शुनःशेप की नहीं, बल्कि उनसे कुछ दुर्बल शुनः लाङ्गूल रश्मियों की भूमिका होती है। (दुहन्ता, मनुष्याय, दस्रा) 'दुहन्तौ मनुष्याय दर्शनीयौ' [मनुष्यः = मनुष्या वै विश्वे देवाः (काठ.सं.१९.१२)] वे प्रकाशित व अप्रकाशित कण दर्शनीय अर्थात् सूक्ष्म आकर्षण बलों से युक्त होकर नाना प्रकार के देव वा मनुष्य नामक कणों को पूर्ण करते हैं। इन दोनों ही प्रकार के कणों के विषय में पूर्व में अनेकत्र लिख चुके हैं। यहाँ 'मनुष्य' से तात्पर्य अल्प प्रकाशित पदार्थ एवं 'देव' से तात्पर्य अपेक्षाकृत तेज व आकर्षण बलयुक्त पदार्थ भी समझना चाहिए। ये दोनों ही प्रकार के पदार्थ सम्पूर्ण कॉस्मिक मेघ में विद्यमान होते हैं।

(अभि, धमन्ता, दस्युम्, बकुरेणा=बकुरेण) 'अभिधमन्तौ दस्युम् बकुरेण ज्योतिषा वा उदकेन वा' वे उपर्युक्त प्रकाशित व अप्रकाशित कण प्रकाशमयी विद्युत् के सेचन वा

प्रक्षेपण के द्वारा विभिन्न सृजन क्रियाओं को क्षीण करने वाले असुरादि पदार्थों को सब ओर से कँपाते व छिन्न-भिन्न करते हुए (आर्याय) 'आर्य ईश्वरपुत्रः' [यहाँ आधिदैविक पक्ष में 'ईश्वरः' पद के अर्थ पर गम्भीर विचार अपेक्षित है, तभी 'आर्याय' पद का अर्थ जान सकेंगे। ऋषि दयानन्द ने 'आर्य्याभिविनय' ग्रन्थ के २८वें मन्त्र में 'ईशानः' पद को 'ईश्वरः' के अर्थ में ग्रहण किया है। कोई पाठक इस पर कह सकता है कि यह तो साधारण बात है, दोनों ही पद 'ईश ऐश्वर्ये' धातु से व्युत्पन्न होते हैं। बात उचित है, परन्तु ऋषि दयानन्द के नाम की हठ करने वालों की तुष्टि के लिए ही यह लिखना उचित समझा है। ईश्वरवाची 'ईशानः' पद के विषय में महर्षि याज्ञवल्क्य का कथन है— आदित्यो वाऽईशान आदित्यो ह्यस्य सर्वस्येष्टे (श.ब्रा.६.१.३.१७)। इस प्रकार 'ईश्वर' का अर्थ आदित्य भी स्वतः सिद्ध हो जाता है।] आदित्य लोक की रक्षिका विभिन्न छन्द रश्मियों (यहाँ षष्ठ्यर्थ में चतुर्थी का प्रयोग है) की (ज्योतिः, उरु, चक्रथुः) व्यापक ज्योतियों को धारण करते हैं। इसका तात्पर्य है कि इस प्रक्रिया में वे सभी छन्द रश्मियाँ उन प्रकाशित व अप्रकाशित कणों को प्रकाशित व बलवती करने लगती हैं।

भावार्थ— विशाल खगोलीय मेघ उत्पन्न होने से पूर्व नाना प्रकार की रश्मियों के संगम से जिस प्रकार सूक्ष्म कणों की उत्पत्ति होती है, उसी प्रकार खगोलीय मेघों के अन्दर नाना प्रकार के कणों के संघात से नाना लोकों के गर्भों की उत्पत्ति होती है। कॉस्मिक मेघों के अन्दर नाभिकीय संलयन की क्रियाएँ नहीं होती हैं, बल्कि वहाँ अन्य प्रकार की क्रियाओं के द्वारा विभिन्न पदार्थों का संश्लेषण हुआ करता है। उन खगोलीय मेघों में विद्युत् तरंगों से युक्त कण बाधक पदार्थों को दूर करते रहते हैं। आदित्य लोकों के अन्दर विभिन्न रश्मियाँ सभी कणों को निरन्तर प्रकाशित करती रहती हैं।

ऋषि दयानन्द ने इस मन्त्र का आधिभौतिक भाष्य किया है, जो इस प्रकार है—

"**पदार्थः** — (यवम्) यवादिकमिव (वृकेण) छेदकेन शस्त्रास्त्रादिना (अश्विना) सुखव्यापिनौ (वपन्ता) (इषम्) अन्नम् (दुहन्ता) प्रपूरयन्तौ (मनुषाय) मननशीलाय जनाय (दस्रा) दुःखविनाशकौ (अभि) (दस्युम्) (बकुरेण) भासमानेन सूर्य्येण तम इव। अत्रान्येषामपीति दीर्घः। (धमन्ता) अग्निं संयुञ्जानौ (उरु) (ज्योतिः) विद्याविनयप्रकाशम् (चक्रथुः) (आर्य्याय) अर्य्यस्येश्वरस्य पुत्रवद्वर्त्तमानाय। यास्कमुनिरिमं मन्त्रमेवं व्याचष्टे- बकुरो भास्करो भयंकरो भासमानो द्रवतीति वा॥ २५॥ यवमिव वृकेणाश्विनौ निवपन्तौ।

वृको लांगलं भवति विकर्त्तनात्। लांगलं लगतेर्लांगूलवद्वा। लांगूलं लगतेर्लंगतेर्लम्बतेर्वा। अन्नं दुहन्तौ मनुष्याय दर्शनीयावभिधमन्तौ दस्युं बकुरेण ज्योतिषा वोदकेन वार्य्य ईश्वरपुत्रः॥ निरु.६.२६॥

भावार्थः — अत्र लुप्तोपमालङ्कारः। राजपुरुषैः प्रजाकण्टकान् लम्पटचोरानृतपरुषवादिनो दुष्टान् निरुध्य कृष्यादिकर्मयुक्तान् प्रजास्थान् वैश्यान् संरक्ष्य कृष्यादिकर्माण्युन्नीय विस्तीर्णं राज्यं सेवनीयम्।

पदार्थ— हे (दस्रा) दुःख दूर करने हारे (अश्विना) सुख में रमे हुए सभासेनाधीशो! तुम दोनों (मनुषाय) विचारवान् मनुष्य के लिये (वृकेण) छिन्न-भिन्न करने वाले हल आदि शस्त्र-अस्त्र से (यवम्) यव आदि अन्न के समान (वपन्ता) बोते और (इषम्) अन्न को (दुहन्ता) पूर्ण करते हुए तथा (आर्य्याय) ईश्वर के पुत्र के तुल्य वर्त्तमान धार्मिक मनुष्य के लिये (बकुरेण) प्रकाशमान सूर्य्य ने किया (ज्योतिः) प्रकाश जैसे अन्धकार को वैसे (दस्युम्) डाकू, दुष्ट प्राणी को (अभि, धमन्ता) अग्नि से जलाते हुए (उरु) अत्यन्त बड़े राज्य को (चक्रथुः) करो।

भावार्थ— इस मन्त्र में लुप्तोपमालङ्कार है। राजपुरुषों को चाहिये कि प्रजाजनों में जो कण्टक, लम्पट, चोर, झूठा और खारे बोलने वाले दुष्ट मनुष्य हैं, उनको रोक, खेती आदि कामों से युक्त वैश्य प्रजाजनों की रक्षा और खेती आदि कामों की उन्नति कर अत्यन्त विस्तीर्ण राज्य का सेवन करें।''

तदनन्तर २५५वें पद 'बेकनाटाः' का निर्वचन प्रस्तुत करते हुए लिखते हैं— 'बेकनाटाः खलु कुसीदिनो भवन्ति द्विगुणकारिणो वा द्विगुणदायिनो वा द्विगुणं कामयन्त इति वा'। यहाँ 'बेकनाटः' पद का अर्थ कुसीदी किया है, जिसका आर्यभाषा में सभी भाष्यकारों ने सूदखोर अर्थ किया है। उदाहरणतः पण्डित भगवद्दत्त रिसर्च स्कॉलर ने लिखा है—

''कुसीदिनः ब्याज लेने वाले होते हैं। [मूलधन को] दुगुना करने वाले अथवा दुगुने पर देने वाले अथवा दुगुने को चाहने वाले अथवा।''

इसी अर्थ का ग्रहण कर उन्होंने इस मन्त्र का भाष्य इस प्रकार किया है—

''(इन्द्रः) इन्द्र (विश्वान्) सारे (बेकनाटान्) वृद्धि जीवियों = वार्धुषिकों को (अहर्दृशः) [इसी जन्म में] दिन वा सूर्य के देखने वालों को [= दृष्टप्रधान नास्तिकों को]

(उत क्रत्वा) कर्मानुष्ठान से ही (पणीन्) वणिजों को = बनियों को (अभि+भवति) विनाश करता है।''

आयें, देखें भगवान् मनु का इस विषय में क्या मत है?

'कुसीदवृद्धिर्द्वैगुण्यं नात्येति सकृदाहृता' (मनु.८.१५१)

यहाँ मूलधन से दो गुने ब्याज को उचित माना है, अधिक लेने को अनुचित। सत्यार्थप्रकाश में ऋषि दयानन्द ने भी इसे स्वीकार किया है, तब क्या इन्होंने उपर्युक्त वेदमन्त्र के विरुद्ध यह बात लिख दी? जो विद्वान् भगवान् मनु एवं स्वामी दयानन्द जैसों को वेदविरोधी वा अनभिज्ञ माने और मन्त्र के उपर्युक्त अनुवाद को ही सत्य माने, तो उसे कहने के लिए हमारे पास कुछ नहीं है, क्योंकि ऐसे अज्ञानियों से चर्चा करके समय नष्ट करना बुद्धिमानी नहीं है।

अब आइए इस पद के निर्वचन पर हम अपनी शैली से विचार करते हैं— [कुसीदम् = कुस्यति श्लिष्यतीति वा कुसीदम् (उ.को.४.१०७)] बेकनाटः कुसीदी को कहते हैं अर्थात् जो पदार्थ दूसरे पदार्थों के साथ मिश्रित होने वा किसी को अपने साथ मिश्रित करने की प्रवृत्ति वाला होता है तथा ऐसा करके किसी पदार्थ को दुगुना कर देता वा स्वयं दुगुना हो जाता और सदैव ऐसी प्रवृत्ति रखने वाला व दीप्तियुक्त होता है, उसे कुसीदी व बेकनाट कहते हैं।

ध्यातव्य है कि यह मन्त्र ऐतरेय ब्राह्मण ६.२१ में भी आया है, जिसके सृष्टि प्रक्रिया पर प्रभाव दर्शाते समय हमने 'बेकनाटः' पद की व्याख्या 'वेदविज्ञान-आलोकः' में इस प्रकार की है—

''बेकनाटः' पद 'भेकनाटः' का छान्दस रूप है। यहाँ भेकः = यो बिभेति यस्माद्वा स भेकः मण्डूको मेघो वा (उ.को.३.४३)। इस प्रकार बेकनाट = भेकनाट ऐसे मेघरूप पदार्थों को माना गया है, जो अन्तरिक्ष में काँपते हुए यत्र-तत्र भ्रमण करते रहते हैं।'' (वेदविज्ञान-आलोकः पृष्ठ १८६६)

यहाँ प्रश्न यह उठ सकता है कि हमने 'वेदविज्ञान-आलोकः' में 'बेकनाटः' पद का निर्वचन अपनी मति से निरुक्तकार से भिन्न क्यों किया? इसके उत्तर में हम सर्वप्रथम यह कहना चाहेंगे कि ऋषि दयानन्द ने अनेक मन्त्रों का भाष्य स्वमत्या निरुक्त के भाष्य से

सर्वथा भिन्न किया है। आचार्य सायण ने तो निरुक्तकार के निर्वचनों का विज्ञान प्रायः कहीं भी नहीं समझा। तब कोई वैदिक विद्वान्, चाहे वह आर्यसमाजी हो अथवा पौराणिक सनातनी हो, हमारे भाष्य पर अंगुली उठाने का अधिकारी नहीं है। अब रहा प्रश्न यह कि 'वेदविज्ञान-आलोकः' में दिए हमारे उपर्युक्त निर्वचन की निरुक्तकार के निर्वचन से क्या कुछ समानता भी है? आइए इस पर भी विचार कर लें—

अन्तरिक्ष में भ्रमण करते हुए विद्युत् आवेशित कणों के मेघ परस्पर मिश्रित होकर बड़े-२ मेघों का निर्माण करते रहते हैं। वे पदार्थ आगे चलकर बड़े-२ लोकों को जन्म देते हैं। 'वेदविज्ञान-आलोकः' ग्रन्थ के अठारहवें अध्याय में षडह समुदायों के मेल से नाना प्रकार के विशाल लोकों के निर्माण की प्रक्रिया समझायी गयी है, उसकी भी इस प्रकरण से संगति बैठती है। इस कारण हमारे तथा निरुक्तकार के निर्वचन में कोई विरोध नहीं है, बल्कि पूर्ण संगति है। अब हम इस निर्वचन के विषय को समाप्त करके इस पद के निगम को पूर्ण रूप में प्रस्तुत करते हैं—

कदू महीरधृष्टा अस्य तविषीः कदु वृत्रघ्नो अस्तृतम्।
इन्द्रो विश्वान्बेकनाटाँ अहर्दृश उत क्रत्वा पणीँरभि॥

इस मन्त्र का ऋषि काल प्रागाथ है। इसका अर्थ यह है कि इस छन्द रश्मि की उत्पत्ति प्रकृष्ट रूप से सक्रिय कालमापी प्राणापान, मास वा ऋतु रश्मियों से होती है। इसका देवता इन्द्र तथा छन्द पंक्ति होने से इसके दैवत व छान्दस प्रभाव से इन्द्र परिपक्व व विस्तृत होने लगता है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(अस्य, तविषीः) [तविषीः = बलनाम (निघं.२.९), तवतेर्वा वृद्धिकर्मणः (निरु.९.२५)] उस इन्द्रतत्त्व के वर्धमान होते हुए बल (कत्, ऊ, महीः, अधृष्टाः) कितने व्यापक एवं किसी शक्ति द्वारा नहीं दबाने वा नष्ट करने योग्य हैं अर्थात् बहुत अधिक व्यापक, महान् व दृढ़ हैं अथवा प्राणादि रश्मियों के द्वारा इन्द्र के बल अति व्यापक व प्रबल होते हैं। (कदु, वृत्रघ्नः, अस्तृतम्) वृत्रसंज्ञक विशाल आच्छादक व बाधक मेघों को नष्ट करने वाला वह इन्द्रतत्त्व कितना विशाल फैला हुआ है? किंवा वह ऐसा इन्द्रतत्त्व प्राणतत्त्व के कारण ही सब ओर फैलाया गया है, जो वृत्रसंज्ञक विशाल मेघों को भी आच्छादित करके छिन्न-भिन्न करने में समर्थ होता है।

(इन्द्रः, विश्वान्, बेकनाटान्) 'इन्द्रो यः सर्वान् बेकनाटान्' वह ऐसा महान् इन्द्रतत्त्व अन्तरिक्ष में भ्रमण कर रहे सभी प्रकार के उपर्युक्त वैद्युत मेघरूप पदार्थों को (अहर्दृशः) 'अहर्दृशः सूर्यदृशः य इमान्यहानि पश्यन्ति न पराणीति वा' [अहन् = यच्छुक्लं तदह्नो रूपं यत्कृष्णं तद्रात्रेः (मै.सं.३.६.६), अहर्वै स्वर्गो लोकः (ऐ.ब्रा.५.२४)] सूर्यलोक के तेजस्वी भागों किंवा उसके केन्द्रीय भाग की ओर आकर्षित होते हुए अर्थात् जो मेघ इन तेजस्वी भागों की ओर ही आकृष्ट होते हुए गमन कर रहे होते हैं, अन्य भागों की ओर नहीं, उन मेघरूप उपर्युक्त पदार्थों (उत, पणीन्) 'पणींश्च वणिजः' [यहाँ 'पणिः' पद का सभी भाष्यकारों ने व्यापारी अर्थ किया है तथा व्यापारी को पापी बताकर घोर निन्दा भी की गयी है। इसमें मनुस्मृति के एक प्रक्षिप्त श्लोक को उद्धृत करना न तो युक्तिसंगत है और न वेदोक्त धर्म के अनुकूल। वस्तुतः 'पणिः' पद उन रश्मियों का वाचक है, जो सूर्यलोक के बाहरी अत्यन्त चमकीले व अत्युष्ण भाग कोरोना में विद्यमान होती हैं। वस्तुतः कोरोना क्षेत्र इन्हीं रश्मियों से बना होता है। इसके लिए हमारा पूर्व में किया हुआ २.१७ का भाष्य पठनीय है।] और सूर्यलोक के कोरोना क्षेत्र में विद्यमान तीक्ष्ण सन्दीप्त रश्मियों को (अभि, क्रत्वा) 'अभिभवति कर्मणा' अपने प्रशंसित कर्मों से किंवा उन दोनों ही प्रकार के पदार्थों को धारण करके जीतता है अर्थात् नियन्त्रित करता है। इसका अर्थ यह है कि इन्द्रतत्त्व ही सम्पूर्ण सूर्य पर शासन करता है।

भावार्थ— इस सृष्टि में तीक्ष्ण विद्युत् बल सबसे महान् बल माना गया है। प्राण रश्मियों के द्वारा यह बल सम्पूर्ण सृष्टि में व्याप्त है। बाधक आसुर मेघों को नष्ट करने के लिए प्राण रश्मियों के द्वारा तीक्ष्ण विद्युत् तरंगों को उसके चारों ओर फैलाया जाता है। इस ब्रह्माण्ड में कुछ ऐसे भी मेघरूप पदार्थ होते हैं, जो अन्तरिक्ष में काँपते हुए यत्र-तत्र भ्रमण करते रहते हैं। ऐसे मेघ विशेष रूप से सूर्यादि तारों में ही विद्यमान रहते हैं। ये मेघरूप पदार्थ इनके केन्द्रीय भागों की ओर निरन्तर गमन करते रहते हैं। विद्युत् इन सभी पदार्थों को निरन्तर नियन्त्रित करती रहती है।

इस मन्त्र का सभी भाष्यकारों ने कुत्सित व मिथ्या भाष्य किया है। इस कारण हम इस ऋचा का त्रिविध भाष्य करने के प्रयास के अन्तर्गत अन्य दो प्रकार का भाष्य करते हैं—

आधिभौतिक भाष्य— (अस्य, तविषीः, कदू, महीः, अधृष्टाः) इस राजा की शक्तियाँ

कितनी महान् और दृढ़ होती हैं अर्थात् राजशक्ति को ऐसा होना चाहिए, जिन्हें कोई भी दुष्ट व्यक्ति अथवा अराजक व्यक्तियों का समूह दबा नहीं सके। (वृत्रघ्नः) [वृत्रघ्नः = पाप्मा वै वृत्रः (श.ब्रा.११.१.५.७)] अपने राष्ट्र से समस्त पाप, ताप एवं पापियों को नष्ट करने वाले राजा का विधान (कदु) कितना (अस्तृतम्) व्यापक होता है अर्थात् राजविधान सम्पूर्ण राष्ट्र में व्याप्त होकर प्रजा की सर्वविध रक्षा करता है। (इन्द्रः) ऐसा ऐश्वर्यवान् राजा राष्ट्र के सभी नागरिकों के हित के लिए (विश्वान्) समस्त (बेकनाटान्) ब्याज पर धन देने वाले व्यापारियों (उत) एवं (पणीन्) अन्य प्रकार के व्यापार, कृषि एवं पशुपालन आदि वैश्य कर्म करने वालों को, (अहर्दृशः, अभि, क्रत्वा) 'य इमान्यहानि पश्यन्ति न पराणीति वा' जो इन्हीं दिनों को देखते हैं अर्थात् जो केवल प्रत्यक्षवादी होकर व्यापार आदि कर्म करते हैं, जो परलोक में विश्वास नहीं करते। इस कारण जो व्यापारी प्रत्यक्षवादी नास्तिक बनकर लोभ व अन्याययुक्त व्यवहार करते हैं, उन्हें न्यायकारी राजा उनके कर्म के अनुसार न्यायपूर्वक नियन्त्रित करता है और उचित दण्ड भी देता है।

यहाँ 'अहर्दृशः' का अन्य अर्थ यह सम्भव है कि वे वणिक् अपने कर्मानुसार राजा के द्वारा 'अहन्' अर्थात् स्वर्ग किंवा विशेष सम्मान को प्राप्त होते हैं तथा विपरीत व्यवहार करने वाले नियन्त्रित होते व दण्ड पाते हैं।

आध्यात्मिक भाष्य— (अस्य, तविषीः) उस सर्वशक्तिमान् परमात्मा की शक्तियाँ (कदू, महीः, अधृष्टाः) कितनी व्यापक व प्रगल्भ हैं अर्थात् उन शक्तियों को कोई नहीं दबा सकता। ये शक्तियाँ सम्पूर्ण सृष्टि में सर्वत्र व्याप्त भी हैं। (वृत्रघ्नः) [वृत्रः = वृत्रो वै सोम आसीत् (श.ब्रा.३.४.३.१३), सोमो वृत्रः (काठ.सं.२४.९, क.सं.३८.२)] वह परमेश्वर सोम अर्थात् परमानन्दरूपी रस को प्राप्त कराने हारा है। यहाँ 'वृत्रघ्नः' पद में 'हन्' धातु का प्रयोग हिंसा अर्थ में न होकर गति अर्थात् प्राप्ति अर्थ में समझना चाहिए। ऐसा वह परमेश्वर (कदु, अस्तृतम्) हमारे आत्मा, शरीर व सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में फैला कितना व्यापक है अर्थात् वह अत्यन्त महान् है, जिसके विषय में कहा है— 'अणोरणीयान् महतो महीयान्'। वह ऐसा (इन्द्रः) परमैश्वर्यवान् परमात्मा (विश्वान्, बेकनाटान्) ऐसे सभी योगिजनों, जिन्होंने परमात्मा से मेल करने वा परमात्मा का साक्षात्कार करने के योगमार्ग को ग्रहण कर लिया है, को (अहर्दृशः, क्रत्वा) ब्रह्मानन्द की दिव्य ज्योति का दर्शन कराता है किंवा उन्हें मोक्षसुख प्राप्त करने वाला बना देता है (उत, पणीन्, अभि) एवं जो

व्यवहार वा संस्कार ब्रह्म साक्षात्कार में बाधक हो सकते हैं, उन्हें वह ब्रह्म किंवा ब्रह्मप्राप्ति के मार्ग का पथिक नियन्त्रित करता वा दबा देता है। इसके साथ ही ब्रह्मसाक्षात्कार के द्वारा योगिजन अपने सभी संस्कारों को दग्धबीज करके मोक्षप्राप्ति के अधिकारी बनते हैं।

* * * * *

= सप्तविंशः खण्डः =

जीवान्नो अभि धेतनादित्यासः पुरा हथात्।
कद्ध स्थ हवनश्रुतः॥ [ऋ.८.६७.५]
जीवतो नोऽभिधावतादित्याः पुरा हननात्। क्व नु स्थ ह्वानश्रुतः। इति।
मत्स्यानां जालमापन्नानामेतदार्षं वेदयन्ते। मत्स्या मधौ उदके स्यन्दन्ते।
माद्यन्तेऽन्योन्यं भक्षणायेति वा। जालं जलचरं भवति। जलेभवं वा।
जलेशयं वा। अंहुरः। अंहस्वान्। अंहूरणमित्यप्यस्य भवति।
कृण्वन्नंहूरणादुरु। [ऋ.१.१०५.१७] इत्यपि निगमो भवति।
सप्त मर्यादाः कवयस्ततक्षुस्तासामेकामिदभ्यंहुरो गात्। [ऋ.१०.५.६]
सप्तैव मर्यादाः कवयश्चक्रुः। तासामेकामप्यभिगच्छन्नंहस्वान् भवति।
स्तेयं तल्पारोहणं ब्रह्महत्यां भ्रूणहत्यां सुरापानं दुष्कृतस्य कर्मणः पुनः पुनः सेवां पातकेऽनृतोद्यमिति। बत इति निपातः। खेदानुकम्पयोः॥ २७॥

तदनन्तर २५६वें पद 'अभिधेतन' का निगम इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं—

जीवान्नो अभि धेतनादित्यासः पुरा हथात्।
कद्ध स्थ हवनश्रुतः॥

इस मन्त्र का ऋषि 'मत्स्यः सामदो मान्यो वा मैत्रावरुणिर्बहवो वा मत्स्या जालनद्धा ऋषयः' है। यहाँ तीन प्रकार की ऋषि रश्मियाँ दर्शायी गयी हैं। हम उन पर क्रमशः विचार करते हैं—

१. मत्स्यः सामदो मान्यः — [मत्स्यः = माद्यति हृष्यतीति मत्स्यः (उ.को.४.२), अद्भ्यो मत्स्यान् आलभते (मै.सं.३.१४.२), मत्स्या मधौ उदके स्यन्दन्ते माद्यन्तेऽन्योन्यं भक्षणायेति वा (निरु.६.२७)] विभिन्न संयोजी मधु मास रश्मियों के अन्दर बहने वाली ऐसी विशेष रश्मियाँ, जो एक-दूसरे के साथ संयुक्त होने अथवा अपनी अपेक्षा लघु रश्मियों को अवशोषित करने के लिए निरन्तर उत्तेजित होती रहती हैं। ये रश्मियाँ साम रश्मियों को उत्पन्न करके प्रकाशित करने में सक्षम होती हैं अथवा स्वयं प्रकाशित होती हैं।

२. मैत्रावरुणिर्बहवो वा — ये वे रश्मियाँ हैं, जो प्राण-अपान एवं प्राण-उदान अथवा प्राण-व्यान के अनेक युग्मों से उत्पन्न होती हैं।

३. मत्स्या जालनद्धा — [जालम् = जलचरं भवति जलेभवं वा जलेशयं वा (निरु.६. २७)] 'जलम्' पद 'जल अपवारणे' धातु से व्युत्पन्न है। इस कारण यहाँ 'जलम्' का अर्थ आच्छादक पदार्थ ग्रहण करणीय है। ये तीसरे प्रकार की मत्स्य रश्मियाँ हैं, जो तीक्ष्ण रूप से आच्छादक असुर आदि पदार्थों के अन्दर विचरण करती, उनमें विद्यमान रहती वा व्याप्त रहती अथवा उनसे बँधी रहती हैं।

इन तीनों प्रकार की ऋषि रश्मियों से इस उपर्युक्त छन्द रश्मि की उत्पत्ति होती है। इसका देवता आदित्य एवं छन्द निचृद् गायत्री है। इस कारण इसके दैवत एवं छान्दस प्रभाव से सूर्य की किरणें तीक्ष्ण तेज से युक्त होती हैं। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(आदित्यासः) 'आदित्याः' सूर्य रश्मियों के समान किरणें (हथात्, पुरा) 'पुरा हननात्' मत्स्य संज्ञक उपर्युक्त ऋषि रश्मियों के परस्पर संगमन किंवा एक-दूसरे को भक्षण करने के पूर्व ही (नः, जीवान्) 'जीवतो नः' इस छन्द रश्मि की कारणभूत उपर्युक्त ऋषि रश्मियों के परस्पर एक-दूसरे की ओर गमन करते हुए की ओर (अभि, धेतन) 'अभिधावत' चारों ओर से दौड़ती हुई आती हैं अर्थात् वे आदित्य के समान किरणें मत्स्य संज्ञक ऋषि रश्मियों की ओर प्रवाहित होने लगती हैं। (हवनश्रुतः) 'ह्वानश्रुतः' वे आदित्य रश्मियाँ किन्हीं अन्य रश्मियों के द्वारा स्वल्पमात्र आकर्षण करते ही उनकी ओर गमन करने वाली होती हैं। ऐसी वे किरणें (कद्ध, स्थ) 'क्व नु स्थ' विभिन्न प्राण रश्मियों में एवं विभिन्न संयोज्य कणों में स्थित होती हैं।

इस मन्त्र का भाष्य निरुक्त के विभिन्न भाष्यकारों ने प्रायः हास्यास्पद ही किया है। इस कारण हम इस मन्त्र का तीनों प्रकार का भाष्य प्रस्तुत कर रहे हैं। आधिदैविक भाष्य करने के पश्चात् अब हम अन्य प्रकार का भाष्य करते हैं—

आधिभौतिक भाष्य— (आदित्यासः) सूर्य के समान तेजस्वी राजजन अथवा विद्वान् (हथात्, पुरा) राज्य में किसी भारी विपत्ति अथवा अविद्या फैलने से पूर्व ही (नः, जीवान्) राज्य के नागरिकों के सर्वविध कल्याण के लिए (अभिधेतन) सब ओर से प्रयत्न करते हैं अर्थात् राजजन राज्य में सुख-शान्ति के लिए और विद्वज्जन अविद्यादि दोषों को नष्ट करने के लिए पूर्ण प्रयत्न के साथ आगे बढ़ते हैं अर्थात् वे अपने कर्त्तव्य में कभी प्रमाद नहीं करते। (हवनश्रुतः) वे राजजन एवं विद्वान् किसी की भी पुकार सुनकर उसकी सहायता करने के लिए सदैव उद्यत रहते हैं अर्थात् किसी की भी प्रार्थना को अनसुना नहीं करते, (कद्ध, स्थ) क्योंकि वे दोनों ही जानते हैं कि वे किस स्थान पर अथवा किस उत्तरदायित्व पर विद्यमान हैं।

भावार्थ— राजा और विद्वानों को अपने राष्ट्र की जनता के सभी प्रकार के दुःखों एवं अविद्यादि दोषों को दूर करने के लिए सदैव उद्यत रहना चाहिए। यहाँ तक कि दुःख और अविद्या आने से पूर्व ही ऐसी व्यवस्था करनी चाहिए कि ये दोष उत्पन्न ही न होने पावें।

आध्यात्मिक भाष्य— (आदित्यासः) वह सदैव अखण्ड परमेश्वर (हथात्, पुरा) पापरूप मृत्यु को प्राप्त करने के पूर्व ही (नः, जीवान्) हम सब जीवों को सत्कर्म की प्रेरणा देने, पापों से बचने तथा अपना जीवनयापन करने का ज्ञान प्राप्त कराने के लिए (अभिधेतन) सब ओर से सृष्टि के विविध संकेतों अथवा वेद की ऋचाओं के द्वारा हमारे सम्मुख प्रकट रहता है। मानो वह परमेश्वर सब ओर से हमें जगाता हुआ और दुःख व अज्ञान से बचाता हुआ हमारी ओर आ रहा हो। (हवनश्रुतः) वह परमपिता परमात्मा निष्कपट एवं निष्काम जनों की प्रार्थना सुनने वाला होता है। (कद्ध, स्थ) वह ईश्वर कहाँ स्थित होता है, इसका उत्तर यह है कि वह परमेश्वर सुखस्वरूप मोक्ष में विद्यमान रहता है और हम सबको उसी परमानन्द को पाने की प्रेरणा करता है।

तदनन्तर २५७वें पद 'अंहुरः' का निर्वचन करते हुए लिखते हैं— 'अंहुरः अंहस्वान् अंहूरणमित्यप्यस्य भवति' [अंहूरणम् = अंहूरं पापं विद्यतेऽस्मिन् व्यवहारे तत् (तु.म.द.ऋ.भा.१.१०५.१७)] अर्थात् पापयुक्त पदार्थ 'अंहुरः' एवं 'अंहूरणम्' कहलाता

है। इस पद का निगम इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है— '(बृहस्पतिः) ... कृण्वन्नं-हूरणादुरु'। इस मन्त्र का देवता विश्वेदेवा (वस्तुतः बृहस्पति) तथा छन्द निचृत् पंक्ति होने से इसके दैवत व छान्दस प्रभाव से बृहस्पति संज्ञक सूत्रात्मा वायु रश्मियाँ तीक्ष्ण रूप से परिपक्व व विस्तृत होती हैं। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(बृहस्पतिः) वह व्यापक रूप से सबका रक्षक सूत्रात्मा वायु (उरु, कृण्वन्) अपना व्यापक विस्तार करता हुआ (अंहूरणात्) पापयुक्त अर्थात् पतनकारी असुरादि पदार्थों से देव पदार्थों को पृथक् करता है।

इसी पद का एक और निगम इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है— 'सप्त मर्यादाः कवयस्ततक्षुस्तासामेकामिदभ्यंहुरो गात्'। इसका देवता अग्नि और छन्द निचृत् त्रिष्टुप् होने से इसके दैवत व छान्दस प्रभाव से अग्नितत्त्व तीक्ष्ण तेज व बल से युक्त होता है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(सप्त, मर्य्यादाः) 'सप्तैव मर्यादाः स्तेयं तल्पारोहणं ब्रह्महत्यां भ्रूणहत्यां सुरापानं दुष्कृतस्य कर्मणः पुनः पुनः सेवां पातकेऽनृतोद्यमिति' [स्तेयम् = स्तेनप्राति भावे कर्मणि वा यत् नलोपश्च 'स्तोनाद्यन्नलोपश्च' अष्टा.५.१.१२४ सूत्रेण (वै.को.), स्तेनः कस्मात् संस्त्यान-मस्मिन् पापकमिति नैरुक्ताः (निरु.३.१९)। तल्पः = मानवो वै तल्पः (तै.ब्रा.२.२.५.३), तल्पयति प्रतिष्ठां करोतीति विग्रहे तल् प्रतिष्ठायाम् (चुरा.) धातोः 'खष्पशिल्पशष्पः' उ.को.३.२८ सूत्रेण पप्रत्ययान्तो निपात्यते। (वै.को.), सुरा = उदकनाम (निघं.१.१२), पुमान् वै सोमः स्त्री सुरा। (तै.ब्रा.१.३.३.४), विट् सुरा (श.ब्रा.१२.७.३.८)] सात मर्यादाएँ, जो निम्नानुसार हैं—

१. स्तेय — सृष्टि में विभिन्न क्रियाओं के समय जब कुछ रश्मि आदि पदार्थ संयोज्य रश्मि आदि पदार्थों को अनिष्ट रूप से उठाकर दूर ले जाते हैं और संयोग प्रक्रिया बाधित होने लगती है, ऐसी अपक्रियाएँ स्तेय कहलाती हैं।

२. तल्पारोहण — [मनुः = मनुर्यज्ञनीः] जब दो पदार्थों के संयोग के समय असुरादि बाधक पदार्थों को नष्ट करने वाली रश्मियों पर मनु अथवा मानव नामक अन्य कुछ अवाञ्छित रश्मियाँ आरूढ़ हो जाती हैं, जिससे बाधक रश्मियाँ नष्ट व नियन्त्रित नहीं हो पाती, उस ऐसी आरोहण प्रक्रिया को तल्पारोहण कहते हैं।

३. ब्रह्महत्या — [ब्रह्म = विद्युद् ह्येव ब्रह्म, ब्रह्म वै त्रिवृत्] जब सृष्टि में किन्हीं कारणों से विद्युत् चुम्बकीय बल क्षीण हो जाए अथवा त्रिवृत् संज्ञक गायत्री रश्मि समूह कहीं अन्यत्र प्रवाहित हो जाए, तब भी संयोग प्रक्रिया पूर्ण नहीं हो पाती, इस बाधक प्रक्रिया को ब्रह्महत्या कहते हैं।

४. भ्रूणहत्या — सृष्टि प्रक्रिया के अनन्तर यदि किन्हीं कारणों से कणों अथवा तारों के निर्माणाधीन केन्द्र के बनने की प्रक्रिया ही बाधित हो जाए, तब उस प्रक्रिया को भ्रूणहत्या कहते हैं।

५. सुरापान — जब किसी सृजन प्रक्रिया के समय स्त्री संज्ञक रश्मि आदि पदार्थों अथवा विभिन्न बलों का सिञ्चन करने वाली रश्मियों अथवा ऐतरेय ब्राह्मण अध्याय १० में वर्णित विट् संज्ञक सूक्त (ऋग्वेद ३.१३) रूप छन्द रश्मि समूह का विभिन्न बाधक तीक्ष्ण पदार्थ भक्षण वा अवशोषण कर लेते हैं, उस प्रक्रिया को सुरापान कहते हैं।

६. दुष्कृतस्य कर्मणः पुनः पुनः सेवाम् — किसी भी प्रक्रिया का बार-बार विकृत होना इस मर्यादा के अन्तर्गत माना गया है।

७. पातकेऽनृतोद्यम् — विभिन्न कणों के द्वारा बार-२ पतित होते समय अनियन्त्रित एवं अनियमित गति का होना इस मर्यादा के अन्तर्गत माना गया है।

(कवयः, ततक्षुः) 'कवयश्चक्रुः' [कविः = असौ वाऽआदित्यः कविः (श.ब्रा.६.७.२.४), एते वै कवयो यदृषयः (श.ब्रा.१.४.२.८), कविः क्रान्तदर्शनो भवति कवतेर्वा (निरु.१२.१३)] सूर्य्यादि तेजस्वी लोकों के अन्दर व्याप्त ऋषि रश्मियाँ, जो नाना छन्द रश्मियों को उत्पन्न करती हैं, उपर्युक्त सात मर्य्यादाओं को बनाये रखने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं। यहाँ बनाने का तात्पर्य उपर्युक्त सातों अनिष्ट प्रक्रियाओं को उत्पन्न करना नहीं, बल्कि उन्हें उत्पन्न होने से रोकना है। ध्यातव्य है कि उपर्युक्त सातों मर्य्यादाओं के रहते अर्थात् इन अनिष्ट स्थितियों के उत्पन्न होने पर लोकों की उत्पत्ति सम्भव ही नहीं है।

यहाँ प्रश्न यह उठता है कि क्या ऋषि रश्मियों को ज्ञान होता है कि किस परिस्थिति को कैसे सँभाला जाए? इसका उत्तर यह है कि प्रत्येक प्रक्रिया के पीछे सर्वोच्च चेतन परमात्मा द्वारा उत्पन्न 'ओम्' रश्मियाँ ज्ञानयुक्त होती हैं और वे 'ओम्' रश्मियाँ ही अन्य रश्मियों को नियन्त्रित करती हैं। यहाँ 'तक्ष त्वचने' अथवा 'तक्षू तनूकरणे' धातुओं

का प्रयोग है। इससे भी यह संकेत मिलता है कि विभिन्न ऋषि रश्मियाँ उपर्युक्त सातों प्रकार की अपक्रियाओं को करने वाले पदार्थों को क्षीण कर देती हैं अथवा इन्हें आच्छादित कर लेती हैं, जिसके कारण वे अपक्रियाएँ नहीं हो पाती अथवा होते ही दूर हो जाती हैं। (तासाम्, एकाम्, इत्, अभि, गात्) 'तासामेकामप्यभिगच्छन्' उनमें से एक भी अपक्रिया होने अर्थात् एक भी मर्यादा का अतिक्रमण करने पर (अंहुरः) 'अंहस्वान् भवति' विभिन्न संयोज्य कण आदि पदार्थ पातक असुरादि पदार्थों से युक्त होने लगते हैं, जिससे सूर्यादि लोकों में होने वाली सृजन क्रियाएँ बाधित व विनष्ट हो जाती हैं।

इस मन्त्र का आधिभौतिक अर्थ, जो स्वामी ब्रह्ममुनि परिव्राजक आदि विद्वानों ने किया है, हमें वही स्वीकार है, जिसमें से हम स्वामी ब्रह्ममुनि परिव्राजक का भाष्य उद्धृत कर रहे हैं—

संस्कृतान्वयार्थः — (कवयः) मेधाविनः-अनूचानः-ऋषयः 'कवि मेधाविनाम' [निघं. ३.१५] 'ये वा-अनूचानास्ते कवयः' [ऐ.ब्रा.२.२] 'ऋषयः कवयः' [मै.सं.४.१.२] (सप्त मर्यादाः) जीवनयात्राया अनुल्लङ्घनीया मर्यादाः-व्यवस्थाः (ततक्षुः) चक्रुः तक्षन्ति कुर्वन्ति ताश्च यास्कोक्ताः- "स्तेयं, तल्पारोहणं, ब्रह्महत्यां, भ्रूणहत्यां, सुरापानं, दुष्कृतस्य कर्मणः पुनः पुनः सेवां, पातकेऽनृतोद्यमिति" [निरु.६.२७] (तासाम्-एकाम्-इत्) तासामेकामपि (अभि-अगात्) अभिक्राम्येत् यः (अंहुरः) सः अंहस्वान् पापी भवति (ह) परन्तु तद्भिन्नः पुण्यात्मा (आयोः-स्कम्भः) ज्योतिषः स्कम्भः- पूर्णज्योतिर्मयः परमोऽग्निः परमात्मा तस्य 'आयोर्ज्योतिषः' [निरु.१०.४१] (उपमस्य नीडे) उपमन्तु योग्यस्यान्तिकतमस्य नीडे-गृहे-शरणे-मोक्षे 'नीडं गृहनाम' [निघं.३.४] (पथां विसर्गे) यत्र संसारयात्रायाः पन्थानो विसृज्यन्ते त्यज्यन्ते तत्र प्राप्तव्यस्थाने (धरुणेषु तस्थौ) 'प्रतिष्ठासु-उच्चस्थितिषु प्रतिष्ठा धरुणम्' [श.ब्रा.७.४.२.५] तिष्ठति विराजते।

भाषान्वयार्थ — (कवयः) मेधावी आप्त ऋषिजन (सप्त मर्यादाः-ततक्षुः) सात मर्यादाएँ सीमाएँ जीवन की बनाते हैं, उनका लङ्घन न करें-उन पर न पहुँचें जो कि निरुक्त में प्रदर्शित हैं— चोरी-डाका, गुरुपत्नी से सम्भोग, ब्रह्महत्या, गर्भपात, सुरापान, पापकर्म की पुनरावृत्ति, पाप करके झूठ बोलना-पाप को छिपाना, (तासाम्-एकाम्-इत्) उन इनमें से एक को भी (अभि-गात्) पहुँचे-अपने में आरोपित करे, तो वह (अंहुरः) पापी होता है। (ह) इन से पृथक् पुण्यात्मा (आयोः-स्कम्भः) ज्योति का स्कम्भ-ज्योतिष्पुञ्ज महान्

अग्नि परमात्मा है, उस (उपमस्य) समीप वर्तमान के (नीडे) घर में- शरण में मोक्ष में (पथां विसर्गे) जहाँ जीवन यात्रा के मार्गों का विसर्जन-त्याग होता है ऐसे प्राप्तव्य स्थान में (धरुणेषु तस्थौ) प्रतिष्ठाओं-ऊँची स्थितियों में स्थिर हो जाता है।

भावार्थ— ऋषि जन जीवन यात्रा की सात मर्यादाएँ-सीमाएँ प्रतिबन्ध रेखाएँ=चोरी आदि बनाते हैं, जिनकी ओर जाना नहीं चाहिए, उनमें से किसी एक पर भी आरूढ हो जाने पर मनुष्य पापी बन जाता है। उनसे बचा रहने वाला ऋषिकल्प होकर, जीवनयात्रा के मार्गो का अन्त जहाँ हो जाता है, ऐसी प्रतिष्ठाओं-ऊँची स्थितियों में रमण करता हुआ परम प्रकाशमान के आश्रय-मोक्ष में विराजमान हो जाता है।

ज्ञातव्य — यहाँ स्वामी ब्रह्ममुनि ने तल्प का अर्थ गुरुपत्नी या गुरुपत्नी का बिस्तर करके तल्पारोहण का अर्थ गुरुपत्नी से व्यभिचार किया है। परन्तु निरुक्तकार का आशय गुरुपत्नी न होकर किसी के साथ भी व्यभिचार के निषेध से है।

अब हम २५८वें पद 'बतः' का निर्वचन उद्धृत करते हैं— 'बत इति निपातः खेदानुकम्पयोः' अर्थात् खेद एवं अनुकम्पा को बत कहते हैं, इसका निगम अगले खण्ड में प्रस्तुत है।

* * * * *

अष्टाविंशः खण्डः

बतो बतासि यम नैव ते मनो हृदयं चाविदाम।
अन्या किल त्वां कक्ष्येव युक्तं परिष्वजाते लिबुजेव वृक्षम्॥

[ऋ.१०.१०.१३]

बतो बलादतीतो भवति। दुर्बलो बतासि यम।
नैव ते मनो हृदयं च विजानीमः।
अन्या किल त्वां परिष्वङ्क्ष्यते कक्ष्येव युक्तं लिबुजेव वृक्षम्।
लिबुजा व्रततिर्भवति। लीयन्ते विभजन्तीति। व्रततिर्वरणाच्च।

सयनाच्च। ततनाच्च। वाताप्यम् उदकं भवति। वात एतदाप्यायति। पुनानो वाताप्यं विश्वश्चन्द्रम्। [ऋ.९.९३.५] इत्यपि निगमो भवति।

इस मन्त्र का ऋषि यमी वैवस्वती है। [विवस्वान् = असौ वाऽआदित्यो विवस्वानेष ह्यहोरात्रे विवस्ते तमेष वस्ते सर्वतो ह्येनेन परिवृतः (श.ब्रा.१०.५.२.४)] आदित्य रश्मियों को ही विवस्वान् कहते हैं, क्योंकि यहाँ ये रश्मियाँ प्राण एवं अपान रश्मियों को धारण भी करती हैं और उनमें स्थित भी होती हैं। ऐसी सूर्य रश्मियों से उत्पन्न यम संज्ञक रश्मियों अर्थात् प्राण, अपान एवं धनञ्जय के मेल से उत्पन्न स्त्री रूप यमी रश्मियों से इस छन्द रश्मि की उत्पत्ति होती है। इसका देवता मैत्रयमो वैवस्वतः तथा छन्द आर्ची स्वराट् त्रिष्टुप् है। इसका अर्थ यह है कि उपर्युक्त यमी संज्ञक रश्मियों के सापेक्ष पुरुषरूप रश्मियाँ तीव्र प्रकाशित व बलवती होने लगती हैं। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(यम) 'यम' पूर्वोक्त यम रश्मियाँ (बत, बतः, असि) 'बतो बलादतीतो भवति दुर्बलो बतासि' जब किन्हीं कारणों से निर्बल हो जाती हैं, उस समय (न, एव, ते, मनः, हृदयं, च) 'नैव ते मनो हृदयं च' वे यम संज्ञक रश्मियाँ [मनः = मनो यजुर्वेदः (श.ब्रा.१४.४.३.१२), मनोऽन्तरिक्षलोकः (श.ब्रा.१४.४.३.११)। हृदयम् = हृदयं वै स्तोमभागाः (श.ब्रा.८.५.४.३), असौ वाऽआदित्यो हृदयम् (श.ब्रा.९.१.२.४०)] न तो आकाश तत्त्व और न उसकी याजुषी रश्मियों तथा न विभिन्न प्रकार की हरणशील स्तोम संज्ञक गायत्री छन्द रश्मियों को (अविदाम) 'विजानीमः' विशेष रूप से आकर्षित वा सक्रिय कर पाती हैं। इस कारण से वे यमसंज्ञक रश्मियाँ उपर्युक्त यमी रश्मियों, जो निकटवर्ती कणों से उत्सर्जित होती हैं, से नहीं मिल पाती हैं, जिसके कारण यम एवं यमी संज्ञक रश्मियों के माध्यम से जिन कण आदि पदार्थों का संयोग होना चाहिए था, वह नहीं हो पाता है। ऐसी स्थिति में वे यम संज्ञक रश्मियाँ क्या करती हैं, उसको अगले पाद में स्पष्ट किया गया है।

(अन्या, किल, त्वाम्, परिष्वजाते, कक्ष्या, इव, युक्तम्) 'अन्या किल त्वां परिष्वङ्क्ष्यते कक्ष्येव युक्तम्' वे यम रश्मियाँ अपेक्षाकृत दूरस्थ किन्हीं स्त्री संज्ञक रश्मियों के साथ वैसे ही संयुक्त हो जाती हैं, जैसे पूर्व में खण्ड २.२ में वर्णित कक्ष्या संज्ञक रश्मियाँ, जो सूर्यलोक के बाहरी क्षेत्र में विद्यमान होती हैं, सूर्य के आन्तरिक भागों से आने वाली विभिन्न किरणों के साथ संयुक्त होती हैं अथवा जिस समय कक्ष्या संज्ञक रश्मियाँ विभिन्न

किरणों के साथ यह क्रिया कर रही होती हैं, उसी समय यम संज्ञक रश्मियाँ उन किरणों से क्रिया करके उन्हें सूर्यादि लोकों से बाहर निकालने में सहयोग करने को प्रवृत्त होती हैं अर्थात् वे उन किरणों से उत्सर्जित होने वाली प्राण, अपान आदि रश्मियों के साथ मिश्रित होने लगती हैं। (लिबुजा, इव, वृक्षम्) 'लिबुजेव वृक्षम् लिबुजा व्रततिर्भवति लीयन्ते विभजन्तीति व्रततिर्वरणाच्च सयनाच्च ततनाच्च' [व्रततिः = व्रतमाचरतीति व्रततिः (उ.को.४.६०)। व्रतम् = कर्मनाम (निघं.२.१), अन्नं व्रतम् (तां.ब्रा.२३.२७.२), अन्नं हि व्रतम् (श.ब्रा.६.६.४.५)] यहाँ दूसरी उपमा देते हुए लिखा है कि उपर्युक्त क्रिया वैसे ही होती है, जैसे किसी अन्य संयोग प्रक्रिया में विभिन्न संयोज्य रश्मि आदि पदार्थ परस्पर एक-दूसरे में लीन होते हैं, पृथक् होते हैं, एक-दूसरे का वरण करते हैं, एक-दूसरे से बँध जाते हैं अथवा दूर-दूर तक फैल जाते हैं। यहाँ आधिदैविक पक्ष में उपमा का ग्रहण न करके सीधा अर्थ यह होता है कि जब विभिन्न प्रकार के संयोज्य पदार्थ एक-दूसरे के साथ संयुक्त अथवा वियुक्त, बन्धन व प्रसारण आदि कर्मों को करने में सक्रिय हो रहे होते हैं, उस समय यम संज्ञक रश्मियाँ उपर्युक्त रश्मियों के साथ संयुक्त वा वियुक्त होने लगती हैं।

भावार्थ— जब प्राणापानादि रश्मियाँ अथवा अन्य कोई नियन्त्रक रश्मियाँ किन्हीं कारणों से निर्बल होने लगती हैं, उस समय वे आकाशतत्त्व एवं उसकी अवयवभूत याजुषी रश्मियों तथा विभिन्न प्रकार की हरणशील गायत्री रश्मियों के साथ संयोग नहीं कर पाती हैं। ऐसी स्थिति में यजन क्रियाएँ शिथिल व बन्द होने लगती हैं। उस स्थिति में प्राणापानादि नियन्त्रक रश्मियाँ अन्य स्रोतों से आने वाली प्राणापानादि रश्मियों के साथ संयुक्त होकर संयोग प्रक्रिया को गति प्रदान करती हैं।

अब २५९वें पद 'वाताप्यम्' का निर्वचन करते हुए लिखते हैं— 'वाताप्यम् उदकं भवति वात एतदाप्यायति' [वातः = वातो हि वायुः (श.ब्रा.८.७.३.१२), वातो वै यज्ञः (श.ब्रा.३.१.३.२६)] अर्थात् वाताप्यम् उदक को कहते हैं, क्योंकि उदक अर्थात् जलों को वायुतत्त्व ही समृद्ध एवं व्याप्त करता है। उल्लेखनीय है कि आधुनिक विज्ञान की भाषा में जिन्हें परमाणु (एटम) एवं आयन कहा जाता है, उन्हें वैदिक भाषा में जल अथवा आपः कहा जाता है। इस पद का निगम इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है— 'पुनानो वाताप्यं विश्वश्चन्द्रम्'। इस मन्त्र का देवता पवमान सोम तथा छन्द पादनिचृत् त्रिष्टुप् होने से इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से सोम पदार्थ तीक्ष्ण तेज और बल से युक्त होता है। इसका

आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(पुनानः) पवित्र संदीप्त सोम पदार्थ (वाताप्यम्, विश्वश्चन्द्रम्) [चन्द्रम् = हिरण्यनाम (निघं.१.२), चन्द्र एव सविता (जै.उ.४.२७.१३), चन्द्रं हिरण्यम् (तै.ब्रा.१.७.६.३)] सभी तेजस्वी लोकों अथवा विभिन्न सृजन प्रक्रियाओं के अन्दर संदीप्त आपः परमाणुओं अर्थात् विभिन्न प्रकार के आयन्स की संख्या में वृद्धि करने लगते हैं। इसका अर्थ यह है कि सूर्यलोकों में जब सोम पदार्थ की ऊर्जा बढ़ने लगती है, तब वहाँ विभिन्न संयोज्य आयन्स की मात्रा भी बढ़ने लगती है। यहाँ सोम पदार्थ से सोम्य कणों (इलेक्ट्रॉन्स) आदि ऋणावेशित कणों का भी ग्रहण कर सकते हैं। ऐसी स्थिति में आयन्स से धनायनों का ही ग्रहण करना होगा।

वने न वायो न्यधायि चाकन्। [ऋ.१०.२९.१]
वन इव वायो वेः पुत्रः। चायन्निति वा। कामयमान इति वा।
वेति च य इति च चकार शाकल्यः। उदात्तं त्वेवमाख्यातमभविष्यत्।
असुसमाप्तश्चार्थः। रथर्यति इति सिद्धः। तत्प्रेप्सुः रथं कामयत इति वा।
एष देवो रथर्यति। [ऋ.९.३.५] इत्यपि निगमो भवति॥ २८॥

तत्पश्चात् २६०वें पद 'चाकन्' का निगम इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है— 'वने न वायो न्यधायि चाकन् ... (भुरणौ)'। इस मन्त्र का देवता इन्द्र तथा छन्द विराट् त्रिष्टुप् होने से इन्द्रतत्त्व विविध एवं तीक्ष्ण तेज के साथ चमकने लगता है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(वने, न, वायः) 'वन इव वायो वेः पुत्रः' [विः = वाति वायुवद् गच्छतीति विः (उ.को. ४.१३५), चाकनत् कान्तिकर्मा (निघं.२.६), चाकनत् पश्यतिकर्मा (निघं.३.११)] वन अर्थात् प्रकाशादि किरणों के अन्दर वायुतत्त्व के अवयवभूत, साथ ही उसकी पालिका व रक्षिका के रूप में विद्यमान प्राणादि रश्मियाँ (न्यधायि, चाकन्, भुरणौ) 'चायन्निति वा कामयमान इति वा' जिस प्रकार से उन किरणों के द्वारा धारण की जाती हुई विभिन्न कणादि पदार्थों को देखती वा आकर्षित करती हैं, इसके साथ उस किरण को भी आकर्षण व प्रकाशादि गुणों से युक्त करती हैं, उसी प्रकार वे किरणें भी उन कणादि पदार्थों के द्वारा

धारण की जाती हुई विभिन्न संयोज्य कणादि पदार्थों को देखती वा आकृष्ट करती रहती हैं। इसके साथ ही उन कणों को भी आकर्षण व प्रकाशादि गुणों से युक्त करती हैं अथवा जब वायु रश्मियाँ विभिन्न किरणों को आकृष्ट वा धारण करती हैं किंवा वायु रश्मियाँ विभिन्न प्रकाशादि किरणों का निर्माण करती हैं, तभी वे किरणें भी विभिन्न कणों का निर्माण करती तथा उन्हें आकृष्ट वा धारण करती हैं। इस प्रकरण से यह संकेत मिलता है कि इस सृष्टि में जब प्रकाशाणुओं की उत्पत्ति होती है, उसी समय ही प्रकाशाणु वा वायुतत्त्व से विभिन्न मूल कणों की उत्पत्ति होने लगती है।

यहाँ ग्रन्थकार ने पूर्वाचार्य महर्षि शाकल्य का मत उद्धृत करते हुए लिखा है— 'वेति च य इति च चकार शाकल्यः' अर्थात् 'वायः' पद 'वा+यः' से व्युत्पन्न है अर्थात् उन्होंने 'वायः' को 'वेः पुत्रः वायः' न करके 'वा+यः' का रूप माना है। इस पर ग्रन्थकार ने आपत्ति करते हुए लिखा है— 'उदात्तं त्वेवमाख्यातमभविष्यत् असुसमाप्तश्चार्थः'। इस पर टीकाकार आचार्य भगीरथ शास्त्री (हिन्दी टीका) ने लिखा है—

''यास्क का कहना है कि पदकार शाकल्य का ऐसा पदच्छेद अशुद्ध है। 'उदात्तं त्वेवमाख्यातमभविष्यत्' एवम् इस प्रकार (वा और य) पदच्छेद करने पर आख्यातम् मन्त्र में 'न्यधायि' के उदात्त करने पर मन्त्रार्थ की ठीक संगति नहीं लगती अर्थात् 'वा' ऐसा पदच्छेद करने पर 'वा' और यः दोनों पदों का अर्थ ही यहाँ कुछ नहीं लग सकता। अतः शाकल्य जी का यह पदच्छेद असंगत है और इसीलिए अशुद्ध है।''

इस प्रकरण में आचार्य भगीरथ शास्त्री ने ही नहीं, अपितु निरुक्त के सभी भाष्यकारों ने महर्षि यास्क को महर्षि शाकल्य के विरुद्ध लाकर खड़ा कर दिया है। इतना ही नहीं, उन्होंने ग्रन्थकार द्वारा महर्षि शाकल्य को वेदार्थ करने में अक्षम ही सिद्ध कर दिया है। इस विषय में हमारी बुद्धि यह स्वीकार करने को उद्यत नहीं कि महर्षि यास्क अपने पूर्व आचार्य महर्षि शाकल्य, जिन्हें महर्षि पाणिनि ने भी अनेकत्र अपनी अष्टाध्यायी में सम्मानित स्थान दिया है तथा व्याकरण के प्रयोगों में अपने विकल्प के रूप में अनेकत्र उनके प्रयोगों को वाञ्छित स्थान दिया है। ऐसे महान् ऋषि शाकल्य को निरुक्त के भाष्यकार महर्षि यास्क के नाम पर नीचा दिखाएँ और ऐसा करने के लिए स्वयं महर्षि यास्क एवं महर्षि पाणिनि का ही प्रयोग करें, यह हमें उचित कदापि प्रतीत नहीं होता। यद्यपि यह बात भी सत्य है कि महर्षि ऐतरेय महीदास ने अपने ऐतरेय ब्राह्मण ग्रन्थ में

अनेक पूर्व ऋषियों के मत का खण्डन करके अपने मत को सत्य रूप में प्रस्तुत किया है, पुनरपि हमें महर्षि शाकल्य की आलोचना बुद्धिगम्य नहीं प्रतीत होती। हमें लगता है कि निरुक्त के व्याख्याकार स्वयं महर्षि यास्क के आशय को अनेकत्र नहीं समझ पाए। अब तक किए भाष्य में हम इसके बहुत प्रमाण देख सकते हैं। पाणिनीय व्याकरण के आधार पर पूर्व ऋषियों के प्रमाणों की समीक्षा करना न तो बुद्धिमानी है और न आवश्यक। यदि ऐसा किया जाने लगा, तो आर्षग्रन्थों में ही नहीं, अपितु वेदों में भी अनेकत्र दोष दिखाई देने लगेंगे और मैं समझता हूँ कि ऐसी अज्ञानता कोई नहीं करना चाहेगा।

अब प्रश्न यह उठता है कि महर्षि शाकल्य के पदच्छेद 'वा'+'यः' = 'वायः' का अर्थ क्या है? हमें यहाँ प्रथम पद 'वा' 'वा गतिगन्धनयोः' धातु से 'क्विप्' प्रत्यय होकर निष्पन्न होता हुआ प्रतीत होता है, जिसका अर्थ है— बहता हुआ सा कोई पदार्थ, जो विभिन्न पदार्थों से क्रिया करता हुआ आगे बढ़ता जाता है। दूसरा पद 'यः' 'या प्रापणे' धातु से 'उः' प्रत्यय होकर निष्पन्न होता प्रतीत होता है। इस प्रकार 'वायः' वह पदार्थ है, जो अव्याहृत गति से बहता हुआ विभिन्न पदार्थों के अन्दर व्याप्त भी होता चला जाता है और उनके द्वारा अन्योन्य क्रिया भी करता हुआ नाना प्रकार के कार्यों को करने में सक्षम होता है। हमारी दृष्टि में प्रकाश आदि किरणें ही अथवा विभिन्न ध्वनि तरंगें ही 'वायः' कहलाती हैं।

इसके विषय में ग्रन्थकार का कथन है— 'उदात्तं त्वेवमाख्यातमभविष्यत् असु-समाप्तश्चार्थः' [असुः = असुरिति प्राणनामास्तः शरीरे भवति (निरु.३.८), तस्या एतस्यै वाचः प्राणा एवाऽसुः एषु हीदं सर्वमसूतेति (जै.उ.१.४०.७), प्राणो वाऽअसुः (श.ब्रा. ६.६.२.६) उदात्तः = उद्+आङ्+दा+क्त] यहाँ ग्रन्थकार के दो आशय प्रकट होते हुए प्रतीत हो रहे हैं—

१. 'न्याधयि' क्रियापद उदात्त हो जाएगा, जैसा कि उपर्युक्त प्रकरण में आरोप लगाया गया है और इस स्थिति में 'असुसमाप्तः' का अर्थ अस्पष्ट अर्थ वाला किया गया है, जो हमें उचित प्रतीत नहीं होता, बल्कि यहाँ इसका अर्थ होना चाहिए— जिसमें प्राण रश्मियाँ अच्छी प्रकार व्याप्त हो रही हों, ऐसा पदार्थ असुसमाप्त कहा जाएगा। इसकी संगति हमारे उस अर्थ से ठीक-२ बैठती है, जहाँ हमने 'वायः' पद का अर्थ ध्वनि एवं प्रकाश आदि तरंगें किया है। इन तरंगों में प्राण रश्मियाँ पूर्ण रूप से व्याप्त रहती हैं।

२. यहाँ 'उदात्त:' पद का अर्थ है— उत्कृष्ट रूप से ग्रहण किया हुआ एवं 'आख्यात' पद का अर्थ है— सब ओर से वाक् तत्त्व से व्याप्त हुआ। ये दोनों गुण भी प्रकाश आदि किरणों एवं ध्वनि तरंगों में विद्यमान होते हैं। इस कारण 'वाय:' पद पूर्णत: सार्थक सिद्ध होता है। ध्यातव्य है कि यहाँ भी 'असुसमाप्त:' पूर्णत: सुसंगत है, क्योंकि वाक् एवं प्राण रश्मियाँ सदैव युग्म के रूप में विद्यमान रहती हैं।

अब २६१वें पद 'रथर्यति' का निर्वचन करते हुए लिखते हैं— 'रथर्यति इति सिद्ध: तत्प्रेप्सु: रथं कामयत इति वा' [रथ: = असौ वाऽआदित्य एष रथ: (श.ब्रा.९.४.१.१५), वज्रो वै रथ: (तै.सं.५.४.११.२)] अर्थात् रथर्यति का यह प्रसिद्ध अर्थ है— रथ की कामना करने वाला अर्थात् जो पदार्थ असुरादि पदार्थों से अपनी रक्षा के लिए वज्र रूप रश्मियों की कामना करता है अर्थात् उन्हें आकर्षित करता है। इस प्रक्रिया के लिए ही यहाँ 'रथर्यति' पद का प्रयोग हुआ है। इसके साथ ही जो पदार्थ प्रकाश आदि किरणों अथवा आदित्य संज्ञक जगती छन्द रश्मियों अथवा प्राणादि रश्मियों को आकृष्ट करता है, तब उसकी इस प्रक्रिया को भी 'रथर्यति' कहा जाता है।

इस पद का निगम इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है— 'एष देवो रथर्यति'। इस मन्त्र का देवता पवमान तथा छन्द विराट् गायत्री होने से इसके दैवत व छान्दस प्रभाव से बहता हुआ सोम पदार्थ विविध प्रकार से श्वेतवर्णयुक्त होने लगता है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(एष, देव:) यह प्रकाशित होता हुआ शुद्ध सोमतत्त्व (रथर्यति) विभिन्न प्राण रश्मियों को निरन्तर आकृष्ट करता रहता है। यहाँ सोम का अर्थ विभिन्न प्रकार के कण मानें, तो इसका अर्थ यह हुआ कि इस सृष्टि में सभी प्रकार के कण निरन्तर ही प्रकाश आदि विद्युत् चुम्बकीय तरंगों को आकृष्ट करते रहते हैं। इसके साथ ही वे नाना प्रकार की संयोग आदि प्रक्रियाओं के समय बाधक बनने वाली असुरादि रश्मियों को नियन्त्रित व नष्ट करने के लिए निरन्तर वज्र रश्मियों को आकृष्ट करते रहते हैं।

* * * * *

= एकोनत्रिंशः खण्डः =

धेनुं न इषं पिन्वतमसक्राम्। [ऋ.६.६३.८]
असङ्क्रमणीयम्। आधवः। आधवनात्।
मतीनां च साधनं विप्राणां चाधवम्। [ऋ.१०.२६.४]
इत्यपि निगमो भवति।
अनवब्रवः अनवक्षिप्तवचनः।
विजेषकृदिन्द्र इवानवब्रवः। [ऋ.१०.८४.५]
इत्यपि निगमो भवति॥ २९॥

तदनन्तर २६२वें पद 'असक्राम्' का निगम इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है— 'धेनुं न इषं पिन्वतमसक्राम्'। इसका ऋषि 'बार्हस्पत्य भरद्वाज' है अर्थात् इस छन्द रश्मि की उत्पत्ति सूत्रात्मा वायु से उत्पन्न प्राण नामक प्राण रश्मि से होती है। इस मन्त्र का देवता अश्विनौ तथा छन्द स्वराट् पंक्ति होने से अश्विद्वय अर्थात् प्राण व अपान रश्मियाँ अथवा प्रकाशित व अप्रकाशित कण प्रकाशित, परिपक्व व विस्तृत होते हैं। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

वे प्राणापान रश्मिरूपी अश्विद्वय (नः) इस छन्द रश्मि की कारणभूत प्राण रश्मियों से समृद्ध पदार्थों के लिए (असक्राम्) 'असङ्क्रमणीयम्' निरन्तर (धेनुम्, इषम्) विभिन्न संयोज्य कणों अथवा वाक् रश्मियों का (पिन्वतम्) प्रोक्षण करते हैं।

भावार्थ— जब आग्नेय व सौम्य अर्थात् धन व ऋण आवेशित कणों को निकट लाया जाता है, उस समय प्राण प्रधान कण अर्थात् धनावेशित कण के ऊपर वायुतत्त्व में विद्यमान प्राणापान रश्मियाँ ऋणावेशित कणों से मरुद् रश्मियों को आकर्षित करके वर्षण करती हैं। इससे धनावेशित कणों से उत्सर्जित धनञ्जयादि प्राण रश्मियाँ अन्योन्य क्रिया करके मीडियेटर कणों को उत्पन्न करके दोनों कणों के मध्य आकर्षण बल को उत्पन्न करने लगती हैं। बल के क्रियाविज्ञान के लिए 'वेदविज्ञान-आलोकः' एवं श्री विशाल आर्य द्वारा रचित 'परिचय-वैदिक भौतिकी' पुस्तक पठनीय है।

तदनन्तर २६३वें पद 'आधवः' का निर्वचन करते हुए लिखा— 'आधवः आधवनात्'

अर्थात् जो पदार्थ अन्य पदार्थों को चारों ओर से कँपाता वा प्रक्षिप्त करता है, उसे 'आधवः' कहते हैं। इस पद का निगम इस प्रकार प्रस्तुत किया है— '(पूषन्) ...मतीनां च साधनं विप्राणां चाधवम्'। इस मन्त्र का देवता पूषा तथा छन्द आर्षी निचृदुष्णिक् होने से सबके पोषक आदित्य लोक में ऊष्मा की तीक्ष्णता बढ़ने लगती है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(पूषन्) वह सूर्यलोक (मतीनाम्, च, साधनम्) [मतिः = प्रजा वै मतयः (तै.आ. ५.६.८)] विभिन्न प्रकार के पदार्थों की उत्पत्ति का साधन एवं स्थान है अर्थात् इसके अन्दर होने वाली विभिन्न प्रक्रियाओं के द्वारा नाना प्रकार के पदार्थों की उत्पत्ति होती है। (विप्राणाम्, च, आधवम्) [विप्रः = विविधान् पदार्थान् प्रान्ति तैः किरणैः (म.द.ऋ. भा.१.६२.४)] इसके साथ ही यह सूर्यलोक विभिन्न प्रकार के पदार्थों में व्याप्त होने योग्य अथवा व्याप्त किरणों को अन्तरिक्ष में कँपाते हुए प्रक्षिप्त करता रहता है।

२६४वें पद 'अनवब्रवः' का निर्वचन करते हुए लिखते हैं— 'अनवब्रवः अनवक्षिप्तवचनः' अर्थात् जिसके तेज और बल को कोई नीचे न गिरा सके अर्थात् उसको दबा न सके व पराभूत न कर सके, उस पदार्थ को 'अनवब्रवः' कहते हैं। इस पद का निगम इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है— '(मन्यो) ... विजेषकृदिन्द्र इवानवब्रवः'। इस मन्त्र का देवता मन्युः तथा छन्द पादनिचृज्जगती होने से इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से [मन्युः = मन्यतेर्दीप्तिकर्मणः क्रोधकर्मणो वधकर्मणो वा मन्यन्त्यस्मादिषवः (निरु.१०. २९)] तीक्ष्ण एवं हिंसक तेज और बल तीक्ष्णतापूर्वक दूर-२ तक फैलने लगते हैं। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(मन्यो) हिंसक तीक्ष्ण तेज और बल (इन्द्र, इव) इन्द्रतत्त्व के समान अथवा इन्द्ररूप होकर (अनवब्रवः) अजेय एवं अभेद्य होता हुआ (विजेषकृत्) विभिन्न कणों व लोकों को नियन्त्रित करने में समर्थ होता है।

= त्रिंशः खण्डः =

अरायि काणे विकटे गिरिं गच्छ सदान्वे।
शिरिम्बिठस्य सत्वभिस्तेभिष्ट्वा चातयामसि॥ [ऋ.१०.१५५.१]
अदायिनि काणे विकटे। काणो विक्रान्तदर्शन इत्यौपमन्यवः।
कणतेर्वा स्यादणूभावकर्मणः। कणतिः शब्दाणूभावे भाष्यते।
अनुकणतीति। मात्राणूभावात्कणः। दर्शनाणूभावात्काणः।
विकटो विक्रान्तगतिरित्यौपमन्यवः।
कुटतेर्वा स्यात् विपरीतस्य विकुटितो भवति। गिरिं गच्छ।
सदानोनुवे शब्दकारिके। शिरिम्बिठस्य सत्त्वभिः। शिरिम्बिठो मेघः।
शीर्यते बिठे। बिठमन्तरिक्षम्। बिठं बीरिटेन व्याख्यातम्। [निरु.५.२७]
तस्य सत्त्वैरुदकैरिति स्यात्। तैष्ट्वा चातयामः।
अपि वा शिरिम्बिठो भारद्वाजः कालकर्णोपेतः। अलक्ष्मीर्निर्णाशयाञ्चकार।
तस्य सत्त्वैः कर्मभिरिति स्यात्। तैष्ट्वा चातयामः। चातयतिर्नाशने।

अब २६५ एवं २६६वें 'सदान्वे', 'शिरिम्बिठः' पदों का निगम इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है—

अरायि काणे विकटे गिरिं गच्छ सदान्वे।
शिरिम्बिठस्य सत्वभिस्तेभिष्ट्वा चातयामसि॥

इस मन्त्र का ऋषि भरद्वाजः शिरिम्बिठः है। इसका अर्थ यह है कि यह छन्द रश्मि आकाश में विद्यमान विभिन्न प्रकार के बलों को उत्पन्न करने वाले तथा आकाश में ही उत्पन्न एवं नष्ट व विखण्डित होने वाले कणों से उत्पन्न होती है अर्थात् उन कणों से यह छन्द रश्मि उत्सर्जित होती रहती है। इसका देवता 'अलक्ष्मीघ्नम्' एवं छन्द 'निचृदनुष्टुप्' है। इसका अर्थ यह है कि इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से 'भूः', 'भुवः', 'स्वः' तीनों व्याहृति रश्मियों के प्रकट व उत्पन्न होने की प्रक्रिया तीव्रता से अनुकूल होती है अर्थात् ये लघु रश्मियाँ उपयुक्त मात्रा में उत्पन्न होने लगती हैं। यदि इनकी उत्पत्ति में कोई बाधा

उपस्थित होती है, तो यह छन्द रश्मि उसे दूर कर देती है। 'लक्ष्मीः' पद का अर्थ ये तीनों प्रकार की रश्मियाँ ही है। इसके लिए खण्ड ४.९ पठनीय है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(अरायि, काणे, विकटे) 'अदायिनि काणे विकटे काणो विक्रान्तदर्शन इत्यौपमन्यवः कणतेर्वा स्यादणूभावकर्मणः कणतिः शब्दाणूभावे भाष्यते अनुकणतीति मात्राणूभावात्कणः दर्शनाणूभावात्काणः विकटो विक्रान्तगतिरित्यौपमन्यवः कुटतेर्वा स्यात् विपरीतस्य विकुटितो भवति' यहाँ इन तीनों पदों का विभिन्न प्रकार से निर्वचन किया गया है—

१. **अरायीः** — जो अपने किसी अवयव को पृथक् करके अन्य किसी पदार्थ से संयुक्त नहीं होने देता है, उसे अरायी कहते हैं।

२. **काणीः** — जो पदार्थ विविध दीप्तियों से युक्त दर्शनीय एवं आकर्षण बल से युक्त होता है, उस पदार्थ को महर्षि उपमन्यु के पुत्र महर्षि औपमन्यव 'काणः' कहते हैं। ग्रन्थकार उस पदार्थ को, जो सूक्ष्म ध्वनि उत्पन्न करता हुआ गमन करता रहता है एवं जो सूक्ष्म आकार का होता है, उसे कण कहते हैं और देखने में सूक्ष्म होने के कारण ही कण को काणः कहते हैं। मन्त्र में 'काणी' पद को कणवाची ही समझना चाहिए। इस प्रयोग को पुल्लिङ्ग अर्थ में छान्दस स्त्रीलिङ्ग प्रयोग माना जा सकता है। इसका दूसरा अर्थ यह है कि काणी पद से स्त्रीरूप व्यवहार करने वाले कणों का भी ग्रहण किया जा सकता है।

३. **विकटा** — महर्षि औपमन्यव के मत में विविध प्रकार की गतियों से युक्त होने वाला पदार्थ 'विकट' कहलाता है अथवा विपरीत किंवा कुटिल गतियों से युक्त पदार्थ को विकट कहते हैं। विकट को विकटा कहने का अर्थ उपर्युक्त 'काणी' की भाँति समझें।

यहाँ 'अरायि', 'काणे' और 'विकटे' तीनों ही नाम एक ही पदार्थ के सम्बोधन के रूप में हैं अर्थात् ये पदार्थ विविध प्रकार के आकर्षण बलों व कुटिल गतियों से युक्त होते हैं तथा ये अपने किसी अवयव को स्वयं से पृथक् करके अन्य पदार्थों के साथ संयुक्त नहीं होने देते हैं। इस प्रकार यह सूक्ष्म कण रूप पदार्थ अन्य कणों के अवयव रूप सूक्ष्म पदार्थों को अपने साथ संयुक्त कर लेते हैं, परन्तु स्वयं अपने किसी अवयव को अन्य किसी कण आदि पदार्थ के साथ संयुक्त नहीं होने देते हैं। ये पदार्थ सूक्ष्म ध्वनियाँ सदैव ही उत्पन्न करते रहते हैं, ऐसे वे पदार्थ (गिरिम्, गच्छ) 'गिरिं गच्छ' [गिरिः = तस्य

(वृत्रस्य) एतच्छरीरं यद् गिरयो यदश्मानः (श.ब्रा.३.४.३.१३), गिरिर्वै रुद्रस्य योनिः (मै.सं.१.१०.२०)] ऐसे विशाल मेघ रूप पदार्थों, जो विभिन्न लोकों के निर्माण में बाधा डालते हैं अथवा उन्हें धारण करने में सहायक होते हैं तथा जिनमें तीक्ष्ण एवं क्षोभजनक क्रियाएँ सदैव होती रहती हैं, में व्याप्त व विद्यमान रहते हैं अथवा उन सूक्ष्म कणों की धाराएँ उन मेघरूप पदार्थों की ओर बहने लगती हैं। (सदान्वे) 'सदानोनुवे शब्दकारिके' [नोनुवे = नौ अचतिकर्मा] वे उपर्युक्त सूक्ष्म कण आदि पदार्थ निरन्तर ही ध्वनि एवं प्रकाश को उत्पन्न करते रहते हैं, जिसके कारण मेघरूप पदार्थ सदैव ही गम्भीर घोष करते रहते हैं।

(शिरिम्बिठस्य, सत्वभिः) 'शिरिम्बिठस्य सत्त्वभिः शिरिम्बिठो मेघः शीर्यते बिठे बिठमन्त-रिक्षम् बिठं बीरिटेन व्याख्यातम् तस्य सत्त्वैरुदकैरिति स्यात् तैष्ट्वा चातयामः अपि वा शिरिम्बिठो भारद्वाजः कालकर्णोपेतः अलक्ष्मीर्निर्णाशियाञ्चकार तस्य सत्त्वैः कर्मभिरिति स्यात्' [कालः = काला अप्सु निविशन्ते आपः सूर्ये समाहिताः (तै.आ.१.८.१)] 'शिरिम्बिठ' का तात्पर्य हम इस मन्त्र के ऋषि की व्याख्या में समझा चुके हैं। ऐसे वे शिरिम्बिठ संज्ञक बल कण अपने सत्त्व अर्थात् बल रश्मियों की वृष्टि के द्वारा, ऐसा अर्थ हो सकता है अथवा शिरिम्बिठ को भारद्वाज भी कहते हैं अर्थात् विभिन्न बलों को धारण करने वाला। ध्यातव्य है कि दोनों ही निर्वचनों से बलों के कणों, जिन्हें वर्तमान भाषा में मध्यस्थ कण (फील्ड पार्टिकल) कहा जाता है, का ही ग्रहण होता है। इन कणों को कालकर्णोपेत कहा है। उपर्युक्त उद्धरण में महर्षि तित्तिर के अनुसार काल रश्मियाँ प्राण रश्मियों एवं प्राण रश्मियाँ बलों के उत्पादक कणों में स्थित होती हैं।

इस प्रकार ये बल कण काल रश्मियों की निरन्तर चलने वाली क्रियाओं से युक्त होते हैं अर्थात् काल रश्मियों के अभाव में कुछ भी सम्भव नहीं है। कालतत्त्व के विषय में 'वैदिक रश्मिविज्ञानम्' एवं 'परिचय वैदिक-भौतिकी' पठनीय हैं। ऐसे भारद्वाज संज्ञक वे बल कण काल रश्मियों की नाना प्रकार की क्रियाओं के द्वारा अलक्ष्मी अर्थात् 'भूः', 'भुवः' एवं 'स्वः' व्याहृति रश्मियों की उत्पत्ति में बाधक किसी भी प्रकार की प्रक्रिया को नष्ट कर देते हैं। यहाँ यह संकेत स्वाभाविक रूप से मिलता है कि काल रश्मियाँ व्याहृति रश्मियों को उत्पन्न करने में प्रेरक का कार्य करती हैं। (तेभिः, त्वा, चातयामसि) 'तैष्ट्वा चातयामः चातयतिर्नाशिने' उन उपर्युक्त क्रिया व बलों के द्वारा अलक्ष्मीपने की स्थिति को

नष्ट किया जाता है अर्थात् व्याहृति संज्ञक रश्मियों को उत्पन्न करके विभिन्न पदार्थों के मध्य बलों को उत्पन्न किया जाता है।

भावार्थ— इस सृष्टि में कुछ पदार्थ विविध प्रकार के आकर्षण बलों के साथ-२ ऐसी कुटिल गतियों से भी युक्त होते हैं कि वे अपने अवयवरूप पदार्थों को स्वयं से पृथक् करके अन्य पदार्थों के साथ संयुक्त नहीं होने देते हैं। इन पदार्थों से निरन्तर सूक्ष्म ध्वनियाँ उत्पन्न होती रहती हैं। ऐसे वे पदार्थ विशाल एवं विभिन्न प्रकार के मेघरूप पदार्थों में व्याप्त वा विद्यमान रहते हैं अथवा उन सूक्ष्म कणों की धाराएँ उन मेघरूप पदार्थों की ओर बहने लगती हैं। इनके कारण मेघरूप पदार्थ गम्भीर घोष उत्पन्न करते रहते हैं। विभिन्न प्रकार की बल रश्मियाँ कालतत्त्व के कारण ही अपनी विविध क्रियाओं को सम्पादित कर पाती हैं। इस क्रम में वे व्याहित रश्मियों को भी उत्पन्न करती हैं, जिनके अभाव में किसी भी प्रकार के बलों की उत्पत्ति सम्भव नहीं है।

पराशरः पराशीर्णस्य वसिष्ठस्य स्थविरस्य जज्ञे।
पराशरः शतयातुर्वसिष्ठः। [ऋ.७.१८.२१] इत्यपि निगमो भवति।
इन्द्रोऽपि पराशर उच्यते। परा शातयिता यातूनाम्।
इन्द्रो यातूनामभवत्पराशरः। [ऋ.७.१०४.२१] इत्यपि निगमो भवति।
क्रिविर्दती विकर्तनदन्ती।
यत्रा वो दिद्युद्रदति क्रिविर्दती। [ऋ.१.१६६.६] इत्यपि निगमो भवति।
करूळती कृत्तदती।
[अपि वा देवं कंचित् कृत्तदन्तं दृष्ट्वैवमवक्ष्यत्]॥ ३०॥

इसके पश्चात् २६७वें पद 'पराशरः' का निर्वचन करते हुए लिखते हैं— 'पराशरः पराशीर्णस्य वसिष्ठस्य स्थविरस्य जज्ञे' [वसिष्ठः = अग्निर्वै देवानां वसिष्ठः (ऐ.ब्रा.१.२८)] अर्थात् पराशर उन तीक्ष्ण किरणों का नाम है, जो बाधक पदार्थों को छिन्न-भिन्न करने वाले एवं व्यापक, स्थिर एवं तीक्ष्ण अग्नि से उत्पन्न होती हैं। ऐसी किरणें दीर्घायु एवं विशाल तारों अथवा कॉस्मिक मेघादि विशाल पिण्डों से उत्पन्न हो सकती हैं। यहाँ इस पद का निगम इस प्रकार प्रस्तुत है— 'पराशरः शतयातुर्वसिष्ठः'। इस मन्त्र का देवता इन्द्र एवं

छन्द पंक्ति होने से इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से इन्द्रतत्त्व परिपक्व एवं विस्तृत होता है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(पराशरः) उपर्युक्त पराशर संज्ञक तीक्ष्ण किरणें (वसिष्ठः) अपने अन्दर विभिन्न प्रकार के देव कणों, जो ऊष्मा और विद्युत् को धारण किए हुए होते हैं, को बसाने वाली होती हैं अर्थात् ये किरणें उष्ण एवं विद्युत् आवेशित कणों के रूप में होती हैं। (शतयातुः) ये किरणें अनेक प्रकार की अन्य किरणों के साथ गमन करने वाली होती हैं अर्थात् ये किरणें अपने से भिन्न विभिन्न प्रकार के पदार्थों के साथ गमन करती हैं।

इसके पश्चात् 'पराशरः' पद का दूसरा निर्वचन करते हुए लिखते हैं— 'इन्द्रोऽपि पराशर उच्यते परा शातयिता यातूनाम्' अर्थात् इन्द्रतत्त्व को भी पराशर कहते हैं, क्योंकि यह अपने तीक्ष्ण प्रहार से हिंसक राक्षस संज्ञक असुरादि पदार्थों को नष्ट करता है। इसका निगम इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है— 'इन्द्रो यातूनामभवत्पराशरः'। इस मन्त्र का देवता इन्द्र और छन्द निचृज्जगती होने से इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से इन्द्रतत्त्व तीक्ष्णतापूर्वक विस्तृत होने लगता है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(इन्द्रः) वह इन्द्रतत्त्व (यातूनाम्, पराशरः, अभवत्) नाना प्रकार के राक्षस संज्ञक हिंसक पदार्थों को तीक्ष्णतापूर्वक छिन्न-भिन्न करने वाला होता है अर्थात् ऐसे हिंसक पदार्थों पर इन्द्रतत्त्व का प्रहार अति तीक्ष्ण ही होता है, मृदु नहीं। वस्तुतः जो पदार्थ जितने हिंसक और बलवान् होते हैं, इन्द्रतत्त्व का उन पर प्रहार उतना ही अधिक तीक्ष्ण होता है।

तदनन्तर २६८वें पद 'क्रिविर्दती' का निर्वचन करते हुए लिखते हैं— 'क्रिविर्दती विकर्तनदन्ती' [दन्तः = दाम्यत्युपशाम्यति यो येन वा स दन्तः दशनो वा (उ.को.३.८६)] अर्थात् वह पदार्थ जो अन्य पदार्थों को विशेष रूप से नियन्त्रित करने में समर्थ होता है, उसे छिन्न-भिन्न करने में भी समर्थ होता है, उस पदार्थ को 'क्रिविर्दती' कहते हैं। इसका निगम इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है— 'यत्रा वो दिद्युद्रदति क्रिविर्दती'। इस मन्त्र का देवता मरुतः तथा छन्द निचृज्जगती होने से इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से मरुद् रश्मियाँ तीक्ष्णतापूर्वक फैलने लगती हैं। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(यत्रा = यत्र, वः) इस सृष्टि में जहाँ मरुद् रश्मियाँ (दिद्युत्, रदति, क्रिविर्दती) विशेष प्रकाशित होकर छेदन-भेदन एवं नियन्त्रण शक्तिसम्पन्न होती हैं, वहाँ वे विभिन्न स्थूल व

सूक्ष्म पदार्थों को छिन्न-भिन्न करके शुद्ध रूप प्रदान करती हैं। इसके साथ ही वे हिंसक पदार्थों को अपने तीक्ष्ण बल से नष्ट व नियन्त्रित भी करती हैं।

तदनन्तर २६९वें पद 'करूळती' का निर्वचन इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं—

'करूळती कृत्तदती अपि वा देवं कंचित् कृत्तदन्तं दृष्ट्वैवमवक्ष्यत्'

अर्थात् जिनकी तीक्ष्ण छेदक-भेदक एवं नियन्त्रक शक्ति स्वयं छिन्न-भिन्न हो गई हो अर्थात् नष्ट हो गई हो, ऐसी रश्मियों वा अन्य पदार्थों को 'करूळती' कहते हैं अथवा कुछ ऐसे देव पदार्थ, जिनके तीक्ष्ण छेदक-भेदक व नियन्त्रक बल समाप्त होते हुए किन्हीं योगनिष्ठ तपस्वियों ने समाधि अवस्था में स्वयं देखा व अनुभव किया है, उन्होंने ऐसा निर्वचन किया है, ऐसा ग्रन्थकार का मत है।

इस पद का निगम अगले खण्ड में वर्णित है।

* * * * *

एकत्रिंशः खण्डः

वामंवामं त आदुरे देवो ददात्वर्यमा।
वामं पूषा वामं भगो वामं देवः करूळती॥ [ऋ.४.३०.२४]
वामं वननीयं भवति। आदुरिरादरणात्। तत्कः करूळती।
भगः पुरस्तात्तस्यान्वादेश इत्येकम्। पूषेत्यपरम्। सोऽदन्तकः।
अदन्तकः पूषा। [गो.उ.१.२, श.ब्रा.ब्रा.१.७.४.७]
इति च ब्राह्मणम्।
दनो विश इन्द्र मृध्रवाचः। [ऋ.१.१७४.२]
दानमनसो नो मनुष्यानिन्द्र मृदुवाचः कुरु।

इस मन्त्र का ऋषि वामदेव है। इसका तात्पर्य है कि इस छन्द रश्मि की उत्पत्ति प्राण नामक प्राण रश्मि से होती है। इसका देवता इन्द्र एवं छन्द विराडनुष्टुप् होने से इसके

दैवत व छान्दस प्रभाव से इन्द्रतत्त्व विविध रूप से तेजस्वी होने लगता है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(ते, आदुरे) 'आदुरिरादरणात्' सब ओर से चीर-फाड़ करने वाले अर्थात् बाधक पदार्थों अथवा विशाल मेघों को खण्ड-२ करने वाले इन्द्रतत्त्व को (देवः, अर्य्यमा) वायु रूपी देव अर्थात् विभिन्न प्राण व छन्दादि रश्मियाँ, जो इन्द्रादि पदार्थों को नियन्त्रित करती हैं (ददातु, वामम्, वामम्) 'वामं वननीयं भवति' [वामम् = वसूनि वननीयानि (निरु.११.४६), प्राणा वै वामम् (श.ब्रा.७.४.२.३५), वामं हि पशवः (ऐ.ब्रा.५.६)] नाना प्रकार के संयोज्य एवं विभाज्य कणों को नाना प्रकार की क्रियाओं को सम्पन्न कराने के लिए उपयुक्त व श्रेष्ठ प्राण एवं छन्दादि रश्मियाँ प्रदान करती हैं। इसका अर्थ यह है कि नाना प्रकार की संयोग एवं वियोग प्रक्रियाओं के समय विभिन्न प्रकार के कण वायुतत्त्व से ही प्राण एवं छन्दादि रश्मियों के रूप में ऊर्जा प्राप्त करते हैं।

(करूळती, वामम्, देवः) 'तत्कः करूळती' उन श्रेष्ठ पदार्थों, जिन्हें इन्द्रतत्त्व एवं वायु तत्त्व ग्रहण करते हैं, में से करूळती किसको कहा जाता है, ऐसा प्रश्न ग्रन्थकार ने यहाँ उठाया है। करूळती का तात्पर्य हम पूर्व खण्ड में स्पष्ट कर चुके हैं कि जिस पदार्थ की छेदन आदि शक्तियाँ दुर्बल हो गयी हों, उसे करूळती कहा गया है।

(वामम्, भगः) 'भगः पुरस्तात्तस्यान्वादेश इत्येकम्' [भगः = यज्ञो भगः (श.ब्रा.६.३.१.१९), भगः पण्यमानः सोमः] कुछ आचार्यों के मत में दीप्तिमान् एवं संयोज्य सोम रश्मियाँ ही करूळती कहलाती हैं अर्थात् वे रश्मियाँ दीप्तियुक्त होती हुई भी भेदक शक्ति सम्पन्न नहीं होती। इन आचार्यों का कथन यह है कि 'भगः' पद 'करूळती' पद से पूर्व आया है, इसलिए करूळती पद भगः पद का अन्वादेश अर्थात् बाद में आया हुआ विशेषण रूप है।

(वामम्, पूषा) 'पूषेत्यपरम् सोऽदन्तकः अदन्तकः पूषा इति च ब्राह्मणम्' [पूषा = अन्नं वै पूषा (तै.सं.२.१.६.१), प्रजननं वै पूषा (मै.सं.४.७.८)] अन्य आचार्यों के मत में करूळती पद पूषा का विशेषण है। इसका अर्थ यह है कि इन आचार्यों के मत में जो कण आदि पदार्थ किसी अन्य कण आदि पदार्थ के द्वारा अवशोषित व संयुक्त कर लिए जाते हैं एवं उस अवशोषण व संयोजन की जो क्रिया होती है, वह तीक्ष्ण अथवा विक्षोभजनक नहीं होती है। ये आचार्य अपने मत की पुष्टि के लिए ब्राह्मण ग्रन्थों के उपर्युक्त वचन को

प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि पूषा अदन्तक है अर्थात् छेदन और भेदन-शक्ति से रहित है।

भावार्थ— बड़े-२ पदार्थों को नष्ट-भ्रष्ट करने वाले इन्द्र तत्त्व को विभिन्न प्राण एवं छन्द रश्मियाँ नियन्त्रित करती हैं। जब दो कणों का परस्पर संयोग होता है, तब वायुतत्त्व में से विभिन्न प्रकार की रश्मियाँ प्रकट होकर उन कणों को अपेक्षित ऊर्जा प्रदान करती हैं। जो कणादि पदार्थ किसी अन्य कणादि पदार्थ के द्वारा अवशोषित व संयुक्त कर लिये जाते हैं, उस अवशोषण व संयोजन की प्रक्रिया विक्षोभजनक नहीं होती है।

यहाँ ग्रन्थकार दोनों पक्षों के आचार्यों को तो उद्धृत करते हैं, परन्तु स्वयं अपना मत प्रस्तुत नहीं करते हैं। इससे स्पष्ट होता है कि वे दोनों मतों को स्वीकार करते हैं और हमें भी ये दोनों मत स्वीकार्य हैं, क्योंकि भेदक बलों के सक्रिय रहते कभी भी संयोग प्रक्रिया सम्पन्न नहीं हो सकती।

अब २७०वें पद 'दनः' का निर्वचन प्रस्तुत करते हुए लिखते हैं— 'दनो विश इन्द्र मृध्रवाचः'। इस मन्त्र का देवता इन्द्र और छन्द भुरिक् पंक्ति होने से इन्द्रतत्त्व अपने बाहुरूप बलों के साथ परिपक्व एवं विस्तृत होने लगता है। इसका ऋषि अगस्त्य है। इसका तात्पर्य है कि इस छन्द रश्मि की उत्पत्ति एक ऐसी सूक्ष्म रश्मि, जिस पर किन्हीं बाधक रश्मियों का प्रभाव नहीं होता है अथवा जो बाधक रश्मियों के प्रभाव से मुक्त हो गयी है, से होती है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(इन्द्र) 'इन्द्र' वह इन्द्रतत्त्व (दनः, विशः) 'दानमनसो नो मनुष्यान्' उन मनुष्य नामक कणों, जो किन्हीं अन्य कणों को अपनी अवयवरूप रश्मियाँ प्रदान करके उनसे संयुक्त होना चाहते हैं, साथ ही जो अगस्त्य नामक ऋषि रश्मियों से समृद्ध वा युक्त होते हैं, उन्हें (मृध्रवाचः) 'मृदुवाचः कुरु' मृदु वाक् रश्मियों से युक्त करता है अर्थात् उनकी तीक्ष्ण रश्मियों को कुछ दुर्बल बनाकर मृदु एवं संयोजक रूप प्रदान करता है।

अवीरामिव मामयं शरारुरभि मन्यते॥ [ऋ.१०.८६.९]

अबलामिव मामयं बालोऽभिमन्यते संशिशरिषुः।
इदंयुः, इदं कामयमानः। अथापि तद्वदर्थे भाष्यते।
वसूयुरिन्द्रः। वसुमान् इति अत्र अर्थः।

अश्वयुर्गव्यू रथयुर्वसूयुरिन्द्रः। [ऋ.१.५१.१४]
इत्यपि निगमो भवति॥ ३१ ॥

यह मन्त्र २७१वें पद 'शरारुः' के निगम के रूप में प्रस्तुत किया है— 'अवीरामिव मामयं शरारुरभि मन्यते'। इस मन्त्र का ऋषि वृषाकपिरैन्द्र इन्द्राणीश्च है। इसका अर्थ यह है कि इस छन्द रश्मि की उत्पत्ति सूत्रात्मा वायु के एक विशेष तीक्ष्ण रूप से होती है। इसकी स्पष्टता 'वेदविज्ञान-आलोकः' ५.१५.१ में दर्शनीय है। इस मन्त्र का देवता इन्द्र तथा छन्द निचृत् पंक्ति होने से इन्द्रतत्त्व तीक्ष्णतापूर्वक परिपक्व व विस्तृत होने लगता है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(शरारुः) 'संशिशरिषुः' तीक्ष्ण प्रहार करने को उद्यत (माम्, अयम्) 'मामयम्' यह इन्द्र तत्त्व अर्थात् निकटवर्ती प्रत्यक्ष इन्द्रतत्त्व इस छन्द रश्मि की कारणभूत ऋषि रश्मियों को (अवीराम्, इव) 'अबलामिव' निर्बल होने की स्थिति में अर्थात् [वीरः = प्राणा वै दशवीराः (श.ब्रा.१२.८.१.२२), अत्ता हि वीरः (श.ब्रा.४.२.१.९)] सूत्रात्मा वायु के उपर्युक्त स्वरूप की प्राण रश्मियों, जो अन्य रश्मियों को अपने अन्दर अवशोषित वा संयुक्त करने में सहयोग करती हैं, से विहीन होने की स्थिति में (अभि, मन्यते) 'बालोऽभिमन्यते' वह बलवान् इन्द्रतत्त्व किंवा वह सद्यः उत्पन्न इन्द्रतत्त्व सब ओर से चाहता हुआ प्रकाशित, सक्रिय वा बलवान् बनाता है।

तदनन्तर २७२वें पद 'इदंयुः' का निर्वचन करते हुए लिखते हैं— 'इदंयुः इदं कामयमानः अथापि तद्वदर्थे भाष्यते वसूयुरिन्द्रः वसुमान् इति अत्र अर्थः' अर्थात् इस प्रत्यक्ष पदार्थ की कामना करता हुआ अथवा उस पदार्थ को आकर्षित वा प्रकाशित करता हुआ पदार्थ 'इदंयुः' कहलाता है अथवा उससे युक्त के अर्थ में लोक में भी बोला जाता है। वेद में भी निम्नलिखित निगम में 'वसूयुरिन्द्रः' 'वसूमान्' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। यह निगम इस प्रकार उद्धृत किया गया है— 'अश्वयुर्गव्यू रथयुर्वसूयुरिन्द्रः'। इस मन्त्र का देवता इन्द्र और छन्द त्रिष्टुप् होने से इसके दैवत व छान्दस प्रभाव से इन्द्रतत्त्व तीक्ष्ण तेज व बल से युक्त होता है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(इन्द्रः) वह इन्द्रतत्त्व (अश्वयुः) अनेक प्रकार की आशुगामी तरंगों (गव्युः) अनेक वाक् रश्मियों एवं नाना प्रकार की आवेशित तरंगों (रथयुः) अनेक वज्ररूप तरंगों एवं (वसूयुः)

अनेक प्राणादि रश्मियों से युक्त होता है। इससे संकेत मिलता है कि तीक्ष्ण विद्युत् तरंगों के साथ अनेक प्रकार की तरंगों का मिश्रण होता है।

* * * * *

= द्वात्रिंशः खण्डः =

किं ते कृण्वन्ति कीकटेषु गावो नाशिरं दुह्रे न तपन्ति घर्मम्।
आ नो भर प्रमगन्दस्य वेदो नैचाशाखं मघवन् रन्धया नः॥

[ऋ.३.५३.१४]

किं ते कुर्वन्ति कीकटेषु गावः। कीकटा नाम देशोऽनार्यनिवासः।
कीकटाः किंकृताः। किं क्रियाभिरिति प्रेप्सा वा। नैव चाशिरं दुह्रे।
न तपन्ति घर्मं हर्म्यम्। आहर नः प्रमगन्दस्य धनानि। मगन्दः कुसीदी।
माङ्गदः। मामागमिष्यतीति च ददाति।
तदपत्यं प्रमगन्दोऽत्यन्तकुसीदिकुलीनः। प्रमदको वा।
योऽयमेवास्ति लोको न पर इति प्रेप्सुः। पण्डको वा। पण्डकः पण्डगः।
प्रार्दको वा। प्रार्दयत्याण्डौ। आण्डावाणी इव व्रीडयति तत् स्थम्।
नैचाशाखम्। नीचाशाखो नीचैः शाखः।
शाखाः शक्नोतेः। आणिः अरणात्। तं नो मघवन् रन्धयेति। रध्यतिर्वशगमने।
बुन्द इषुर्भवति। बिन्दो वा। भिन्दो वा। भयदो वा।
भासमानो द्रवतीति वा॥ ३२॥

अब २७३वें पद 'कीकटा' का निगम इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है—

किं ते कृण्वन्ति कीकटेषु गावो नाशिरं दुह्रे न तपन्ति घर्मम्।
आ नो भर प्रमगन्दस्य वेदो नैचाशाखं मघवन् रन्धया नः॥

इस मन्त्र का ऋषि विश्वामित्र है। हमारी दृष्टि में यहाँ विश्वामित्र का तात्पर्य उन

पंक्ति छन्द रश्मियों से है, जो तारों के केन्द्रीय भाग में रोहित संज्ञक छन्द रश्मियों का एक भाग होती हैं तथा जिनकी चर्चा वेदविज्ञान-आलोक: ७.१५.१ में की गई है। ऐसी पंक्ति छन्द रश्मियों से ही इस छन्द रश्मि की उत्पत्ति होती है। इसका देवता इन्द्र तथा छन्द त्रिष्टुप् होने से इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से इन्द्रतत्त्व तीव्र तेज और बल से युक्त होता है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(ते, गाव:, कीकटेषु, किम्, कृण्वन्ति) 'किं ते कुर्वन्ति कीकटेषु गाव: कीकटा नाम देशोऽनार्यनिवास: कीकटा: किंकृता: किं क्रियाभिरिति प्रेप्सा वा' यहाँ सर्वप्रथम हम 'कीकटा' पद पर विचार करते हैं— यहाँ ग्रन्थकार कीकटा उस स्थान का नाम बतलाते हैं, जहाँ अनार्य निवास करते हैं। आधिदैविक अर्थ, जो किसी भी वेदमन्त्र का प्रथम स्वाभाविक अर्थ होता है, में 'अनार्य:' पद का अर्थ वह नहीं हो सकता, जो लोक प्रचलित है। हम पूर्व में खण्ड ६.२६ में 'ईश्वर:' का अर्थ सूर्य एवं उसके पुत्र आर्य अर्थात् रक्षिका रूप विभिन्न प्राण व छन्दादि रश्मियों को सिद्ध कर चुके हैं। इस कारण अनार्य उन छन्दादि रश्मियों का नाम सिद्ध होता है, जो अपनी अनिष्ट वा अनियमित अथवा सूर्यादि लोकों के केन्द्र में होने वाली विभिन्न प्रक्रियाओं का भाग नहीं बन पाती हैं अथवा वे ऐसा करने के योग्य ही नहीं होती हैं। ऐसी स्थिति में 'कीकटा' उस क्षेत्र का नाम है, जिसमें ये छन्द रश्मियाँ विद्यमान होती हैं। ये कीकटा संज्ञक छन्दादि रश्मियाँ क्या करती हैं अथवा वे किसको धारण करती हैं और कौन सी क्रियाओं को करने हेतु उद्यत रहती हैं? [किम् = कायति शब्दयतीति किम् (उ.को.४.१५९) कु+डिमु। (आ.को.), कु = मधुमक्खी की भाँति भिनभिनाना (आ.को.)] ये छन्द रश्मियाँ ऐसी प्राण रश्मियों, जो किसी कण के आस-पास मक्खी की भाँति भिनभिनाती रहती हैं अर्थात् उनके आस-पास स्पन्दित होती रहती हैं और क्रमश: एक-एक करके उन कणों में आती-जाती रहती हैं, को धारण करती हैं और उन्हीं की क्रियाओं के प्रति आकृष्ट होती रहती हैं। 'वेदविज्ञान-आलोक:' ३.४७.३ एवं ४.२७.५ के अनुसार 'भू:', 'भुव:' एवं 'स्व:' अथवा कुछ अन्य मरुत् रश्मियाँ ही ऐसी प्राण रश्मियों के रूप में मानी गयी हैं।

(न, आशिरम्, दुह्रे) 'नैव चाशिरं दुह्रे' ऐसी उपर्युक्त प्राण व छन्दादि रश्मियाँ 'आशी:' संज्ञक उन प्राण व छन्दादि रश्मियों, जिनको खण्ड ६.८ में व्याख्यात किया गया है, को उत्पन्न वा परिपूर्ण नहीं करती हैं। इस कारण कीकटा संज्ञक क्षेत्र की रश्मियाँ अन्य रश्मियों

को न तो आश्रय दे पाती हैं और न उन्हें परिपक्व वा सक्रिय बना पाती हैं। (न, तपन्ति, घर्मम्) 'न तपन्ति घर्मं हर्म्यम्' [हर्म्यम् = गृहनाम (निघं.३.४)। घर्मः = अहर्नाम (निघं. १.९), आदित्यो वै घर्मः (श.ब्रा.११.६.२.२)] इस कारण उस क्षेत्र के तापमान में विशेष वृद्धि नहीं हो पाती और सूर्य्यादि लोकों के केन्द्रों का निर्माण नहीं हो पाता। यहाँ 'हर्म्यम्' पद भी उसी कीकटा संज्ञक क्षेत्र के लिए प्रयुक्त है। पर्याप्त तापमान न होने से वह क्षेत्र सूर्यलोकों, विशेषकर उनके केन्द्रों का भाग नहीं बन पाता। इसके साथ ही वे क्षेत्र गृह अर्थात् तीव्र आकर्षणयुक्त नहीं हो पाते और इस कारण वे पदार्थ को संघनित नहीं कर पाते।

(नः, आ, भर, प्रमगन्दस्य, वेदः) 'आहर नः प्रमगन्दस्य धनानि मगन्दः कुसीदी माङ्गदः मामागमिष्यतीति च ददाति तदपत्यं प्रमगन्दोऽत्यन्तकुसीदिकुलीनः प्रमदको वा योऽयमे-वास्ति लोको न पर इति प्रेप्सुः पण्डको वा पण्डकः पण्डगः प्रार्दको वा प्रार्दयत्याण्डौ' वे सूर्य्यादि लोक किंवा उनके केन्द्रीय भाग 'प्रमगन्द' नामक पदार्थ से नाना कणादि पदार्थों को सब ओर से अपनी ओर आकृष्ट करते हैं। यहाँ 'प्रमगन्द' नामक पदार्थ पर विचार करते हैं—

यहाँ कुसीदी को मगन्द कहा गया है तथा खण्ड ६.२६ में अन्तरिक्ष में यत्र-तत्र भ्रमण करते हुए छोटे-२ मेघों को कुसीदी कहा है, जो एक-दूसरे के साथ मिश्रित होते रहते हैं। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि इन लोकों के केन्द्रीय भाग के बाहर अथवा सूर्यतल के बाहर अनेक लघु मेघ रूप पदार्थ भटकते रहते हैं। वे परस्पर मिलते-बिछुड़ते रहते हैं और यह प्रक्रिया सतत चलती रहती है। ऐसे मेघों से उत्पन्न पदार्थ ही प्रमगन्द कहे गए हैं। ये पदार्थ तीव्रतापूर्वक उत्तेजित होते रहने के उपरान्त भी अपने क्षेत्र में ही बने रहते हैं। इससे संकेत मिलता है कि ये क्षेत्र सूर्य्यादि लोकों में इस प्रकार प्रतीत होते हैं, मानो उन क्षेत्रों में पदार्थ उबल रहा हो। इस पदार्थ को पण्डग भी कहा है। भाष्यकारों ने इस पद का अर्थ नपुंसक किया है। ऋषि दयानन्द ने उणादि-कोष भाष्य में लिखा है— 'पणायति व्यवहरति स्तौति वा स पण्डः नपुंसकः' (उ.को.१.११४)।

इससे ऐसा सिद्ध होता है कि उस क्षेत्र में पदार्थ में नाना प्रकार की हलचल होती है, विक्षोभ होता रहता है, प्रकाशशीलता भी होती है, परन्तु उसमें विभिन्न प्रकार के कण आदि पदार्थों की उत्पत्ति नहीं होती है और न हो ही सकती है। इस कारण ही इन्हें

'पण्डक:' वा 'पण्डग:' कहा गया है। इससे एक संकेत यह भी मिलता है कि ब्रह्माण्ड में कुछ लोक ऐसे भी होते हैं, जहाँ नाभिकीय संलयन की क्रिया नहीं होती है, परन्तु वे तप्त अवश्य होते हैं तथा उनमें गर्म लावा जैसा पदार्थ उबलता रहता है। ऐसे पदार्थ वा उस पदार्थ से भरे क्षेत्र को प्रार्दक भी कहा है, जो आण्ड अर्थात् गर्भों को अत्यन्त पीड़ित करते हैं। इससे ऐसा संकेत मिलता है कि इन क्षेत्रों में पदार्थ का विक्षोभ ऐसा होता है कि वहाँ नाभिकीय संलयन के केन्द्र बनने से पूर्व ही अथवा बनते-२ नष्ट होते रहते हैं।

इसको स्पष्ट करते हुए ग्रन्थकार का कथन है— 'आण्डावाणी इव व्रीडयति तत् स्थम्'। 'आणी:' के विषय में ग्रन्थकार का कथन है— आणि: अरणात् (निरु.६.३२), आणौ संग्रामनाम' (निघं.२.१७) [व्रीड् = फेंकना, डालना, भेज देना (आ.को.)] अर्थात् जब-जब उन क्षेत्रों में केन्द्र बनने की प्रक्रिया के फलस्वरूप विभिन्न कण आदि पदार्थ परस्पर संघर्षण एवं संगमन के लिए गतिशील होने लगते हैं अर्थात् यह प्रक्रिया प्रारम्भ होने लगती है, तब ऐसी स्थिति में वे उपर्युक्त क्षेत्र, जिन्हें कीकटा कहा गया है, संगमन करते हुए उन पदार्थों को दूर फेंक देते हैं अर्थात् उन्हें निरन्तर उबलते रहने जैसे बनाने के लिए प्रेरित करते हैं। यहाँ यह प्रश्न उठता है कि 'आण्डव' इस द्विवचनान्त पद का प्रयोग क्यों किया गया है? इसके उत्तर में हमारा मत यह है कि लोकों के केन्द्र के निर्माण की प्रक्रिया के समय उस निर्माणाधीन केन्द्रीय भाग में स्त्री-पुरुष संज्ञक अथवा धनावेशित एवं ऋणावेशित दो विपरीत गुणों वाले पदार्थों की विशाल मात्रा पृथक्-२ एकत्र होने लगती है। इसलिए इस दोनों ही मात्राओं के क्षेत्र को अथवा दोनों ही मात्राओं के समुदाय को पृथक्-२ 'अण्ड' माना गया है। इस कारण ही इस द्विवचनान्त पद का प्रयोग हुआ है। यहाँ 'वेद:' पद का अर्थ ग्रन्थकार ने धन ग्रहण किया है एवं हम 'धनम्' पद से विभिन्न कण आदि पदार्थों के साथ-२ विभिन्न छन्द रश्मियाँ भी ग्रहण कर सकते हैं।

(मघवन्) 'मघवन्' वह सूर्यलोक अथवा उसके अन्दर व्याप्त इन्द्रतत्त्व (न:) इस छन्द रश्मि की कारणभूत पंक्ति रश्मियों को (नैचाशाखम्, रन्धय) 'नैचाशाखम् नीचाशाखो नीचै: शाख: शाखा: शक्नोते: रन्धयेति रध्यतिर्वशगमने' निम्नस्तर की अर्थात् दुर्बल शक्ति से मुक्त करके शुद्ध शक्ति से युक्त करता है, जिससे निर्माणाधीन केन्द्रों के बनने की प्रक्रिया सुगम वा नियन्त्रित ढंग से होने लगती है। इस प्रकार जिन तेजस्वी लोको में अग्नि के विशाल लावा की तरह उबलता हुआ विशाल मात्रा में पदार्थ तारे का रूप लेने लगता है

अर्थात् उसके केन्द्र में नाभिकीय संलयन की क्रिया प्रारम्भ होने लगती है और उसका कीकटा वाला स्वरूप नष्ट होने लगता है। उधर तारे के अन्दर इस प्रकार के क्षेत्रों में ऐसा नहीं होता, परन्तु वे क्षेत्र नियन्त्रित अवश्य बने रहते हैं।

भावार्थ— सूर्यादि लोकों के अन्दर कुछ छन्द रश्मियाँ अपनी अनिष्ट और अनियमित गतियों के द्वारा सूर्यादि लोकों के केन्द्र में होने वाली विभिन्न क्रियाओं का भाग नहीं बन पाती हैं। ऐसी वे छन्द रश्मियाँ उन प्राण रश्मियों को धारण करने में सहायक होती हैं, जो विभिन्न कणों के आसपास मक्खी की भाँति भिनभिनाती रहती हैं अर्थात् स्पन्दित होती रहती हैं। इन रश्मियों के क्षेत्रों में तापमान बहुत अधिक नहीं बढ़ पाता, जिसके कारण पदार्थ का संलयन भी नहीं हो पाता। ऐसे क्षेत्र केन्द्रीय भागों से विभिन्न पदार्थों को अपनी ओर आकृष्ट अवश्य करते रहते हैं। सूर्यादि लोकों में अनेक मेघरूप पदार्थ परस्पर एक-दूसरे से मिलते और बिछुड़ते रहते हैं। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि जैसे सम्पूर्ण सूर्यलोक उबल रहा हो। इस क्षेत्र में विक्षोभ एवं प्रकाशशीलता दोनों ही होते रहते हैं, परन्तु वहाँ कणों की उत्पत्ति नहीं होती। इस ब्रह्माण्ड में कुछ लोक ऐसे भी होते हैं, जो गर्म तो अवश्य होते हैं, परन्तु उनमें नाभिकीय संलयन की क्रिया नहीं होती। इनके अन्दर विद्यमान मेघ निरन्तर बनते-बिगड़ते अथवा स्थानान्तरित होते रहते हैं। जहाँ नाभिकीय संलयन की क्रिया होती है, वहाँ पदार्थ के उबलने जैसी क्रिया बंद हो जाती है।

ऋषि दयानन्द ने इस मन्त्र का आधिभौतिक भाष्य किया है, जो यहाँ उद्धृत किया जा रहा है—

"**पदार्थः** — (किम्) (ते) तव (कृण्वन्ति) (कीकटेषु) अनार्य्यदेशनिवासिषु म्लेच्छेषु (गावः) धेनूः (न) (आशिरम्) यदस्य ते तत् क्षीरादिकम् (दुह्रे) दुहन्ति (न) (तपन्ति) (घर्मम्) दिनम्। घर्म इत्यहर्ना.। निघं.१.९। (आ) समन्तात् (नः) अस्मभ्यम् (भर) धर (प्रमगन्दस्य) यः कुलीनो मां गच्छति स तस्य (वेदः) धनम् (नैचाशाखम्) नीचा शाखा शक्तिर्यस्मिँस्तम् (मघवन्) पूजितधनयुक्त (रन्धय) निवारय (नः) अस्माकम्।

भावार्थः — अत्रोपमालङ्कारः। यथा म्लेच्छेषु गावो न वर्द्धन्ते नास्तिकेषु धर्मादयो गुणाश्च, तथैव विद्वत्स्वनीश्वरवादिनः प्रबला न जायन्ते तस्माद्विद्वद्भिर्मनुष्येषु नास्तिकत्वं सर्वथा निवारणीयम्।

पदार्थ— हे विद्वान्! (ते) आप के (कीकटेषु) अनार्य देशों में बसने वालों में (गावः) गावों से (न) नहीं (आशिरम्) दुग्ध आदि को (दुह्रे) दुहते हैं (घर्मम्) दिन को (न) नहीं (तपन्ति) तपाते हैं, वे (किम्) क्या (कृण्वन्ति) करते वा करेंगे और आप (नः) हम लोगों के लिये (प्रमगन्दस्य) जो कुलीन मुझ को प्राप्त होता है, उस के (वेदः) धन को (आ) सब प्रकार से (भर) धारण करिये और हे (मघवन्) श्रेष्ठ धन से युक्त! आप (नः) हम लोगों के (नैचाशाखम्) नीची शक्ति जिस में उस की (रन्धय) निवृत्ति करो।

भावार्थ— इस मन्त्र में उपमालङ्कार है। जैसे म्लेच्छ जनों में गौओं की, नास्तिक पुरुषों में धर्म आदि गुणों की वृद्धि नहीं होती और वैसे ही विद्वानों में ईश्वर को नहीं मानने वाले प्रबल न होवें इससे चाहिये कि मनुष्यों में नास्तिकत्व का सर्वथा वारण करे।''

तदनन्तर २७४वें पद 'बुन्दः' का निर्वचन करते हुए लिखते हैं— 'बुन्द इषुर्भवति बिन्दो वा भिन्दो वा भयदो वा भासमानो द्रवतीति वा' अर्थात् बुन्द इषु को कहते हैं और इषु के विषय में महर्षि याज्ञवल्क्य का कथन है— 'इषवो वै दिद्यवः' (श.ब्रा.५.४.२.२)। [इषुरीषतेर्गतिकर्मणो वधकर्मणो वा (निरु.९.१८)] अर्थात् ऐसी तीक्ष्ण रश्मियाँ, जो अत्यन्त छेदक और भेदक क्षमता से युक्त होती हैं, उन्हें बुन्द कहा जाता है। इनको बिन्द एवं भिन्द भी इसी कारण कहा जाता है, क्योंकि ये रश्मियाँ अन्य पदार्थों पर प्रहार करके उन्हें खण्ड-२ करने में समर्थ होती हैं। वे रश्मियाँ अन्य पदार्थों पर तीव्र प्रहार करके उन्हें कम्पायमान कर देती हैं और उनकी ऊर्जा को बढ़ा करके उन्हें प्रदीप्त करने के साथ-२ गतिमान् भी कर देती हैं अथवा उनकी गति में वृद्धि कर देती हैं। इधर ये इषु संज्ञक रश्मियाँ भी स्वयं तेज से चमकती हुई और वायु की भाँति बहती हुई गमन करती हैं, इस कारण इन्हें बुन्द कहते हैं।

इस पद का निगम अगले खण्ड में प्रस्तुत है।

* * * * *

= त्रयस्त्रिंशः खण्डः =

तुविक्षं ते सुकृतं सूमयं धनुः साधुर्बुन्दो हिरण्ययः।
उभा ते बाहू रण्या सुसंस्कृत ऋदूपे चिदृदूवृधा॥ [ऋ.८.७७.११]
तुविक्षं बहुविक्षेपं महाविक्षेपं वा। ते सुकृतं सूमयं सुसुखं धनुः।
साधयिता ते बुन्दो हिरण्मयः। उभौ ते बाहू रण्यौ रमणीयौ साङ्ग्राम्यौ वा।
ऋदूपे अर्दनपातिनौ गमनपातिनौ शब्दपातिनौ दूरपातिनौ वा।
मर्मण्यर्दनवेधिनौ। गमनवेधिनौ शब्दवेधिनौ दूरवेधिनौ वा॥ ३३॥

इस मन्त्र का ऋषि कुरूसुतिः काण्वः है। इसका अर्थ यह है कि इस छन्द रश्मि की उत्पत्ति विभिन्न रश्मियों को प्रेरित, सक्रिय वा उत्पन्न करने वाली सूत्रात्मा वायु से होती है। इसका देवता इन्द्र एवं छन्द निचृत् पंक्ति होने से इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से इन्द्रतत्त्व तीक्ष्णतापूर्वक परिपक्व और विस्तृत होने लगता है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(ते) 'ते' इन्द्रतत्त्व का (तुविक्षम्) 'तुविक्षं बहुविक्षेपं महाविक्षेपं वा' पदार्थों को विविध प्रकार से एवं बार-२ प्रक्षिप्त करने वाला, बहुत दूर-२ तक फेंकने वाला (सुकृतम्, सूमयम्, धनुः) 'सुकृतं सूमयं सुसुखं धनुः' अपने कार्यों को अच्छी प्रकार करने वाला एवं अपनी शक्ति को अच्छी प्रकार धारण करने वाला, उत्तम सुख वाला [सुखम् = सुखं कस्मात् सुहितं खेभ्यः खं पुनः खनतेः (निरु.३.१३), सुखम् उदकनाम (निघं.१.१२)। धनुः = वार्त्रघ्नं वै धनुः (श.ब्रा.५.३.५.२७), वज्रो वै धनुः (मै.सं.४.४०३), धन्वतेर्गति-कर्मणः वधकर्मणो वा धन्वन्त्यस्मात् इषवः (निरु.९.१६)] अर्थात् उत्तम रीति से खम् अर्थात् आकाशतत्त्व को धारण करके तीव्रतापूर्वक गति करता हुआ एवं असुरादि बाधक एवं आच्छादक पदार्थों को नष्ट करने वाली तरंगों से युक्त होता है अर्थात् उसकी तरंगें इन तीक्ष्ण गुणों से युक्त होती हैं। (साधुः, बुन्दः, हिरण्ययः) 'साधयिता ते बुन्दो हिरण्मयः' उस इन्द्रतत्त्व की वे तरंगें सुवर्ण के समान तेजयुक्त एवं छेदन और भेदन बलों से सम्पन्न असुरादि पदार्थों को नष्ट करने जैसे कर्मों को कुशलता से सम्पन्न करने वाली होती हैं।

(उभा, ते, बाहू) 'उभौ ते बाहू' उस इन्द्रतत्त्व के दोनों बाहुरूप बल अर्थात् आकर्षण,

प्रक्षेपण व प्रतिकर्षण बल (रण्या, सुसंस्कृत) 'रण्यौ रमणीयौ साङ्ग्राम्यौ वा' संघात व संघर्षण करने वाले विभिन्न पदार्थों को सुन्दरतापूर्वक रमण कराने अर्थात् क्रियाशील कराने एवं विभिन्न पदार्थों का संघात कराने में सक्षम होते हैं।

(ऋदूपे, चित्, ऋदूवृधा) 'ऋदूपे अर्दनपातिनौ गमनपातिनौ शब्दपातिनौ दूरपातिनौ वा मर्मण्यर्दनवेधिनौ गमनवेधिनौ शब्दवेधिनौ दूरवेधिनौ वा' इन्द्र के वे दोनों बाहुरूप बल हिंसक व बाधक पदार्थों को नष्ट व छिन्न-भिन्न करके गिराते, उनके ऊपर वेगपूर्वक प्रहार करके उन्हें अपने कार्यों से पतित करते, तीव्र घोष उत्पन्न करके दूर-२ तक फेंकने में समर्थ होते हैं। वे दोनों प्रकार के बल असुरादि पदार्थों अथवा कॉस्मिक मेघों की कमजोर सन्धियों पर हिंसक प्रहार करते, उनकी गति पर प्रहार करके उनकी ऊर्जा को कम करते, अपनी तीव्र ध्वनि तरंगों के दूरगामी प्रहार के द्वारा उनको नष्ट व नियन्त्रित करने में सक्षम होते हैं। यहाँ तीक्ष्ण विद्युत् तरंगों की अनेक प्रकार की मारक शक्तियों का सुन्दर वर्णन किया गया है।

भावार्थ— इन्द्र नामक तीक्ष्ण विद्युत् अपने अतीव बल के कारण पदार्थों को दूर-२ तक फेंकने, आकाशतत्त्व को धारण करने और बाधक पदार्थों को नष्ट करने वाली होती है। ये तीक्ष्ण विद्युत् तरंगें सुवर्ण के समान दीप्ति उत्पन्न करती हैं। इसके बल नाना प्रकार के पदार्थों को परस्पर संयुक्त करने में सक्षम होते हैं। साथ ही वह इन्द्र तत्त्व विशाल खगोलीय मेघों अथवा आसुर मेघों की सन्धियों पर प्रहार करके उन्हें निर्बल बनाकर छिन्न-भिन्न कर देता है।

* * * * *

चतुस्त्रिंशः खण्डः

निराविध्यद् गिरिभ्य आ धारयत्पक्वमोदनम्।
इन्द्रो बुन्दं स्वाततम्॥ [ऋ.८.७७.६]
निराविध्यद् गिरिभ्यः। आधारयत्पक्वमोदनम्। उदकदानं मेघम्।
इन्द्रो बुन्दं स्वाततम्।

वृन्दं बुन्देन व्याख्यातम्। [निरु.६.३२]। वृन्दारकश्च॥ ३४॥

यहाँ यह मन्त्र 'बुन्दः' पद का ही दूसरा निगम है। इस मन्त्र का ऋषि और उसका अर्थ पूर्वोक्त समझें। इसका देवता इन्द्र और छन्द निचृद् गायत्री होने से इन्द्रतत्त्व तीव्र श्वेतवर्णीय तेजयुक्त होता है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(इन्द्रः) 'इन्द्रः' वह इन्द्रतत्त्व (बुन्दम्, स्वाततम्) 'बुन्दं स्वाततम्' अपनी पूर्वोक्त बल रश्मियों को अच्छी प्रकार दूर-२ तक फैलाता है एवं उन्हें बलपूर्वक प्रक्षिप्त करता है और ऐसा करके (गिरिभ्यः, पक्वम्, ओदनम्) 'गिरिभ्यः पक्वमोदनम् उदकदानं मेघम्' [ओदनः = रेतो वा ओदनः (तै.ब्रा.३.८.२.४; श.ब्रा.१३.१.१.४)] विभिन्न प्रकार के कॉस्मिक मेघों में से जो मेघ परिपक्व होकर नाना प्रकार की उत्पादन क्षमता से युक्त रश्मि व कण आदि पदार्थों से युक्त होते हैं तथा वे उन पदार्थों का अन्य पदार्थों के ऊपर सिञ्चन करने में भी समर्थ होते हैं, ऐसे मेघों को (आधारयत्) 'आधारयत्' सब ओर से धारण करता है। (निराविध्यत्) 'निराविध्यत्' ऐसा करने के लिए वह इन्द्रतत्त्व विशाल कॉस्मिक मेघों पर तीक्ष्ण रूप से प्रहार करता है और उपर्युक्त ओदन रूप मेघों को उन विशाल मेघों से निकालकर बाहर कर देता है।

अब २७४ एवं २७५वें पदों 'वृन्दः' एवं 'वृन्दारकः' का निर्वचन करते हुए लिखते हैं— 'वृन्दं बुन्देन व्याख्यातम् वृन्दारकश्च' अर्थात् 'वृन्दम्' पद का अर्थ 'बुन्दः' के समान समझना चाहिए और वृन्दारक पद का भी यही निर्वचन जानना चाहिए। इसे पूर्व खण्ड ६.३२ में देखें।

* * * * *

पञ्चत्रिंशः खण्डः

अयं यो होता किरु स यमस्य कमप्यूहे यत्समञ्जन्ति देवाः।
अहरहर्जायते मासि मास्यथा देवा दधिरे हव्यवाहम्॥ [ऋ.१०.५२.३]
अयं यो होता कर्ता स यमस्य। कमपि ऊहे। अन्नमभिवहति।

यत्समश्नुवन्ति देवाः। अहरहर्जायते। मासे मासे। अर्धमासे अर्धमासे वा। अथ देवा निदधिरे हव्यवाहम्। उल्बम्। ऊर्णोतेः। वृणोतेर्वा। महत्तदुल्बं स्थविरं तदासीत्। [ऋ.१०.५१.१] इत्यपि निगमो भवति। ऋबीसम् अपगतभासम्। अपहृतभासम्। अन्तर्हितभासम्। गतभासं वा॥ ३५॥

अब २७६वें पद 'किः' का निगम इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है—

अयं यो होता किरु स यमस्य कमप्यूहे यत्समञ्जन्ति देवाः।
अहरहर्जायते मासि मास्यथा देवा दधिरे हव्यवाहम्॥

इस मन्त्र का ऋषि सौचीक अग्नि है। इसका तात्पर्य यह है कि इस छन्द रश्मि की उत्पत्ति उस समय होती है, जब ऊष्मा की मात्रा इतनी होती है कि विभिन्न कण परस्पर संयुक्त होने लगें, तब निश्चित ही इसकी उत्पत्ति सूत्रात्मा वायु एवं प्राण-अपान तथा व्यान के सम्मिश्रण से मानी जा सकती है। इसका देवता विश्वेदेवा तथा छन्द निचृत् त्रिष्टुप् होने से इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से सभी प्रकार के कण आदि पदार्थ तीव्र तेज और बल से युक्त होने लगते हैं। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(अयम्, यः, होता) 'अयं यो होता' यः अर्थात् बन्धन गुणों से युक्त अग्नि एवं उपर्युक्त ऋषि रश्मियाँ, जो इस सृष्टि की रचना एवं संचालन में होता की भूमिका निभाती हैं। इसका अर्थ यह है कि प्रत्येक संयोग और वियोग की प्रक्रिया का कारण ये रश्मियाँ और अग्नि ही है। (किः, उ, सः, यमस्य) 'कर्ता स यमस्य' [यमः = एष वै यमो य एष (सूर्यः) तपति (श.ब्रा.१४.१.३.४), अयं वै यमो योऽयं (वायुः) पवते (श.ब्रा.१४.२.२.११)] वे उपर्युक्त ऋषि रश्मियाँ वायुतत्त्व एवं सूर्यादि लोकों दोनों को ही उत्पन्न करने में प्रमुख कारण रूप होती हैं। इसके साथ ही वे इन दोनों को ही धारण करने में समर्थ होती हैं। इसके साथ ही वे ऋषि रश्मियाँ स्वयं भी इस सम्पूर्ण सृष्टि में यम रूप अर्थात् नियन्त्रण करने वाली होकर विचरती हैं। (कम्, अपि, ऊहे) 'कमपि ऊहे अन्नमभिवहति' वे ऋषि रश्मियाँ ही विभिन्न संयोज्य कण आदि पदार्थों को उठाकर ले जाती रहती हैं, जिसके कारण विभिन्न कणों का संगमन होता रहता है। इसी संगमन के कारण ही सृष्टि के सभी पदार्थों की उत्पत्ति होती है। (यत्, समञ्जन्ति, देवाः) 'यत्समश्नुवन्ति देवाः' उन ऋषि

रश्मियों को सभी प्रकाशित कण आदि पदार्थ अपने अन्दर अवशोषित करते रहते हैं अथवा सभी संयोज्य कण आदि पदार्थों में विभिन्न देव पदार्थ अर्थात् प्राण व छन्दादि रश्मियाँ एवं प्रकाश आदि तरंगें व्याप्त होती रहती हैं।

(अहः, अहः, जायते, मासि, मासि) 'अहरहर्जायते मासे मासे अर्धमासे अर्धमासे वा' [अहः = अहः स्वर्गः (श.ब्रा.१३.२.१.६), अहनी अहोरात्रे (निरु.३.२२), अग्निर्वाऽअहः सोमो रात्रिः (श.ब्रा.३.४.४.१५), अहर्वै स्वर्गो लोकः (ऐ.ब्रा.५.२४), अहरेव सविता (गो.पू.१.३३)] इन्हीं ऋषि रश्मियों के कारण अग्नि और सोम का युग्म, सूर्यादि लोक, विद्युत् एवं अग्नि आदि पदार्थ उत्पन्न होते हैं। इसके साथ ही सूर्यादि लोकों के अन्दर उनके केन्द्रीय भाग तथा अन्य भागों में नाना प्रकार के कण और तरंगाणु निरन्तर उत्पन्न होते रहते हैं। इन सभी प्रक्रियाओं में मास एवं अर्धमास नामक संधानक रश्मियों की विद्यमानता में उनके अन्दर प्राण एवं अपान रश्मियाँ निरन्तर स्पन्दित होती रहती हैं। ऊष्मा की उत्पत्ति प्रक्रिया में भी इन रश्मियों की अनिवार्य भूमिका होती है। (अथा = अथ, देवाः, हव्यवाहम्, दधिरे) 'अथ देवा निदधिरे हव्यवाहम्' विभिन्न देव पदार्थ संयोज्य पदार्थों को वहन करने वाली इन ऋषि रश्मियों को धारण करते हैं अथवा विभिन्न प्राण एवं छन्द आदि रश्मियाँ इन ऋषि रश्मियों को अपने साथ धारण करती हैं।

तदनन्तर २७७वें पद 'उल्बम्' का निर्वचन करते हुए लिखा है— 'उल्बम् ऊर्णोतेः वृणोतेर्वा' अर्थात् जो पदार्थ अन्य पदार्थों को आकर्षित करके आच्छादित करता है, उस पदार्थ को 'उल्ब' कहते हैं। इसका निगम इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है— 'महत्तदुल्बं स्थविरं तदासीत्'। इस मन्त्र का ऋषि देवाः है। इसका तात्पर्य यह है कि इस छन्द रश्मि की उत्पत्ति विभिन्न प्राण रश्मियों से होती है। इसका देवता सौचीक अग्नि एवं छन्द निचृत् त्रिष्टुप् होने से पूर्वोक्त अग्नितत्त्व एवं ऋषि रश्मियाँ तीक्ष्ण तेज और बल से युक्त होती हैं। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(तत्, उल्बम्) [उल्बम् = उल्बम् ऊषाः (श.ब्रा.७.१.१.८), ऊषा = प्रजननं यदूषाः (तै.सं.५.२.३.२), पशव ऽऊषाः (श.ब्रा.७.१.१.६)] विभिन्न छन्द एवं प्राण रश्मियों का आवरण रूप वह उपर्युक्त सौचीक अग्नि (महत्, स्थविरम्, तत्, आसीत्) निरन्तर व्यापक और वर्धमान होता चला जाता है। इसका तात्पर्य यह है कि उपर्युक्त ऋषि रश्मियों का आवरण आकाशतत्त्व से लेकर विशाल लोक-लोकान्तर तक सर्वत्र व्याप्त होकर कार्य

करता है। कोई भी रचना इस आवरण के बिना सम्भव नहीं है।

अब २७८वें पद 'ऋबीसम्' का निर्वचन करते हुए लिखते हैं— 'ऋबीसम् अपगतभासम् अपह्वतभासम् अन्तर्हितभासम् गतभासं वा' अर्थात् जिस पदार्थ से प्रकाश उत्सर्जित होकर दूर चला गया हो, जिस पदार्थ के प्रकाश को किसी अन्य पदार्थ ने आकर्षित करके बाहर निकाल लिया हो अर्थात् उस पदार्थ से किसी ने ऊर्जा को ग्रहण कर लिया हो, जिस पदार्थ ने प्रकाश को अपने अन्दर अवशोषित करके छिपा लिया हो अथवा जिस पदार्थ का प्रकाश समाप्त हो गया हो अथवा उसकी ऊष्मा क्षीण हो गयी हो। ऐसे चारों प्रकार के पदार्थों को ग्रन्थकार ने ऋबीसम् कहा है।

इस पद का निगम अगले खण्ड में प्रस्तुत है।

* * * * *

षट्त्रिंशः खण्डः

हिमेनाग्निं घ्रंसमवारयेथां पितुमतीमूर्जमस्मा अधत्तम्।
ऋबीसे अत्रिमश्विनावनीतमुन्निन्यथुः सर्वगणं स्वस्ति॥

[ऋ.१.११६.८]

हिमेनोदकेन ग्रीष्मान्तेऽग्निं घ्रंसमहरवारयेथाम्।
अन्नवतीं चास्मै ऊर्जमधत्तमग्नये।
योऽयमृबीसे पृथिव्यामग्निरन्तरौषधिवनस्पतिष्वप्सु तमुन्निन्यथुः।
सर्वगणं सर्वनामानम्। गणो गणनात्। गुणश्च।
यद् वृष्टे ओषधय उद्यन्ति प्राणिनश्च पृथिव्यां तदश्विनो रूपम्।
तेनैनौ स्तौति स्तौति॥ ३६॥

इस मन्त्र का ऋषि कक्षीवान् है, जिसका अर्थ पूर्वोक्त समझें। इसका देवता अश्विनौ एवं छन्द निचृत् त्रिष्टुप् होने से इसके दैवत एवं छान्दस प्रभाव से प्रकाशित एवं अप्रकाशित

कण व लोक दोनों तीक्ष्ण तेज और बल से युक्त होते हैं। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(हिमेन, अग्निम्, घ्रंसम्, अवारयेथाम्) 'हिमेनोदकेन ग्रीष्मान्तेऽग्निं घ्रंसमहरवारयेथाम्' [हिमम् = हिमं पुनर्हन्तेर्वा हिनोतेर्वा (निरु.४.२७)] ग्रीष्म रश्मियों एवं 'हिम्' संज्ञक रश्मियों के विषय में खण्ड ४.२७ पठनीय है। अपने बलों का सिञ्चन करने वाली हिम व हेमन्त ऋतु रश्मियों के द्वारा ग्रीष्म अर्थात् अति भेदक और ऊष्मा उत्पादक पदार्थों के अन्दर अग्नितत्त्व को रोकने में सहायता मिलती है, इसी कारण कहा गया है— 'हेमन्तो हि वरुणः' (मै.सं.१.१०.१२) अर्थात् ये रश्मियाँ बन्धन बलों से युक्त होती हैं। यह ऊष्मा प्रकाशित एवं अप्रकाशित लोक अथवा कण दोनों के द्वारा ही अपने अन्दर रोकी जाती है। जब ये कण तीव्र ऊर्जायुक्त होते हैं, तब इस कार्य में हेमन्त रश्मियों की भी भूमिका होती है। इसी प्रकार अथवा इन्हीं हेमन्त रश्मियों के द्वारा वे प्रकाशित एवं अप्रकाशित पदार्थ प्रकाश को भी अपने अन्दर रोके रखते हैं अथवा रोकने में समर्थ होते हैं। यहाँ यह ध्यातव्य है कि जिनको हम यहाँ अप्रकाशित कण कह रहे हैं, वे भी पूर्णतः प्रकाशहीन नहीं होते।

(पितुमतीम्, ऊर्जम्, अस्मै, अधत्तम्) 'अन्नवतीं चास्मै ऊर्जमधत्तमग्नये' वे दोनों प्रकार के पदार्थ इस अग्नि के लिए अर्थात् आवश्यक ऊष्मा आदि के लिए संयोज्य रश्मि वा कणों से युक्त बल को धारण करते हैं। इसका अर्थ यह है कि प्रकाशित एवं अप्रकाशित कणों के अन्दर जो भी ऊर्जा विद्यमान होती है, वह उनके अन्दर विद्यमान संयोज्य रश्मियों के संयोग द्वारा ही होती है। इसके अभाव में उन दोनों प्रकार के कणों में ऊर्जा का होना तो दूर, उनका अस्तित्व भी नहीं हो सकता। इसी प्रकार विभिन्न प्रकाशित एवं अप्रकाशित लोकों के अन्दर ऊर्जा के अस्तित्व का कारण, यहाँ तक कि जो उन लोकों के अस्तित्व का भी कारण, उनके अन्दर नाना प्रकार के संयोज्य कणों की विद्यमानता ही होती है।

(ऋबीसे) 'योऽयमृबीसे पृथिव्याम्' जो ये पृथ्वी आदि अप्रकाशित लोक विद्यमान हैं, जिनका प्रकाश छिप गया है अथवा जो प्रकाश का अवशोषण करते रहते हैं अथवा जिनका प्रकाश नष्ट हो चुका होता है अथवा जिनका प्रकाश परावर्तित व विसरित हो जाता है। (अत्रिम्, अश्विना, अवनीतम्, उत्, निन्यथुः) 'अग्निरन्तरौषधिवनस्पतिष्वप्सु तमुन्निन्यथुः' अश्विनौ संज्ञक प्राण एवं उदान रश्मियाँ औषधी अर्थात् ऊष्मायुक्त विभिन्न पदार्थों, वनस्पति अर्थात् विभिन्न किरणों के पालक और पोषक सूर्यलोकों तथा आपः के विभिन्न अणुओं के

अन्दर व्याप्त अग्नि को बाहर निकलती हैं। इसके साथ ही विभिन्न प्रकार के सूक्ष्म कण एवं प्रकाशाणु इन पदार्थों की कुछ ऊर्जा को लेकर बाहर आते रहते हैं अर्थात् उन पदार्थों की ऊर्जा ही अपने साथ बाहर निकालते रहते हैं। (सर्वगणम्, स्वस्ति) 'सर्वगणं सर्वनामानम् गणो गणनात् गुणश्च' वह बाहर निकाला हुआ अग्नि उन दोनों ही प्रकार के कणों को प्रकाशित करता है। यहाँ उस अग्नि को सर्वगण कहा गया है। इसका अर्थ यह है कि वह अग्नि संख्या की दृष्टि से और गुणों की दृष्टि से सभी प्रकार के कणों को प्रकाशित करता है।
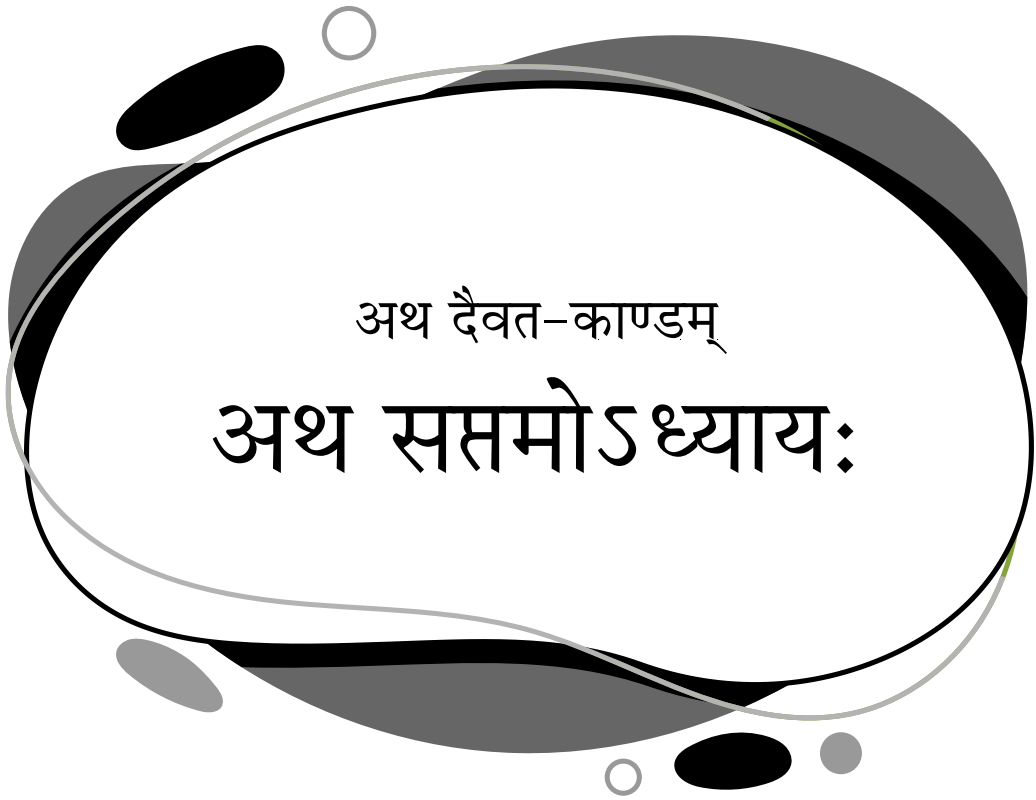
इसके पश्चात् ग्रन्थकार लिखते हैं कि लोक में वर्षा होने पर जो भी ओषधियाँ और जीव-जन्तु उत्पन्न होते हैं, वे सभी अश्विन रूप हैं। इसका अर्थ यह है कि वनस्पतियों और प्राणियों के शरीर, ये सभी पदार्थ विभिन्न कणों और फोटोन्स, प्राण-अपान एवं प्राण-उदान आदि का ही खेल हैं। इसके साथ ही सम्पूर्ण पृथ्वी अर्थात् अन्तरिक्ष लोक में जो भी ऊष्मा अथवा प्राण आदि रश्मियों से युक्त पदार्थ विद्यमान हैं, वे सभी अश्विन रूप ही होते हैं, क्योंकि उनमें नाना प्रकार के कण अथवा प्रकाशाणु अथवा प्राण रश्मियों के मिथुन विद्यमान होते हैं।

भावार्थ— अपने बलों का सिंचन करने वाली हेमन्त ऋतु रश्मियाँ भेदक और ऊष्मा उत्पादक पदार्थों के अन्दर अग्नितत्त्व को रोकने में सहायक होती हैं। प्रकाशित व अप्रकाशित दोनों ही प्रकार के कणों के अन्दर जो भी ऊर्जा विद्यमान होती है, वह उनके अन्दर विद्यमान रश्मियों के संयोग के कारण ही होती है। इनके अभाव में किसी भी प्रकार के कण का अस्तित्व भी सम्भव नहीं है। जो लोक अप्रकाशित माने जाते हैं, वे भी पूर्व में अपेक्षाकृत अधिक प्रकाशित थे। उनका प्रकाश एवं उनकी ऊष्मा प्राण और उदान रश्मियों के द्वारा धीरे-२ बहिर्गत हुए होते हैं। संसार में विभिन्न प्राणियों के शरीर, वनस्पतियाँ और लोक-लोकान्तर विभिन्न कणों और विकिरणों का ही खेल हैं।

* * * * *

इति ऐतरेयब्राह्मणस्य वैज्ञानिकभाष्यकारेण आचार्याग्निव्रतनैष्ठिकेन
यास्कीयनिरुक्तस्य वैज्ञानिक-व्याख्यानस्य (वेदार्थ-विज्ञानस्य)

षष्ठोऽध्यायः समाप्यते।

≡ इति नैगम-काण्डम् ≡

अथ दैवत-काण्डम्

अथ सप्तमोऽध्यायः

= प्रथमः खण्डः =

अथातो दैवतम्। तद्यानि नामानि प्राधान्यस्तुतीनां देवतानां तद्दैवतमित्याचक्षते। सैषा देवतोपपरीक्षा। यत्काम ऋषिर्यस्यां देवतायामार्थपत्यमिच्छन्त्स्तुतिं प्रयुङ्क्ते तद्दैवतः स मन्त्रो भवति। तास्त्रिविधा ऋचः। परोक्षकृताः प्रत्यक्षकृता आध्यात्मिक्यश्च। तत्र परोक्षकृताः सर्वाभिर्नामविभक्तिभिर्युज्यन्ते। प्रथमपुरुषैश्चाख्यातस्य॥ १ ॥

पूर्व दो काण्डों के पश्चात् अब दैवत काण्ड प्रारम्भ करते हैं। यह काण्ड इस ग्रन्थ का सबसे बड़ा और महत्त्वपूर्ण काण्ड है। इस काण्ड को प्राय: जटिल एवं रहस्यमय समझा जाता है और प्राय: विज्ञानपरक भी। हाँ, इतना अवश्य है कि इस काण्ड के विज्ञान को भी भाष्यकार प्राय: नहीं समझ पाए हैं अथवा उन्होंने अति स्थूल विज्ञान का ही संकेत माना है, जबकि पूर्व के दो काण्डों में किसी गम्भीर विज्ञान का अस्तित्व भाष्यकारों को प्राय: प्रतीत नहीं हुआ। इधर पाठक इस ग्रन्थ के अब तक किए अध्ययन से स्वयं अनुभव कर सकते हैं कि पूर्व के दो काण्ड भी अनेक गम्भीर वैज्ञानिक रहस्यों से भरे हुए हैं। अब आगे पाठक और अधिक व्यापक विज्ञान से अवगत होंगे।

इस काण्ड को दैवत काण्ड क्यों कहते हैं, इसके बारे में लिखते हैं कि वेद मन्त्रों में जिन-२ देवताओं की प्रधानता से स्तुति की गई है अर्थात् विभिन्न ऋषि एवं उनसे उत्पन्न छन्द रश्मियों द्वारा जिस-२ पदार्थ पर सर्वाधिक व्यापक एवं स्पष्ट प्रभाव होता है, उन-२ पदार्थों व देवताओं के प्रकरण को दैवत प्रकरण कहते हैं, ऐसा आचार्यों का मत है।

अब देवताओं की परीक्षा के विषय में ग्रन्थकार लिखते हैं कि वह यह अर्थात् इस प्रकरण में विभिन्न देवताओं अर्थात् पदार्थों की सामान्य एवं विशेष परीक्षा की गई है। इसके आगे देवता की परिभाषा बतलाते हुए लिखते हैं— 'यत्काम ऋषिर्यस्यां देवतायामार्थपत्य-मिच्छन्त्स्तुतिं प्रयुङ्क्ते तद्दैवतः स मन्त्रो भवति' अर्थात् जिसकी कामना करती हुई कोई भी ऋषि रश्मि जिस देवतावाची पदार्थ में उसके अर्थ अर्थात् बल और कर्म आदि को उत्पन्न करने की इच्छा करते हुए उसे प्रकाशित, उत्तेजित व सक्रिय करती है, वह मन्त्र उसी देवता वाला कहा जाता है अर्थात् वह पदार्थ उस मन्त्र का देवता कहलाता है। यहाँ यह बात

स्पष्ट होती है कि किसी छन्द रश्मि को उत्पन्न करने वाली कारणभूत ऋषि रश्मि एवं उस मन्त्र के देवता अर्थात् जिस पदार्थ पर उस छन्द रश्मि का सर्वाधिक प्रभाव होता है, उस पदार्थ को विशेष निकटता से प्रभावित करती है।

अब ग्रन्थकार ऋचाओं के विषय में लिखते हैं कि वे ऋचाएँ तीन प्रकार की होती हैं। इसका अर्थ प्रायः यह लगाया जाता है कि वेद के प्रत्येक मन्त्र का केवल एक ही प्रकार से अर्थ किया जा सकता है और वेदों में जो भी ऋचाएँ विद्यमान हैं, उनका तीन प्रकार से वर्गीकरण किया जा सकता है तथा एक ऋचा का एक ही प्रकार से अर्थ किया जा सकता है, न कि दो अथवा तीन प्रकार से। यदि ग्रन्थकार के वचनों का सामान्य अर्थ किया जाए, तब ऐसा कहना किसी को भी उचित ही प्रतीत होगा, परन्तु ऐसा कहना उचित नहीं है। ग्रन्थकार के इन वचनों को आधार बनाकर ही अनेक कथित वैदिक विद्वान् वेदार्थ की त्रिविध प्रक्रिया का खण्डन किया करते हैं। वे वेद तत्त्व से अवगत ही नहीं हैं, ऐसे विद्वान् वेद के आधिदैविक, आधिभौतिक एवं आध्यात्मिक, इन तीनों प्रकार के अर्थों को साथ-२ करने की प्रक्रिया पर व्यंग्य करते हैं, जबकि यहाँ ग्रन्थकार ने अपने वर्गीकरण में आधिभौतिक एवं आधिदैविक अर्थ का कोई संकेत भी नहीं किया है। यहाँ ग्रन्थकार ने तीन प्रकार का वर्गीकरण क्रमशः इस प्रकार किया है—

१. परोक्षकृताः — अर्थात् जो ऋचाएँ परोक्ष रूप से किसी अर्थ का प्रकाश करती हैं।
२. प्रत्यक्षकृताः — ये वे ऋचाएँ हैं, जो किसी अर्थ का प्रत्यक्ष रूप से प्रकाश करती हैं।
३. आध्यात्मिक — ये वे ऋचाएँ हैं, जो आत्मा एवं परमात्मा सम्बन्धी अर्थ को प्रकाशित करती हैं।

यहाँ आध्यात्मिक अर्थ की चर्चा तो है, परन्तु आधिदैविक एवं आधिभौतिक प्रकरण के साथ नहीं। इस कारण किसी वेद मन्त्र का त्रिविध भाष्य (आधिदैविक, आधिभौतिक एवं आध्यात्मिक) नहीं हो सकता, ऐसा इस प्रकरण से कदापि सिद्ध नहीं होता। यदि ग्रन्थकार के वर्गीकरण का अर्थ यह लिया जाए कि वेद में तीन प्रकार की ऋचाएँ हैं, जिनका एक ही प्रकार से अर्थ हो सकता है, वह चाहे आधिदैविक हो, चाहे आधिभौतिक अथवा आध्यात्मिक हो, ऐसा करना नितान्त अज्ञानता है। यदि इसे सत्य माना जाए, तब यह प्रश्न उठेगा कि ऋषि दयानन्द ने अपने वेद भाष्य में कुछ प्रारम्भिक मन्त्रों के भाष्य दो प्रकार के कैसे किए? ये विद्वान् इतना भी नहीं विचारते कि स्वयं ग्रन्थकार ने

अनेकत्र एक ही मन्त्र के एक से अधिक प्रकार का भाष्य किया है, क्या ग्रन्थकार यहाँ भूल कर गये? इसका उत्तर उन विद्वानों को देना चाहिए, जो स्वयं को महर्षि यास्क वा ऋषि दयानन्द का अनुगामी मानते हैं। वास्तविकता यह है कि इस प्रकरण का त्रिविध अर्थ करने की प्रक्रिया से कोई सम्बन्ध नहीं है, बल्कि यह ऋचाओं के स्वरूप का वर्गीकरण मात्र है और वह वर्गीकरण भी प्रधानता के आधार पर किया गया है, न कि निरपेक्ष रूप से।

अब यहाँ प्रथम वर्गीकरण 'परोक्षकृताः' को समझाते हुए लिखते हैं—

'तत्र परोक्षकृताः सर्वाभिर्नामविभक्तिभिर्युज्यन्ते प्रथमपुरुषैश्चाख्यातस्य।'

अर्थात् इस प्रकार की ऋचाएँ सभी नाम-विभक्तियों तथा तिङन्त के प्रथम पुरुष से युक्त होती हैं।

इस खण्ड का पण्डित भगवद्दत्त रिसर्च स्कॉलर ने जो भाष्य किया है, उसे भी हम पाठकों के लाभार्थ यहाँ प्रस्तुत कर रहे हैं—

''भाष्य— स्तुत्यर्थमिह देवानां वेदाः सृष्टाः स्वयंभुवा। यह श्लोकार्ध महाभारत, शान्तिपर्व, ३३५.४९ है। इससे ज्ञात होता है कि वेद में देवों की स्तुति का असाधारण रूप मिलता है। देवों का देव महादेव ईश्वर है। उसकी स्तुति भी अनायास ही वेद में है। इसीलिए शारीरक सूत्र १.१.४ में कहा है— तत्तु समन्वयात्। उस ब्रह्म का सम्पूर्ण श्रुतिवाक्यों में समन्वय है। निरुक्त के उत्तर षट्क में अब देवस्तुति आरम्भ होती है। इन अध्यायों में अर्थ वैभव से ईश्वर स्तुति भी है, पर ईश्वर स्तुति का प्रदर्शन यास्क ने परिशिष्टों में अति स्तुतियों के अन्तर्गत अत्यन्त सूक्ष्मता से किया है।

ऋषि और देवता— वेद के ऋषि दो रूपों में हैं। एक हैं अन्तरिक्षस्थ अथवा द्युः लोकस्थ और दूसरे हैं पृथिवी पर होने वाले मानुष ऋषि। दिव्य ऋषियों के नामों को लेकर ही पार्थिव ऋषियों ने अपने वे ही नाम रखे थे। इतिहास में इसके सुदृढ़ प्रमाण हैं। मन्त्रपाठ में जो ऋषि नाम हैं, वे नित्य दिव्य ऋषियों के नाम हैं। यथा— वसिष्ठ, विश्वामित्र, जमदग्नि, भरद्वाज आदि। इसीलिए यास्क आदि ने इन का प्रज्ञावान्, मनुष्य आदि सामान्य अर्थों में अर्थ दर्शाया है। वेद में पृथिवी पर के मनुष्यों का इतिहास नहीं है। वेद मन्त्र तो पार्थिव मानव सृष्टि से पहले ही सृष्टि में उच्चरित हो चुके थे, पार्थिव ऋषियों ने ईश्वर प्रेरणा और ब्रह्मप्रेम से उन्हें ही सुना।

महाभारत और बृहद्देवता में स्पष्ट कहा है—

(क) यस्य रश्मिसहस्रेषु शाखास्विव विहंगमाः।
वसन्त्याश्रित्य मुनयः संसिद्धा दैवतैः सह॥ शान्तिपर्व

(ख) देवान् यथायथं सर्वान् निवेश्य स्वेषु रश्मिषु॥ बृहद्देवता १.६३

अर्थात सूर्य रश्मियों के साथ अब भी ऋषि और देव रहते हैं।

ये देव और ऋषि भौतिक हैं और भूतों का परिणाम हैं, ईश्वर की महती शक्ति से उन की बहुविध क्रियाएं हो रही हैं। उन ऋषियों के द्वारा ही कभी मन्त्र सृष्ट हुए थे। यथा—

(क) एवा ते हारियोजना सुवृक्तीन्द्र ब्रह्माणि गोतमासोऽक्रन्। ऋ.१.६१.१६
(ख) सनायते गोतम इन्द्र नव्यमतक्षद् ब्रह्म हारियोजनाय। ऋ.१.६२.१३
(ग) ब्रह्म स्तोमं गृत्समदासो अक्रन्। ऋ.२.३९.८
(घ) ब्रह्मकृता मारुतेना गणेन। ऋ.३.३२.२
(ङ) उप ब्रह्माणि ससृजे वसिष्ठः। ऋ.७.१८.४
(च) ब्राह्मणासः सोमिनो वाचमक्रत ब्रह्म कृण्वन्तः परिवत्सरीणम्। ऋ.७.१०३.८
(ज) वसिष्ठासः पितृवद् वाचमक्रत। ऋ.१०.६६.१४
(छ) तस्मिन्नग्नौ सूक्तवाकेन देवा हविर्विश्व आजुहवुस्तनूपाः। ऋ.१०.८८.७
(झ) सुपर्णा वाचमक्रत। ऋ.१०.९४.५

पूर्वोद्धृत नव प्रमाणों में (घ) प्रमाण में अत्यन्त स्पष्ट रूप से कहा है कि मध्यमस्थानी मरुद्गण ब्रह्मकृत हैं। जब ये मरुद्गण ब्रह्मकृत हैं, तो अन्य देव क्यों नहीं। (ज) प्रमाण में कहा है कि विश्वे देवा 'सूक्तवाक्' से हविः देते हैं। इस विषय का थोड़ा सा व्याख्यान पूर्व निरुक्त २.१० के भाष्य में भी देखें।

वेद की इस अपूर्व महिमा को न समझ कर अनेक लोग अपने अधूरे ज्ञान से वेद को मानव कृति समझते और उसमें पार्थिव मानव और राजाओं का इतिहास ढूँढते रहते हैं।

कविः देव कविः हैं। मन्त्र कहते हैं—

(क) अग्निर्होता कविक्रतुः। ऋ.१.१.५

(ख) इदं कवेरादित्यस्य। ऋ.२.२८.१
(ग) कवी नो मित्रावरुणा। ऋ.१.२.९

इन मन्त्रों में ईश्वर परक अर्थ भी है और भौतिक शक्ति-परक अर्थ भी। ये भौतिक शक्तियाँ ईश्वरीय नियमों में ही चल रही है। आधिदैविक पक्ष में ये घटनाएँ अति स्पष्ट हैं।

प्रमाण (ग) में जिन मित्रावरुणौ का कथन है, उन के सदन से जो वैखरी वाणी निकल रही है, उस का स्पष्ट उल्लेख देवकीपुत्र कृष्ण रचित साम्बपञ्चाशिका के श्लोक ५ में है।

जिस प्रकार गणित, उद्भिज शास्त्र और ज्योतिष आदि को पढ़े बिना उन उन शास्त्रीय विद्याओं का ज्ञान नहीं हो सकता, उसी प्रकार वाग्विद्या को पढ़े बिना वेद की अपौरुषेयता का ज्ञान भी नहीं हो सकता। निस्सन्देह मूल मन्त्र नित्य हैं, पर वेद-शाखाओं में कहीं-कहीं प्रवचन-भेद से पाठ विकल्प किया गया है। वर्तमान काल के नामधारी अधिकांश वेदाध्यापक इस विद्या से वञ्चित हैं और वेद-घातकों का ही काम करते हैं। अस्तु।

छन्द और अश्व- सूर्य के अश्व जिन परमाणुओं और रश्मियों के संयोग से बने हैं, वे छन्दों को उत्पन्न करते रहते हैं। मन्त्रों और ब्राह्मणों में उनका विस्तृत वर्णन है। उनकी सुन्दर व्याख्या पुराणों के निम्नलिखित वचनों में देखिए—

(क) हयाश्च सप्त छन्दांसि तेषां नामानि मे शृणु।
गायत्री च बृहत्युष्णिक् जगती त्रिष्टुबेव च।
अनुष्टुप् पंक्तिरित्युक्ताश्छन्दांसि हरयो रवेः॥ विष्णु, द्वितीयांश ८.७

(ख) छन्दोभिर्वाजिरूपैस्तु यतश्चक्रं ततः स्थितैः।
सप्ताश्वरूपाश्छन्दांसि वहन्ते वामतो ध्रुवम्॥ ब्रह्माण्ड, पूर्वभाग, २२.६५, ७१

(ग) अश्वैः, स्पन्दते वैदिकक्षयः। ब्रह्माण्ड, पूर्वभाग, २३.२४
(घ) अश्वैः ब्रह्मवादिभिः॥ २३.४७॥ वायु ५२.४६

यास्क आदि ऋषि, मुनि इन तथ्यों को हम से शतशः गुणा अधिक जानते थे। अतः उनके वचनों का उन्हीं की दृष्टि से व्याख्यान युक्त है। तदनुसार यत्काम ऋषिः की प्रतीक

वाली पंक्ति में ऋषि पद से उन्हीं दिव्य ऋषियों का ग्रहण है, जो सृष्टि में वेद मन्त्रों के मूल में उच्चारण करने वाले थे। उन्हीं ऋषियों के द्वारा देवता निश्चित हुए। उस दैवत ज्ञान के बिना जो कोई मन्त्रार्थ करता है, वह वेद ज्ञान विहीन है।''

* * * * *

द्वितीयः खण्डः

इन्द्रो दिव इन्द्र ईशे पृथिव्याः। [ऋ.१०.८९.१०]
इन्द्रमिद् गाथिनो बृहत्। [ऋ.१.७.१]
इन्द्रेणैते तृत्सवो वेविषाणाः। [ऋ.७.१८.१५]
इन्द्राय साम गायत। [ऋ.८.९८.१]
नेन्द्रादृते पवते धाम किं चन। [ऋ.९.६९.६]
इन्द्रस्य नु वीर्याणि प्र वोचम्। [ऋ.१.३२.१]
इन्द्रे कामा अयंसत। इति।

यहाँ ग्रन्थकार ने परोक्षकृता ऋचाओं के उदाहरणस्वरूप सात निगम प्रस्तुत किये हैं। इनमें से प्रथम निगम इस प्रकार है— 'इन्द्रो दिव इन्द्र ईशे पृथिव्याः'। इस मन्त्र का देवता इन्द्र तथा छन्द निचृत् त्रिष्टुप् होने से इसके दैवत व छान्दस प्रभाव से इन्द्रतत्त्व रक्तवर्णीय तीक्ष्ण तेज व बल से युक्त होने लगता है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(इन्द्रः, दिवः, ईशे) इन्द्रतत्त्व सभी द्युलोकों तथा तरंगाणुओं (क्वाण्टा) पर शासन करता है अर्थात् सभी तारे तथा प्रकाशाणु आदि तेजस्वी पदार्थ विद्युत् के द्वारा ही नियन्त्रित होते हैं। यह विद्युत् पृथक्-२ स्तरों पर पृथक्-२ होती है। (इन्द्रः, पृथिव्याः) वही इन्द्र पृथिव्यादि लोकों वा कणों पर शासन करता है अर्थात् सभी प्रकार के अप्रकाशित लोक तथा कणों पर भी विद्युत् का नियन्त्रण होता है।

इस ऋचा में नामवाची पद 'इन्द्रः' प्रथमा विभक्ति में प्रयुक्त हुआ है तथा यह पद प्रथम पुरुष भी होने से यह ऋचा परोक्षकृता है। हमने यहाँ इसका आधिदैविक भाष्य किया, परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि इसका आधिभौतिक तथा आध्यात्मिक अर्थ नहीं हो सकता।

यहाँ आध्यात्मिक अर्थ देखिये—

(इन्द्रः, दिवः, इन्द्रः, ईशे, पृथिव्याः) वह परमैश्वर्यवान् परमात्मा द्युलोक तथा वही पृथिव्यादि समस्त लोकों पर शासन करता है। यहाँ कोई यह नहीं कह सकता कि इन्द्र का अर्थ परमात्मा कैसे कर दिया?

अब इसी का आधिभौतिक अर्थ देखें—

(इन्द्रः, दिवः, ईशे) ऐश्वर्यवान् राजा [दिवः = प्रकाशमानात् धर्म्याचरणात् (म.द.ऋ.भा. १.५४.७), द्यौः = विद्यान्यायप्रकाशकः (म.द.य.भा.१२.३३)] अपने प्रकाशमान धर्माचरण से स्वराष्ट्र में विद्या, न्याय को प्रकाशित करता है और इसके द्वारा वह (इन्द्रः, पृथिव्याः) सम्पूर्ण पृथिवी पर शासन करता है।

इस कारण परोक्षकृता का अर्थ यह नहीं है कि यह ऋचा केवल एक अर्थ प्रकाशित करती है, बल्कि इसका केवल यह अर्थ है कि यह ऋचा किसी परोक्ष पदार्थ का वर्णन करती है। वह परोक्ष पदार्थ कोई भी हो सकता है, जैसा कि हमारे उपर्युक्त तीनों प्रकार के भाष्यों में देखा जा सकता है।

अब दूसरे निगम पर विचार करते हैं, जो इस प्रकार है— 'इन्द्रमिद् गाथिनो बृहत् ... (अनूषत्)'। इसका देवता भी इन्द्र तथा छन्द गायत्री होने से इसके दैवत व छान्दस प्रभाव से इन्द्रतत्त्व श्वेतवर्णीय तेजयुक्त होता है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(गाथिनः, इत्) [गाथा = वाङ्नाम (निघं.१.११)] विभिन्न वाक् रश्मियों के समूह ही (बृहत्, इन्द्रम्, अनूषत्) [अनूषत् = स्तुवन्तु (ऋ.द.भा.)] महान् इन्द्रतत्त्व को प्रकाशित करते हैं।

इस निगम का आधिभौतिक अर्थ इस प्रकार होगा—

(गाथिनः, इत्) वेदार्थ तत्त्व के पारंगत उपदेष्टा आचार्य ही (इन्द्रम्, बृहत्, अनूषत्) महान्

राजा की स्तुति करते हैं अर्थात् महान् धर्मात्मा राजा अपनी प्रशंसा चापलूस स्वार्थी लोगों से नहीं, बल्कि वेदज्ञ आचार्यों से ही अपने गुण-दोषों का ज्ञान प्राप्त करता है, जिससे वह दोषों को त्याग कर गुणों का और अधिक प्रकाश कर सके।

अब इसका आध्यात्मिक अर्थ करते हैं—

(गाथिनः) वेद मन्त्रों का गान करने वाले स्तोता (बृहत्, इन्द्रम्, इत्, अनूषत्) परम ऐश्वर्यवान् परमात्मा की ही स्तुति करते हैं, अन्य किसी की नहीं।

इस निगम में द्वितीया विभक्ति रूप 'इन्द्रम्' पद प्रयुक्त हुआ है।

अब तृतीया विभक्ति का उदाहरण इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है— 'इन्द्रेणैते तृत्सवो वेविषाणाः ... (आपः)'। इस मन्त्र का भी देवता इन्द्र एवं छन्द त्रिष्टुप् होने से इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से इन्द्र रक्तवर्णीय तीव्र तेज से युक्त होता है। इसका आधिदैविक अर्थ इस प्रकार है—

(एते, तृत्सवः) [तृत्सुः = उतृदिर् हिंसानादरयोः (रुधा.) धातोरिच्छायामर्थे सनि 'सनाशंसभिक्ष उः' अष्टा.३.२.१६८ सूत्रेण उः प्रत्ययः। 'छन्दसि वे' ति द्विर्वचनं न भवति (वै.को.)] ये प्रत्यक्ष अर्थात् निकटवर्ती हिंसक राक्षस आदि पदार्थों को नष्ट करने वाले (वेविषाणाः) [वेविषाणाः = विष्लृ व्याप्तौ (जु.) धातोः शानच्। व्यत्ययेनात्मनेपदम् (वै.को.)] हिंसक एवं बाधक पदार्थों के अन्दर व्याप्त होने वाले (आपः) विभिन्न प्राणादि पदार्थ (इन्द्रेण) तीक्ष्ण शक्ति के साथ उन पर प्रहार करते हैं।

इसका आधिभौतिक अर्थ इस प्रकार है—

(एते, तृत्सवः) अपने निकटवर्ती शत्रुओं को नष्ट करने वाले (वेविषाणाः, आपः) अपनी शत्रु सेना में व्याप्त होकर नाना प्रकार के तेजस्वी कर्मों को (इन्द्रेण) पराक्रमी एवं ऐश्वर्यवान् राजा के द्वारा सम्पादित किया जाता है अर्थात् जब-२ जिस-२ दण्ड रूप कर्म की आवश्यकता होती है, तब-२ बुद्धिमान् राजा वैसे-२ कर्मों को करता रहता है।

अब इसका आध्यात्मिक अर्थ करते हैं—

(एते, तृत्सवः) योगमार्ग के पथिक अपनी साधना के अनन्तर अन्तःकरण में उठने वाली अनिष्ट वृत्तियों को नष्ट करने वाली हितकारिणी वृत्तियों (वेविषाणाः, आपः) को अनिष्ट

वृत्तियों के अन्दर व्याप्त करके अपने प्राणों को (इन्द्रेण) इन्द्र रूपी मन के साथ संगत करके इन्द्र रूपी परमात्मा के साथ स्वयं को संगत करते हैं।

अब चतुर्थी विभक्ति का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं— 'इन्द्राय साम गायत ... (बृहत्)'। इस मन्त्र का देवता इन्द्र और छन्द उष्णिक् होने से इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से इन्द्रतत्त्व रंग-बिरंगे रंगों से युक्त तेज और बल से समृद्ध होने लगता है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(इन्द्राय) इन्द्रतत्त्व को समृद्ध एवं तेजस्वी बनाने के लिए (साम, बृहत्, गायत) साम रूप छन्द रश्मियाँ उत्पन्न एवं प्रकाशित होने लगती हैं अथवा बृहत् सामरूप छन्द रश्मियाँ प्रकट वा प्रकाशित होने लगती हैं।

इसका आधिभौतिक अर्थ इस प्रकार है—

(इन्द्राय) अपने राजा के ऐश्वर्य के लिए (साम, बृहत्, गायत) साम मन्त्रों से स्तुति करते हैं अर्थात् विप्रगण राजा के कल्याण की कामना के लिए साम मन्त्रों से ईश्वर की अर्चना करते हैं अथवा किसी राष्ट्र का राजा न्याययुक्त ऐश्वर्य के लिए समस्त पापनाशक दण्ड रूपी व्यापक धर्म को प्रकाशित करता है अर्थात् न्याययुक्त दण्ड के द्वारा ही कोई राजा अपने राष्ट्र में सुख और कल्याण को स्थापित कर पाता है।

तत्पश्चात् इसी निगम का आध्यात्मिक अर्थ प्रस्तुत है—

(इन्द्राय) परम ऐश्वर्यवान् परमात्मा के लिए (साम, बृहत्, गायत) उपासक लोग महनीय साम गान के द्वारा उसकी स्तुति करते हैं अथवा आध्यात्मिक ऐश्वर्य को प्राप्त करने के लिए उपासक लोग साम मन्त्रों से ईश्वर की उपासना करते हैं।

इसके उपरान्त पञ्चमी विभक्ति का निगम इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं— 'नेन्द्रादृते पवते धाम किं चन'। इस मन्त्र का देवता पवमान सोम है और छन्द जगती है। इस कारण इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से पवित्र सोम पदार्थ गौरवर्णयुक्त होता हुआ दूर-२ तक फैलने लगता है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(इन्द्रात्, ऋते) विद्युत् के अतिरिक्त (किम्, चन, धाम) अन्य कोई भी धाम (न, पवते) पदार्थों को न तो पवित्र करता है और न ही उन्हें गति प्रदान करता है। इसका तात्पर्य यह है

कि इस ब्रह्माण्ड में सभी पदार्थों की गति एवं पवित्रता का एक प्रमुख कारण विद्युत् ही है।

अब इसका आधिभौतिक अर्थ करते हैं—

(इन्द्रात्, ऋते) धर्मात्मा एवं समर्थ राजा अथवा विद्वान् आचार्य के अतिरिक्त (किम्, चन, धाम, न, पवते) अन्य कोई भी पुरुष किसी राष्ट्र को पवित्र और गतिशील अथवा धर्मात्मा और पुरुषार्थी नहीं बना सकता है।

अब इसका आध्यात्मिक अर्थ करते हैं—

(इन्द्रात्, ऋते) परमपिता परमेश्वर के अतिरिक्त (किम्, चन, धाम) किसी अन्य धाम के लिए (न, पवते) योगी लोग गमन नहीं करते हैं अर्थात् योगी लोग परम ब्रह्म के धाम के अतिरिक्त अन्य किसी धाम की कामना नहीं करते हैं।

यहाँ ध्यातव्य है कि इस ग्रन्थ के खण्ड ९.२८ के अनुसार 'धाम' पद के तीन अर्थ है— नाम, स्थान एवं जन्म। इसी कारण हमने यहाँ पृथक्-२ अर्थ ग्रहण किए हैं।

इसके पश्चात् षष्ठी विभक्ति का निगम प्रस्तुत करते हुए लिखते हैं— 'इन्द्रस्य नु वीर्याणि प्र वोचम्'। इस मन्त्र का देवता इन्द्र और छन्द त्रिष्टुप् होने से इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से इन्द्रतत्त्व रक्तवर्णीय तीव्र तेज से युक्त होता है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(इन्द्रस्य, नु, वीर्याणि) इन्द्रतत्त्व के तीव्र तेज और बल की तरंगें व रश्मियाँ अति शीघ्रता-पूर्वक (प्र, वोचम्) प्रकृष्ट तेज के साथ प्रकाशित व उत्पन्न होती हैं। इसका अर्थ यह है कि इन्द्र रूपी तीक्ष्ण विद्युत् अति शीघ्रतापूर्वक उत्पन्न होती है।

अब इसका आधिभौतिक अर्थ करते हैं—

(इन्द्रस्य, नु, वीर्याणि) राजा के जो तेजः स्वरूप दण्ड विधान हैं, उन्हें (प्र, वोचम्) अच्छी प्रकार सम्पूर्ण राष्ट्र में प्रचारित करना चाहिए, जिससे सम्पूर्ण प्रजा अनुशासित रहे और अपराधी अपराध करने से डरते रहें।

इसका आध्यात्मिक भाष्य इस प्रकार है—

(इन्द्रस्य, नु, वीर्याणि) परमपिता परमात्मा के पावन तेज और बल का (प्र, वोचम्) हम

लोग अच्छी प्रकार गुणगान करते हुए उस तेज को अपने आत्मा में प्रकाशित करने का प्रयत्न करते रहें।

अन्त में सप्तमी विभक्ति का उदाहरण इस प्रकार है— 'इन्द्रे कामा अयंसत'। यह निगम कहाँ से लिया गया है, यह अज्ञात है। सम्भवतः ग्रन्थकार के समय यह निगम वेद की किसी शाखा में उपलब्ध होगा। यहाँ स्पष्टतः इसका देवता इन्द्र प्रतीत होता है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(कामाः) सभी प्रकार की कामनाएँ अर्थात् सभी प्रकार के आकर्षण आदि बल एवं दीप्तियाँ (इन्द्रे) इन्द्रतत्त्व में (अयंसत) [यंसन् = यच्छन्तु (निरु.९.१९)] विद्यमान होती हैं अर्थात् सभी प्रकार के बल इन्द्रतत्त्व ही प्रदान करता है।

इसका आधिभौतिक अर्थ इस प्रकार है— किसी भी राष्ट्र में सभी प्रकार की शक्तियाँ धर्मात्मा एवं ऐश्वर्यवान् राजा में ही विद्यमान होती हैं और होनी भी चाहिए, परन्तु अधर्मी राजा को ऐसी शक्तियाँ प्राप्त नहीं होनी चाहिए।

इसका आध्यात्मिक अर्थ इस प्रकार है— इस सृष्टि में सभी बलों का मूल ईश्वर में ही विद्यमान होता है और वह ईश्वर ही सभी पदार्थों को मूल रूप से बल प्रदान करता है। इसी प्रकार प्राणियों के शरीर में सभी इन्द्रियों का मूल बल जीवात्मा में निहित होता है और जीवात्मा ही मूल रूप से मन आदि सभी इन्द्रियों को प्रेरित करता है।

ये सभी उदाहरण परोक्षकृता ऋचाओं के हैं और परोक्ष पदार्थ को बताने के लिए सदैव प्रथम पुरुष का ही उपयोग होता है, इसका वेदार्थ करने की शैली अथवा इस प्रकार की ऋचाओं का आधिदैविक, आधिभौतिक, आध्यात्मिक कौन सा अर्थ होगा, इससे कोई सम्बन्ध नहीं है। इसके लिए हम एक उदाहरण यहाँ प्रस्तुत करते हैं—

'अग्निम्। ईळे। पुरःऽहितम्। यज्ञस्य। देवम्। ऋत्विजम्। होतारम्। रत्नऽधातमम्।' इस मन्त्र में प्रथम पुरुष का प्रयोग है, इस कारण यह परोक्षकृता ऋचा है, परन्तु ऋषि दयानन्द ने इस ऋचा के भौतिक एवं आध्यात्मिक दोनों प्रकार के अर्थ किए हैं। इस प्रकार के ऐसे अनेक मन्त्र हैं, जिनका ऋषि दयानन्द ने दोनों ही प्रकार का अर्थ किया है। यदि उनके पास और अधिक समय होता, तो वे न केवल उन मन्त्रों के, अपितु सभी वेद मन्त्रों के तीन प्रकार के भाष्य करते। कुछ विद्वान् लोग अपने हठ व अज्ञानतावश ही ऐसा मान

बैठे हैं कि किसी वेद मन्त्र का केवल एक ही प्रकार का भाष्य हो सकता है।

इस संक्षिप्त विवेचन के पश्चात् अब हम प्रसंग को आगे बढ़ाते हैं—

अथ प्रत्यक्षकृता मध्यमपुरुषयोगाः। त्वमिति चैतेन सर्वनाम्ना।
त्वमिन्द्र बलादधि। [ऋ.१०.१५३.२]
वि न इन्द्र मृधो जहि। [ऋ.१०.१५२.४] इति।

तदनन्तर प्रत्यक्षकृता ऋचाओं को उद्धृत करते हैं। ये ऋचाएँ मध्यम पुरुष वाले पदों से युक्त होती हैं अर्थात् ये 'त्वम्' सर्वनाम से युक्त होती हैं। अब इसके उदाहरण प्रस्तुत करते हैं— 'त्वमिन्द्र बलादधि'। इस मन्त्र का देवता इन्द्र और छन्द विराट् गायत्री होने से इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से इन्द्रतत्त्व विविध रूपों वाले श्वेतवर्णीय तेज से युक्त होने लगता है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(त्वम्, इन्द्र) हे इन्द्रतत्त्व! तुम (बलात्, अधि) अन्य सभी देवों में सबसे अधिक बलवान् हो। इसी कारण ऋषियों ने कहा है— 'इन्द्रो बलं बलपतिः' (श.ब्रा.११.४.३.१२), 'इन्द्रो मे बले श्रितः' (तै.ब्रा.३.१०.८.८), 'वीर्यं वा इन्द्रः' (तां.ब्रा.९.७.५, ८)। इसी प्रकार स्वयं ग्रन्थकार ने आगे लिखा है— 'या च का च बलकृतिः इन्द्रकर्मैव तत्' अर्थात् इस सृष्टि में जो भी बल विद्यमान है, उसका प्रधान कारण इन्द्रतत्त्व ही है। यहाँ यह प्रश्न उठता है कि यहाँ इन्द्रतत्त्व को सम्बोधित कौन कर रहा है? इसके उत्तर में हमारा मत यह है कि मध्यम पुरुष पद से सम्बोधित करने वाला पदार्थ उस छन्द रश्मि की कारणभूत ऋषि रश्मियाँ ही होती हैं और उनके सम्बोधन का तात्पर्य इतना ही है कि वे ऋषि रश्मियाँ देवता रूप पदार्थ को प्रेरित करती हैं। यहाँ भी ऐसा ही समझना चाहिए।

इस ऋचा का आधिभौतिक अर्थ इस प्रकार है— किसी राष्ट्र में पूर्ण विद्वान् धर्मात्मा राजा ही सबसे अधिक शक्तिशाली होकर सर्वोपरि विराजमान होता हुआ शक्तिशाली होता है और ऐसा होना भी चाहिए, अन्यथा राष्ट्र में अराजकता फैल सकती है।

इसी मन्त्र का आध्यात्मिक अर्थ इस प्रकार है— परम ऐश्वर्यवान् परमात्मा आप ही सम्पूर्ण जीवों एवं ब्रह्माण्ड के सभी पदार्थों के ऊपर महान् बल द्वारा प्रतिष्ठित हो। आपसे

बलवान् तो क्या, आपके समकक्ष बलयुक्त अन्य किसी पदार्थ की सत्ता नहीं है।

अब अगला निगम प्रस्तुत करते हैं— 'वि न इन्द्र मृधो जहि'। इस मन्त्र का देवता भी इन्द्र और छन्द निचृदनुष्टुप् होने से इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से इन्द्रतत्त्व लाल एवं भूरे रंग से मिश्रित तेज से युक्त होने लगता है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(इन्द्र) इन्द्रतत्त्व (नः) हमारे सम्मुख [इस मन्त्र का ऋषि भारद्वाजशास है। इसका अर्थ यह है कि इस छन्द रश्मि की उत्पत्ति विभिन्न बलों के धारक और पोषक तथा नियन्त्रक प्राण नामक प्राणतत्त्व से होती है] अर्थात् प्राण प्रधान कण आदि पदार्थों के सम्मुख बाधक रूप में उपस्थित (मृधः) [मृधः = संग्रामनाम (निघं.२.१७), पाप्मा वै मृधः (श.ब्रा. ६.३.३.८)] पतनकारी असुरादि पदार्थों के संग्राम अर्थात् आक्रमण को (वि, जहि) नष्ट कर देता है अर्थात् सभी प्रकार के बाधक असुर पदार्थों को विशेष रूप से नष्ट कर देता है। यहाँ 'त्वम्' सर्वनाम गुप्त है।

इसका आधिभौतिक अर्थ इस प्रकार है— ऐश्वर्यवान् राजा अपनी प्रजा के पापी शत्रुओं को समूल नष्ट कर देता है अथवा वेदवेत्ता तेजस्वी आचार्य अपने शिष्यों की पापवृत्तियों एवं अविद्यादि दोषों को नष्ट कर देता है।

इसका आध्यात्मिक अर्थ इस प्रकार है— परम ऐश्वर्ययुक्त परमेश्वर अपने भक्तों के अधर्मादि आचरण को नष्ट कर देता है।

इन दोनों निगमों में 'इन्द्र' पद सम्बोधन में प्रयुक्त है। इस कारण उनके साथ मध्यम पुरुषवाची पद 'त्वम्' क्रमशः प्रकट व गुप्त रूप से विद्यमान है। यह सामान्य तथ्य है कि जिसको हम सम्बोधित कर रहे होते हैं और जहाँ मध्यम पुरुष का प्रयोग होता है, वह पदार्थ हमारे सम्मुख ही विद्यमान होता है अथवा हम उसे अपने सम्मुख विद्यमान समझकर ही सम्बोधित करते हैं।

इन निगमों का भी हमने तीन प्रकार से भाष्य किया, इससे ग्रन्थकार के मत का कोई कहीं विरोध नहीं है। वस्तुतः यहाँ भी ग्रन्थकार का भाष्य करने की प्रक्रिया से कोई अभिप्राय नहीं है।

अथापि प्रत्यक्षकृताः स्तोतारो भवन्ति। परोक्षकृतानि स्तोतव्यानि।

मा चिदन्यद्वि शंसत। [ऋ.८.१.१]

कण्वा अभि प्र गायत। [ऋ.१.३७.१]

उप प्रेत कुशिकाश्चेतयध्वम्। [ऋ.३.५३.११] इति।

प्रत्यक्षकृता ऋचाओं के अन्य उदाहरण प्रस्तुत करते हुए लिखते हैं— कहीं पर स्तोता प्रत्यक्षकृत होते हैं और जिनकी स्तुति की जाती है, वे परोक्ष होते हैं अर्थात् प्रकाशक पदार्थ प्रत्यक्ष होते हैं और प्रकाशित पदार्थ परोक्ष होते हैं।

अब इसके उदाहरण यहाँ प्रस्तुत करते हैं— 'मा चिदन्यद्वि शंसत ... (सखायः, इन्द्रम्)'। इस मन्त्र का देवता इन्द्र और छन्द बृहती होने से इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से इन्द्रतत्त्व अपने व्यापक प्रभाव से पदार्थ को संघनित करने लगता है तथा रंग कृष्णवर्णीय होने लगता है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(सखायः) [सखायः = समानख्यानाः (निरु.७.३०)] समान रूप से प्रकाशित व सक्रिय विभिन्न रश्मि आदि पदार्थ (इन्द्रम्, चित्, विशंसत) इन्द्रतत्त्व को ही विशेष रूप से प्रकाशित करते हैं, (मा, अन्यत्) अन्य किसी पदार्थ को नहीं। इसका अर्थ यह है कि इन्द्रतत्त्व की सभी अवयवरूप रश्मियाँ समान रूप से प्रकाशित होती हैं। यहाँ आधिदैविक अर्थ में 'विशंसत' यह मध्यम पुरुष का प्रयोग प्रथम पुरुष के अर्थ में ही है अर्थात् यह पुरुष व्यत्यय का उदाहरण है।

इसका आधिभौतिक अर्थ इस प्रकार है—

(सखायः) किसी राष्ट्र के हितैषी विद्वज्जन (इन्द्रम्, चित्, विशंसत) अपने ऐश्वर्यवान् धर्मात्मा राजा की ही विविध रूप से प्रशंसा करें, (मा, अन्यत्) अन्य किसी की नहीं अर्थात् दुष्ट राजा राष्ट्र विरोधी व्यक्ति वा व्यक्तियों के समूह की नहीं अर्थात् विज्ञ जन को चाहिए कि वह राष्ट्र रक्षक राजा वा विद्वानों का ही सहयोग वा समर्थन करे, राष्ट्र विरोधी का नहीं।

इसका आध्यात्मिक भाष्य इस प्रकार है—

(सखायः) उस परमात्मा को चाहने वाले योगी जन (इन्द्रम्, चित्, विशंसत) परमेश्वर की

ही उपासना करें, (मा, अन्यत्) उसके स्थान पर अन्य किसी की नहीं।

तदनन्तर दूसरा निगम प्रस्तुत करते हैं— 'कण्वा अभि प्र गायत...(मारुतम्, शर्धः)'। इसका देवता मरुत तथा छन्द गायत्री होने से इसके दैवत व छान्दस प्रभाव से विभिन्न मरुत् रश्मियाँ श्वेतवर्णीय तेज से युक्त होने लगती हैं। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(कण्वाः) सूत्रात्मा वायु रश्मियाँ (मारुतम्, शर्धः) [शर्धः = बलनाम (निघं.२.९)] विभिन्न लघु छन्द रश्मियों के बल को (अभि, प्रगायत) सब ओर से प्रकृष्टता के साथ प्रकाशित वा सक्रिय करती हैं। यहाँ भी पूर्ववत् पुरुष व्यत्यय समझना चाहिए।

इसका आधिभौतिक अर्थ इस प्रकार है—

(कण्वाः) मेधावी जन (मारुतम्, शर्धः) मनुष्यों को अपने शारीरिक, आत्मिक व बौद्धिक बल को बढ़ाने का (अभि, प्रगायत) सर्वविध उपदेश करें। ऋषि दयानन्द ने इसका आधिभौतिक भाष्य ही किया है।

इसका आध्यात्मिक भाष्य इस प्रकार है—

(कण्वाः) योगीजन (मारुतम्, शर्धः) विभिन्न प्राणियों एवं विभिन्न विनाशी पदार्थों में विराजमान परब्रह्म परमात्मा के महान् बल की महिमा का (अभि, प्रगायत) गुणगान करें वा करते हैं अथवा उस बल को अपने आत्मा के अन्दर प्रकाशित करें वा करते हैं।

अन्त में तृतीय निगम को प्रस्तुत करते हैं—

उप प्रेत कुशिकाश्चेतयध्वम्...(अश्वम्)।

इस मन्त्र का देवता इन्द्र तथा छन्द भुरिक् त्रिष्टुप् होने से इसके दैवत व छान्दस प्रभाव से इन्द्रतत्त्व अपने बाहुरूप बलों के साथ रक्तवर्णीय तीव्र तेज व बल से युक्त होता है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

वह इन्द्रतत्त्व (कुशिकाः, उप, प्रेत) इन्द्र रूपी सूर्य के सन्धिभाग में निकटता से व्याप्त होकर (अश्वम्, चेतयध्वम्) तीव्रगामी किरणों को प्रकाशित व प्रेरित करता है। 'कुशिकः' पद के विषय में पूर्व में खण्ड २.२५ का व्याख्यान द्रष्टव्य है। यहाँ भी पूर्ववत् पुरुष व्यत्यय समझना चाहिए।

इसके आधिभौतिक भाष्य के लिए ऋषि दयानन्द कृत ऋग्वेद भाष्य ३.५३.११ सम्पूर्ण मन्त्र का भाष्य यहाँ उद्धृत किया जा रहा है—

''**पदार्थः** — (उप) (प्र) (इत) प्राप्नुत (कुशिकाः) ये कुर्वन्त्युपदिशन्ति ते कुशाः प्रशस्ताः कुशा विद्यन्ते येषु ते कुशिकाः (चेतयध्वम्) ज्ञापयध्वम् (अश्वम्) तुरङ्गमिवाऽऽशुगामिनीं विद्युतम् (राये) श्रिये (प्र) (मुञ्चत) त्यजत। अत्र संहितायामिति दीर्घः। (सुदासः) शोभनदानः (राजा) प्रकाशमानः (वृत्रम्) मेघमिव शत्रुम् (जङ्घनत्) भृशं हन्यात् (प्राक्) पूर्वम् (अपाक्) पश्चिमतः (उदक्) उत्तरतः (अथ) अत्र निपातस्य चेति दीर्घः। (यजाते) यजेत (वरे) उत्तमे देशे (आ) (पृथिव्याः)।

भावार्थः — अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः। हे विद्वांसो ये वीराः शत्रून् हन्युस्तेभ्यः पुष्कलं धनं प्रतिष्ठां च दद्युः। येन सर्वासु दिक्षु विजयः प्रकाशेत।

पदार्थ— हे (कुशिकाः) जो करते और उपदेश देते वे कुश वे श्रेष्ठ विद्यमान हैं, जिन में वे कुशिक और जो (सुदासः) उत्तम दान देने वाला (राजा) प्रकाशमान (प्राक्) प्रथम (अपाक्) पश्चिम और (उदक्) उत्तर से (वृत्रम्) मेघ के सदृश शत्रु का (जङ्घनत्) अत्यन्त नाश करे (अथ) इस के अनन्तर (पृथिव्याः) पृथिवी के (वरे) उत्तम स्थान में (आ, यजाते) यज्ञ करे उस का (राये) लक्ष्मी के लिये (प्र) (मुञ्चत) त्याग करो और उस (अश्वम्) घोड़े के सदृश शीघ्र चलने वाली बिजुली को (चेतयध्वम्) जनाओ और (उप, प्र, इत) प्राप्त होओ।

भावार्थ— इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालङ्कार है। हे विद्वानो! जो वीर लोग शत्रुओं का नाश करें, उनके लिये बहुत धन और प्रतिष्ठा को देवें, जिससे सम्पूर्ण दिशाओं में विजय प्रकाशित होवे।''

इसका आध्यात्मिक भाष्य इस प्रकार है—

(कुशिकाः) [कुशिकः = कुशिको राजा बभूव क्रोशतेः शब्दकर्मणः क्रंशतेर्वा स्यात्प्रकाश-यतिकर्मणः साधु विक्रोशयितार्थानामिति वा (निरु.२.२५)] समस्त ब्रह्माण्ड का एकमात्र राजा परमात्मा सब प्रजा के लिए वेद का उपदेश करता, सबके लिए कर्मों को प्रकाशित करता तथा अग्न्यादि ऋषियों के अन्तःकरण में नाना प्रकार के पदार्थों के ज्ञान का प्रकाश करता अर्थात् वेदार्थ का प्रकाश करता है, ऐसा वह इन्द्र रूप परमात्मा (उप, प्रेत, अश्वम्,

चेतयध्वम्) नाना शुभ गुणों एवं यथार्थ विज्ञान से व्याप्त योगिजनों को निकटता से चेताता रहता है अर्थात् वह उनके अन्दर ज्ञान एवं परमानन्द का प्रकाशन करता रहता है।

यहाँ पाठक ध्यान दें कि इन तीनों ऋचाओं में जो स्तोता वा प्रकाशक है, वे प्रत्यक्ष तथा जो स्तोतव्य हैं, वे परोक्ष होते हैं। इससे इन निगमों के तीन प्रकार के अर्थ करने में कोई बाधा नहीं है।

अथाध्यात्मिक्य उत्तमपुरुषयोगाः। अहमिति चैतेन सर्वनाम्ना।
यथैतदिन्द्रो वैकुण्ठः। [ऋ.१०.४७-४८]
लबसूक्तम्। [ऋ.१०.११९]
वागाम्भृणीयम्। [ऋ.१०.१२५] इति॥ २॥

परोक्षकृता व प्रत्यक्षकृता इन दो प्रकार की ऋचाओं को दर्शाने के पश्चात् तीसरी प्रकार की ऋचाओं के विषय में लिखते हैं कि इन ऋचाओं में उत्तम पुरुष का प्रयोग होता है।

यहाँ ग्रन्थकार ने उदाहरणस्वरूप चार सूक्तों को दर्शाया है। इन सबमें 'अहम्' इस सर्वनाम का प्रयोग है। यह सर्वनाम वक्ता को दर्शाता है, जो आत्मा अर्थात् स्वयं के विषय में कह रहा है। इस कारण इस प्रकार की ऋचाओं को आत्मा सम्बन्धी कहा गया है। यह वक्ता आत्मा अर्थात् जीवात्मा भी हो सकता है और परमात्मा भी हो सकता है। इसके अतिरिक्त वक्ता कोई जड़ पदार्थ भी हो सकता है, जैसे किसी छन्द रश्मि की कारणरूप ऋषि रश्मि के लिए 'अहम्' पद का प्रयोग हो सकता है। जब 'अहम्' पद जीवात्मा वा परमात्मा के अर्थ में प्रयुक्त होगा, तब वे ऋचाएँ आध्यात्मिक अर्थ वाली कही जायेंगी, ऐसा स्वाभाविक व सर्वविदित है, परन्तु जब 'अहम्' पद कारणरूप ऋषि के लिए होगा, तब आध्यात्मिक का तात्पर्य आत्मा-परमात्मा सम्बन्धी न होकर उस ऋषि रश्मि से सम्बन्धित होना माना जायेगा और ऐसी स्थिति में उस ऋचा का अर्थ आधिदैविक माना जायेगा। जब 'अहम्' पद किसी आचार्य, राजा आदि के द्वारा प्रयुक्त होवे अर्थात् मन्त्र में आलंकारिक रूप से इनके द्वारा कुछ कहा गया हो, तब ऋचा के आध्यात्मिक होने का अर्थ यही होगा कि कोई कर्त्ता स्वयं किसी को कुछ कह रहा है। ऐसी स्थिति में ऋचा

आध्यात्मिक श्रेणी की होती हुई भी आधिभौतिक अर्थ का ही प्रकाश करेगी। वस्तुतः किसी ऋचा में 'अहम्' पद किसके लिए प्रयुक्त है, यह भी भाष्यकार के भाष्य से ही विदित होगा, क्योंकि जिस संज्ञा पद के लिए यह सर्वनाम पद प्रयुक्त है, उस संज्ञा पद के भी अनेक अर्थ सम्भव हैं।

इस प्रकार इन सभी ऋचाओं के भी न्यूनतम तीन-२ प्रकार के भाष्य निश्चित रूप से हो सकते हैं। यदि कोई विद्वान् ऐसा करने में समर्थ न हो सके, चाहे वह विद्वान् मैं हूँ अथवा अन्य कोई, तब यह भाष्यकर्त्ता विद्वान् की अल्पज्ञता होगी, न कि त्रिविध भाष्य करने की शैली पर कोई प्रश्न चिह्न। जो कार्य मैं नहीं कर सकूँ, तब मैं कैसे कह दूँ कि यह कार्य किसी के द्वारा होना ही असम्भव है। जो ऐसी चुनौतियाँ देते हैं कि कोई अमुक मन्त्र का तीन प्रकार का भाष्य करके दिखाए, अन्यथा स्वीकार करे कि प्रत्येक वेदमन्त्र का तीन प्रकार का भाष्य नहीं हो सकता, वे वस्तुतः नितान्त अज्ञानी हैं, वे न वेदार्थ जानते हैं और न निरुक्त शास्त्र को समझते हैं। वस्तुतः ऐसे ही लोग हमारे कार्यों पर व्यर्थ टीका-टिप्पणी करते हैं। हमें उनकी उपेक्षा ही श्रेयस्कर है।

* * * * *

तृतीयः खण्डः

परोक्षकृताः प्रत्यक्षकृताश्च मन्त्रा भूयिष्ठाः। अल्पश आध्यात्मिकाः।
अथापि स्तुतिरेव भवति नाशीर्वादः।
इन्द्रस्य नु वीर्याणि प्र वोचम्। [ऋ.१.३२.१] इति।
यथैतस्मिन्सूक्ते।
अथाप्याशीरेव न स्तुतिः। 'सुचक्षा अहमक्षीभ्यां भूयासं सुवर्चा मुखेन।
सुश्रुत्कर्णाभ्यां भूयासम्'। [मानव गृ.१.९.२५] इति।
तदेतद् बहुलमाध्वर्यवे याज्ञेषु च मन्त्रेषु।

यहाँ ग्रन्थकार का कथन है कि वेदों में पूर्वोक्त परोक्षकृता एवं प्रत्यक्षकृता ऋचाओं

की संख्या अधिक होती है तथा आध्यात्मिक ऋचाओं की संख्या कम होती है। जो लोग ऋचाओं के इस वर्गीकरण को वेदभाष्य की शैली से जोड़कर देखते हैं, वे क्या इस विषय में यह कहेंगे कि वेद में आध्यात्मिक विज्ञान कम तथा पदार्थ विज्ञान और लोकव्यवहार की बातें अधिक हैं? तब वे कठोपनिषद् २.१५ के निम्न वचन का क्या अर्थ करेंगे?

सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपाꣳसि सर्वाणि च यद्वदन्ति।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदꣳ संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत्॥

पाठक जरा विचारें कि उपनिषत्कार के अनुसार वेदों का मुख्य प्रयोजन परब्रह्म का निरूपण करना है, जबकि ग्रन्थकार के मत से ऐसा आभास होता है कि आध्यात्मिक विज्ञान वेदों में बहुत कम है, तब क्या हम उपनिषत्कार एवं निरुक्तकार दोनों को परस्पर विरोधी मानें तथा दोनों में से किसी एक को वेदार्थ से अनभिज्ञ मानें? यदि कोई ऐसा मानता है, तो हम उसके विषय में यही कहेंगे कि ऋषि-महर्षियों को वेदार्थ से अनभिज्ञ मानने वाला निश्चित ही मूर्ख वा नास्तिक है। वास्तविकता यह है कि उपनिषत्कार का कथन पूर्ण यथार्थ एवं स्पष्ट है और निरुक्तकार का कथन भी पूर्ण यथार्थ है, परन्तु उन्होंने यहाँ वेदभाष्य की शैली का कोई संकेत ही नहीं किया है। यहाँ 'आध्यात्मिक' शब्द का अर्थ आत्मा या परमात्मा के विज्ञान से नहीं है, बल्कि इसका अर्थ स्वयं से सम्बन्धित ऋचाएँ ही है, जिसको हम पूर्व में स्पष्ट कर ही चुके हैं। इसी प्रकार प्रत्यक्षकृता और परोक्षकृता का अर्थ भी आधिदैविक एवं आधिभौतिक अर्थ वाली नहीं समझना चाहिए।

तदनन्तर ऋचाओं का अन्य प्रकार से वर्गीकरण प्रारम्भ करते हैं— 'अथापि स्तुतिरेव भवति नाशीर्वादः' अर्थात् अनेक मन्त्रों में केवल स्तुति ही होती है अर्थात् किसी पदार्थ के गुणधर्मों का ही कथन होता है, न कि प्रार्थना। इसके साथ ही अनेक मन्त्रों में पदार्थों के प्रकाशन की ही चर्चा होती है अथवा प्रकाशित व प्रकाशक पदार्थों की ही चर्चा होती है, न कि 'आशीः' संज्ञक पदार्थों, जो अन्य पदार्थों को आश्रय देते हैं, की चर्चा होती है। 'आशीः' पद के विज्ञान के लिए पूर्व में खण्ड ६.८ द्रष्टव्य है।

इसके उदाहरणस्वरूप उद्धृत निगम इस प्रकार है— 'इन्द्रस्य नु वीर्याणि प्र वोचम्'। इस मन्त्र का देवता इन्द्र तथा छन्द त्रिष्टुप् होने से इसके दैवत व छान्दस प्रभाव से इन्द्रतत्त्व तीव्र रक्तवर्णीय तेज से युक्त होता है। इसका ऋषि हिरण्यस्तूप है। इसका अर्थ है कि इस छन्द रश्मि की उत्पत्ति [स्तूपः = स्त्यायतेः (निरु.१०.३३), स्त्यै शब्दसंघातयोः =

भीड़ होना, घेरना, फैलना (सं.धा.को.)] तेजस्विनी आवरक वा विस्तृत होने के स्वभावयुक्त प्राण रश्मि विशेष से होती है। हमारे मत में यह प्राण रश्मि प्राणापान-व्यान एवं सूत्रात्मा वायु के योग से उत्पन्न कोई रश्मि विशेष है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(इन्द्रस्य, नु, वीर्याणि) [नु = क्षिप्रनाम (निघं.२.१५)] इन्द्रतत्त्व अथवा सूर्य की तेजस्विनी क्रियाएँ अति शीघ्रतापूर्वक (प्र, वोचम्) प्रकृष्टतापूर्वक प्रकाश को उत्पन्न करती एवं शीघ्रतापूर्वक ही सम्पादित होती हैं। इसका तात्पर्य है कि तीक्ष्ण विद्युत् तरंगें तथा सूर्य के अन्दर हो रही क्रियाएँ अति तीव्रतापूर्वक ही कार्य करती हैं। इसके साथ ही इनसे पदार्थों की उत्पत्ति आदि क्रियाएँ भी शीघ्रतापूर्वक ही होती हैं।

इसका आधिभौतिक भाष्य इस प्रकार है—

(इन्द्रस्य, नु, वीर्याणि) राजपुरुष अपने ऐश्वर्यवान् राजा के पराक्रम को शीघ्रतापूर्वक (प्र, वोचम्) कहते हैं। इसका अर्थ है कि राजपुरुष राजा के उग्र दण्ड आदि के विधान से नागरिकों को अवगत कराते रहें, जिससे नागरिक अपराध आदि दोषों से बचते रहें।

इसका आध्यात्मिक भाष्य इस प्रकार है—

(इन्द्रस्य, वीर्याणि) परमैश्वर्यवान् परमात्मा के तेजस्वी बलों को (नु, प्र, वोचम्) विद्वान् लोग अच्छी प्रकार कहते हैं अथवा योगिजन परम ब्रह्म परमात्मा के तेज और अमित पराक्रम का गुणगान करते हैं।

इस मन्त्र में पदार्थ की स्तुति है अर्थात् उसके गुणों का प्रकाशन वा कथन है, प्रार्थना वा आश्रय देने सम्बन्धी कथन नहीं है। तीनों ही प्रकार के भाष्यों में इसे देखा जा सकता है। इस सम्पूर्ण सूक्त में ऐसा ही देखा जा सकता है।

इसके पश्चात् कहते हैं— 'अथाप्याशीरेव न स्तुतिः' अर्थात् कहीं-२ केवल प्रार्थना होती है, स्तुति नहीं। इसके उदाहरण के लिए किसी वेद मन्त्र को नहीं, बल्कि एक आर्ष ग्रन्थ को उद्धृत किया गया है— 'सुचक्षा अहमक्षीभ्यां भूयासं सुवर्चा मुखेन सुश्रुत्कर्णाभ्यां भूयासम्' अर्थात् मैं अपनी दोनों आँखों से अच्छा देखने वाला होऊँ अर्थात् मेरी आँखें सदैव कल्याणकारी ही देखें और उनकी दर्शन शक्ति बनी रहे। मेरा मुख तेजस्वी और मेरे कान उत्तम श्रवण शक्ति के साथ सदैव हितकारी वचन ही सुनते रहें।

इसके पश्चात् लिखते हैं— 'तदेतद् बहुलमाध्वर्यवे याज्ञेषु च मन्त्रेषु' आध्वर्यु अर्थात् यजुर्वेद में प्रायः ऐसे मन्त्र अधिक हैं अथवा उसमें यज्ञ विषयक मन्त्रों की संख्या अधिक है। यहाँ ध्यान रहे कि यजुर्वेद में ऐसे मन्त्रों की प्रधानता अवश्य होती है, परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि अन्य प्रकार के मन्त्र होते ही नहीं हैं और यह भी ध्यान रखना चाहिए कि यज्ञ शब्द का अर्थ केवल अग्निहोत्र आदि कर्मकाण्ड ही नहीं है, अपितु सम्पूर्ण सृष्टि विज्ञान एवं शिल्पविद्या आदि भी यज्ञ है। यज्ञ के विषय में महर्षि याज्ञवल्क्य का कथन है— 'वागु वै यज्ञः' (श.ब्रा.१.१.४.११), 'संवत्सरो यज्ञः' (श.ब्रा.११.२.७.१), 'स यः स यज्ञोऽसौ सऽआदित्यः' (श.ब्रा.१४.१.१.६) अर्थात् सूर्यादि में होने वाली क्रियाएँ याज्ञिक क्रियाओं का ही रूप होती हैं। इसी प्रकार विभिन्न छन्द वा प्राणादि रश्मियों की क्रियाएँ भी यज्ञ रूप ही होती हैं।

अथापि शपथाभिशापौ।

अद्या मुरीय यदि यातुधानो अस्मि। [ऋ.७.१०४.१५]

अधा स वीरैर्दशभिर्वि यूयाः। [ऋ.७.१०४.१५] इति।

अथापि कस्यचिद्भावस्याचिख्यासा।

न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि। [ऋ.१०.१२९.२]

तम आसीत्तमसा गूळहमग्रे। [ऋ.१०.१२९.३]

कुछ मन्त्रों में शपथ तथा कुछ मन्त्रों में अभिशाप भी देखा जाता है। यहाँ 'शपथ' एवं 'अभिशाप' दोनों ही शब्दों का लोक-प्रचलित अर्थ आधिभौतिक भाष्य के प्रसंग में सुसंगत है, परन्तु आधिदैविक पक्ष में यह अर्थ सुसंगत नहीं है। इस कारण हम इन शब्दों पर विचार करते हैं।

'शपथः' पद के विषय में ऋषि दयानन्द ने उणादिकोष भाष्य में लिखा है— 'शप्यत आक्रुश्यत इति शपथः' (उ.को.३.११३)। इस पद का निगम इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है— 'अद्या मुरीय यदि यातुधानो अस्मि'। इस मन्त्र का देवता इन्द्र तथा छन्द निचृत् त्रिष्टुप् होने से इसके दैवत व छान्दस प्रभाव से इन्द्रतत्त्व तीक्ष्ण रक्तवर्णीय तेज व बल से युक्त होता है। इसका ऋषि वसिष्ठ है। इसका अर्थ यह है कि इस छन्द रश्मि की

उत्पत्ति ऊष्मा की तीव्रावस्था में प्राण नामक प्राण रश्मियों से होती है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(यदि) जब इस छन्द रश्मि की कारणभूत प्राण रश्मियाँ (यातुधानः) [यातयति = वधकर्मा (निघं.२.१९)] हिंसक असुर आदि पदार्थ का रूप (अस्मि) धारण कर लेती हैं अर्थात् बाधक व हिंसक हो जाती हैं, तब (अद्या, मुरीय) [अद्या = अद्य] तत्काल ही वे नष्ट हो जाती हैं। ध्यातव्य है कि जब विभिन्न प्राण रश्मियाँ मरुद् व छन्द रश्मियों के साथ संगत नहीं हो पाती हैं, तब वे प्राण रश्मियाँ असुर ऊर्जा का रूप धारण कर लेती हैं। ऐसी ही प्राण रश्मियों को यहाँ यातुधान कहा गया है।

इसका आधिभौतिक भाष्य प्रायः सभी भाष्यकारों ने किया है, जिसका सरलार्थ इस प्रकार है— 'यदि मैं हिंसा आदि दोषों से ग्रस्त हो जाऊँ, तब मैं तुरन्त नष्ट हो जाऊँ, क्योंकि हिंसक का जीवन निरर्थक होता है।'

इसका आध्यात्मिक अर्थ भी इस प्रकार किया जा सकता है— 'कोई योगी परमात्मा से प्रार्थना करता है कि जीवन में जैसे ही मेरे अन्दर हिंसा आदि दोष उत्पन्न होने लगें, वैसे ही वे नष्ट हो जायें'।

तदनन्तर अगला निगम अभिशाप अर्थ में निम्न प्रकार प्रस्तुत किया गया है— 'अधा स वीरैर्दशभिर्वि यूयाः (यो मा मोघं यातुधानेत्याह)'। यह उपर्युक्त मन्त्र का ही उत्तरार्ध है, इस कारण इसके ऋषि, देवता और छन्द पूर्ववत् समझें। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(यः) जो मरुदादि रश्मियाँ (मा, मोघम्) मुझे अर्थात् इस छन्द रश्मि की कारणभूत ऋषिरूप प्राण रश्मि को बल एवं गति से भ्रष्ट करके (यातुधान, इति, आह) हिंसक असुर ऊर्जा के रूप में परिवर्तित कर देती हैं अर्थात् प्राण नामक प्राथमिक प्राण मरुदादि रश्मियों से पृथक् रहकर असुर ऊर्जा के रूप में प्रकट होता है। (अधा = अध) इसके पश्चात् (सः) वे मरुदादि रश्मियाँ (दशभिः, वीरैः) [वीरः = प्राणा वै दश वीराः (श.ब्रा. १२.८.१.२२), अत्ता हि वीरः (श.ब्रा.४.२.१.९)] प्राणापानादि दश प्रकार की प्राण रश्मियों से (वियूयाः) वियुक्त ही रहती हैं, जिसके कारण वे रश्मियाँ भी सृष्टि प्रक्रिया के लिए अपना कोई भी प्रत्यक्ष योगदान नहीं कर पाती हैं। इस निगम के भी पूर्वोक्तानुसार

अन्य दोनों प्रकार के अर्थ हो सकते हैं।

अगले प्रकार की ऋचाओं के विषय में ग्रन्थकार पुनः लिखते हैं— 'अथापि कस्यचिद्भावस्याचिख्यासा' अर्थात् कुछ ऋचाएँ किसी भाव को कहने की इच्छा से युक्त होती हैं। इसके उदाहरण के रूप में प्रथम निगम इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है— 'न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि'। इस मन्त्र को हम सम्पूर्ण रूप में यहाँ प्रस्तुत कर रहे हैं—

न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि न रात्र्या अह्न आसीत्प्रकेतः।
आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्धान्यन्न परः किं चनास॥

इस मन्त्र का ऋषि प्रजापति परमेष्ठी है। [आपो वै प्रजापतिः परमेष्ठी ता हि परमे स्थाने तिष्ठन्ति (श.ब्रा.८.२.३.१३)] इसका अर्थ यह है कि इस छन्द रश्मि की उत्पत्ति [आपः = अन्तरिक्षनाम (निघं.१.३)] आकाशतत्त्व से होती है अर्थात् आकाशतत्त्व में विद्यमान प्राणादि रश्मियों से होती है। इसका देवता भाववृत्तम् और छन्द निचृत् त्रिष्टुप् होने से इसके दैवत एवं छान्दस प्रभाव से उस समय आकाशतत्त्व में जो भी पदार्थ विद्यमान होता है, उसमें नाना प्रकार की चक्रण आदि क्रियाएँ तीक्ष्णतापूर्वक होने लगती हैं। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(न, मृत्युः, आसीत्) [मृत्युः = मृत्युर्वै वरुणो मृत्युनैवैनं ग्राहयत्येतद् वै पाप्मनो रूपम् (काठ.सं.१३.२), एष वै मृत्युर्यत् संवत्सरः (श.ब्रा.१०.४.३.१), मृत्युरग्निः (काठ.सं. २१.७)] आकाशतत्त्व की उत्पत्ति के समय अग्नितत्त्व एवं पतनकारी असुरादि तत्त्व दोनों ही विद्यमान नहीं होते हैं, तब किसी तारे की विद्यमानता का कोई प्रश्न ही नहीं है। (न, अमृतम्, तर्हि) [अमृतः = उदकनाम (निघं.१.१२), अमृतं वा आपः (श.ब्रा.१.९.३.७), अमृतं वै हिरण्यम् (श.ब्रा.९.४.४.५)] न उस समय आपः के तेजस्वी परमाणु ही विद्यमान थे अर्थात् उस समय तरंगाणु (क्वाण्टा), मूलकण एवं आयन्स भी विद्यमान नहीं होते हैं। (न रात्र्याः, अह्नः, प्रकेतः, आसीत्) उस समय न तो नितान्त अन्धकार होता है और न मानवीय तकनीक द्वारा देखने योग्य प्रकाश ही होता है अर्थात् आकाशतत्त्व प्रकाश और अन्धकार के मध्य की अवस्था है। (तत्, एकम्, अवातम्, स्वधया, आनीत्) वह अकेला आकाशतत्त्व अपनी धारणा शक्ति सम्पन्न प्राणादि रश्मियों से युक्त होकर वायुतत्त्व की उत्पत्ति के बिना ही अर्थात् उत्पत्ति से पूर्व अर्थात् उसकी अविद्यमानता में कम्पन करता रहता है अर्थात् वह आकाशतत्त्व पूर्णतः अचल नहीं होता है। (तस्मात्, ह, अन्यत्, न,

परः, किम्, चन, आस) उस समय आकाश महाभूत से भिन्न कोई भी दूसरा महाभूत उत्पन्न नहीं हुआ था। इसका अर्थ यह है कि आकाश की उत्पत्ति के समय आधुनिक भौतिकी द्वारा जानने योग्य कोई भी पदार्थ सम्पूर्ण सृष्टि में विद्यमान नहीं होता है।

कुछ वेद भाष्यकारों ने इस मन्त्र के भाष्य में प्रकृति की अवस्था का वर्णन माना है, यह अर्थ भी ग्रहण किया जा सकता है, परन्तु इस ऋचा का प्राथमिक एवं स्वाभाविक भाष्य वही है, जो हमने किया है। अब हम इस मन्त्र का आधिभौतिक भाष्य करते हैं—

(न, मृत्युः, आसीत्) एक न्यायकारी शासक न्याय करते समय न तो अपने सम्मुख मृत्यु को मानता है अर्थात् वह मृत्यु के भय को त्याग देता है (अमृतम्, न, तर्हि) और न उस समय अपनी अमरता अर्थात् दीर्घायु की ही अपेक्षा करता है। (न, रात्र्याः, अह्नः, आसीत्, प्रकेतः) इसके साथ ही वह न्यायाधीश शासक न तो दुःखरूप रात्रि का ही भय मानता है और न उसकी न्याय प्रक्रिया पर किसी सुख के प्रकाश अर्थात् सुख की इच्छा का ही लक्षण प्रकट होने पाता है। (तत्, एकम्, अवातम्, स्वधया, आनीत्) वह शासक अकेला ही अपने न्याय की धारणा के साथ निर्भीक और निष्कम्प जीता है अर्थात् बिना किसी संशय के अपना न्याय करता है। (तस्मात्, ह, अन्यत्, न, परः, किम्, चन, आस) न्याय के आसन पर विराजमान शासक न्यायाधीश के ऊपर अन्य कोई भी न्याय में हस्तक्षेप करने वाला नहीं हो सकता और न होना ही चाहिए।

ज्ञातव्य — जिस प्रकार हमने यहाँ शासक व न्यायाधीश के सन्दर्भ में यह भाष्य किया है, उसी प्रकार एक योद्धा जो धर्मयुद्ध कर रहा हो, के सन्दर्भ में भी इस प्रकार का भाष्य तर्कसंगत होगा।

अब इसका आध्यात्मिक भाष्य इस प्रकार है—

(न, मृत्युः, आसीत्) कोई स्थितप्रज्ञ योगी पुरुष न तो अपने समक्ष मृत्यु के भय को अनुभव करता है (अमृतम्, न, तर्हि) और न ही अपने अमरत्व की कामना के वशीभूत होकर अर्थात् उसके लोभवश कोई व्यवहार करता है। (न, रात्र्याः, अह्नः, आसीत्, प्रकेतः) न ही वह पुरुष दुःखों के अन्धकार अथवा सुखों के प्रकाश के संकेतों को ही अपने अन्तःकरण अथवा मुखमण्डल पर आने देता है। (तत्, एकम्, अवातम्, स्वधया, आनीत्) वह योगी अकेला ही अपने आत्मा में विराजमान परब्रह्म परमात्मा को धारण व

अनुभव करके सदैव सम अवस्था में अपना जीवन जीता है। (तस्मात्, ह, अन्यत्, न, परः, किम्, चन, आस) वह पुरुष उस परब्रह्म परमात्मा से श्रेष्ठ अथवा उसके समान भी अन्य कोई इस सृष्टि में है, ऐसा अनुभव नहीं करता अर्थात् वह परमात्मा को ही सर्वोच्च सत्ता, मित्र, पिता, माता और गुरु मानकर सदैव शान्त और आनन्दित रहता है।

यहाँ इस मन्त्र में किसी भाव को कहने की इच्छा ही दृष्टिगोचर हो रही है और यही ग्रन्थकार का मत था। अब इसी श्रेणी की अगली ऋचा को हम यहाँ सम्पूर्ण रूप में प्रस्तुत कर रहे हैं—

तम आसीत्तमसा गूळ्हमग्रेऽप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम्।
तुच्छ्येनाभ्वपिहितं यदासीत्तपसस्तन्महिनाजायतैकम्॥

इसका ऋषि, देवता और छन्द एवं उनके प्रभाव पूर्व मन्त्र के समान ही समझें। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(अग्रे, तमसा, गूढम्) आकाशतत्त्व की उत्पत्ति के पूर्व सम्पूर्ण पदार्थ गहरे अन्धकार से आच्छादित होता है। [तमः = तमस्तनोतेः (निरु.२.१६)] इसके साथ वह अन्धकारपूर्ण पदार्थ सर्वत्र फैला रहता है और सम्पूर्ण अवकाश रूप आकाश को आच्छादित किए रहता है। (तमः, आसीत्) इस कारण उस समय विद्यमान सम्पूर्ण पदार्थ अन्धकार रूप ही होता है। (इदम्, सर्वम्, सलिलम्, आः, अप्रकेतम्) [आः = अस्तेरेतद्रूपं 'बहुलं छन्दसि' (अष्टा.७.३.९७) इतीऽभावः आसीदित्यर्थः। (स्कन्दस्वामी भाष्य)] उस समय सम्पूर्ण पदार्थ ऐसे स्वरूप में विद्यमान होता है, जिसका कोई स्पष्ट चिह्न नहीं होता तथा जिसमें सम्पूर्ण पदार्थ के लक्षण लीन रहते हैं अर्थात् सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड उसमें ही लीन हुआ होता है।

(तुच्छ्येन, यत्, अपिहितम्) उस समय जो पदार्थ अत्यन्त सूक्ष्म रूप में ढका हुआ था, (आभु, आसीत्) [आभुः = रिक्तः (म.द.य.भा.१६.१०)] वह रिक्तता के समान विद्यमान सा अर्थात् आकाशतत्त्व के सापेक्ष प्राणतत्त्व और मनस्तत्त्व आदि सूक्ष्म पदार्थ रिक्त रूप ही होते हैं। आकाशतत्त्व प्राणतत्त्व को आच्छादित किए रहता है और प्राणतत्त्व आकाशतत्त्व के लिए रिक्तता के समान ही व्यवहार करता है और प्राणतत्त्व मनस्तत्त्व को आच्छादित किए रहता है और मनस्तत्त्व प्राणतत्त्व के लिए रिक्त रूप व्यवहार करता है। इसी प्रकार अधिक सूक्ष्मता में जाने पर मन, अहंकार वा महत् तत्त्व प्रकृति को आच्छादित किए रहते

हैं और प्रकृति पदार्थ उनके लिए रिक्त रूप व्यवहार करता है। अन्त में प्रकृति और परमात्मा का भी इसी प्रकार आधेय एवं आधार सम्बन्ध समझना चाहिए। यहाँ यह अवश्य ध्यातव्य है कि जो स्थूल पदार्थ अपनी अपेक्षा सूक्ष्म पदार्थ को आच्छादित करता है, उसी प्रकार वह अपने से सूक्ष्म पदार्थ के द्वारा आच्छादित भी रहता है।

(तपसः, तत्, महिना, अजायत, एकम्) [तपः = मनो ह वाव तपः (जै.ब्रा.३.३३४)] तदुपरान्त उस मनस्तत्त्व की व्यापकता तथा उसकी व्यापक सक्रियता से एकरस तत्त्व आकाश उत्पन्न होता है। ज्ञातव्य है कि इस मन्त्र से महाप्रलय की अवस्था का भी बोध होता है। उस समय आकाशतत्त्व के निर्माण के स्थान पर प्रथम उत्पन्न पदार्थ महत् तत्त्व का उत्पन्न होना मानना चाहिए। इसके साथ ही यह भी ध्यान रहे कि पश्यन्ती अवस्था में इस छन्द रश्मि की उत्पत्ति आकाशतत्त्व के उत्पन्न होते समय अथवा उत्पन्न होने के ठीक पूर्व ही होती है।

अब इसका आधिभौतिक भाष्य करते हैं—

(अग्रे, तमसा, गूढम्, तमः, आसीत्) शैशव अवस्था में कोई बालक अविद्या रूपी अन्धकार से आवृत होकर अबोध रूपी होता है अर्थात् मनुष्य नैमित्तिक ज्ञान के बिना अज्ञान से ही आच्छादित होता है। इसका अर्थ यह है कि उसका स्वाभाविक ज्ञान अन्य योनियों के प्राणियों की अपेक्षा न्यून होता है। (इदम्, सर्वम्, सलिलम्, आः, अप्रकेतम्) उस शिशु के व्यवहार में पूर्व जन्मों के विद्या आदि संस्कारों का भी कोई चिह्न दिखाई नहीं देता अर्थात् उसके पूर्व संस्कार उसकी अबोधता से लीन ही रहते हैं। वे विद्यमान अवश्य होते हैं, परन्तु प्रकट रूप में नहीं होते। इसी प्रकार उसका स्वभाव आदि सभी कुछ उसके जीन्स में गुप्त रहता है। (तुच्छ्येन, यत्, अपिहितम्) उसके सभी पूर्व संस्कार सूक्ष्म रूप में उसके चित्त को आवृत किए रहते हैं अर्थात् उसी में सूक्ष्म रूप से संचित रहते हैं। (आभु, आसीत्) उस चित्त में भी आत्मतत्त्व व्याप्त रहता है। (तपसः, तत्, महिना, अजायत, एकम्) उसके पश्चात् धीरे-२ उसके मन के अधिकाधिक सक्रिय होने तथा उसकी आयु बढ़ने के साथ-२ चित्त में संचित एक-एक संस्कार प्रकट होने लगते हैं।

इसका आध्यात्मिक भाष्य इस प्रकार है—

(अग्रे, तमसा, गूढम्, तमः, आसीत्) जब कोई योग साधक योग-मार्ग पर चलना प्रारम्भ

नहीं करता है, उस समय उसका अन्तःकरण अविद्या अन्धकार से ग्रस्त होने के कारण अविद्या रूप ही होता है। (इदम्, सर्वम्, सलिलम्, आः, अप्रकेतम्) उसके अन्तःकरण में ब्रह्मतत्त्व लीन अवश्य होता है, परन्तु ब्रह्म तेज एवं ब्रह्मानन्द जैसे कोई भी लक्षण उस व्यक्ति में प्रकट नहीं होते। (तुच्छ्येन, यत्, अपिहितम्, आभु, आसीत्) वह ब्रह्म अत्यन्त सूक्ष्मता से उसके आत्मा एवं अन्तःकरण के अन्दर व्याप्त रहता है। (तपसः, तत्, महिना, अजायत, एकम्) उसके पश्चात् वह योग-साधक जब अपने पथ पर अग्रसर होने के लिए तप करता है अर्थात् अष्टाङ्ग योग का सम्पूर्ण पालन करता है, उस समय वह परब्रह्म परमात्मा, जो अपने समान केवल स्वयं ही होता है अर्थात् अपनी महिमा से स्वयं सदैव अद्वितीय ही होता है, उसका वह योगी साक्षात्कार कर लेता है और उसके अन्दर अद्वितीय ब्रह्म तेज एवं परमानन्द तथा परमशक्ति जैसे गुण प्रकट होने लगते हैं।

अथापि परिदेवना कस्माच्चिद्भावात्।
सुदेवो अद्य प्रपतेदनावृत्।[ऋ.१०.९५.१४]
न वि जानामि यदिवेदमस्मि।[ऋ.१.१६४.३७] इति।
अथापि निन्दाप्रशंसे।
केवलाघो भवति केवलादी।[ऋ.१०.११७.६]
भोजस्येदं पुष्करिणीव वेश्म।[ऋ.१०.१०७.१०] इति।
एवमक्षसूक्ते [ऋ.१०.३४] द्यूतनिन्दा च कृषिप्रशंसा च।
एवमुच्चावचैरभिप्रायैर्ऋषीणां मन्त्रदृष्टयो भवन्ति॥ ३॥

कुछ मन्त्र किसी स्थिति के कारण परिदेवना का वर्णन करने वाले होते हैं। यहाँ परिदेवना शब्द सब ओर से प्रकाशित होना अथवा विलाप करना अर्थ में प्रयुक्त होता है। इसका प्रथम निगम इस प्रकार है— 'सुदेवो अद्य प्रपतेदनावृत्'। इस मन्त्र का देवता उर्वशी तथा छन्द निचृत् त्रिष्टुप् होने से इसके दैवत एवं छान्दस प्रभाव से उर्वशी संज्ञक विद्युत् तरंगें एवं विद्युत् चुम्बकीय तरंगें तीक्ष्ण रक्तवर्णीय तेज और बल से युक्त होने लगती हैं। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(सुदेवः) [सुदेवः = तारों का बाहरी तल, जिसमें विभिन्न प्रकार की विद्युत् एवं विद्युत्

चुम्बकीय तरंगें विद्यमान होती हैं (पूर्व में देखें ५.२७)] अर्थात् सूर्य का बाहरी अति तेजस्वी भाग (अनावृत्) उर्वशी संज्ञक विद्युत् तरंगों, जो अत्यन्त संयोजन गुणों से युक्त होती हैं, से पृथक् होने पर अर्थात् जब सूर्य वा तारों के उस ऊपरी भाग में आयन्स की संख्या न्यून हो जाती है, (अद्य) तब शीघ्र ही अर्थात् उसी समय (प्रपतेत्) सूर्य के तेज का पतन हो जाता है। इसके साथ ही जब तारे के तल पर तारे के आन्तरिक भाग से विद्युत् चुम्बकीय तरंगें कम संख्या में आ पाती हैं, तब भी सूर्य का तेज कम हो जाता है। यहाँ सूर्य के परितः प्रकाशन की क्रिया को लक्ष्य करके ही मन्त्र में विचार किया गया है। इस कारण यह मन्त्र परिदेवना का उदाहरण है।

इसका आधिभौतिक भाष्य इस प्रकार है—

(सुदेवः) अपने ज्ञान और यश से प्रकाशित राजा (अनावृत्) नाना प्रकार की वेदविद्या एवं लोक-कल्याण की क्रियाओं से दूर होने पर (अद्य, प्रपतेत्) तत्क्षण ही गिर जाता है अर्थात् उसका यश सर्वथा नष्ट हो जाता है।

इसका आध्यात्मिक भाष्य इस प्रकार है—

(सुदेवः) योगविद्या का उत्तम अभ्यासी विद्वान् (अनावृत्) जब अपनी विद्या और तदनुसार साधना से भ्रष्ट हो जाता है अर्थात् भटक जाता है, (अद्य, प्रपतेत्) तब वह तत्काल ही अपने लक्ष्य से गिर जाता है।

अब अगला निगम इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है—

'न वि जानामि यदिवेदमस्मि'।

इस मन्त्र का देवता विश्वेदेवा तथा छन्द निचृत् त्रिष्टुप् होने से इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से सभी देव पदार्थ तीक्ष्ण रक्तवर्णीय तेज से युक्त होते हैं। इसका ऋषि दीर्घतमा है, जिसके विषय में हम पूर्व में अनेकत्र लिख चुके हैं। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(यत्, इव, इदम्, अस्मि) जिस प्रकार की वे दीर्घतमा ऋषि रश्मियाँ प्रत्यक्ष जगत् में विद्यमान व प्रकट होती हैं, उस समय (न, वि, जानामि) वे दीर्घतमा ऋषि रश्मियाँ स्वयं को विशेष रूप से प्रकट व प्रसिद्ध नहीं करतीं अर्थात् वे ऋषि रश्मियाँ व्यापक क्षेत्र में

फैलकर अप्रकट ही रहती हैं तथा अप्रकट रहकर ही अपने सारे कार्यों को सहजता से सम्पन्न करती रहती हैं।

इसके आध्यात्मिक भाष्य के लिए ऋषि दयानन्द कृत वेदभाष्य पठनीय है। इसका आधिभौतिक भाष्य इस प्रकार है—

(यत्, इव, इदम्, अस्मि, न, वि, जानामि) एक विद्वान् कहता है कि मैं जो भी प्रत्यक्ष रूप में दिखाई देता हूँ, वैसा मैं हूँ अथवा नहीं, यह मैं अच्छी प्रकार नहीं जानता हूँ। इसका अर्थ यह है कि प्रत्येक विज्ञजन को चाहिए कि वह सदैव आत्मनिरीक्षण करता रहे।

तदनन्तर ग्रन्थकार लिखते हैं कि कुछ वेदमन्त्र निन्दा और प्रशंसा सूचक भी होते हैं। इसका प्रथम निगम इस प्रकार उद्धृत किया गया है— 'केवलाघो भवति केवलादी'। इस मन्त्र का देवता इन्द्र और छन्द त्रिष्टुप् होने से इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से इन्द्रतत्त्व रक्तवर्णीय तीव्र तेज से युक्त होता है। इसका देवता धन-अन्न-दान प्रशंसा भी माना गया है, इस कारण इसके प्रभाव से विभिन्न संयोज्य कण आदि पदार्थों का वियोजन और प्रकाशन भी तीव्र गति से होने लगता है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(केवलादी) इस सृष्टि में जो भी रश्मियाँ एकाकी भटकती रहती हैं, उनको जो कण आदि पदार्थ अवशोषित कर लेते हैं, वे पदार्थ (केवलाघः, भवति) केवल पापरूप ही हो जाते हैं अर्थात् वे पदार्थ अन्य संयोज्य कण आदि पदार्थों को उनकी यजन प्रक्रियाओं से पतित करने वाले हो जाते हैं और वे स्वयं भी किसी के साथ संगत नहीं होते हैं।

इसका आधिभौतिक भाष्य इस प्रकार है—

(केवलादी) अकेला भोजन करने वाला व्यक्ति (केवलाघः, भवति) केवल पाप का अन्न खाने वाला होता है अर्थात् वह पापी ही होता है।

इसका आध्यात्मिक भाष्य इस प्रकार है—

(केवलादी) अपनी सम्पूर्ण अनिष्ट प्रवृत्तियों का भक्षण करने वाला अर्थात् उन्हें नष्ट करने वाला योगी (केवलाघः, भवति) [अघः = अहन्तव्यः (म.द.ऋ.भा.५.२९.८)] जन्म-मरण के चक्र द्वारा प्राप्त नहीं होता अर्थात् वह जन्म-मरण के चक्र से मुक्त हो जाता है।

यहाँ निन्दा एवं प्रशंसा दोनों को ही देखा जा सकता है। अब दूसरा निगम इस

प्रकार उद्धृत किया गया है— 'भोजस्येदं पुष्करिणीव वेश्म'। इस मन्त्र का देवता दक्षिणा अथवा उसको देने वाला है तथा छन्द निचृत् त्रिष्टुप् होने से इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से विभिन्न प्रकार के बल एवं ऊष्मा तथा उनको उत्पन्न करने वाले पदार्थ तीक्ष्ण रक्तवर्णीय तेज से युक्त होते हैं। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(भोजस्य) विभिन्न बलों एवं ऊष्मा आदि के पालक व संरक्षक इन्द्रतत्त्व का (इदम्, वेश्म) यह प्रत्यक्ष सूर्यलोक घर के समान है अर्थात् यह सूर्यलोक इन्द्रतत्त्व का घर है। (पुष्करिणी, इव) वह सूर्यलोक पुष्कर के समान है अर्थात् जिस प्रकार अन्तरिक्ष रूपी पुष्कर में नाना प्रकार के पदार्थ स्थित एवं गतिशील रहते हैं और उन पदार्थों की आकाशतत्त्व में नाना प्रकार की धाराएँ प्रवाहित होती रहती हैं, उसी प्रकार सूर्यादि लोकों के अन्दर इन्द्रतत्त्व की विभिन्न प्रकार की धाराएँ प्रवाहित होती रहती हैं।

अब इसका आधिभौतिक भाष्य करते हैं—

(भोजस्य) प्रजा के पालक और संरक्षक किसी राजा के लिए (इदम्, वेश्म) यह राष्ट्र, जो उसका अपना घर है, अपना परिवार है (पुष्करिणी, इव) कमल के फूलों से भरे हुए सरोवर के समान होता है। इसका अर्थ यह है कि जिस प्रकार जल में कमल सदैव खिलता रहता है, परन्तु उसकी पंखुड़ियाँ जल के स्पर्श से गीली नहीं होती, उसी प्रकार राजा को चाहिए कि वह अपने राष्ट्र में रहते हुए भी राष्ट्र के सुख और ऐश्वर्य से आसक्त न होवे और निरासक्त भाव से सदैव प्रजा का हित करने को पूर्ण प्रयत्नशील रहे।

अब इसका आध्यात्मिक भाष्य इस प्रकार है—

(भोजस्य) सबके पालक परब्रह्म परमात्मा का (इदम्) यह जगत् (पुष्करिणी, इव, वेश्म) अन्तरिक्ष के समान घर है। इसका अर्थ यह है कि जिस प्रकार अन्तरिक्ष में सभी लोक-लोकान्तर विद्यमान हैं और आकाश उन सबके बाहर और भीतर व्याप्त है, उसी प्रकार आकाश सहित सम्पूर्ण सृष्टि के अन्दर और बाहर परमपिता परमात्मा व्याप्त है।

तदुपरान्त ऋग्वेद १०.३४ सूक्त की चर्चा करते हुए ग्रन्थकार लिखते हैं— 'एवमक्षसूक्ते। द्यूतनिन्दा च कृषिप्रशंसा च' अर्थात् इस सूक्त के मन्त्रों में 'द्यूत' की निन्दा एवं 'कृषि' की प्रशंसा है। इस सूक्त को अक्षसूक्त कहा है। इसका आधिभौतिक अर्थ करने वाले इस सूक्त में जुआ खेलने की निन्दा और खेती करने की प्रशंसा का वर्णन मानते

हैं और ऐसा मानना अनुचित भी नहीं है, परन्तु जैसा हम मानते आए हैं कि वेद का स्वाभाविक अर्थ आधिदैविक ही होता है, आध्यात्मिक एवं आधिभौतिक दोनों अर्थ उसी से जुड़े हुए होते हैं। ग्रन्थकार ने यहाँ किसी मन्त्र को उद्धृत नहीं किया है, बल्कि सम्पूर्ण सूक्त के विषय में यह सामान्य बात कही है। इस सूक्त में १४ मन्त्र हैं, जिनमें से हम केवल एक मन्त्र पर चिन्तन करके यह बतलाने का प्रयास करेंगे कि किस प्रकार सर्वत्र ही वेद मन्त्रों का तीन प्रकार से भाष्य हो सकता है किंवा होता है। यहाँ हम उस मन्त्र को प्रस्तुत कर रहे हैं, जिसको सर्वत्र जुआ खेलने की निन्दा और खेती करने की प्रशंसा के रूप में उद्धृत किया जाता है। वह मन्त्र इस प्रकार है—

अक्षैर्मा दीव्यः कृषिमित्कृषस्व वित्ते रमस्व बहु मन्यमानः।
तत्र गावः कितव तत्र जाया तन्मे वि चष्टे सवितायमर्यः॥ [ऋ.१०.३४.१३]

इस मन्त्र का ऋषि कवष ऐलूषोऽक्षो वा मौजवान् है। [मुञ्जः = योनिरेषाऽग्नेर्यन्मुञ्जः (श.ब्रा.६.६.१.२३), उर्क् पशवः (तै.सं.२.१.१.७), ऊर्ग्वै मुञ्जाः (तै.सं.५.१.९.५; काठ.सं.१९.१०)] इसका अर्थ यह है कि इस छन्द रश्मि की उत्पत्ति विभिन्न मरुद् रश्मियों, जिनसे विभिन्न मूलकणों अथवा प्रकाशाणुओं की उत्पत्ति होती है अर्थात् जिनकी प्रधानता में यह उत्पत्ति होती है, उन मरुद् रश्मियों से अथवा कवष ऐलूष नामक ऋषि रश्मियों, जो आकाश में दूर-२ तक व्याप्त होती हैं, से इस छन्द रश्मि की उत्पत्ति होती है। कवष ऐलूष नामक ऋषि रश्मियों के परिज्ञान के लिए 'वेदविज्ञान-आलोकः' २.१९.१ पठनीय है। आचार्य सायण ने इसका देवता कृषि माना है, जबकि स्वामी ब्रह्ममुनि जी ने इसका देवता अक्षप्रशंसा तथा आचार्य वैद्यनाथ शास्त्री ने अक्षकृषि-प्रशंसा माना है। महर्षि यास्क ने इस सम्पूर्ण सूक्त को अक्षसूक्त कहा है, इस कारण इस सम्पूर्ण सूक्त का देवता अक्ष ही सिद्ध होता है। [अक्षाः = अश्नोतेरित्येके क्षियतिनिगमः ... क्षरतिनिगमः ... इत्येके (निरु.५.३), अक्षाः परिधयः (मै.सं.४.५.९)] इसका छन्द त्रिष्टुप् है। इस कारण इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से अक्ष संज्ञक सबका धारक सोम पदार्थ रक्तवर्णीय तीव्र तेज से युक्त होता है। यह सोम पदार्थ ही अग्नि का उत्पत्ति स्थान है।

इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(कितव) उपर्युक्त कवष ऐलूष कितव संज्ञक पदार्थ, जिसके विषय में हम पूर्व में खण्ड ५.२२ में भी चर्चा कर चुके हैं, वह प्रक्षेपक पदार्थ (अक्षैः, मा, दीव्यः) सोम पदार्थ की

रश्मियों को नियन्त्रित नहीं करता है और न वह उन रश्मियों को तेजस्वी बना पाता है। इस कारण सोम रश्मियों से अग्नि उत्पन्न नहीं हो पाता है। (कृषिम्, इत्, कृषस्व) वह कितव संज्ञक पदार्थ सोम रश्मियों को आकृष्ट करता हुआ उन पर छेदक और भेदक प्रहार करने लगता है, जिससे सोम पदार्थ में भारी विक्षोभ होने लगता है।

(वित्ते, रमस्व) इस प्रकार वह कितव संज्ञक पदार्थ अन्तरिक्ष में उस समय विद्यमान सम्पूर्ण पदार्थ के साथ क्रीडा करने लगता है और इस प्रकार (बहु, मन्यमानः) धीरे-२ व्यापक रूप से प्रकाशित होने लगता है। ये कितव संज्ञक रश्मियाँ कैसे अपने स्वरूप को परिवर्तित कर लेती हैं, इसके विषय में 'वेदविज्ञान-आलोकः' के उपर्युक्त सन्दर्भ को ध्यान से पढ़ना चाहिए। (तत्र, गावः) उस समय उस अन्तरिक्ष में विभिन्न प्रकार की किरणें, रश्मियाँ अथवा कण (तत्र, जाया) [जाया = जाया गार्हपत्यः अग्निः (ऐ.ब्रा.८.२४)] एवं ऐसे ऊष्मायुक्त मेघ, जिनमें तारों के निर्माण की प्रक्रिया उत्पन्न होने वाली होती है, (अयम्, अर्यः, सविता) उस सम्पूर्ण पदार्थ के नियन्ता विद्युत् एवं उससे समृद्ध तारों को (तत्, मे, विचष्टे) उस कितव संज्ञक रश्मियों के विशाल क्षेत्र में विशेष रूप से प्रकाशित करने लगते हैं अर्थात् उस क्षेत्र में धीरे-२ तारों का निर्माण प्रारम्भ होने लगता है।

इस मन्त्र का आधिभौतिक भाष्य स्वामी ब्रह्ममुनि परिव्राजक अथवा आचार्य वैद्यनाथ शास्त्री आदि का देख सकते हैं।

इसका आध्यात्मिक भाष्य इस प्रकार है—

(कितव) [कितवः = कृतवान्वाशीर्नामकः (निरु.५.२२)] अष्टाङ्ग योग पर आश्रित किंवा सभी यम-नियमादि अङ्ग जिसमें आश्रित हैं, ऐसे पुरुषार्थी योगनिष्ठ पुरुष को चाहिए कि वह (अक्षैः, मा, दीव्यः) [अक्षः = इन्द्रियछिद्रम् (म.द.ऋ.भा.३.५३.१७)] अपनी इन्द्रियों के दोषों से नहीं खेले अर्थात् दोषपूर्ण इन्द्रियों से व्यवहार न करे, बल्कि (कृषिम्, इत्, कृषस्व) [कृष्टीः = कर्मवन्तो भवन्ति (निरु.९.२२)] अपनी इन्द्रियों के दोषों को खोद-२ कर दूर करने का प्रयत्न करे अर्थात् अपने समस्त दोषों को एक-२ करके दूर करने का नित्य प्रयत्न करता रहे।
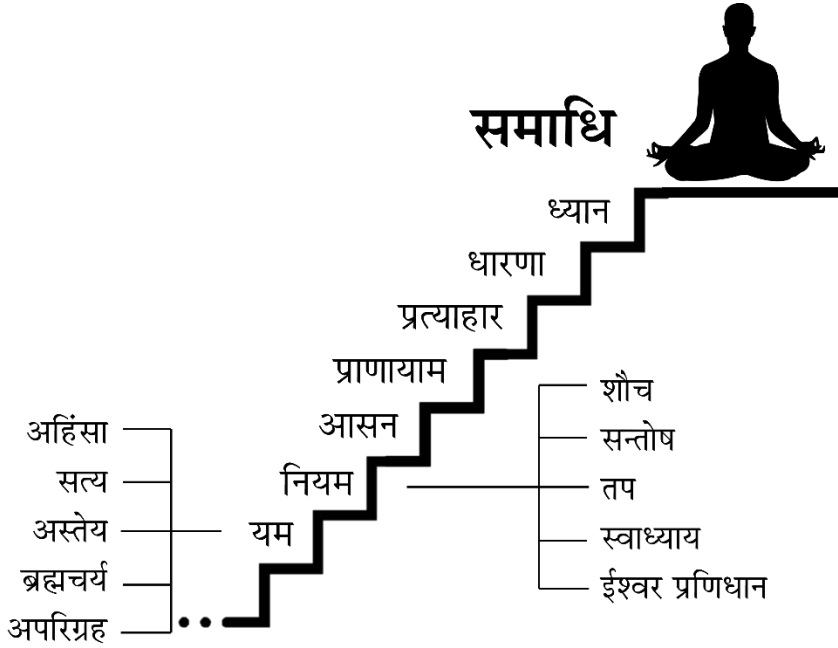
(वित्ते, रमस्व, बहु, मन्यमानः) इसके पश्चात् वह सम्प्रज्ञात समाधि में प्राप्त शुद्ध ज्ञान व आनन्द में रमण करते हुए स्वयं को धन्य माने, (तत्र, गावः, तत्र, जाया) ऐसे योगनिष्ठ पुरुष के अन्तःकरण में नाना प्रकार की ऋचाएँ रमण करती हैं और वे ऋचाएँ ही जायारूप होती हैं, जिनके अन्दर नाना प्रकार का ज्ञान-विज्ञान एवं आनन्द भरा होता है। इसका अर्थ यह है कि उन ऋचाओं के अन्दर रमण करता हुआ वह योगी परमात्मा का अनुभव करने की ओर अग्रसर होने लगता है। (तत्, मे, विचष्टे, सविता, अयम्, अर्यः) सृष्टिकर्ता एवं सबका प्रेरक व नियन्ता परमात्मा उस योगी को ऐसा उपदेश करता है अर्थात् उसी की प्रेरणा से योगी के अन्तःकरण में वेद की ऋचाएँ साक्षात् होकर अद्भुत विज्ञान और आनन्द को उत्पन्न करती हैं।

इस प्रकार अब तक ग्रन्थकार ने जितने भी प्रकार की ऋचाओं का वर्णन किया, उस वर्गीकरण का इस बात से कोई सम्बन्ध सिद्ध नहीं होता कि वेद मन्त्रों का भाष्य कितने प्रकार से हो सकता है। वेदविद्या से अनभिज्ञ लोग इस वर्गीकरण से ऐसा आशय निकालते हैं कि प्रत्येक श्रेणी की ऋचाओं का एक ही प्रकार का अर्थ हो सकता है, यह बालकपन की बात है। पाठकों ने अब तक देखा है कि प्रत्येक श्रेणी के मन्त्रों का हमने

तीनों प्रकार से भाष्य किया है। यद्यपि ऐसा करना हमारे लिए आवश्यक नहीं था, तदपि हमने ऐसा इसलिए किया ताकि ये विद्वान् अपने दुराग्रह को छोड़ सकें। खण्ड के अन्त में ग्रन्थकार लिखते हैं कि इस प्रकार अग्नि आदि ऋषियों ने उच्च एवं निम्न अभिप्राय वाले विभिन्न प्रकार के मन्त्रों का दर्शन किया अर्थात् उनको अन्तरिक्ष से ग्रहण किया। यहाँ उच्च और निम्न अभिप्राय का आशय यह है कि वेद मन्त्र जहाँ मनुष्य को साधारण लोक-व्यवहार की प्रेरणा करने वाले होते हैं, वहीं उच्च कोटि के वैज्ञानिक रहस्यों से भी परिपूर्ण होते हैं।

* * * * *

═ चतुर्थः खण्डः ═

तद्येऽनादिष्टदेवता मन्त्रास्तेषु देवतोपपरीक्षा।
यद्दैवतः स यज्ञो वा यज्ञाङ्गं वा तद्देवता भवन्ति।
अथान्यत्र यज्ञात्प्राजापत्या इति याज्ञिकाः। नाराशंसा इति नैरुक्ताः।
अपि वा सा कामदेवता स्यात्। प्रायोदेवता वा। अस्ति ह्याचारो बहुलं लोके।
देवदेवत्यमतिथिदेवत्यं पितृदेवत्यम्।
याज्ञदैवतो मन्त्र इति। अपि ह्यदेवता देवतावत् स्तूयन्ते।
यथाश्वप्रभृतीन्योषधिपर्यन्तानि [निघं.५.३.१-२२]।
अथाप्यष्टौ द्वन्द्वानि [निघं.५.३.२९-३६]।
स न मन्येतागन्तूनिवार्थान् देवतानाम्। प्रत्यक्षदृश्यमेतद्भवति।
माहाभाग्याद् देवताया एक आत्मा बहुधा स्तूयते।
एकस्यात्मनोऽन्ये देवाः प्रत्यङ्गानि भवन्ति।
अपि च सत्त्वानां प्रकृतिभूमभिर्ऋषयः स्तुवन्तीत्याहुः।
प्रकृतिसार्वनाम्न्याच्चेतरेतरजन्मानो भवन्ति। इतरेतरप्रकृतयः। कर्मजन्मानः।
आत्मजन्मानः। आत्मैवैषां रथो भवति। आत्माश्वः। आत्मायुधम्। आत्मेषवः।

आत्मा सर्वं देवस्य॥ ४॥

वेदार्थ ज्ञान के लिए किसी भी ऋचा के देवता का ज्ञान अनिवार्य होता है। किसी मन्त्र का देवता वह पदार्थ है, जो उस छन्द रश्मि से सर्वाधिक प्रभावित होता है तथा यही ऋचा का मुख्य प्रतिपाद्य विषय होता है। प्रायः देवता किसी मन्त्र में प्रत्यक्ष दिखाई देता है अर्थात् मन्त्र में उसका प्रत्यक्ष वर्णन होता है, परन्तु अनेकत्र ऐसा नहीं भी होता है। इस कारण देवता की परीक्षा बहुत ध्यान से करनी चाहिए। इस विषय में ग्रन्थकार का कथन है— जिन मन्त्रों में देवता अनादिष्ट होता है अर्थात् मन्त्रों में उनका निर्देश नहीं होता, उसकी परीक्षा की जाती है अर्थात् उसकी छानबीन की जाती है।

इस खण्ड का स्वामी ब्रह्ममुनि परिव्राजक ने अपने ग्रन्थ 'निरुक्तसम्मर्शः' में अच्छा भाष्य किया है, जिसे हम यहाँ उद्धृत कर रहे हैं—

"**भा.**— तत् खलु येषु मन्त्रेषु देवता नादिष्टा तेऽनादिष्टदेवताका मन्त्राः, तेषु देवताया उपपरीक्षा-उपरिष्टाद्युक्तिमनुसृत्य या परीक्षा सोपपरीक्षाऽधिक्रियतेऽतः। अनवगतसंस्काराणां निर्वचनप्रकाराणामिवैषा देवतोपपरीक्षा, अत्र प्रस्तूयते। सा चेत्थम्—

भा.— यां देवतामभिलक्ष्य यज्ञो वा यज्ञाङ्गं वानुष्ठीयते क्रियते तत्र यज्ञे यज्ञाङ्गे वा येऽनादिष्टदेवताः-अदृष्टदेवताकाः-मन्त्राः पठ्यन्ते तेषामनादिष्टदेवतानां मन्त्राणां तदा देवता सा हि मन्तव्या। सोमयागे पठिताः-अनादिष्टदेवताकाः- मन्त्रा अपि सोमदेवताकाः, अग्नि-ष्टोमयागेऽनादिष्टदेवताकाः-मन्त्राः-अग्निदेवताका विज्ञेयाः।

भा.— यज्ञादन्यत्र तेऽनादिष्टदेवताका मन्त्राः प्रजापतिदेवताका मन्तव्याः, प्रजापतिरनिरुक्तः, प्रजापतिश्च परमात्मा। इति याज्ञिका मन्यन्ते।

भा.— अनादिष्टदेवताका मन्त्राः-नाराशंसाः-नराशंसदेवताकाः सन्तीति नैरुक्ता मन्यन्ते। नराणां नरेभ्यो वाऽऽशंसाः-व्यवहारशंसनानि याभिस्ता नराशंसा देवतास्ता येषु मन्त्रेषु ते नाराशंसाः-मन्त्राः। यद्वा याभिर्नराः-आशस्यन्ते ताः-नराशंसास्तद्देवत्या नाराशंसा मन्त्राः। 'येन नराः प्रशस्यन्ते स नाराशंसो मन्त्रः' (निरु.९.९) अथवा नराणां प्राणिनां शंसाः शंशसनीयास्ते नराशंसा मनुष्याः। 'मनुष्या वै नराशंसः' (तै.ब्रा.२.७.५.२)। तद्विषयकास्तद-व्यवहारविषयका मन्त्रा नाराशंसाः।

भा.— अपि सम्भावनायाम्, यद्वा सा यज्ञादन्यत्र देवता-अनादिष्टा कामदेवता कामतः-इच्छातः कल्पनीया इच्छारूपा वा देवता मन्तव्या-अभीष्टफलसाधनत्वात्।

भा.— प्रायोदेवता वा-प्रायः सामान्यं कुत्रापि योगार्हमभीष्टं तद्विषयिका देवता प्रायोदेवता। यथा लोके बहुलं बहुधा व्यवहारोऽस्ति, सिद्धं भोज्यमेकं वस्तु पायसं तदेव देवदेवत्यम्-अग्नये देवाय होतव्यत्वाद् देवदेवत्यम्, तदेवातिथये समर्प्यमाणत्वाददतिथिदेवत्यम्, तदेव पितृभ्यो वंश्येभ्यो भोजनार्थं दीयमानत्वात् पितृदेवत्यम्, तदेकं वस्तु पायसमनेकेषूपयुज्य-मानत्वादनेकदेवत्यं यथावसरं नानादेवत्यं यद्वा यथेष्टदेवत्यं जातं तथा यज्ञादन्यत्राधीयमाना अनादिष्टदेवताका मन्त्राः खल्वपि प्रायोदेवता यथावसरदेवताकाः।

भा.— इतिशब्दोऽलमर्थेऽवसाने समाप्तौ। वेदे मन्त्रो याज्ञदैवतः-याज्ञो विषयो दैवतो विषयश्च यस्मिन् स याज्ञदैवतः। याज्ञो यज्ञसम्बन्धी यज्ञः कर्मकाण्डं तत्सम्बन्धी याज्ञः, देवताः खल्वग्न्यादयस्तत्सम्बन्धी दैवतः। मन्त्रः खलु यज्ञं प्रतिपादयति देवतां वा वर्णयति। मन्त्रस्य द्विविधत्वात् स यज्ञदेवताको यद्वा देवदेवताको मन्त्र इति निश्चयः, एवं मन्त्राणां देवताविषये पक्षद्वयम्। अनादिष्टदेवताकानां मन्त्राणां द्वयी गतिः। यज्ञे यज्ञाङ्गे प्रयुक्तानां यज्ञयज्ञाङ्ग-देवतात्वम्, तद्भिन्नप्रसङ्गेऽध्ययने प्रजापतिदेवतात्वं याज्ञिकमते। नाराशंसाः, कामदेवताः, प्रायोदेवतास्ते खलु नैरुक्तपक्षे। 'याज्ञदैवतो मन्त्रः' इति वचनं सर्वैर्भाष्यकारैरन्यथा व्याख्यात-मुत्तरत्राक्षेपसमाधानाभ्यां सह साङ्गत्ये व्याख्यातव्यमासीत्।

भा.— अपि खलु-अदेवताः पदार्थाः-अनित्या देवतावत्-अग्निवायुसूर्यप्रभृतिदेवतावत् स्तूयन्ते देवताः सूर्यादयस्तु नित्याः सन्ति तस्मात् ते तु दिव्यगुणवत्त्वाद् देवता अतो नित्याः पदार्था देवता भवितुमर्हन्ति नानित्याः-न चाश्वादिषु यत्कामस्यर्षेरार्थपत्यम्। यथा च 'अथ यानि पृथिव्यायतनानि सत्त्वानि स्तुतिं लभन्ते तान्यतोऽनुक्रमिष्यामः। तेषामश्वः प्रथमागामी भवति।' (निरु.अ.९ खं. १-२८ शब्दाः १-२२) ते च 'अश्वः, शकुनिः, मण्डूकाः-इति जीवाः। अक्षः, ग्रावाणः, रथः, ओषधयः' इति यावत्। इत्याक्षेपस्तु दैवतो देवदेवताको मन्त्रः- इति पक्षे।

भा.— अन्यच्च 'अथातोऽष्टौ द्वन्द्वानि' इति प्रकृत्य 'उलूखलमुसले, हविर्धाने, आर्त्नी-इत्यादीनि द्वन्द्वान्यष्टौ' (निरु.अ.९ २९-३६ शब्दाः) इत्युपयोज्यानि वस्तूनि देवतावत् स्तूयन्ते, यज्ञो देवता यज्ञस्य विधायकानां मन्त्राणां पुनः 'उलूखलमुसले' आदीनि हविषः कुट्टनादि-

साधनानि न यज्ञाख्यानि। न चैतेषु यत्कामस्यर्षेरार्थपत्यम्। पुनः कथं देवतावत् स्तूयन्ते, इत्याक्षेपो याज्ञो यज्ञदेवताको मन्त्रः-इति पक्षे।

भा.— स आक्षेपस्य कर्ता देवतानां खल्वेतानश्वरथादीन् मनुष्यादीनामागन्तून् मनुष्यादिभिः सहागमनयोग्याननित्यानुपकरणपदार्थानिव न मन्येत, यतो मनुष्यास्त्वनित्यास्तेषामश्वरथादय आगन्तवः प्राप्तव्या उपकरणपदार्थाः—अपि खल्वनित्याः सन्ति। न तथा देवतानामेतेऽश्वर-थादय आगन्तवः कुतश्चित् प्राप्तव्याः किन्तु देवताः सन्ति नित्यास्तासामश्वरथादयोऽपि नित्याः सन्ति। अनित्यत्वदृष्ट्या त्वेषोऽदेवतात्वस्याक्षेपस्य परिहारः। पुनस्तेऽश्वरथादयोऽपि कथं स्तोतव्या इत्यत्र 'प्रत्यक्षदृश्यमेतद् भवति' एतत् तु प्रत्यक्षदृश्यं प्रत्यक्षं द्रष्टव्यं सर्वैर्लोके यत्-अनित्यानां मनुष्याणामनित्या अश्वरथादयोऽपि तैर्मनुष्यैः स्तुतैः सह तेऽश्वरथादयोऽपि स्तूयन्ते, तथैवात्रापि नित्यानां देवतानां नित्या अश्वरथादयस्ताभिर्नित्याभिर्देवताभिः स्तुताभिः सह स्तूयन्ते।

भा.— देवतायाः खलु माहाभाग्यात्-महाभागत्वात्-महाभाग्यवत्त्वाद्धेतोरेक आत्मा बहुधा स्तूयते या हि तस्याश्वस्य रथस्यान्योपकरणस्य स्तुतिः सा तस्या देवतायाः स्तुतिर्विज्ञेया, अस्य राज्ञोऽश्वः संग्रामे स्थिरः प्रहारक इति स्तुतिरश्वस्य न मन्तव्या राज्ञ एव स्तुतिः। अस्य राज्ञो रथ सेनारथोऽस्त्राणां प्रवर्षकः-इति रथस्य स्तुतिर्न मन्तव्या, राज्ञः स्तुतिरेव। यस्य राज्ञः पार्श्वे नाश्वो न रथो न सेना न स स्तुतिभाक्। अध्यात्मप्रकरणे परमेश्वर एको बहुभिर्नामभिः स्तोतव्यो वेदे-उक्तो हि 'इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्। एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः' (ऋ.१.१६४.४६) अन्ये देवा अश्वरथादयः-उपकरणदेवाः-एकस्य आत्मन आत्मभूतस्य मुख्यदेवस्य प्रत्यङ्गानि प्रतिगतानि सम्बद्धान्यङ्गानि भवन्ति, अनिवार्यतया सहयोगीनि भवन्ति, तस्मान्नितान्तमुचितं यत् प्रत्यङ्गानामश्वरथादीनां स्तुतिस्तेषा-मङ्गिन आत्मभूतस्य देवस्य हि स्तुतिरिति गतम्॥

भा.— सत्त्वानां पदार्थानां प्रकृतिभूमभिः स्वभावबहुत्वेन-ऋषयः स्तुन्वतीति कथयन्ति केचनाचार्याः। कदाचिदन्यं स्वभावं पश्यन्ति कदाचिदन्यं पश्यन्ति यं यं यदा पश्यन्ति तदा तथाभूतं स्तुवन्ति, तेषां मते भिन्नभिन्ननामभिः स्तवनं खलु तस्यैवैकस्य वस्तुनोऽस्ति न हि वस्तुनो भिन्नत्वं भवति। य एक एव जनो बहुस्वभावो बहुस्वशक्तिकोऽनेककार्याणां विधाय-कोऽध्यापनादध्यापनकालेऽध्यापको यजनकार्यकरणाद् यजनकाले याजक ऋत्विक् पुरोहितो वा, कलारचनात् रचनकाले कलाकारः शिल्पी वोच्यते।

भा.— प्रकृतेः सर्वनामविषयकयोग्यत्वात्। सर्वैर्नामभिः स्तोतव्यः सः, प्रकृतयः काश्चनान्त-रिक्यः काश्चन बाह्याः, आन्तरिकीः प्रकृतीरभिलक्ष्य-आन्तरिकनामभिः स्तूयते देवः, बाह्याः प्रकृतीरभिलक्ष्य बाह्यनामभिः स्तूयते। अश्नुते व्याप्नोतीति कृत्वा सोऽश्वः, संसारवहनधर्म-वत्त्वाद् वह्निः, मुक्तानां रमणस्थानत्वाद् रथः-इत्यादि।

भा.— परस्परमपेक्ष्येतरेतरजन्मवन्तः परस्परमन्योऽन्यप्रकृतिभूताः देवा भवन्ति तत्र कस्य चिद् देवस्यादेवत्वं नैव कल्पयितुं शक्यते। यथा 'अदितेर्दक्षो अजायत दक्षाद्वदितिः परि' (ऋ.१०.७२.४) नह्यत्रैको देवो देवताऽन्योऽदेवतेति वक्तुं शक्यते तथैव सति ह्यश्ववति भवत्यश्वः सत्यश्वे भवत्यश्ववान्, यदि-अश्ववान् पदार्थो देवता तदाऽश्वोऽपि देवता न त्वदेवता।

भा.— एवं ते भिन्नभिन्ननामका देवाः कर्मजन्मानः कर्मवशात् ते भिन्न-भिन्ननामभिः प्रसिद्धाः -सरणात् स एव सूर्यो भवति-अदितेर्जातत्वाद् भवति स आदित्यः। स च-इन्द्रः-ऐश्वर्ययोगात्, दिवाकरो दिवाकरणात्। यद्वा ते देवाः-आत्मजन्मानः, य एषां देवानामात्मा-आत्मभूतो महादेवो महाभाग्यवान् परमात्मा तस्माज्जायमानत्वात् ते सूर्यो वायुः-इति प्रभृतयो देवाः, नह्यदेवाः, न चेमे मनुष्यकृताः, ये मनुष्यकृतास्तेऽदेवाः स्युर्न वा स्युर्मनुष्या अदेवाः-एते तु देवा एव।

भा.— यथा ते सूर्यादयो देवा आत्मजन्मानः परमात्मजन्मानस्तथैषां सूर्यादीनां रथो वाऽश्वो न मानवीयो रथो नाश्वो मन्तव्यः किन्तु सूर्यादिवद् रथोऽप्यात्मा स्वस्वरूपात्मको भवत्यश्वोऽपि स्वस्वरूपात्मक आयुधमपि स्वस्वरूपात्मकमिषवोऽपि स्वस्वरूपात्मिका भवन्ति न हि तत्स्वरूपाद् भिन्ना अश्वरथादयो मनुष्यादीनामश्वरथादीनामिव, यत् किञ्च सूर्यादिदेवानामुप-करणं सर्वं तस्य देवस्य सूर्यादिकस्यात्मा स्वरूपमस्ति न ततो भिन्नं तस्माद् स आक्षेपः 'अदेवता देवतावत् स्तूयन्ते' स न युक्तः, न ह्यदेवता एतेऽश्वरथादयः किन्तु तेषां सूर्यादीनां देवानां तत्स्वरूपाः सन्ति। 'देवस्य' इति द्विर्वचनं क्वचिदुपलभ्यते तत् स्याद् देवतोपपरीक्षा-समाप्त्यर्थम्।''

आचार्य भगीरथ शास्त्री का भाष्य हिन्दी में है, उसे भी हम यहाँ उद्धृत कर रहे हैं—

''तद् अतः ये जो मन्त्राः मन्त्र अनादिष्ट देवताः देवताओं के चिह्नों से रहित हैं, तेषु

उनके विषय में अब देवतोपपरीक्षा देवताओं की परीक्षा की जायेगी।

स यज्ञः वह यज्ञ यद्देवतः जिस देवता वाला है— जैसे अग्निष्टोम यज्ञ अग्नि देवता वाला है— यज्ञाङ्ग वा अथवा जो यज्ञाङ्ग जिस देवता वाला है, उस यज्ञ अथवा उस यज्ञाङ्ग में जो अनादिष्ट देवताक मन्त्र विनियुक्त हैं, उन सब मन्त्रों का वही देवता है, जो उस यज्ञ का या उस यज्ञाङ्ग का है। 'अनादिष्ट देवता मन्त्राः' इसका शब्दार्थ यह है— अनादिष्टा अनिर्दिष्टा अनिरूपिता देवता येषां ते अनादिष्ट-देवता-मन्त्राः अर्थात् जिन मन्त्रों में किसी देवता विशेष का निर्देश नहीं है, अतएव जो देवता चिह्न-रहित हैं, वे अनादिष्ट-देवताक मन्त्र कहाते हैं। जैसे कि 'आग्नेयः अग्निष्टोमः' अग्निष्टोम यज्ञ अग्निदेवताक है, उस यज्ञ में जो अनादिष्ट-देवताक मन्त्र विनियुक्त हैं समझ लेना चाहिए कि उन मन्त्रों का देवता भी अग्नि ही है। यज्ञाङ्ग का अर्थ है— यज्ञों के साधन, जिनसे यज्ञ सिद्ध होता है। जैसे शिल्पयज्ञ में अग्नि, वायु, विद्युत् आदि साधन हैं।

अथ और अन्यत्र यज्ञात् जो यज्ञ विषय के बाहर के अनादिष्ट-देवताक मन्त्र हैं। प्राजापत्याः वे सब प्रजापति-देवताक हैं। ऐसा याज्ञिक कहते हैं अर्थात् जो मन्त्र यज्ञ और यज्ञाङ्ग के बाहर के हैं— उपाकरण प्रायश्चित्त जपादि में जिनका विनियोग होता है, ऐसे मन्त्रों का फिर कौन देवता होगा? इस पर याज्ञिकों का कहना है कि उनका देवता प्रजापति है। प्रजापति-परमात्मा ही उनमें उपास्य है, अतः वही उनका देवता है।

नैरुक्ताः निरुक्तकारों का सिद्धान्त है कि जो यज्ञ में विनियुक्त नहीं हैं, ऐसे अनादिष्ट देवताक मन्त्रों का देवता नाराशंसाः नराशंसः देवता येषां ते नाराशंसाः मन्त्राः- अग्नि या यज्ञ ही है। यज्ञ शब्द से 'यज्ञो वै विष्णुः' के अनुसार विष्णु देवता अभिप्रेत है। परन्तु मुख्य सिद्धान्त यही है कि ऐसे सभी अनाविष्कृत-देवताक मन्त्रों का देवता अग्नि ही है। क्योंकि 'अग्निर्हि भूयिष्ठभाग् देवतानाम्', 'अग्निर्वै सर्वा देवता' इत्यादि प्रमाणों के आधार पर सब देवताओं में अग्नि की मुख्यता तथा सब देवताओं में अग्नि का निवास निर्विवाद है, अतः जिस मन्त्र में किसी देवता का चिह्न नहीं मिलता, वहाँ मुख्यताहेतु से अग्नि ही लिया जाता है।

अपि वा अथवा सा वह ऋक् या वह मन्त्र जो अनाविष्कृत देवताक है— कामदेवता स्यात् अपनी-अपनी इच्छानुसार कल्पित-देवताक हो जायेगा। अपनी इच्छा के अनुसार वहाँ देवता की कल्पना कर ली जायेगी।

प्रायोदेवता वा अथवा प्राय: शब्द से अधिकार लिया गया है— जिस देवता के अधिकार में ऐसे अनाविष्कृत देवतालिङ्ग मन्त्र पढ़े गए हों, उनका भी वही देवता होगा, जो देवता अधिकृत है। अथवा-प्राय: शब्द बाहुल्य का वाचक है— ऐसे अनाविष्कृत देवताक मन्त्र सर्वसाधारण होने से बहुदैवत या वैश्वदेव कहलावेंगे। अस्ति हि आचार: लोके बहुलम् क्योंकि लोक में प्राय: यह रीति है कि देवदैवत्यम्-अतिथिदैवत्यम्-पितृदैवत्यम् इदं मे कर्म द्रव्यं वा देवदैवत्यम्— यह मेरा कार्य या यह द्रव्य देवदेवता को उद्देश्य करके है, यह मेरा द्रव्य अतिथिदेवता को उद्देश्य करके है। यह द्रव्य पितृ-देवता-निमित्तक है, इत्यादि।

अब अन्तिम निश्चय कहते हैं— मन्त्र: वह मन्त्र जिसका कोई देवता नहीं है, वह याज्ञदैवत: याज्ञ है अथवा दैवत है। 'विष्णुर्वै यज्ञ:' के अनुसार यज्ञ का अर्थ विष्णु है और निरुक्तकारों के यहाँ विष्णु शब्द आदित्य का ही गमक है, अत: वह मन्त्र जो अनिर्दिष्ट-देवताक है— आदित्य-देवताक है।

या फिर दैवत है देवता जिस मन्त्र का वह दैवत कहाता है और सामान्य देवतात्व अग्नि में ही है 'अग्निर्वै सर्वा देवता' इस सिद्धान्त से। इसलिए वह मन्त्र-जिसका कोई देवता नहीं-आग्नेय है— अग्निदेवताक है। तो इस प्रकार ऐसे सब मन्त्रों के देवता या तो आदित्य है, या अग्नि है।

क्यों जी! अपि हि अदेवता देवतावत् स्तूयन्ते जो देवता नहीं हैं, उनकी देवतावत् स्तुति की गई है? अश्वप्रभृतीनि ओषधिपर्यन्तानि जैसे अश्व से लेकर ओषधिपर्यन्तो की।

और आठ द्वन्द्वों की उलूखल, मुसल, हविर्धान, द्यावापृथिवी आदि की भी स्तुति की गई है, ऐसा क्यों?

स न मन्येत उस मेधावी शिष्य को या नास्तिक को यह उट्टङ्कना नहीं करनी चाहिए कि जिस प्रकार आगन्तून् इव अर्थान् सांसारिक पदार्थ आगन्तु हैं और अपायशील हैं— मनुष्य अनित्य हैं, उनके उपकरण अश्वादि भी अनित्य हैं। इसी प्रकार देवतानाम् देवताओं और उनके उपकरणों का भी अनित्यत्व है और अनित्य होने से स्तुति ही निरर्थक है। प्रत्यक्षदृश्यम् एतद् भवति यह प्रत्यक्ष में देखा जाता है, जैसे उपकरण अश्वादि हैं और उपकरणीय मनुष्यादि हैं, इसी प्रकार इन्द्राग्नि आदि देवता उपकार्य और उनके हरि रोहित हरित् आदि उपकरण अनित्य हैं। सो इस प्रकार उपकरणोपकार्यत्व सामान्य से मनुष्य और

अश्ववत् ये भी अनित्य हैं। अतः इनकी स्तुति निरर्थक है।

इसका उत्तर देते हैं— देवताया माहाभाग्यात् देवता के महैश्वर्य्य-सम्पन्न होने से एक आत्मा एक होता हुआ भी वह देवात्मा कारणभेद से अथवा कार्यभेद से बहुधा बढ़ता हुआ- बहुत होता हुआ स्तूयते स्तुति किया जाता है। अतः देवता अथवा उनके उपकरणों की स्तुति निरर्थक नहीं है। देवता के ऐश्वर्य्य के विषय में स्वयं वेद प्रमाण है— तद्यथा—

'रूपं रूपं मघवा बोभवीति मायाः कृण्वानः'।

अर्थात् अनेक माया रचता हुआ इन्द्र प्रतिरूप में प्रत्येक स्थान पर उपस्थित हो जाता है।

अन्य देवाः इन्द्र सूर्यादि भिन्न-भिन्न देवता एकस्य आत्मनः देवतात्वेन एक ही वस्तु के प्रत्यङ्गानि भवन्ति प्रत्यवयव हैं। जैसे मृदात्मना सब घट एक हैं और वैसे घटत्वेन प्रत्येक घट भिन्न-भिन्न है।

अपि च किं च सत्त्वानाम् अश्वादि पदार्थों का प्रकृतिभूमभिः सत्तालक्षण एक ही महात्मा हिरण्यगर्भ के स्थावर जङ्गम भेद से— अनेकधा विपरिणाम से कार्य कारण में अभेद बुद्धि रखते हुए ऋषयः ऋषियों ने स्तुवन्ति अश्वादिकों की भी स्तुति की है, इत्याहुः ऐसा तज्ज्ञ लोग कहते हैं।

च और प्रकृतिसार्वनाम्न्यात् प्रकृतेः सर्वनाम प्रकृति-सर्वनाम, तस्य भावः तस्मात् प्रकृतिसार्वनाम्न्यात्। क्योंकि महैश्वर्य-सम्पन्न देवता की यह सारी विभूति है— स्थावर जङ्गमात्मक सारा जगत् है, अतः यह भी कहना अयुक्त है कि अदेवताओं की देवतावत् स्तुति की गई है अर्थात् जिन्हें तुम अदेवता कहते हो, उनमें भी कारणत्वेन देवता विद्यमान है और इस प्रकार देवता की ही स्तुति की गई है।

यह जो कहा गया है कि मनुष्य के उपकरणों की तरह देवताओं के उपकरण भी अनित्य हैं और इसी से मनुष्य और देवता समान हैं, सो ठीक नहीं। क्योंकि मनुष्य और देवों में बहुत भेद है। देवधर्म मनुष्यधर्म से सुतरां भिन्न है। ऐश्वर्य और अनैश्वर्य के कारण। देवता ऐश्वर्य सम्पन्न हैं और मनुष्य अनीश्वर हैं। कैसे-बताते हैं— इतरेतरप्रकृतयः अग्नि आदि देवता आपस में एक-दूसरे का कारण होते हुए इतरेतरजन्मानः एक-दूसरे को जन्म देते हैं। समर्थ होने से। कहीं अग्नि सूर्य को पैदा करती है 'एष प्रातः प्रसुवति' आदि प्रमाण

से। तो कहीं सायंकाल को चलकर वही सूर्य अग्नि को जन्म देता है। इस प्रकार सब देवता आपस में एक-दूसरे के कार्य-कारण हैं, परन्तु मनुष्य नहीं। देवदत्त का पुत्र यज्ञदत्त पुत्र ही रहता है, उसका कभी बाप नहीं बनता।

तो फिर यह बताओ कि ये अग्न्यादि ऐसे सामर्थ्य रखते हुए अग्नि आदि रूप में जन्म क्यों लेते हैं, बताते हैं—

कर्मजन्मानः कर्मनिमित्तं जन्म येषां ते कर्मजन्मानः सांसारिक प्राणियों के कर्मफल की सिद्धि के लिए उनकी ठीक से लोकयात्रा चलाने के लिए ही अग्नि आदि देवता विग्रह धारण करते हैं, क्योंकि बिना अग्नि सूर्य आदि के हमारा काम नहीं चल सकता, अतः उन्हें जन्म लेने का कष्ट करना पड़ता है।

तो फिर ये किससे उत्पन्न होते हैं? इनका कारण कौन है? उत्तर देते हैं—

'आत्मजन्मानः' आत्मनो जन्म येषां ते— अपने आप जन्म लेते हैं— लोकानुग्रह-काङ्क्षया। (लोकानुग्रह की इच्छा से)

और इस प्रकार सर्वैश्वर्य्य सम्पन्न होते हुए इन देवताओं का सङ्कल्पमात्र से ही अपना आत्मा ही रथ बन जाता है, आत्मा ही घोड़ा, आयुध, बाण और सब कुछ जो कुछ ये चाहते हैं, बन जाता है। अतः तुम्हारी यह आशङ्का निराधार है कि अश्वादि अदेवता की देवतावत् स्तुति की जाती है।''

* * * * *

≡ पञ्चमः खण्डः ≡

तिस्र एव देवता इति नैरुक्ताः। अग्निः पृथिवीस्थानः।
वायुर्वेन्द्रो वान्तरिक्षस्थानः। सूर्यो द्युस्थानः।
तासां माहाभाग्यादेकैकस्या अपि बहूनि नामधेयानि भवन्ति।
अपि वा कर्मपृथक्त्वात्। यथा होताध्वर्युर्ब्रह्मोद्गातेत्यप्येकस्य सतः।
अपि वा पृथगेव स्युः। पृथग्घि स्तुतयो भवन्ति। तथाभिधानानि।

यथो एतत्कर्मपृथक्त्वादिति। बहवोऽपि विभज्य कर्माणि कुर्युः।
तत्र संस्थानैकत्वं सम्भोगैकत्वं चोपेक्षितव्यम्।
यथा पृथिव्यां मनुष्याः पशवो देवा इति स्थानैकत्वम्।
सम्भोगैकत्वं च दृश्यते।
यथा पृथिव्याः पर्जन्येन च वाय्वादित्याभ्याञ्च सम्भोगः।
अग्निना चेतरस्य लोकस्य। तत्रैतन्नरराष्ट्रमिव॥ ५॥

पूर्व खण्ड में आत्मा अर्थात् परमात्मा को सब कुछ बतलाने के पश्चात् यहाँ देवताओं के मुख्यतः तीन प्रकार बतलाए हैं। आत्मा एवं परमात्मा को सब कुछ बतलाने का अर्थ यही है कि परमात्मा हर पदार्थ के अन्दर और बाहर विद्यमान है। इस कारण सब कुछ ब्रह्ममय है तथा ब्रह्म केवल एक है, इसी कारण उसे अद्वैत कहा गया है। इसके लिए अथर्ववेद में कहा गया है—

न द्वितीयो न तृतीयश्चतुर्थो नाप्युच्यते। य एतं देवमेकवृतं वेद॥
न पञ्चमो न षष्ठः सप्तमो नाप्युच्यते। य एतं देवमेकवृतं वेद॥
नाष्टमो न नवमो दशमो नाप्युच्चयते। य एतं देवमेकवृतं वेद॥
[अथर्व.१३.४.१६-१८]

इससे यह सिद्ध कहीं नहीं होता कि ब्रह्म के अतिरिक्त और किसी पदार्थ की कोई सत्ता नहीं है, बल्कि इसका केवल यही अर्थ है कि ब्रह्म के समकक्ष इस ब्रह्माण्ड में किसी अन्य पदार्थ की कोई सत्ता नहीं है, तब ब्रह्म से महान् किसी पदार्थ की सत्ता होने का तो कोई प्रश्न ही नहीं है। इस कारण ब्रह्म के अद्वैत होने से जीवात्मा एवं प्रकृति आदि पदार्थों की सत्ता का निषेध सिद्ध नहीं होता। आज समस्त संसार में अद्वैतवाद के नाम पर ईश्वर के अतिरिक्त या ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य किसी भी प्रकार की सत्ता को नकारने की जो परम्परा चल पड़ी है, वह अवैदिक एवं तर्कहीन होने से अमान्य है। ग्रन्थकार का भी यही मत है, इसीलिए उन्होंने आत्मा के एकत्व की चर्चा करने के पश्चात् देवताओं के मुख्य तीन प्रकार बताए हैं—

१. अग्नि, जिसका स्थान उन्होंने पृथ्वी कहा।
२. वायु अथवा इन्द्र, इसका स्थान अन्तरिक्ष बताया गया है।

३. सूर्य, इसका स्थान द्युलोक कहा है।

अब इन तीनों बिन्दुओं पर क्रमशः विचार करते हैं—

१. अग्नि — इसके विषय में ऋषियों ने कहा है— 'अग्निरसि पृथिव्याः श्रितः' (तै.ब्रा. ३.११.१.७), 'अग्निरेकाक्षरयोदजयन्मामिमां पृथिवीम्' (मै.सं.१.११.१०)। यहाँ भी अग्नि तत्त्व को पृथिवी पर आश्रित रहने वाला बताया है। इसके साथ ही अग्नितत्त्व 'ओम्' रश्मियों के द्वारा अथवा 'भूः' रश्मियों के द्वारा पृथिवीतत्त्व के परमाणुओं को नियन्त्रित करता है, ऐसा कहा है। सर्वप्रथम यहाँ विचारणीय है कि अग्नितत्त्व क्या है? हमारी दृष्टि में वर्तमान भाषा में जिसे तरंगाणु अथवा मूलकण अथवा विद्युत् आवेश अथवा ऊष्मा का गुण जिस पदार्थ के द्वारा उत्पन्न होता है, उसे अग्नि कहते हैं।

उधर पृथिवी किसे कहते हैं, यह भी विचारणीय है। हमारी दृष्टि में वर्तमान भाषा में जिसे अणु (मोलिक्यूल) कहते हैं, उसे ही वैदिक भाषा में पृथिवी कहा जाता है। कभी-२ पृथिवी एवं अग्नि दोनों तत्त्व एक-दूसरे के सापेक्ष भी दर्शाए जाते हैं। उदाहरणतः यदि प्रकाशाणु और मूलकण की परस्पर तुलना की जाए, तब प्रकाशाणु अग्नि और मूलकण पृथिवी तत्त्व की भाँति माना जाएगा। उधर अणु को अग्नि के किसी भी रूप के सापेक्ष पृथिवी तत्त्व ही माना जाएगा।

यहाँ पृथिवी को अग्नि का स्थान कहा है। इसका अर्थ यह है कि कोई भी प्रकाशाणु सदैव ही किसी मूलकण अथवा किसी अणु में ही आश्रित रहता है अथवा उसके साथ संयुक्त होने का प्रयास करता है, जब तक वह इससे संयुक्त नहीं होता, तब तक वह अन्तरिक्ष में गमन करता ही रहता है। जब यहाँ मूलकण को अग्नितत्त्व मानेंगे, तब भी यह सर्वविदित है कि कोई भी मूलकण सदैव ही किसी अणु और उसके पूर्व परमाणु बनाने का प्रयास करते ही रहते हैं। जब तक वे ऐसा नहीं कर पाते, तब तक वे भी अन्तरिक्ष में यत्र-तत्र गमन करते रहते हैं। इस कारण ही अग्नितत्त्व को पृथिवीस्थानी कहा है। विदित रहे कि यहाँ जल (आपः) तत्त्व की कोई चर्चा नहीं की गई है, इसलिए हम भी यह चर्चा नहीं करेंगे। यहाँ अग्नि आदि के रूप में देवताओं का वर्गीकरण स्थूल रूप में किया गया है। ग्रन्थ में आगे इसका विस्तार किया गया है, जहाँ अनेक प्रकार का अग्नि वर्णित है। इस प्रकार अन्य देवताओं के वर्गीकरण के विषय में समझें।

२. वायु — 'वायुर्वेन्द्रो वान्तरिक्षस्थान:' अर्थात् दूसरा मुख्य देवता वायु अथवा इन्द्र है और इन दोनों का स्थान आकाशतत्त्व है। यहाँ प्रश्न यह उठता है कि वायुतत्त्व क्या है? इस विषय में हमारा मत यह है कि विभिन्न प्राण एवं छन्द रश्मियों का मिश्रण ही वायु है तथा वर्तमान भौतिक विज्ञान की भाषा में इसे वैक्यूम एवं डार्क एनर्जी कह सकते हैं। यह पदार्थ सम्पूर्ण आकाशतत्त्व में व्याप्त रहता है। इसी कारण वायुतत्त्व को अन्तरिक्षस्थानी कहा गया है। इन्द्रतत्त्व तीक्ष्ण विद्युत् का रूप है, वह भी आकाशतत्त्व में ही विद्यमान रहता अथवा गमन करता है। इस कारण इन दोनों का स्थान आकाशतत्त्व कहा गया है।

वायु के विषय में अन्य ऋषियों ने भी कहा है— 'अयं वायुरन्तरिक्षस्य पृष्ठम्' (जै.ब्रा.३.२५२), 'वायुरस्यन्तरिक्षे श्रित:' (तै.ब्रा.३.११.१.९) अर्थात् वायुतत्त्व आकाश तत्त्व का आधार है तथा यह आकाशतत्त्व पर ही आश्रित रहता है। सामान्य रूप से इन दोनों कथनों में विरोध प्रतीत होता है, परन्तु वस्तुत: ऐसा है नहीं। जहाँ वायु को आकाश का पृष्ठ कहा है, उसका तात्पर्य यह है कि वायुतत्त्व आकाशतत्त्व के उत्पन्न होने के पश्चात् उत्पन्न होता है। इसका दूसरा अर्थ यह भी है कि अहंकार रूप दिव्य वायु आकाशतत्त्व का न केवल आधार है, अपितु वह आकाशतत्त्व का उपादान कारण भी है। उधर दूसरा प्रमाण तो स्वयं ही वायुतत्त्व के आकाशतत्त्व पर आश्रित होने की बात कह रहा है। इन सभी कारणों से वायुतत्त्व को अन्तरिक्षस्थानी कहा गया है। इसी प्रकार इन्द्रतत्त्व अर्थात् तीक्ष्ण विद्युत् तरंगें आकाश में ही गमन करती हैं। आकाशतत्त्व के बिना न तो विद्युत् चुम्बकीय तरंगें और न ही तीक्ष्ण विद्युत् तरंगें ही गमन कर सकती हैं। वस्तुत: आकाश इन तरंगों के लिए सड़क का कार्य करता है।

अग्नि, वायु व इन्द्र आदि के लिए 'वैदिक रश्मिविज्ञानम्' ग्रन्थ के छठे व सातवें अध्याय पठनीय हैं।

३. सूर्य — अब तृतीय देवता सूर्य के विषय में लिखते हैं— 'सूर्यो द्युस्थान:' अर्थात् सूर्य द्युस्थानी होता है। सूर्य के विषय में ग्रन्थकार ने लिखा है— 'सूर्य: सर्तेर्वा सुवतेर्वा स्वीर्यतेर्वा तस्यैषा भवति' (निरु.१२.१४), 'असौ वै सूर्यो योऽसौ तपति' (कौ.ब्रा.५.८) अर्थात् जो सरकता हुआ गमन करता है, सभी ग्रहादि लोकों को प्रेरित करता है, अच्छी प्रकार प्रेरित व नियन्त्रित करता है, उसको सूर्य कहते हैं।

इस प्रकार निश्चित ही कोई भी तारा सूर्यलोक कहलाता है, क्योंकि वह अपने

परिवार के सभी सदस्यों को अपने साथ आकर्षण बल के द्वारा बाँधे हुए अपनी कक्षा में गमन करता रहता है। यहाँ सूर्यलोक का स्थान द्युलोक है। यहाँ प्रश्न यह उठता है कि द्युलोक क्या है? हमने इस विषय में इस ग्रन्थ के खण्ड २.१४ में विस्तार से चर्चा की है, जहाँ कहा गया है कि किसी तारे के चारों ओर का वह विशाल क्षेत्र, जिसमें कोई ग्रहादि लोक विद्यमान नहीं होता तथा जिसमें तीव्र नियन्त्रक बल एवं प्रकाश से सम्पन्न नाना प्रकार की रश्मियाँ विद्यमान होती हैं तथा जिनके द्वारा वह तारा अपने सम्पूर्ण परिवार को दृढ़ता से थामे रखता है, वह विशाल क्षेत्र ही द्युलोक कहलाता है। यह क्षेत्र प्रकाशमान तथा विद्युदावेशित कणों से भी भरपूर रहता है। यह क्षेत्र न केवल ग्रहादि लोकों को थामने में अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है, अपितु वह सूर्य वा तारे के साथ भी दृढ़ता से बँधा हुआ रहकर उसके साथ निकटता से जुड़ा रहता है। तारे से प्रकाश की तरंगों के अन्तरिक्ष में उत्सर्जन की प्रक्रिया में भी इस द्युलोक की भूमिका होती है। इसके साथ ही अन्तरिक्षस्थ विभिन्न रश्मियों, तरंगों व कणों के तारे में प्रविष्ट होने में भी इस क्षेत्र की भूमिका रहती है। यहाँ यह बात भी स्पष्ट होती है कि जिस प्रकार पूर्वोक्त अग्नि के परमाणु पार्थिव परमाणुओं के बिना आकाश में स्वच्छन्द विचरते एवं आकाश के बिना वायुतत्त्व भी न उत्पन्न हो सकता और न कहीं ठहर सकता, उसी प्रकार द्युलोक के बिना कोई भी तारा न तो उत्पन्न हो सकता और न वह स्थायी कक्षा को प्राप्त कर सकता है।

अब इन तीनों देवताओं के विषय में लिखते हैं— 'तासां माहाभाग्यादेकैकस्या अपि बहूनि नामधेयानि भवन्ति अपि वा कर्मपृथक्त्वात्' अर्थात् उपर्युक्त तीनों देवता महान् ऐश्वर्य-युक्त अर्थात् इन तीनों के प्रभाव क्षेत्र बहुत व्यापक होने से बहुत महान् होते हैं और इसीलिए इनमें से एक-२ देवता के कई-२ नाम होते हैं और कार्य के भेद की दृष्टि से भी एक देवता के अनेक नाम हो जाते हैं। उदाहरण के लिए अनेक गुण, कर्म एवं स्वभाव वाला होने से भिन्न-२ स्थानों पर अग्नितत्त्व के भिन्न-२ रूप और स्वभाव होते हैं, इसी प्रकार वायु एवं इन्द्रतत्त्व भी भिन्न-२ स्तरों एवं भिन्न-२ स्थानों में भिन्न-२ प्रकार के होते हैं, जैसे विशाल कॉस्मिक मेघों के अन्दर विद्यमान इन्द्रतत्त्व अत्यन्त तीव्र शक्तिसम्पन्न होता है, जबकि सूक्ष्म कणों के संयोग के समय सूक्ष्म असुरादि पदार्थों को नष्ट व नियन्त्रित करने वाला इन्द्रतत्त्व अति सूक्ष्म बलयुक्त ही होता है, इसी प्रकार अग्नितत्त्व के भी कई रूप और कई स्तर होते हैं। इसी प्रसंग में सूर्य की भी चर्चा की गई है, तब क्या सूर्य भी

अनेक प्रकार के होते हैं? इसके उत्तर में हम यही कहेंगे कि हाँ, सूर्य भी अनेक प्रकार के होते हैं। ऐसी स्थिति में उनके अपने आधार रूप द्युलोक भी अनेक प्रकार के ही होते हैं। जिस प्रकार सूर्य के विविध रूपों की संरचना भिन्न-२ होती है, उसी प्रकार उनके द्युलोकों की संरचना और प्रभाव क्षेत्र भिन्न-२ होते हैं।

यहाँ उदाहरण के द्वारा समझाते हुए लिखते हैं—

'यथा होताध्वर्युर्ब्रह्मोद्गातेत्यप्येकस्य सतः।'

अर्थात् जिस प्रकार एक ही व्यक्ति किसी यज्ञ में पृथक्-२ प्रकार की भूमिका निभाते हुए होता, अध्वर्यु, ब्रह्मा एवं उद्गाता इन चार नामों से जाना जाता है, उसी प्रकार एक ही प्रकार के अग्नि, वायु एवं सूर्य भिन्न-२ परिस्थितियों में भिन्न-२ नामों से जाने जाते हैं। उधर अन्य विद्वानों का कथन है— 'अपि वा पृथगेव स्युः पृथग्धि स्तुतयो भवन्ति तथाभिधानानि' अर्थात् ऐसा नहीं है, बल्कि ये सभी देवता भिन्न-२ हैं, न कि एक ही देवता के भिन्न-२ नाम हैं। देवताओं के पृथक्-२ होने से ही उनकी पृथक्-२ स्तुति की गयी है अर्थात् वे सभी पृथक्-२ पदार्थ हैं, इसी कारण उनके पृथक्-२ गुण, कर्म, स्वभाव आदि हैं और पृथक्-२ होने से उनके भिन्न-२ नाम भी हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि इस मत के विद्वान् ऐसा मानते हैं कि अग्नि आदि देवताओं के जो भिन्न-२ प्रकार के विभाग और नाम हैं तथा उन सबके पृथक्-२ गुण और कर्म भी हैं, वे सभी वस्तुतः पृथक्-२ पदार्थ ही हैं, इसी कारण ही उनके पृथक्-२ नाम और रूप हैं।

अब ग्रन्थकार लिखते हैं— 'यथो एतत्कर्मपृथक्त्वादिति बहवोऽपि विभज्य कर्माणि कुर्युः' आप जो ऐसा कहते हो कि पृथक्-२ कर्म करने से वे पदार्थ भी पृथक्-२ ही होते हैं, एक नहीं, यह उचित नहीं है। इसका कारण बताते हुए लिखते हैं, क्योंकि बहुत से मनुष्य अनेक कर्मों को मिल-बाँट कर करते हैं, किन्तु ऐसा करने से न तो वे मनुष्य पृथक्-२ हो जाते और न उनके पृथक्-२ नाम ही पड़ते। इसी प्रकार अग्नि आदि देवताओं के भिन्न-२ नाम होने से वे भिन्न-२ पदार्थ नहीं हो सकते।

अन्त में ग्रन्थकार इन सभी मतों की एकता प्रतिपादित करते हुए लिखते हैं— 'तत्र संस्थानैकत्वं सम्भोगैकत्वं चोपेक्षितव्यम् यथा पृथिव्यां मनुष्याः पशवो देवा इति स्थानैकत्वम् सम्भोगैकत्वं च दृश्यते' विभिन्न पदार्थों की एकता एवं अनेकता के उपर्युक्त प्रसंग की

विवेचना के पश्चात् ग्रन्थकार अपना मत प्रस्तुत करते हुए उपर्युक्त विभिन्न पदार्थों, जिनके एकत्व की चर्चा ऊपर की गई है, के विषय में कहते हैं कि ऐसी स्थिति में जहाँ एक ही पदार्थ के अनेक नाम व गुण सुने व पढ़े जाते हैं, वहाँ तत्त्वदर्शी विद्वान् को चाहिए कि उन पदार्थों के स्थान और भोग अर्थात् भोज्य पदार्थ पर निकटता से विचार करने का यत्न करे। यहाँ उदाहरण के द्वारा समझाते हैं कि जैसे पृथ्वी पर मनुष्य, पशु एवं देव सभी रहते हैं, इस कारण उन सबके स्थान की एकता स्वयं सिद्ध है, क्योंकि ये सभी पृथ्वी पर ही रहते हैं।

यहाँ यह प्रश्न उठता है कि पूर्व में खण्ड २.१४ में देव योनि के प्राणियों का निवास द्युलोक माना है, तब यहाँ देवों को पृथ्वी का निवासी क्यों कहा गया है? इस विषय में हमारा मत यह है कि पूर्व में पुण्यकर्मा प्राणियों का निवास द्युलोक बताया गया है और उसका भाष्य करते हुए हमने पुण्यकर्मा योनि से देवयोनि का ग्रहण किया है। देवलोक में वे देव पुण्यकर्मा पार्थिव शरीर के साथ नहीं रह सकते, बल्कि उनका शरीर रश्मियों व तरंगों के संघात, जो परमाणुओं व अणुओं के रूप में नहीं होता, का ही रूप होता है, जबकि पृथ्वी लोक में रहने वाले देव पार्थिव शरीरधारी ही होते हैं। ऐसे देवों की ही इतिहास में चर्चा की गई है। इसी प्रकार हम राक्षस, असुर, वानर, गृध्र, ऋक्ष, नाग, किन्नर, गन्धर्व आदि योनियों के विषय में भी समझ सकते हैं। ये सभी योनियाँ पार्थिव शरीर वाली ही होती हैं, इनमें से देव योनि सर्वाधिक ज्ञानसम्पन्न होती हैं। ये सभी पृथ्वीलोक के निवासी होने के कारण इनके स्थान की एकता स्वयं सिद्ध है, इनके भोज्य पदार्थ की भी एकता सिद्ध है, क्योंकि ये सभी अपना भोजन पृथ्वी से ही ग्रहण करते हैं। इस कारण ये सभी प्राणी स्थान एवं भोग दोनों की दृष्टि से एक ही सिद्ध होते हैं अर्थात् दोनों ही दृष्टियों से इनका एकत्व सिद्ध है।

तदुपरान्त ग्रन्थकार लिखते हैं— 'यथा पृथिव्याः पर्जन्येन च वाय्वादित्याभ्याञ्च सम्भोगः अग्निना चेतरस्य लोकस्य' [पर्जन्यः = पर्जन्यः तृपेः आद्यन्तविपरीतस्य तर्पयिता जन्यः परो जेता वा परो जनयिता वा प्रार्जयिता वा रसानाम्।] यहाँ स्थान की एकता नहीं, परन्तु भोग की एकता को दर्शाया गया है। इसका उदाहरण देते हुए लिखते हैं कि पृथ्वी लोक की तीन पदार्थों से भोज्य की एकता देखी जाती है—

१. पृथ्वी और पर्जन्य की एकता — यहाँ पर्जन्य का तात्पर्य जल की वृष्टि करने वाले

मेघ नहीं, बल्कि यहाँ पर्जन्य उन विशाल कॉस्मिक मेघों का नाम है, जिनसे विभिन्न तारे एवं ग्रहादि लोकों की उत्पत्ति होती है। इन कॉस्मिक मेघों की पृथ्वी आदि लोकों से भोज्य की एकता इस कारण कही जा सकती है, क्योंकि ये कॉस्मिक मेघ अपने निर्माण के समय जिस प्रकार से अपने आसपास के पदार्थ समूह को अपने में समेटते चले जाते हैं और ऐसा करते हुए ही वे कॉस्मिक मेघ अपना निर्माण भी कर पाते हैं, उसी प्रकार ये पृथ्वी आदि लोक भी अपने निर्माण के समय अपने चारों ओर विद्यमान बिखरे हुए पदार्थ को अपने साथ समेटते हुए अपने आकार का निर्माण करते हैं। इस कारण कॉस्मिक मेघ और पृथ्वी आदि लोकों में यह भोग की एकता प्रमाणित होती है। इसके अतिरिक्त यह भी ज्ञातव्य है कि जिस पदार्थ के संघनन से कॉस्मिक मेघों का निर्माण होता है और जिस पदार्थ के संघनन से पृथ्वी आदि लोकों का निर्माण होता है, वे दोनों ही पदार्थ मूलतः एक ही होते हैं अथवा उनकी उत्पत्ति एक ही पदार्थ से होती है। इस कारण भी पर्जन्य और पृथ्वी की भोग-एकता मानी गयी है।

२. वायु और पृथ्वी — हम जानते हैं कि पृथ्वी आदि लोक निरन्तर ही न केवल वायुतत्त्व आदि सूक्ष्म पदार्थों का अवशोषण करते रहते हैं, अपितु वायुतत्त्व के भी कारणभूत आकाश एवं विभिन्न छन्द एवं प्राणादि रश्मियों का भी अवशोषण करते रहते हैं। उधर वायुतत्त्व निरन्तर ही अपने कारणभूत प्राण व छन्दादि रश्मियों को अवशोषित करता रहता है अर्थात् प्राण व छन्द आदि रश्मियों से भरा यह महासागर, जिसे वर्तमान भौतिकी की भाषा में डार्क एवं वैक्यूम एनर्जी कहा जा सकता है, निरन्तर ही एवं विभिन्न कणों व लोकों से उत्सर्जित होने वाली छन्द व प्राण रश्मियों को अपने अन्दर अवशोषित करता रहता है। इस कारण वायु और पृथ्वी के लोक की भी एकता यहाँ प्रमाणित होती है।

३. आदित्य एवं पृथ्वी — जैसा कि हम लिख चुके हैं कि पृथ्वी आदि लोक निरन्तर ही विभिन्न छन्द व प्राणादि रश्मियों को अपने अन्दर अवशोषित करते रहते हैं। इसके साथ ही वे अन्तरिक्ष से आने वाली विभिन्न विद्युत् चुम्बकीय तरंगों एवं विभिन्न विद्युत् तरंगों को अपने अन्दर अवशोषित करते रहते हैं। उसी प्रकार विभिन्न तारे भी अन्तरिक्ष से आने वाली विभिन्न विद्युत् चुम्बकीय तरंगों, विद्युत् तरंगों एवं प्राण व छन्दादि रश्मियों को अपने अन्दर अवशोषित करते रहते हैं। इस कारण पृथ्वी एवं आदित्य लोक के भोग की एकता भी सिद्ध हो जाती है।

४. अग्नि एवं इतरलोक (अर्थात् अन्तरिक्षलोक व आकाशतत्त्व) — हम जानते हैं कि अग्नि के परमाणु अपनी कारणभूत वायु रश्मियों के संघात से उत्पन्न होते हैं और इस कारण वे मूलतः वायुरूप ही होते हैं और वायु की रश्मियाँ मूलतः मनस्तत्त्व में स्पन्दित होने वाली प्राण एवं छन्दादि रश्मियों का ही सम्मिश्रण रूप हैं। इस कारण अग्नितत्त्व इन सूक्ष्म रश्मियों का ही रूप है और मनस्तत्त्व में स्पन्दित होती रहने वाली सूक्ष्म प्राणादि रश्मियों को निरन्तर अवशोषित करता रहता है, इसी प्रकार आकाशतत्त्व भी इन्हीं सूक्ष्म रश्मियों से मिलकर बना है और इनको स्वयं विभिन्न परिस्थितियों में मनस्तत्त्व से ग्रहण भी करता रहता है। इस कारण अग्नि एवं आकाशतत्त्व दोनों का ही भोज्य पदार्थ एक होना सिद्ध होता है।

वस्तुतः जिन पदार्थों की भोग सम्बन्धी एकता दर्शायी है, वे मूलतः एक ही प्रकार के कारण पदार्थ से उत्पन्न होते हैं। यदि ऐसा नहीं होता, तो उनका भोज्य पदार्थ एक कदापि नहीं हो सकता था। अन्त में ग्रन्थकार लिखते हैं— 'तत्रैतन्नरराष्ट्रमिव' अर्थात् यह सभी भेद और अभेद नर एवं राष्ट्र के समान है, जैसे किसी राष्ट्र के सभी नागरिक भिन्न-२ रूप-रंग वाले होते हुए भी, भिन्न-२ आचार-व्यवहार वाले होते हुए भी अथवा अन्य अनेक प्रकार की भिन्नताओं के रहते हुए भी राष्ट्रीयता की दृष्टि से एक ही होते हैं, उसी प्रकार परब्रह्म परमात्मा की इस महती सृष्टि में विभिन्न देव पदार्थ गुण, कर्म, स्वभाव आदि की दृष्टि से भिन्न-२ होते हुए भी सभी उस परमात्मा की प्रजा रूप होकर एक ही होते हैं। इसलिए सभी पदार्थ एक भी हैं और अनेक भी हैं।

* * * * *

= षष्ठः खण्डः =

अथाकारचिन्तनं देवतानाम्। पुरुषविधाः स्युरित्येकम्।
चेतनावद्धि स्तुतयो भवन्ति। तथाभिधानानि।
अथापि पौरुषविधिकैरङ्गैः संस्तूयन्ते।
ऋष्वा त इन्द्र स्थविरस्य बाहू। [ऋ.६.४७.८]

यत्सङ्गृभ्णा मघवन्काशिरित्ते। [ऋ.३.३०.५]

देवताओं के भेदाभेद की मीमांसा के पश्चात् उनके आकार पर विचार किया जाता है। इस विषय में कुछ आचार्यों का मत है कि सभी देवता मनुष्य की भाँति होते हैं, इस कारण उनकी स्तुति चेतना वालों अर्थात् प्राणियों के समान होती है अर्थात् वेद मन्त्रों में देवों के गुण, कर्म व स्वभावों की चर्चा उसी प्रकार देखी जा सकती है, जिस प्रकार किसी मनुष्य के गुणों की चर्चा की जाती है। ध्यातव्य है कि चेतना वाले तो मनुष्य के अतिरिक्त भी अनेक प्राणी होते हैं, परन्तु बुद्धि व विवेक के कारण सर्वश्रेष्ठता प्राप्त मनुष्य नामक प्राणी के समान ही देवताओं की स्तुति की जाती है, गवादि प्राणियों के समान नहीं। इसी प्रकार इन देवताओं के कथन भी मनुष्यों के समान देखे जाते हैं। जिस प्रकार मनुष्यों के मध्य संवाद-वाद लोक में देखा जाता है, उसी प्रकार का संवाद-वाद विभिन्न देवताओं के मध्य भी वेद मन्त्रों में पाया जाता है। इस कारण देवताओं का स्वरूप मनुष्यों के सदृश है, ऐसा ये आचार्य मानते हैं।

इसके अतिरिक्त विभिन्न देवताओं की स्तुति मनुष्य के अङ्गों के समान भी देखी जाती है, इस कारण भी देवताओं का स्वरूप मनुष्य के समान माना गया है, ऐसा ये आचार्य कहते हैं। यहाँ इसके उदाहरणस्वरूप कुछ निगम प्रस्तुत किए हैं, जिनमें पहला निगम इस प्रकार है— 'ऋष्वा त इन्द्र स्थविरस्य बाहू'। इस मन्त्र का देवता इन्द्र तथा छन्द विराट् त्रिष्टुप् होने से इसके दैवत व छान्दस प्रभाव से इन्द्रतत्त्व विविध प्रकार के रक्तवर्णीय तीव्र तेज से युक्त होने लगता है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(इन्द्र) हे इन्द्रतत्त्व! (ते, स्थविरस्य) बल और वेग से बढ़ते हुए तेरे (ऋष्वा) [ऋष्वः = महन्नाम (निघं.३.३)] व्यापक (बाहू) [बाहू = बाहू कस्मात् प्रबाधत आभ्यां कर्माणि (निरु.३.८), पञ्चदशौ हि बाहू (श.ब्रा.८.४.४.६)] बाहुरूप बल अनेक कर्म करने वाले होते हैं। महर्षि याज्ञवल्क्य की दृष्टि में पञ्चदश स्तोम अर्थात् पन्द्रह गायत्री छन्द रश्मियों के समूह इन्द्र के बाहुरूप बलों का कार्य करते हैं, जिनके द्वारा इन्द्रतत्त्व नाना प्रकार के पदार्थों को ग्रहण करता अथवा उनका प्रक्षेपण, अवरोधन, संघनन आदि कर्मों को करता है। ध्यान रहे कि भिन्न-२ परिस्थितियों में इन्द्रतत्त्व के भिन्न-२ स्तर होते हैं और फिर उनके बाहुरूप बल भी भिन्न-२ ही होते हैं, उन्हीं में से एक रूप पञ्चदश स्तोम है।

अब इसी प्रकार का दूसरा निगम प्रस्तुत करते हैं— 'यत्सङ्गृभ्णा मघवन्काशिरित्ते ... (रोदसी)'। इस मन्त्र का देवता इन्द्र तथा छन्द निचृत् त्रिष्टुप् होने से इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से इन्द्रतत्त्व रक्तवर्णीय तीव्र तेज से युक्त होने लगता है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(मघवन्) [मघवन् = इन्द्रो वै मघवान् (श.ब्रा.४.१.२.१५), ततः इन्द्रो मखवान् अभवत्, मखवान् ह वै तं मघवानमित्याचक्षते परोक्षम् (श.ब्रा.१४.१.१.१३)। मखः = यज्ञनाम (निघं.३.१७), यज्ञो वै मखः (तै.ब्रा.३.२.८.३)] हे इन्द्रतत्त्व! तुम नाना प्रकार की यजन क्रियाओं से अर्थात् यजन करने में समर्थ बलों से युक्त हो। (यत्, सङ्गृभ्णा, रोदसी) ये प्रकाशित और अप्रकाशित कण व लोक, जो परस्पर अत्यन्त दृढ़ बलों के द्वारा एक-दूसरे के साथ बँधे हुए हैं, वे बल (इत्ते, काशिः) तुम्हारी मुष्टि के समान हैं किंवा वे उस मुष्टि से ही उत्पन्न होते और बँधे हुए होते हैं। यहाँ इन्द्र की मुष्टि का अर्थ है— सूर्यादि लोकों का केन्द्रीय भाग। ये केन्द्रीय भाग ही होते हैं, जो अन्य लोकों के केन्द्रीय भागों को अपने प्रबल आकर्षण बल के द्वारा अपने साथ बाँधे रखते हैं। इस कारण ही किसी सौर मण्डल, गैलेक्सी एवं सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के सभी लोक परस्पर एक-दूसरे के साथ बँधे हुए हैं। ध्यातव्य है कि वर्तमान भौतिकी में और वैदिक भौतिकी में भी जिसे गुरुत्व बल कहा जाता है, वह भी इन्द्रतत्त्व के अर्थात् विद्युत् के एक विशेष रूप से ही उत्पन्न होता है। वस्तुतः सभी बल एक ही बल से उत्पन्न होते हैं और वह बल ईश्वरीय बल है। इसी कारण ईश्वर को भी इन्द्र कहते हैं।

ध्यातव्य— यहाँ इन्द्रतत्त्व को उसी प्रकार सम्बोधित किया गया है, जैसे लोक में मनुष्य परस्पर नाना प्रकार के संवाद आदि करते रहते हैं। इसी कारण ग्रन्थकार ने देवताओं की तुलना मनुष्य एवं देवताओं के अङ्गों की तुलना मनुष्य के अंगों से की है, क्योंकि जड़ जगत् में पारस्परिक कोई संवाद सम्भव नहीं है। इस कारण वास्तविकता यह है कि ऐसे स्थानों पर मध्यम पुरुषवाची पदों को प्रथम पुरुषवाची पदों के मध्यम पुरुष में व्यत्यय के रूप में देखना चाहिए। ऐसी स्थिति में उपर्युक्त दोनों मन्त्रों का भाष्य किंचित् परिवर्तित हो जाएगा और उसी शैली का भाष्य हमने इस ग्रन्थ में पूर्व में सर्वत्र किया है। यहाँ केवल ग्रन्थकार के विचारों की पुष्टि करने हेतु ही मध्यम पुरुष का ग्रहण किया है।

अथापि पौरुषविधिकैर्द्रव्यसंयोगैः।

आ द्वाभ्यां हरिभ्यामिन्द्र याहि। [ऋ.२.१८.४]
कल्याणीर्जाया सुरणं गृहे ते। [ऋ.३.५३.६]

इसके अनन्तर यह भी कहते हैं कि मनुष्य सम्बन्धी द्रव्यों से देवताओं की स्तुति की गई है। इसका अर्थ यह है कि लोक में जिस भाँति किसी मनुष्य के साथ कुछ द्रव्यों के संयोग की चर्चा की जाती है, उसी प्रकार जड़ देवताओं के साथ भी ऐसा ही देखा जाता है, जब उनके साथ कुछ अन्य द्रव्यों की चर्चा की जाती है। इसके उदाहरण रूप में निगम प्रस्तुत करते हुए प्रथम निगम इस प्रकार है— 'आ द्वाभ्यां हरिभ्यामिन्द्र याहि'। इस मन्त्र का देवता इन्द्र एवं छन्द भुरिक् पंक्ति होने से इसके दैवत व छान्दस प्रभाव से इन्द्रतत्त्व के बाहुरूप बल परिपक्व और विस्तृत होते हैं। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(इन्द्र) हे इन्द्रतत्त्व! (द्वाभ्याम्, हरिभ्याम्) अपने दोनों हरणशील बलों के साथ (आ, याहि) आओ अर्थात् वह इन्द्रतत्त्व अपने आकर्षण और प्रतिकर्षण रूप बलों के साथ सब ओर व्याप्त होता है। इसका तात्पर्य यह है कि इस सृष्टि में जहाँ भी इन्द्रतत्त्व विद्यमान है, वहाँ उसके ये दोनों ही प्रकार के बल विद्यमान होते हैं। कभी कोई एक बल ही कार्य करे, ऐसा सम्भव नहीं है।

अब अगला निगम प्रस्तुत करते हैं— 'कल्याणीर्जाया सुरणं गृहे ते'। इस मन्त्र का देवता इन्द्र एवं छन्द त्रिष्टुप् होने से इसके दैवत एवं छान्दस प्रभाव से इन्द्रतत्त्व रक्तवर्णीय तीव्र तेज से युक्त होता है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(ते) हे इन्द्रतत्त्व! तेरे (गृहे) आकर्षण बल के प्रभाव क्षेत्र में (कल्याणीः, जाया) [कल्याणी = कल्याणी तत् पशवः, कल्याणं कमनीयं भवति (निरु.२.३)] आकर्षण आदि बलों एवं सूक्ष्म दीप्ति से युक्त पशु अर्थात् प्राण एवं छन्द रश्मियाँ जाया के समान विद्यमान रहती हैं अर्थात् इन्द्रतत्त्व के प्रभाव क्षेत्र में इन प्राण एवं छन्द रश्मियों के द्वारा अनेक प्रकार के कर्म एवं द्रव्यों की उत्पत्ति होती है अर्थात् विभिन्न प्रकार के कण एवं लोक आदि पदार्थ इन्हीं रश्मियों के अन्दर उत्पन्न होते हैं किंवा उन्हीं से उत्पन्न होते हैं। इसके अतिरिक्त (सुरणम्) उस क्षेत्र में विभिन्न रश्मियों, तरंगों व कणों के नाना प्रकार के श्रेष्ठ संघात व संघर्षण निरन्तर होते रहते हैं। इसी के फलस्वरूप नाना प्रकार के पदार्थों की उत्पत्ति भी निरन्तर होती रहती है।

इन दोनों मन्त्रों में इन्द्र देवता के बाहु, जाया, गृह आदि अङ्गों की वैसे ही चर्चा की गई है, जैसे किसी मनुष्य के अङ्गों की चर्चा की जाती है, परन्तु भाष्यकार इन्द्र के अङ्गों की वास्तविकता को नहीं समझ पाए और हास्यास्पद भाष्य कर दिए। तदुपरान्त लिखते हैं—

अथापि पौरुषविधिकैः कर्मभिः।

अद्धीन्द्र पिब च प्रस्थितस्य। [ऋ.१०.११६.७]

आश्रुत्कर्ण श्रुधी हवम्। [ऋ.१.१०.९]॥ ६ ॥

कुछ मन्त्रों में देवों के कर्मों की उसी प्रकार चर्चा की जाती है, जिस प्रकार लोक में मनुष्य के कर्मों की चर्चा की जाती है। इसके उदाहरण के रूप में प्रथम निगम इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है— 'अद्धीन्द्र पिब च प्रस्थितस्य'। इस मन्त्र का देवता इन्द्र और छन्द विराट् त्रिष्टुप् होने से इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से इन्द्रतत्त्व विविध प्रकार के रक्तवर्णीय तीव्र तेज से युक्त होने लगता है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(इन्द्र) हे इन्द्रतत्त्व! (प्रस्थितस्य) अपनी ओर आते हुए सोम पदार्थ अर्थात् शीतल मरुद् रश्मियों एवं बाधक असुरादि पदार्थों को (अद्धि, पिब, च) प्रहार करके नष्ट कर दो एवं अवशोषित करके बल प्राप्त करो। इसका अर्थ यह है कि इन्द्रतत्त्व की ओर जो असुरादि पदार्थ आ रहे होते हैं, उनको इन्द्रतत्त्व अपने वज्र के प्रहार से नष्ट कर देता है, इसी को यहाँ उनको खा लेना लिखा है। इसके कारण इन्द्र के प्रभाव क्षेत्र में जो संयोगादि क्रियाएँ हो रही होती हैं, वे निरापद रूप से होती रहती हैं। उधर जो सूक्ष्म मरुद् रश्मियाँ इन्द्र की ओर आ रही होती हैं, उन्हें इन्द्रतत्त्व पी लेता है अर्थात् अवशोषित कर लेता है, जिसके कारण इन्द्रतत्त्व की शक्ति प्रबल हो जाती है।

अब अगला निगम प्रस्तुत करते हुए लिखा है— 'आश्रुत्कर्ण श्रुधी हवम् ... (इन्द्र)'। इस मन्त्र का देवता इन्द्र और छन्द अनुष्टुप् होने से इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से इन्द्रतत्त्व लाल मिश्रित भूरे रंग के साथ चमकने लगता है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(इन्द्र) हे इन्द्रतत्त्व! (आश्रुत्कर्ण) सब ओर गमन करने वाली नाना प्रकार की क्रियाओं एवं उनको सम्पादित करने वाले नाना प्रकार के बलों से युक्त तुम (हवम्) आकर्षित करते

हुए विभिन्न कण आदि पदार्थों (श्रुधी) की ओर गमन करिए अर्थात् वह इन्द्रतत्त्व रूपी तीक्ष्ण विद्युत् उन कणों व लोकों की ओर तेजी से गमन करती है अर्थात् प्रवाहित होती है, जो उसको अपनी ओर आकृष्ट करते हैं।

इन दोनों मन्त्रों में इन्द्र देवता के कर्मों की तुलना मनुष्य के कर्मों के साथ की गई है। यह समझाने की शैली है। विज्ञ मनुष्य को चाहिए कि इस तुलना में अपने विवेक का प्रयोग अवश्य करे, अन्यथा भाष्य हास्यास्पद ही होगा। वे आचार्य देवों की चेतनावत के समान स्तुति होने से देवताओं को चेतनवत् ही मानते हैं।

* * * * *

सप्तमः खण्डः

अपुरुषविधाः स्युरित्यपरम्। अपि तु यद् दृश्यते, अपुरुषविधं तत्।
यथाग्निर्वायुरादित्यः पृथिवी चन्द्रमा इति।
यथो एतच्चेतनावद्धि स्तुतयो भवन्तीति। अचेतनान्यप्येवं स्तूयन्ते।
यथाक्षप्रभृतीन्योषधिपर्यन्तानि। [निघं.५.३.४-२२]
यथो एतत्पौरुषविधिकैरङ्गैः संस्तूयन्त इति। अचेतनेष्वप्येतद्भवति।
अभि क्रन्दन्ति हरितेभिरासभिः। [ऋ.१०.९४.२]
इति ग्रावस्तुतिः।

यहाँ ग्रन्थकार देवताओं की मनुष्यों के समान स्तुति की चर्चा के उपरान्त अन्य मत के आचार्यों के मत प्रस्तुत करते हुए लिखते हैं—

नहीं, ऐसा नहीं है। देवताओं की स्तुति मनुष्यों की भाँति नहीं होती। वेदों में देवताओं की जो स्तुति की गयी है, वह मनुष्यों के समान नहीं है। इसका उदाहरण देते हुए कहते हैं कि जैसे अग्नि, वायु, आदित्य, पृथिवी एवं चन्द्रमा आदि की स्तुति अमनुष्य अर्थात् जड़ के समान की गयी है। पूर्व मत के आचार्य जो यह कहते हैं कि देवताओं की स्तुति चेतना वालों के समान की गयी है, वह उचित नहीं, क्योंकि इस प्रकार की स्तुति तो

अचेतन अर्थात् जड़ पदार्थों की भी की गयी है। इसका उदाहरण प्रस्तुत करते हुए लिखते हैं कि इस ग्रन्थ में खण्ड ९.७-२७ के ४ से २२वें पद तक अर्थात् 'अक्षः' से लेकर 'ओषधिः' पर्य्यन्त जो १९ पद हैं, वे सभी जड़ पदार्थ हैं तथा उनकी स्तुति भी चेतन पदार्थों के समान की गयी है, परन्तु इससे सभी पदार्थ चेतन नहीं हो जाते। इस कारण इन्द्र, अग्नि आदि सभी देवता चेतनों के समान स्तुत होने मात्र से सदैव चेतन नहीं माने जा सकते।

पुनः ये आचार्य कहते हैं कि देवताओं की स्तुति मनुष्यों के अङ्गों के समान की जाती है, ऐसा जो कहा जाता है और इसी आधार पर जो देवताओं का चेतन होना माना जाता है, वह उचित नहीं। इसका कारण बताते हुए कहते हैं कि ऐसा तर्क उचित व पर्याप्त नहीं है, क्योंकि ऐसी स्तुति तो जड़ पदार्थों की भी देखी जाती है।

इसके उदाहरण के रूप में निगम प्रस्तुत करते हैं— 'अभि क्रन्दन्ति हरितेभिरासभिः ...(ग्रावाणः)'। इस मन्त्र का देवता ग्रावाण तथा छन्द जगती है। [ग्रावाणः = वज्रो वै ग्रावा (श.ब्रा.११.५.९.७), यज्ञमुखं ग्रावाणः (मै.सं.४.५.२), ग्रावाणो हन्तेर्वा गृणातेर्वा गृह्णातेर्वा (निरु.९.८), पशवो वै ग्रावाणः (तां.ब्रा.९.९.१३)] इसका अर्थ यह है कि इसके दैवत व छान्दस प्रभाव से संयोगोन्मुख प्राण व छन्दादि रश्मियाँ एवं वज्र रश्मियाँ गौर वर्ण के तेज को उत्पन्न करती हुई दूर-२ तक फैलती जाती हैं। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(ग्रावाणः) विभिन्न छन्द एवं वज्र रश्मियाँ (हरितेभिः आसभिः) [हरितः = दिङ्नाम (निघं.१.६), दिशो वै हरितः (श.ब्रा.२.५.१.५)] दिग्वाची आस्यों = मुखों के द्वारा (अभिक्रन्दन्ति) सब ओर से तीव्र घोष उत्पन्न करती हैं। यहाँ दिग्वाची रश्मियों को आस्य कहा है, इसका कारण यह है कि ये रश्मियाँ ही बाहर से आने वाली रश्मियों को अपने अन्दर अवशोषित करती रहती हैं। इसका अर्थ यह है कि जब कोई भी कण वा लोक बाहरी रश्मि आदि पदार्थों को अवशोषित करते हैं, तब वे इन्हीं रश्मियों के द्वारा उन रश्मियों को ग्रहण करते हैं। दिग्वाची रश्मियों को विभिन्न छन्दादि रश्मियों का मुख कहा, जबकि रश्मियाँ चेतन नहीं हैं, फिर भी उनकी मनुष्य के अङ्गों के समान चर्चा की गई है, परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि हम रश्मियों को चेतन मानने लगें। इस निगम रूपी छन्द रश्मि के प्रभाव से ग्रावा संज्ञक छन्दादि रश्मियाँ अधिक तेजस्विनी होने लगती हैं। तदनन्तर

लिखते हैं—

यथो एतत्पौरुषविधिकैर्द्रव्यसंयोगैरिति। एतदपि तादृशमेव।
सुखं रथं युयुजे सिन्धुरश्विनम्। [ऋ.१०.७५.९] इति नदीस्तुतिः।
यथो एतत्पौरुषविधिकैः कर्मभिरिति। एतदपि तादृशमेव।
होतुश्चित्पूर्वे हविरद्यमाशत। [ऋ.१०.९४.२] इति ग्रावस्तुतिरेव।
अपि वोभयविधाः स्युः। अपि वा पुरुषविधानामेव सतां कर्मात्मान एते स्युः।
यथा यज्ञो यजमानस्य। एष चाख्यानसमयः॥ ७॥

अब ये आचार्य कहते हैं कि जो यह कहा गया है कि मनुष्य सम्बन्धी अथवा मनुष्यों के समान द्रव्यों के संयोग से देवताओं की स्तुति देखी जाती है, इसलिए देवता मनुष्यों के समान ही होते हैं, ऐसा कहना भी उचित नहीं। जैसा हम पूर्व उदाहरण में विश्लेषण कर चुके हैं, वैसा ही विश्लेषण यहाँ भी समझें अर्थात् देवताओं की पुरुष के अङ्गों के सदृश जो स्तुति देखी जाती है, वैसी स्तुति तो अनेक जड़ पदार्थों की भी देखी जाती है, परन्तु ऐसा देखने मात्र से वे पदार्थ मनुष्य के समान चेतन नहीं हो जाते। यहाँ इसका निगम इस प्रकार प्रस्तुत है— 'सुखं रथं युयुजे सिन्धुरश्विनम्'। इस मन्त्र का देवता नद्यः तथा छन्द पाद निचृज्जगती होने से इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से ब्रह्माण्ड में सूक्ष्म पदार्थों की घोष करती हुई धाराएँ तीक्ष्णतापूर्वक दूर-२ तक गमन करने लगती हैं। इसके साथ ही पदार्थ में गोरे रंग का तेज भासने लगता है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(सिन्धुः) [सिन्धुः = सिन्धवः नदीनाम (निघं.१.१३), सिन्धुः स्रवणात् (निरु.५.२७), सिन्धूनाम् = तद् यदेतैरिदं सर्वं सितं तस्मात् सिन्धवः (जै.उ.१.२९.९), स्यन्दमानानाम् (निरु.१०.५)] ब्रह्माण्ड में अथवा किसी निर्माणाधीन अथवा निर्मित तारों के अन्दर पदार्थ की ऐसी धाराएँ विद्यमान होती हैं, जो सम्पूर्ण पदार्थ अथवा लोक को बाँधे रखने में अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं, ऐसी धाराएँ सिन्धु व नदी कहलाती हैं। ये धाराएँ (अश्विनम्, रथम्, सुखम्) रमणीय तेजयुक्त प्रकाशित और अप्रकाशित कणों को आकाशतत्त्व के साथ अच्छी प्रकार धारण करते हुए (युयुजे) अपने-२ कार्यों में नियुक्त करती हैं।

भावार्थ— इस ब्रह्माण्ड में जब किसी विशाल कॉस्मिक मेघ का निर्माण हो रहा होता है अथवा उन मेघों से विभिन्न तारों का निर्माण हो रहा होता है अथवा तारों की उत्पत्ति के पश्चात् भी तारों के अन्दर विभिन्न विद्युत् आवेशित कणों एवं विकिरणों की धाराएँ तीव्र वेग से बहने लगती हैं अथवा बहती रहती हैं। उन धाराओं में एक सुन्दर प्रकाश विद्यमान होता है और उन धाराओं में बहते हुए कणों और विकिरणों की विशाल राशि आकाशतत्त्व को अच्छी प्रकार धारण करते हुए पदार्थ के संघनन में महती भूमिका निभाती है। वे सभी कण और विकिरण अपने-२ कार्यों में उचित रीति से क्रियाशील रहते हैं।

इस प्रकार यह नदी की स्तुति है। इसमें मनुष्य के रथ आदि द्रव्यों की भाँति नदी रूप धाराओं के रथों की चर्चा की गई है, परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि कॉस्मिक धाराओं अथवा सौर नदियों को मनुष्य के समान चेतन बता दिया जाए। यहाँ नदी की स्तुति का अर्थ यह भी है कि इस छन्द रश्मि के प्रभाव से ये धाराएँ और अधिक तेजयुक्त होने लगती हैं।

इसके पश्चात् लिखते हैं— 'यथो एतत्पौरुषविधिकैः कर्मभिरिति एतदपि तादृशमेव' अर्थात् वे आचार्य जो यह कहते हैं कि देवताओं की स्तुति मनुष्य के कर्मों के समान देखी जाती है, इसलिए देवता मनुष्यों के समान ही होते हैं, ऐसा कहना भी उचित नहीं है और इसे उसी भाँति अर्थात् पूर्व की भाँति समझा जा सकता है अर्थात् इस प्रकार की स्तुति तो जड़ पदार्थों की भी देखी जाती है, परन्तु वे पदार्थ मनुष्यों के समान नहीं हो सकते। इसका निगम इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है— 'होतुश्चित्पूर्वे हविरद्यमाशत'। इसका देवता और छन्द और उसके प्रभाव इस खण्ड के प्रथम मन्त्र के समान समझें। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(होतुः, चित्, पूर्वे) [होता = होतारम् (निरु.७.१५), अग्निर्वै होता (श.ब्रा.१.४.१.२४), अग्निर्वै देवानां होता (ऐ.ब्रा.१.२८)। पूर्वम् = पुरस्सरं पूर्णम् (म.द.य.भा.४०.४), पूर्व पूरणे भ्वा. धातोरच्-प्रत्ययः (वै.को.)] वे पूर्वोक्त ग्रावाण संज्ञक प्राणादि अथवा वज्र रश्मियाँ अग्नि रूपी होता के पूर्ण समर्थ होने पर अथवा पूर्ण समर्थ होने से पूर्व ही (हविः, अद्यम्, आशत) मासरूपी अवशोषणीय रश्मियों की हवियों को अवशोषित किंवा अपने साथ संगत कर लेती हैं। इसका अर्थ यह है कि इस सृष्टि में ऊष्मा की तीव्र अवस्था होने पर अथवा ऐसा होने से पूर्व ही विभिन्न छन्दादि रश्मियाँ एवं वज्र रश्मियाँ उस क्षेत्र में

विद्यमान विभिन्न मास रश्मियों को अवशोषित कर लेती हैं।

इस निगम में भी ग्रावा संज्ञक छन्दादि रश्मियों के भक्षण आदि कर्मों की मनुष्य के भक्षण आदि कर्मों से तुलना की गई है, परन्तु इसका अर्थ यह कदापि नहीं है कि ग्रावा संज्ञक छन्दादि रश्मियाँ चेतन हैं। इस प्रकार इस निगम में भी ग्रावा संज्ञक रश्मियों के गुणों की विवेचना की गई है और इस छन्द रश्मि के प्रभाव से ये रश्मियाँ अधिक प्रकाशित होती हैं।

उपर्युक्त दोनों पक्षों को प्रस्तुत करने के पश्चात् ग्रन्थकार तीसरा पक्ष प्रस्तुत करते हुए लिखते हैं— 'अपि वोभयविधाः स्युः' अर्थात् वेदों में दोनों ही प्रकार के देवताओं का वर्णन है। इस कारण देवता मनुष्य के समान चेतन भी होते हैं और उसके विपरीत जड़ भी होते हैं। इस कारण इन दोनों ही पक्षों में कोई विरोध नहीं है और दोनों ही प्रकार के देवता परस्पर स्वतन्त्र होते हैं।

अब चतुर्थ मत को प्रस्तुत करते हुए लिखते हैं— 'अपि वा पुरुषविधानामेव सतां कर्मात्मान एते स्युः यथा यज्ञो यजमानस्य एष चाख्यानसमयः'। हम यहाँ इसका भाष्य आचार्य भगीरथ शास्त्री का ही उद्‌धृत कर रहे हैं, जिससे कि हम सहमत भी हैं—

"अब चौथा पक्ष कहते हैं— अपिवा अथवा चिदचित् दोनों ही प्रकार के देवता हैं, परन्तु उनमें एते कर्मात्मानः स्युः ये अचित्-अचेतन देवता कर्मस्वरूप हैं और पुरुषविध अर्थात् चेतन देवताओं के अधीन हैं। भाव यह है कि देवता दोनों प्रकार के हैं, परन्तु पुरुषविध स्वतन्त्र हैं और जड़ उनके अधिष्ठातृत्व में हैं। जैसे यजमान का यज्ञ अर्थात् यद्यपि 'यज्ञ' किन्हीं मन्त्रों का देवता है, परन्तु वह यजमान के अधीन है और इसलिए यह व्यवहार होता है कि यजमान का यज्ञ। जड़ देवताओं की रचना पुरुषविध देवताओं के प्रयोजन के लिए ही है।

एष च और यह आख्यान-समयः आख्यान का सिद्धान्त भी है। महाभारत में आख्यानों द्वारा यह सिद्धान्त स्थिर किया गया है। वहाँ पृथिवी ने स्त्रीरूप धारण कर ब्रह्मा से भार हल्का करने की याचना की है। अग्नि ने वासुदेव और अर्जुन से खाण्डव की याचना की है।

सो इस प्रकार चार प्रकार के देवतावाद हैं— पुरुषविध, अपुरुषविध, उभयविध

और कर्मार्थात्मोभयविध। इनमें तीसरे और चौथे में इतना ही अन्तर है कि तीसरे पक्ष में दोनों प्रकार के देवता स्वतन्त्र रूप से माने गए हैं और चौथे में पुरुषविध के प्रयोजनार्थ। अतएव उसके अधिष्ठातृत्व में अपुरुषविध देवताओं की कल्पना की गई है।''

इस विषय में पण्डित भगवद्दत रिसर्च स्कॉलर के विचार जानना भी उचित है—

''चौथा पक्ष है, पुरुषविधों के ही होते हुओं का कर्मशरीर ये देवता होवें। यह अन्तिम पक्ष आख्यान समय वालों का है। ये आख्यान पार्थिव ऐतिहासिक घटनाएँ नहीं हैं। जर्मन अध्यापक ओल्डनबर्ग ने एक कल्पना प्रस्तुत की थी कि कभी लोगों में आख्यान प्रचलित थे। उन्हीं की सामग्री वेद मन्त्रों में भी विद्यमान है। ऐसा लेख वैदिक वाङ्मय से अनभिज्ञता का फल है। इस कल्पना के लिए कोई हेतु नहीं है। सत्य यह है कि वेद मन्त्रों में वर्णित दैवी घटनाओं पर ऋषियों ने आख्यान कहे थे। इसका अभिप्राय था- वेदार्थ का आकर्षक रीति से व्याख्यान। ऐसे अनेक इतिहास स्कन्दस्वामी ने ऋग्वेद भाष्य में दिए हैं, विशेषतः प्रथम मण्डल, सूक्त ११२ से सूक्त ११९ तक।''

* * * * *

अष्टमः खण्डः

तिस्र एव देवता इत्युक्तं पुरस्तात्। तासां भक्तिसाहचर्यं व्याख्यास्यामः।
अथैतान्यग्निभक्तीनि।
अयं लोकः प्रातःसवनं वसन्तो गायत्री त्रिवृत्स्तोमो रथन्तरं साम।
ये च देवगणाः समाम्नाताः प्रथमे स्थाने। अग्नायी पृथिवीळेति स्त्रियः।
अथास्य कर्म। वहनं च हविषामावाहनं च देवतानाम्।
यच्च किंचिद् दार्ष्टिविषयिकम् अग्निकर्मैव तत्। अथास्य संस्तविका देवाः।
इन्द्रः सोमो वरुणः पर्जन्य ऋतवः। आग्नावैष्णवं हविः।
न त्वृक्संस्तविकी दशतयीषु विद्यते। अथाप्याग्नापौष्णं हविः। न तु संस्तवः।
तत्रैतां विभक्तिस्तुतिम् ऋचमुदाहरन्ति॥ ८॥

पूर्व में तीन प्रधान देवताओं की चर्चा की गयी है और यह कहा गया है कि देवता मुख्यतः तीन ही होते हैं। अब उन देवताओं के भक्ति-साहचर्य की व्याख्या की जायेगी। इसका अर्थ यह है कि सर्वप्रथम अग्नितत्त्व के समान भोग वाले और कौन-२ से पदार्थ हैं, इसकी चर्चा की जायेगी। यहाँ ग्रन्थकार ने निम्नलिखित पदार्थों को अग्नि देवता के भक्ति-साहचर्य वाला अर्थात् उसके समान भोग वाला कहा है।

१. अयं लोकः — अयं लोकः अर्थात् पृथिवीलोक। [पृथिवी = वागिति पृथिवी (जै.उ. ४.२२.११), पृथिव्यामिमे लोकाः (प्रतिष्ठिताः) (जै.उ.१.१०.२), इयं वै पृथिवी भूतस्य प्रथमजा (श.ब्रा.१४.१.२.१०), इयं वै यज्ञायज्ञीयम् (जै.ब्रा.१.१७३), अयं लोक ऋग्वेदः (ष.ब्रा.१.५), प्रथनात् पृथिवीत्याहुः (निरु.१.१४), अप्रथत पृथिवी (तै.सं.२.१.२.३)] इन वचनों से यह सिद्ध होता है कि यहाँ जिस पृथिवीलोक की चर्चा की जा रही है, वह यह पृथ्वी लोक नहीं है, जिस पर हम निवास करते हैं, बल्कि यह वह पृथिवी लोक है, जो वाक् रश्मियों, विशेषकर ऋक् रश्मियों का समूह है। ये रश्मियाँ संगतिकरण एवं विसर्जन दोनों ही प्रकार के कार्यों को सम्पन्न करती हैं अथवा ये रश्मियाँ स्वयं दोनों ही प्रकार के गुणों से युक्त होती हैं। ये वाक् रश्मियाँ तेजी से फैलती हुई दूर-२ तक व्याप्त हो जाती हैं। यहाँ पृथिवी लोक के अन्दर सभी लोकों के प्रतिष्ठित रहने की जो बात कही गयी है, उससे भी यह प्रमाणित होता है कि पृथिवीलोक का अर्थ यह भूगोल नहीं है, बल्कि वाक् तत्त्व ही यहाँ पृथिवी लोक है, विशेषकर ऋक् छन्द रश्मियाँ ही पृथिवीलोक है। यहाँ पृथिवी को जो फैलने वाला कहा गया है, इसका अर्थ यही है कि प्रकृति अथवा मनस्तत्त्व के अन्दर जो प्रारम्भ में वाक् रश्मियाँ उत्पन्न होती हैं, वे बहुत तेजी से सर्वत्र फैलती हुई उत्पन्न होती हैं। इनके फैलने की ऐसी गति सृष्टि में फिर कभी नहीं देखी जा सकती। यहाँ फैलने की गति का तात्पर्य यह नहीं मानना चाहिए कि उस समय वाक् रश्मियों की गति सृष्टि के अन्य चरणों में वाक् रश्मियों की गति की अपेक्षा तीव्रतर होती है, बल्कि यहाँ यह मानना चाहिए कि इस समय प्रकृति वा मनस्तत्त्व के अन्दर जो वाक् रश्मियाँ उत्पन्न होती हैं, वे एक साथ सम्पूर्ण पदार्थ में उत्पन्न होती हैं।

२. प्रातःसवनम् — [प्रातःसवनम् = आग्नेयं वै प्रातस्सवनम् (जै.उ.१.३७.२), अयं वै लोकः (पृथिवी) प्रातःसवनम् (श.ब्रा.१२.८.२.८), ब्रह्म वै प्रातःसवनम् (कौ.ब्रा.१६.४), अनिरुक्तं प्रातःसवनम् (तां.ब्रा.१८.६.७), एकच्छन्दः प्रातःसवनम् (ष.ब्रा.१.३), गायत्रीं

प्रातस्सवनं संपद्यते (जै.ब्रा.२.१०२)] प्रातःसवन सृष्टि की वह अवस्था है, जो अकस्मात् अति तीव्र वेग से एक ही छन्द रश्मि अर्थात् 'ओम्' दैवी गायत्री के स्पन्दन से प्रारम्भ होती है। यह अवस्था अव्यक्त रूप ही होती है तथा सर्वत्र ही एक साथ उत्पन्न होने के कारण ब्रह्मवत् व्यापक होती है। इसका अग्नि और पृथिवी से सम्बन्ध तात्पर्य यही है कि यह एक साथ स्पन्दित होती और ऊर्जा रूपी अग्नि का सबसे प्राथमिक रूप होती है। यहाँ 'सवनम्' पद इस बात का सूचक है कि यही अवस्था अर्थात् 'ओम्' रश्मियाँ सम्पूर्ण सृष्टि को उत्पन्न करने वाली एवं सभी रश्मियों का मूल हैं तथा यही 'ओम्' रश्मियाँ सदैव सभी रश्मियों को प्रेरित व नियन्त्रित भी करती रहती हैं।

३. वसन्त — इसके विषय में ऋषियों ने लिखा है— मुखं वा एतद् ऋतूनां यद् वसन्तः (तै.ब्रा.१.१.२.६-७), वसन्तो वै समित् (श.ब्रा.१.५.३.९), ऊर्ग् वै वसन्तः (ऐ.ब्रा.४.२६), वसन्त एव भर्गः (गो.पू.५.१५), ब्रह्म हि वसन्तः (श.ब्रा.२.१.३.५), यो वसति यत्र वा स वसन्तः (उ.को.३.१२८)। इसका अर्थ यह है कि इस सृष्टि में ऋतु रश्मियों के उत्पत्ति क्रम में वसन्त रश्मियाँ सर्वप्रथम उत्पन्न होती हैं और इन्हीं रश्मियों के अन्दर अन्य ऋतु रश्मियाँ उत्पन्न होती और निवास करती हैं। ये ही रश्मियाँ अन्य रश्मियों को ऊर्जा प्रदान करती हुई उनके लिए ईन्धन के समान कार्य करती हैं। ये रश्मियाँ सबसे अधिक व्यापक और तेजयुक्त होने के कारण अग्नि और पृथिवी के साथ विशेष सम्बन्ध रखती हैं।

४. गायत्री — इसके विषय में तत्त्ववेत्ताओं का कथन है— इयं (पृथिवी) वै गायत्री (मै.सं.१.५.१०), अग्निर्हि गायत्री (जै.ब्रा.३.१८४, १९१), गायत्रीमेव प्रातःसवनं संपद्यते (जै.ब्रा.२.१०१), गायत्री छन्दसां मुखम् (तां.ब्रा.६.१.६), गायत्री वै छन्दसामग्रं ज्यैष्ठ्यम् (जै.ब्रा.२.२२७) अर्थात् इस ब्रह्माण्ड में सर्वप्रथम गायत्री छन्द रश्मियाँ ही उत्पन्न होती हैं और इनकी उत्पत्ति सर्वाधिक तीव्र भी होती है। इसके साथ ही ब्रह्माण्ड में संख्या की दृष्टि से इन्हीं छन्द रश्मियों की अधिकता होती है। ये रश्मियाँ ऊर्जा की उत्पत्ति में विशेष एवं प्राथमिक भूमिका निभाती हैं। ये रश्मियाँ ही अन्य छन्द रश्मियों को प्रेरित करने का कार्य करती हैं।

५. त्रिवृत् स्तोम — इस विषय में कहा गया है— त्रिवृदग्निः (श.ब्रा.६.३.१.२५), ब्रह्म वै स्तोमानां त्रिवृत् (ऐ.ब्रा.८.४), त्रिवृद् वै स्तोमानां क्षेपिष्ठः (ष.ब्रा.४.२, तां.ब्रा.१७.१२.३), मुखं वै त्रिवृत् स्तोमानाम् (जै.ब्रा.२.१३५), प्राणो वै त्रिवृत् (तां.ब्रा.२.१५.३)। इसका

आशय यह है कि त्रिवृत् स्तोम अर्थात् तीन गायत्री छन्द रश्मियों का समूह ही प्रारम्भिक ऊर्जा को बढ़ाने में मुख्य भूमिका निभाता है। अन्य गायत्री छन्द रश्मि समूहों में यह सर्वाधिक व्यापक होता है। इसकी अन्य स्तोमरूप रश्मि समूहों की अपेक्षा क्षेपण शक्ति सर्वाधिक होने के कारण यह सृष्टि के प्रारम्भिक काल में पदार्थ को तेजी से फैलाता है और स्वयं भी तेजी से फैलता है। यह सभी स्तोमों का मुख रूप होने से सबका प्रेरक है और इसी कारण इसे सबका प्राणरूप कहा है।

६. रथन्तर साम — इस विषय में भी हम कुछ आर्षवचनों को उद्धृत करना चाहेंगे— अयं वै लोको रथन्तरम् (श.ब्रा.८.५.२.५), वाग् रथन्तरम् (तां.ब्रा.७.६.१७), गायत्री वै रथन्तरस्य योनिः (तां.ब्रा.१५.१०.५), ब्रह्म वै रथन्तरम् (ऐ.ब्रा.८.१), अग्निर्वै रथन्तरम् (ऐ.ब्रा.५.२८), देवरथो वै रथन्तरम् (तां.ब्रा.७.७.१३) अर्थात् पृथिवी, जिसकी चर्चा अभी इसी प्रकरण में की गयी है, की रथन्तर साम से साम्यता है। यहाँ वाक् रश्मियों को रथन्तर कहने का तात्पर्य यह है कि ये रश्मियाँ अपने रमणीय गमन के द्वारा आगे की सभी प्रक्रियाओं को पार लगाने में विशेष भूमिका निभाती हैं। इस प्रकार सृष्टि की प्रथम अवस्था में 'ओम्' रश्मियाँ अथवा अन्य गायत्री छन्द रश्मियाँ आगामी उत्पन्न विभिन्न छन्दादि रश्मियों को सतत प्रेरित करती रहती हैं। 'वेदविज्ञान-आलोकः' ४.१३.१ में निम्नलिखित छन्द रश्मि को भी रथन्तर कहा है, जो इस प्रकार है—

अभि त्वा शूर नोनुमोऽदुग्धाइव धेनवः।
ईशानमस्य जगतः स्वर्दृशमीशानमिन्द्र तस्थुषः॥ (ऋ.७.३२.२२)

यह छन्द रश्मि आगे चलकर वही कर्म करती है, जो प्रारम्भिक स्तर पर 'ओम्' रश्मि करती है। इसका छन्द विराट् बृहती एवं स्वराडनुष्टुप् है, इस कारण इसके प्रभाव से समस्त विद्यमान पदार्थ अपनी पूर्व क्रियाओं को अनुकूलतापूर्वक करता हुआ लाल मिश्रित भूरे रंग को उत्पन्न करता है अथवा पदार्थ को संघनित करता हुआ कहीं-२ कृष्ण वर्ण को भी उत्पन्न करता है। इन रथन्तर रश्मियों की उत्पत्ति गायत्री छन्द रश्मियों के अन्दर ही होती है। ये रश्मियाँ भी पदार्थ में ऊर्जा को समृद्ध करने में सहायक होती हैं। ये रश्मियाँ अन्य साम रश्मियों की अपेक्षा व्यापक होती हैं।

इस प्रकार उपर्युक्त छः बिन्दुओं पर विचार करने से यह स्पष्ट होता है कि ये सभी पदार्थ परस्पर एक-दूसरे से विशेष रूप से सम्बन्धित हैं। ये सभी ऊर्जा को उत्पन्न करने वा

बढ़ाने वाले तथा एक साथ व अकस्मात् दूर-२ तक फैलने वाले होते हैं। इसके साथ ही ये सभी पदार्थ आगामी उत्पन्न पदार्थों के उत्पादक और प्रेरक भी होते हैं। इन सभी का अग्नि के साथ भक्ति-साहचर्य है, इसका तात्पर्य यह है कि इन सभी पदार्थों का परस्पर कुछ न कुछ सम्बन्ध अवश्य रहता है। वेद में प्रायः इन सबकी स्तुति साथ-२ की गई है, परन्तु इसका अपवाद भी देखा जाता है, ऐसा हमारा मत है।

यहाँ ग्रन्थकार कहते हैं कि इस प्रकरण में अर्थात् गायत्री छन्द वाले मन्त्रों अथवा सृष्टि के प्रारम्भिक चरण में जो देवता पढ़े जाते हैं अर्थात् इस प्रकरण में मन्त्र रूपी छन्द रश्मियों के जो-२ देवता वर्णित हैं अर्थात् जिन-२ देवतावाची पदार्थों के नाम पढ़े गए हैं, उनमें अग्नि ही प्रमुख है, परन्तु अग्नि इस पुरुषवाची देवता के साथ स्त्रीवाची देवताओं के नाम भी पाए जाते हैं। ये नाम इस प्रकार हैं— अग्नायी, पृथिवी, इडा।

इस प्रकरण के मुख्य देवता अग्नि का मुख्य कर्म बतलाते हुए लिखते हैं— 'अथास्य कर्म वहनं च हविषामावाहनं च देवतानाम् यच्च किंचिद् दार्ष्टिविषयिकम् अग्निकर्मैव तत्'। इसका अर्थ यह है कि अग्नि के मुख्यतः दो कर्म हैं—

१. हवियों का वहन करना अर्थात् नाना प्रकार के संयोग और वियोग की प्रक्रियाओं में संयोज्य पदार्थों को वहन करना।

२. देवताओं का आवाहन करना। इसका तात्पर्य यह है कि विभिन्न देव पदार्थों को अपनी ओर आकृष्ट करना। यहाँ देवताओं के आकर्षण का अर्थ यह है कि अग्नि देवता वाली विभिन्न छन्द रश्मियाँ अन्य देवताओं वाली छन्द रश्मियों को अपनी ओर आकृष्ट करती रहती हैं, जिससे नाना प्रकार के यजन कर्म प्रारम्भ एवं वर्धमान होकर सृष्टि क्रम आगे बढ़ता रहता है।

तदनन्तर ग्रन्थकार ने लिखा है कि सृष्टि में जो भी दृष्टि विषयक कर्म विद्यमान हैं, उनके पीछे अग्नि तत्त्व की अनिवार्य भूमिका होती है। ग्रन्थकार ने पूर्व में लिखा है— 'ऋक् अर्चनी' (निरु.१.८) अर्थात् प्राथमिक सूक्ष्म दीप्ति इन्हीं ऋक् रश्मियों में उत्पन्न होती है। [प्राणो वाऽऋक् (श.ब्रा.७.५.२.१२), वागृक् (जै.उ.४.२३.४)] इसका तात्पर्य है कि ऋक् रश्मियों में दीप्ति प्राण व सूक्ष्म वाक् रश्मियों के कारण ही होती है और इन्हें ही यहाँ अग्नि कहा गया है। इसके साथ ही यहाँ दृष्टि का तात्पर्य केवल देखना ही नहीं,

अपितु आकर्षण करना भी है। इस कारण इस सृष्टि में यदि कहीं भी आकर्षण विद्यमान है, तो उसके पीछे अन्य इन्द्रादि देवताओं और उनसे सम्बन्धित छन्द रश्मियों के साथ-२ अग्नि और इससे सम्बन्धित छन्द रश्मियों की भी अनिवार्य भूमिका होती है।

यहाँ तक समान भक्ति-साहचर्य वाले देवताओं की चर्चा हुई। अब अग्नि के संस्तविक देवों की चर्चा करते हुए लिखते हैं—

'अथास्य संस्तविका देवा: इन्द्र: सोमो वरुण: पर्जन्य ऋतव: आग्नावैष्णवं हवि: न त्वृक्संस्तविकी दशतयीषु विद्यते अथाप्याग्नापौष्णं हवि: न तु संस्तव: तत्रैतां विभिक्तस्तुतिम् ऋचमुदाहरन्ति'।

इसका अर्थ यह है कि इसके अनन्तर ऐसे देवताओं का वर्णन है, जो अग्नि के साथ स्तुत किए गए हैं अर्थात् जो पदार्थ अग्नि के तेजस्वी होने पर स्वयं ही तेजस्वी होने लगते हैं। ऐसे पदार्थ अग्नि के संस्तविक देव कहलाते हैं। ये देवता इस प्रकार हैं—

१. इन्द्र — इन्द्र तीव्र विद्युत् को कहते हैं, जिसमें वायु एवं अग्नि का संयुक्त रूप होता है। इस कारण अग्नि एवं इन्द्र का विशेष सम्बन्ध होता है। वेद में इन्द्र और अग्नि दोनों की स्तुति के मन्त्र अनेकत्र विद्यमान हैं। उदाहरण के लिए— ऋग्वेद १.२१ सूक्त के सभी मन्त्रों का देवता इन्द्राग्नी है। ये ऋचाएँ अग्नि और इन्द्र दोनों को प्रभावित करती हैं।

२. सोम — सूक्ष्म और मन्दगामिनी मरुद् रश्मियों का संघात सोम कहलाता है, जो तेजस्वी होने पर सोम राजा नाम से भी जाना जाता है। यह सोम अग्नि की उत्पत्ति का कारण भी होता है तथा इन्द्रतत्त्व सोम रश्मियों का निरन्तर भक्षण करता रहता है। अग्नि और सोम की साथ-२ स्तुति करने वाली भी अनेक ऋचाएँ वेद में विद्यमान हैं, उदाहरण के लिए ऋग्वेद १.९३ का देवता अग्नीषोमौ है। इस सूक्त की ऋचाएँ अग्नि और सोम दोनों को प्रभावित करती हैं।

३. वरुण — इस तत्त्व के विषय में हम आगे प्रसंग आने पर चर्चा करेंगे, परन्तु यहाँ यह अवश्य कहना चाहेंगे कि वरुण पदार्थ का भी अग्नि से निकट सम्बन्ध है। इस कारण वेद में अग्नि और वरुण दोनों की स्तुति करने वाली ऋचाएँ विद्यमान हैं। उदाहरण के लिए ऋग्वेद ४.१.२-४ इन तीन ऋचाओं का देवता अग्नीवरुणौ है। ये तीनों ऋचाएँ इस सृष्टि में अग्नि और वरुण दोनों ही पदार्थों को प्रभावित करती हैं।

४. पर्जन्यः — इस पदार्थ के विषय में हम खण्ड ७.५ में लिख चुके हैं, फिर भी हम पर्जन्य और अग्नि का सम्बन्ध दर्शाने वाले कुछ प्रमाणों को यहाँ उद्धृत करते हैं— पर्जन्यस्य विद्युत् (पत्नी) (तै.आ.३.९.२), पर्जन्यो वाऽअग्निः (श.ब्रा.१४.९.१.१३)। इन प्रमाणों से पर्जन्य और अग्नि का सम्बन्ध स्पष्ट होता है। हम पूर्व में खण्ड ७.५ में पृथिवी और पर्जन्य को समान योग वाला लिख चुके हैं। ऋग्वेद ६.५२.१६ में अग्नि और पर्जन्य दोनों की साथ-२ स्तुति की गई है, जिसके प्रभाव से अग्नितत्त्व एवं पर्जन्यरूपी कॉस्मिक मेघ दोनों ही प्रकाशित होने लगते हैं।

५. ऋतु — ये एक प्रकार की रश्मियाँ होती हैं, जिनके छः भेद होते हैं। ऋतुओं के विषय में ऋषियों का कथन है— अग्नयो वाऽऋतवः (श.ब्रा.६.२.१.३६), तस्य (संवत्सरस्य) हर्तव एव मुखानि (जै.ब्रा.१.२४६), रश्मय ऋतवः (मै.सं.४.८.८, क.सं.४५.१)। इसका अर्थ यह है कि ऋतु नामक रश्मियाँ अग्नि को समृद्ध करने वाली होती हैं तथा ये रश्मियाँ ही तारों के निर्माण करने में कार्य करने वाली उनका मुख रूप होती हैं। ऋग्वेद १.१५.४ में अग्नि और ऋतु दोनों की साथ-२ स्तुति की गई है अर्थात् इस छन्द रश्मि के प्रभाव से अग्नि तथा ऋतु रश्मियाँ दोनों ही प्रकाशित होने लगती हैं।

इस प्रकार ये पाँचों पदार्थ अग्नि के संस्तविक देव कहलाते हैं। इसके पश्चात् ग्रन्थकार लिखते हैं कि अग्नि और विष्णु की सम्मिलित हवि तो दी जाती है। यहाँ इसके प्रमाण में स्वामी ब्रह्ममुनि परिव्राजक ने अपने ग्रन्थ 'निरुक्तसम्मर्शः' में मैत्रायणी संहिता को इस प्रकार उद्धृत किया है— 'अग्नाविष्णू सजोषसेमा वर्धन्तु वां गिरः। द्युम्नैर्वाजेभि-रागतम्॥' (मै.सं. ४.१०.१), किन्तु ऋग्वेद के सभी दश मण्डलों में कोई ऐसा एक भी मन्त्र नहीं है, जिसमें अग्नि और विष्णु की साथ-२ स्तुति की गई हो। इसी प्रकार अग्नि और पूषा देवता की साथ-२ हवि का विधान है, परन्तु ऋग्वेद में कोई ऐसी ऋचा नहीं है, जिसमें इन दोनों देवताओं की साथ-२ स्तुति की गई हो।

इस प्रकरण में अग्नि और पूषा दोनों देवताओं की पृथक्-२ स्तुति वाले मन्त्र का उदाहरण अवश्य दिया जाता है, जो अगले खण्ड में वर्णित है। अगला खण्ड प्रारम्भ करने से पूर्व हम इस बात पर विचार करते हैं कि अग्नि और विष्णु को साथ-२ हवि देने का तात्पर्य क्या है? हमारी दृष्टि में इसका तात्पर्य यह है कि इस सृष्टि में अनेक ऐसी रश्मियों की हवि अग्नितत्त्व एवं यज्ञरूप विष्णु अर्थात् यजन प्रक्रिया में भाग ले रहे कणों को दी

जाती है, जिससे अग्नितत्त्व के साथ-२ संयोगादि प्रक्रिया भी समृद्ध होती है। वेद में अग्नि एवं विष्णु दोनों के संयुक्त देवत्व अर्थात् साथ-२ स्तुति एक पृथक् विषय है, जिसका साथ-२ हवि से कोई सीधा सम्बन्ध नहीं है, इस तथ्य को दर्शाना ही ग्रन्थकार का प्रयोजन है। इसी प्रकार अग्नि एवं ऊष्मा दोनों की साथ-२ हवि देने का तात्पर्य यह है कि कुछ रश्मियाँ तारों के अन्दर विभिन्न कणों एवं तरंगाणुओं के साथ संगत होती रहती हैं और इसके साथ ही वे सम्पूर्ण तारे का भी अङ्ग बनती रहती हैं। इसी के कारण इन्हें समान हवि वाला कहा गया है, परन्तु यहाँ भी यह एक तथ्य है कि सम्पूर्ण ऋग्वेद में अग्नि एवं पूषा (सूर्य) दोनों के समान देवत्व वाली कोई ऋचा विद्यमान नहीं है। अब हम अगले खण्ड में अग्नि एवं पूषा दोनों की पृथक्-२ स्तुति वाली ऋचा को उद्धृत करते हैं।

* * * * *

= नवमः खण्डः =

पूषा त्वेतश्च्यावयतु प्र विद्वाननष्टपशुर्भुवनस्य गोपाः।
स त्वैतेभ्यः परि ददत्पितृभ्योऽग्निर्देवेभ्यः सुविदत्रियेभ्यः॥

[ऋ.१०.१७.३]

पूषा त्वा इतः प्र च्यावयतु विद्वान् अनष्टपशुः। भुवनस्य गोपाः इति।
एष हि सर्वेषां भूतानां गोपायिता आदित्यः।
स त्वैतेभ्यः परि ददत्पितृभ्य इति सांशयिकस्तृतीयः पादः। पूषा पुरस्तात्।
तस्यान्वादेशः इत्येकम्। अग्निरुपरिष्टात् तस्य प्रकीर्तना इत्यपरम्।
अग्निर्देवेभ्यः सुविदत्रियेभ्यः। सुविदत्रं धनं भवति। विन्दतेर्वैकोपसर्गात्।
ददातेर्वा स्याद् द्व्युपसर्गात्॥ ९॥

इस मन्त्र का ऋषि यामायनो देवश्रवाः है। इसका तात्पर्य यह है कि [श्रवः = श्रवः अन्ननाम (निघं.२.७), श्रवणीयं यशः (निरु.११.९)] इस छन्द रश्मि की उत्पत्ति नाना प्रकार के मार्गों पर गमन करते हुए संयोज्य देव कणों से होती है अर्थात् संयोज्य देव कण

गमन करते हुए इस छन्द रश्मि को उत्सर्जित करते रहते हैं। इसका देवता पूषा और छन्द निचृत् त्रिष्टुप् होने से इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से [पूषा = अन्नं वै पूषा (कौ.ब्रा.१२.८), पशवो वै पूषा (श.ब्रा.१३.१.८.६)] वे संयोज्य कण और उनकी निकटवर्ती विभिन्न छन्द एवं प्राणादि रश्मियाँ तीक्ष्ण रक्तवर्णीय तेज और बल से युक्त होने लगती हैं। यहाँ पूषा का अर्थ सूर्यलोक भी है। इस कारण इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से सूर्यलोक के अन्दर भी तीक्ष्ण रक्तवर्णीय तेज की वृद्धि होने लगती है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(पूषा, त्वा, इतः, प्र, च्यावयतु, भुवनस्य, गोपाः, विद्वान्, अनष्टपशुः) 'पूषा त्वा इतः प्र च्यावयतु विद्वान् अनष्टपशुः भुवनस्य गोपाः इति एष हि सर्वेषां भूतानां गोपायिता आदित्यः' यह सूर्यलोक विभिन्न प्राणियों का रक्षक है और यह सूर्यलोक विभिन्न उत्पन्न पदार्थ कणों का भी रक्षक और निर्माता है, क्योंकि इसी के अन्दर नाना प्रकार के कणों की उत्पत्ति होती रहती है। यही सूर्यलोक परिवार के सभी ग्रह-उपग्रह आदि लोकों का भी रक्षक और प्रेरक है। सूर्यलोक सभी लोकों और पदार्थों का पोषणकर्त्ता होने से 'पूषा' भी कहलाता है और यह पूषा रूप सूर्यलोक 'अनष्टपशुः' के रूप में होता है। [पशुः = वज्रो वै पशवः (श.ब्रा.६.४.४.६), पशवो वै यूपमुच्छ्रयन्ति (श.ब्रा.३.७.२.४)] यहाँ पशु का अर्थ वज्र रूप यूप रश्मियाँ है। ये रश्मियाँ ही तारों के निर्माण में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं। ये बिखरे हुए कॉस्मिक पदार्थ को संघनित होने में सहयोग करती हैं। इन रश्मियों के विषय में वेदविज्ञान-आलोकः २.३ पठनीय है।

यहाँ ग्रन्थकार मन्त्र का भाष्य करते हुए लिखते हैं कि इन यूप रूप वज्र रश्मियों के नष्ट होने से पूर्व ही अथवा नष्ट होने की प्रक्रिया के चलते सूर्यलोक तेजी से दूर हटा दिया जाता है अर्थात् उस सम्पूर्ण तेजस्वी विशाल पिण्ड से ग्रहों तथा सूर्य का पृथक् होना उस समय होता है, जिस समय यूप रूप रश्मियाँ नष्ट हो रही होती हैं। इसका अर्थ यह है कि कॉस्मिक मेघ के संघनन की प्रक्रिया पूर्ण होते ही नष्ट होती हुई यूप रूप रश्मियाँ प्रतिकर्षण बल से युक्त होकर ग्रहों तथा सूर्यलोक को तीव्रतापूर्वक पृथक्-२ कर देती हैं।

(सः, त्वा, एतेभ्यः, पितृभ्यः, परिददत्) 'स त्वैतेभ्यः परि ददत्पितृभ्य इति' वह पूषा संज्ञक सूर्यलोक इन पृथक् हुए नाना प्रकार के ग्रहादि लोकों, जो नाना प्रजाओं के पालक तथा रक्षक होते हैं अथवा जिन लोकों में नाना प्रकार की प्रजा उत्पन्न होती वा रहती है, को

अपने से दूर करता है। इस प्रक्रिया में सूर्यलोक के केन्द्रीय भाग में विद्यमान आंगिरस रूप कुछ प्राण रश्मियों की तीव्र धाराओं के प्रक्षेपक बल की भी भूमिका होती है। वस्तुतः सूर्यलोक इन प्राणों की धाराओं को ग्रहादि लोकों की ओर प्रवाहित करता रहता है। इसके लिए 'वेद विज्ञान-आलोकः' ६.३५.१-२ पठनीय है।

(सः, अग्निः, देवेभ्यः, सुविदत्रियेभ्यः) 'अग्निर्देवेभ्यः सुविदत्रियेभ्यः सुविदत्रं धनं भवति विन्दतेर्वैकोपसर्गात् ददातेर्वा स्याद् द्व्युपसर्गात्' उस समय सूर्य के केन्द्रीय भाग में विद्यमान आंगिरस नामक प्राण रश्मियाँ, जिन्हें यहाँ अग्नि कहा गया है, वह ऐसा अग्नि तीव्र ज्वालाओं को उत्पन्न करता हुआ उन पृथक् हुए अग्नि से दीप्त विशाल पिण्डों को गति प्रदान करता है। इस गति के कारण वे पिण्ड धीरे-२ स्थिर मार्गों की निकटता प्राप्त करने लगते हैं। इसके लिए पाठक 'वेदविज्ञान-आलोकः' ग्रन्थ का उपर्युक्त प्रसंग अवश्य पढ़ें। यहाँ 'सुविदत्रम्' पद को धनवाची कहा गया है और 'धनम्' पद 'धिवि प्रीणनार्थः' धातु से व्युत्पन्न होता है, जिसका एक अर्थ समीप आना भी है।

इसका अर्थ यह है कि सुविदत्र उन लोकों को कहते हैं, जो सूर्यलोक से पृथक् होकर भी उसके निकट आने का प्रयास करते हुए निकटस्थ कक्षाओं में धीरे-२ स्थित होने का प्रयास कर रहे होते हैं और वे उन कक्षाओं में सूर्य के आकर्षण बल के द्वारा स्थिर एवं तृप्त हो भी जाते हैं। यहाँ कक्षाओं में स्थिर होने का अर्थ यह नहीं है कि वे गति नहीं कर रहे होते हैं, बल्कि इसका अर्थ यह है कि वे निश्चित कक्षाओं में गति करते हैं और उनकी गति भी सदैव नियत ही रहती है। यहाँ 'सुविदत्रम्' पद को दो प्रकार से व्युत्पन्न माना गया है—

१. यह पद 'सु' उपसर्ग पूर्वक 'विद्लृ लाभे' धातु से व्युत्पन्न होता है। ऐसी स्थिति में 'सुविदत्रम्' का अर्थ होगा— वे लोक जो अपने परिक्रमण केन्द्र रूपी सूर्यलोक से गुरुत्व आदि तरंगों को अच्छी प्रकार प्राप्त करके निरन्तर अपनी कक्षा में न केवल सतत परिक्रमण करते रहते हैं, अपितु नाना प्रकार से प्रकाश आदि तरंगों को भी प्राप्त करते रहते हैं।

२. यह पद 'सु' एवं 'वि' इन दो उपसर्गों के साथ 'दाञ्' धातु से व्युत्पन्न होता है। तब 'सुविदत्रम्' का अर्थ है कि ऐसे लोक, जो अच्छी प्रकार से विभिन्न प्राणियों को जीवन देने वाले होते हैं। इस प्रकार विभिन्न ग्रहादि लोकों को ही यहाँ सुविदत्र कहा गया है।

इस मन्त्र का भाष्य करते हुए ग्रन्थकार ने लिखा है— 'सांशयिकस्तृतीयः पादः पूषा पुरस्तात् तस्यान्वादेशः इत्येकम् अग्निरुपरिष्टात् तस्य प्रकीर्तना इत्यपरम्' यहाँ ग्रन्थकार का कथन है कि इस मन्त्र का तृतीय पाद संशय उत्पन्न करने वाला है, क्योंकि इस पाद में 'सः' सर्वनाम पद है, जो कि पूषा के लिए अन्वादेश के रूप में प्रयुक्त हुआ है और 'पूषा' पद प्रथम पाद में विद्यमान है, यह एक मत है। उधर दूसरा मत यह है कि 'सः' पद 'अग्निः' का सर्वनाम रूप है, परन्तु यहाँ 'सः' तृतीय पाद में है और 'अग्निः' पद इसके पश्चात् चतुर्थ पाद में विद्यमान है। ये दोनों ही स्थितियाँ संशय उत्पन्न करती हैं कि 'सः' पद किसके सर्वनाम रूप में प्रयुक्त हुआ है? अग्नि के लिए अथवा पूषा के लिए? यहाँ ग्रन्थकार ने संशय को दूर करने के लिए कोई समाधान दिया है। हमने इसका समाधान मन्त्र का भाष्य करते हुए दे दिया है, जहाँ 'सः' सर्वनाम पद का 'पूषा' एवं 'अग्निः' दोनों ही पदों के लिए प्रयोग मानकर भाष्य में 'सः' पद का दो बार प्रयोग किया है, जबकि मन्त्र में 'सः' पद का केवल एक ही बार प्रयोग हुआ है।

* * * * *

दशमः खण्डः

अथैतानीन्द्रभक्तीनि।
अन्तरिक्षलोको माध्यन्दिनं सवनं ग्रीष्मस्त्रिष्टुप्पञ्चदशस्तोमो बृहत्साम।
ये च देवगणाः समाम्नाताः मध्यमे स्थाने याश्च स्त्रियः। अथास्य कर्म।
रसानुप्रदानम्। वृत्रवधः। या च का च बलकृतिः। इन्द्रकर्मैव तत्।
अथास्य संस्तविका देवाः।
अग्निः सोमो वरुणः पूषा बृहस्पतिर्ब्रह्मणस्पतिः पर्वतः कुत्सो विष्णुर्वायुः।
अथापि मित्रो वरुणेन संस्तूयते। पूष्णा रुद्रेण च सोमः। अग्निना च पूषा।
वातेन च पर्जन्यः॥ १०॥

अग्नि देवता के पश्चात् इन्द्र देवता के समान भोग वाले पदार्थों का वर्णन करते हुए

लिखते हैं कि अन्तरिक्ष लोक, माध्यन्दिन सवन, ग्रीष्म ऋतु, त्रिष्टुप् छन्द, पञ्चदश स्तोम, बृहत् साम तथा और भी जो कोई मध्यम स्थान में पठित देवगण हैं और उनके जो भी स्त्री रूप पदार्थ हैं, वे सभी इन्द्र देवता से सम्बन्ध रखते हैं। ध्यातव्य है कि तीव्र विद्युत्, जिसमें वायुतत्त्व का विशेष योग रहता है, इन्द्रतत्त्व कहलाती है। हम यहाँ इन्द्रतत्त्व से सम्बन्धित उपर्युक्त सभी पदार्थों पर क्रमशः विचार करते हैं—

१. अन्तरिक्ष लोक — इसके विषय में ग्रन्थकार ने लिखा है— 'अन्तरिक्षं कस्मात् अन्तरा क्षान्तं भवति, अन्तरेमे इति वा शरीरेष्वन्तरक्षयमिति वा' (निरु.२.१०)। हम पूर्व में भी इस पर व्याख्यान कर चुके हैं, पाठक उस प्रकरण को अवश्य देखें। उस प्रकरण से स्पष्ट होता है कि जिस पदार्थ को वर्तमान विज्ञान स्पेस नाम देता है और जिसके विषय में वह पूर्णतः भ्रान्त एवं अन्धकार में है, उस आकाशतत्त्व को अन्तरिक्ष लोक कहते हैं। इसके विषय में 'वैदिक रश्मिविज्ञानम्' ग्रन्थ का छठा अध्याय पठनीय है। पूर्व में हमने 'पृथिवी' का अर्थ ऋक् रश्मियाँ किया है, ऐसी स्थिति में यहाँ अन्तरिक्ष लोक का तात्पर्य 'यजुः' रश्मियाँ वा उनके समूह भी ग्रहण कर सकते हैं और आकाशतत्त्व का निर्माण इन्हीं रश्मियों के द्वारा होता ही है।

२. माध्यन्दिन सवन — इसके विषय में ऋषियों ने लिखा है— मरुत्वद्धि माध्यन्दिनं सवनम् (तां.ब्रा.९.७.२), इदं (अन्तरिक्षम्) माध्यन्दिनं सवनम् (जै.ब्रा.३.५७), माध्यन्दिनं सवनानां तपस्वितमम् (काठ.सं.२३.१०)। पूर्व में हम प्रातःसवन की चर्चा कर चुके हैं। उससे अगले चरण को माध्यन्दिन सवन कहा जाता है। इस अवस्था तक आकाशतत्त्व की उत्पत्ति हो चुकी होती है और उस आकाशतत्त्व के अन्दर माध्यन्दिन सवन की सभी क्रियाएँ सम्पन्न होती हैं। इस चरण में मरुद् रश्मियों की प्रचुरता होती है तथा पदार्थ का तापमान बहुत अधिक होने लगता है। इसके साथ ही इस समय विभिन्न प्रकार के बल उत्पन्न होकर तारों के केन्द्रों का निर्माण भी होने लगता है। मूलकणों और प्रकाशाणुओं के निर्माण की प्रक्रिया भी इसी चरण के अन्तर्गत होती है। इसीलिए कहा गया है— स्वर्गो वै लोको माध्यन्दिनं सवनम् (मै.सं. ४.८.३, गो.उ.३.१७)। इस चरण के विषय में कहा है— त्रैष्टुभबार्हतो वै माध्यन्दिनः (जै.ब्रा.२.३८३), त्रिच्छन्दा माध्यन्दिनः पवमानः (ष.ब्रा.१.३)। इसका अर्थ यह है कि इस चरण तक तीन प्रकार की छन्द रश्मियाँ उत्पन्न हो जाती हैं अर्थात् इस चरण में तीन प्रकार की छन्द रश्मियाँ प्रधानता से विद्यमान रहती हैं। वे रश्मियाँ

इस प्रकार हैं— प्रात:सवन में उत्पन्न हुई गायत्री छन्द रश्मियों के अतिरिक्त बृहती एवं त्रिष्टुप् छन्द रश्मियाँ। इन छन्द रश्मियों के कारण तीव्र बल उत्पन्न होकर पदार्थ के संघनन की क्रिया प्रारम्भ होने लगती है और सम्पूर्ण आकाश में श्वेत वर्ण, रक्त वर्ण एवं काले वर्ण की प्रचुरता होती है अर्थात् उस समय विद्यमान पदार्थ में ये तीन रंग प्रधान रूप से उत्पन्न होने लगते हैं।

३. ग्रीष्म ऋतु — इन ऋतु रश्मियों के विषय में महर्षियों का कथन है— एतावेव (शुक्रश्च शुचिश्च) ग्रैष्मौ (मासौ) स यदेतयोर्बलिष्ठं तपति तेनो हैतौ शुक्रश्च शुचिश्च (श.ब्रा. ४.३.१.१५), ग्रीष्मो ग्रस्यन्तेऽस्मिन्रसाः (निरु.४.२७), क्षत्रं हि ग्रीष्मः (श.ब्रा.२.१.३.५), ग्रीष्मे मध्यन्दिने सꣳहितामैन्द्रीम् (आलभेत) (तै.सं.२.१.२.५) अर्थात् ये ऋतु रश्मियाँ शुक्र एवं शुचि नामक दो मास रश्मियों का युग्म रूप होती हैं तथा ये बल एवं ताप से विशेष युक्त होती हैं तथा विभिन्न रसों अर्थात् प्राण रश्मियों को विशेष रूप से अवशोषित करने वाली होने के कारण भेदक बलों से युक्त होती हैं। इनकी विद्यमानता में इन्द्रतत्त्व प्रबल होता है।

४. त्रिष्टुप् छन्द — इस चरण में यद्यपि पूर्वोक्त तीन छन्द रश्मियाँ विशेष रूप से विद्यमान होती हैं, पुनरपि उन तीनों में भी त्रिष्टुप् छन्द रश्मि की अधिक प्रधानता होती है। इसके स्वरूप के विषय में हम आगे यथाप्रसंग चर्चा करेंगे।

५. पञ्चदश स्तोम — इसके विषय में ऋषियों का कथन है— त्रैष्टुभः पञ्चदशस्तोमः (तां.ब्रा.५.१.१४), वीर्यं वै बृहद् वीर्यं पञ्चदशः (जै.ब्रा.२.४०७), पञ्चदशौ ते अग्ने बाहू (काठ.सं.३९.२), यजमानो वै पञ्चदशः (मै.सं.४.७.६), क्षत्रं पञ्चदशः (ऐ.ब्रा.८.४), पञ्चदशं माध्यन्दिनꣳ सवनम् (मै.सं.४.४.१०)। इन सब वचनों का तात्पर्य यह है कि पन्द्रह गायत्री छन्द रश्मि विशेष समूह की उत्पत्ति माध्यन्दिन सवन नामक सृष्टि के इस द्वितीय चरण में होती है और इस समय ही त्रिष्टुप् छन्द रश्मियाँ विशेष रूप से उत्पन्न होती हैं और इनके कारण ही पञ्चदश स्तोम रश्मियाँ भेदन क्षमता से विशेष युक्त होती हैं। इस समय उत्पन्न बल भुजाओं के समान पदार्थ को रोकने और बाँधने में सहायक होकर सृजन प्रक्रिया को गति देते हैं। इस कारण इस चरण में सृष्टि प्रक्रिया तीव्रता से आगे बढ़ने लगती है।

६. बृहत् साम — इसके विषय में ऋषियों का कथन है— रथन्तरेणैवाग्नि श्रेष्ठतामगच्छद् बृहतेन्द्रः (जै.ब्रा.२.१३२), वृषा वै बृहद् योषा रथन्तरम् (ऐ.आ.१.४.२), उभे बृहद्रथन्तरे भवतस्तद्धि स्वाराज्यम् (तां.ब्रा.१९.१३.५), एतद् वै दैव्यं मिथुनं प्रजननं यदुभे बृहद्रथन्तरे (जै.ब्रा.२.८१)। 'वेदविज्ञान-आलोकः' ४.१३.१ में निम्नलिखित छन्द रश्मि को बृहत् साम का रूप बताया है—

त्वामिद्धि हवामहे साता वाजस्य कारवः।
त्वां वृत्रेष्विन्द्र सत्पतिं नरस्त्वां काष्ठास्वर्वतः॥ (ऋ.६.४६.१)

इस ऋचा का छन्द अनुष्टुप् है। हम जानते हैं कि अनुष्टुप् छन्द रश्मि अन्य छन्द रश्मियों के प्रभाव को बढ़ा देती है। इस कारण इसके उत्पन्न होने से सभी यजन क्रियाएँ तीव्र होने लगती हैं। बृहत् साम नामक रश्मियाँ अन्य रश्मियों के योग से इन्द्रतत्त्व को समृद्ध और बलवान् बनाती हैं, जबकि रथन्तर रश्मियाँ अग्नितत्त्व को समृद्ध करती हैं। इस सृष्टि में बृहत् रश्मियाँ पुरुष के समान और रथन्तर रश्मियाँ स्त्री के समान व्यवहार करती हैं। इस प्रकार इन दोनों के संयोग से विभिन्न प्रकार के प्रकाशित पदार्थ एवं सूर्यादि लोक उत्पन्न होने लगते हैं। माध्यन्दिन सवन के कुछ देवताओं का पारस्परिक सम्बन्ध दर्शाते हुए वेदवेत्ताओं ने कहा है— ग्रीष्मेण ऋतुना देवा रुद्राः पञ्चदशे स्तुतम् बृहता यशसा बलम् (मै.सं.३.११.१२, काठ.सं.३८.११)। यहाँ ग्रीष्म ऋतु, पञ्चदश स्तोम एवं बृहत् साम के पारस्परिक सम्बन्ध को रेखांकित किया है, जो निरुक्त के इस प्रकरण के साथ पूर्णतः सम्बन्धित है।

अब हम इन छः देवताओं की इन्द्रतत्त्व के साथ सहभागिता के प्रमाण प्रस्तुत करते हैं— इन्द्रोऽन्तरिक्षम् ... ऋध्नोत् (काठ.सं.२९.७, क.सं.४५.८)। यहाँ इन्द्र के साथ अन्तरिक्ष (आकाशतत्त्व) की सहभागिता सिद्ध होती है। ऐन्द्रं माध्यन्दिनꣳ सवनम् (मै.सं.४.५.९, गो.उ.१.२३), यत्पृष्ठं माध्यन्दिनं तेनैन्द्रम् (जै.ब्रा.१.१३८), इन प्रमाणों से इन्द्रतत्त्व की माध्यन्दिन सवन के साथ सहभागिता प्रमाणित होती है। ग्रीष्म ऋतु रश्मियों का इन्द्रतत्त्व के साथ सम्बन्ध हम दर्शा चुके हैं। त्रिष्टुबिन्द्रस्य वज्रः (ऐ.ब्रा.२.२), यदैन्द्रं तत् त्रिष्टुभो रूपम् (जै.ब्रा.३.२०६), इन प्रमाणों से त्रिष्टुप् छन्द रश्मियों की इन्द्रतत्त्व के साथ सहभागिता स्पष्ट होती है। पञ्चदशो हि वज्रः (श.ब्रा.४.३.३.४), यहाँ पञ्चदश स्तोम रूप गायत्री छन्द रश्मि समूह की इन्द्रतत्त्व के साथ सहभागिता रेखांकित होती है। इन्द्रस्य बृहत्

(साम) (मै.सं. २.३.७), यह वचन बृहत् साम रश्मियों की इन्द्रतत्त्व के साथ सहभागिता सिद्ध करता है।

इन्द्र के साथ भक्ति रखने वाले देवों की व्याख्या के पश्चात् इन्द्रतत्त्व के कर्मों के विषय में लिखते हैं— 'अथास्य कर्म रसानुप्रदानम् वृत्रवधः या च का च बलकृतिः इन्द्रकर्मैव तत्'। यहाँ इन्द्रतत्त्व के कर्मों का वर्णन करते हुए कहते हैं कि रसों का प्रदान करना इन्द्रतत्त्व का प्रथम कार्य है। यद्यपि यहाँ अनुप्रदान शब्द का प्रयोग हुआ है, जिसका अर्थ आदान = लेना नहीं, बल्कि केवल प्रदान करना ही है। हम जानते हैं कि इस सृष्टि में विभिन्न प्रकार के कणों, प्रकाशाणुओं के उत्सर्जन और यहाँ तक कि विशाल कॉस्मिक मेघों, बड़े-२ लोक-लोकान्तरों, अन्य आकाशीय पिण्डों एवं वायुमण्डल में विद्यमान जलीय मेघों से वृष्टि कर्म में विद्युत् की किसी न किसी रूप में भूमिका होती है। यहाँ हम 'रसः' पद पर कुछ विचार करते हैं, इसके विषय में विभिन्न ऋषियों का कथन है— वाङ्नाम (निघं.१.११), उदकनाम (निघं.१.१२), अन्ननाम (निघं.२.७), रसो वाऽआपः (श.ब्रा.३.३.३.१८)। इन प्रमाणों से विदित होता है कि जहाँ भी इन्द्रतत्त्व विद्यमान होता है, वहाँ विभिन्न वाक् रश्मियों, प्राण रश्मियों, विभिन्न आयन्स अर्थात् जल तत्त्व के अणुओं आदि विभिन्न पदार्थों में विशेष क्रियाशीलता होती है और इस कारण उनका विशेष रूप से पारस्परिक उत्सर्जन भी अधिक मात्रा में होता है।

अब इन्द्रतत्त्व का अगला कर्म बतलाते हुए कहा कि वृत्र का वध करना इन्द्र का दूसरा एवं प्रसिद्ध कर्म है। वृत्र के विषय में हम यहाँ ऋषियों के कुछ वचन उद्धृत करते हैं— वृत्रो वृणोतेर्वा वर्ततेर्वा वर्धतेर्वा यदवृणोत्तदु वृत्रस्य वृत्रत्वमिति विज्ञायते यदवर्त्तत तदु वृत्रस्य वृत्रत्वमिति विज्ञायते यदवर्धत तदु वृत्रस्य वृत्रत्वमिति विज्ञायते (निरु.२.१७), वृत्रो ह वाऽइदꣳ सर्वं वृत्वा शिश्ये यदिदमन्तरेण द्यावापृथिवी स यदिदं सर्वं वृत्वा शिश्ये तस्माद् वृत्रो नाम (श.ब्रा.१.१.३.४), पाप्मा वै वृत्रः (श.ब्रा.११.१.५.७), तत्को वृत्रः (निरु. २.१६)। इनमें से प्रथम दो प्रमाणों पर हम इस ग्रन्थ के भाष्य में पूर्व में व्याख्यान कर चुके हैं, जिसे पाठकों को अवश्य पढ़ना चाहिए। वहाँ दर्शाए गए वृत्र रूप मेघों के अतिरिक्त लघु स्तर पर पतनकारी एवं बाधक सूक्ष्म पदाथों को भी वृत्र कहते हैं, जिनकी चर्चा हम पूर्व में अनेकत्र कर चुके हैं। इसके साथ ही 'वेदविज्ञान-आलोकः' ग्रन्थ में भी इन पदार्थों की व्यापक चर्चा की गई है। इन सभी वृत्र नामक पदार्थों को नष्ट व छिन्न-भिन्न करना इन्द्र

का ही कार्य है। इसका अर्थ यह है कि विद्युत् के बिना इनमें से कोई भी कार्य करना सम्भव नहीं है।

इसके अतिरिक्त इन्द्र के विषय में लिखते हैं— इस सृष्टि में विभिन्न प्रकार के बलों के द्वारा जो भी क्रियाएँ हो रही हैं और उन क्रियाओं के द्वारा जो-२ भी रचनाएँ होती हैं व हुई हैं, वे सभी इन्द्रतत्त्व के ही कर्म हैं अर्थात् सभी प्रकार के बल इन्द्र के ही बल हैं। हाँ, यह बात अवश्य है कि भिन्न-२ प्रकरणों में इन्द्र शब्द से भी भिन्न-२ पदार्थों का ग्रहण करना चाहिए। इसके साथ ही यह भी ध्यान रखना चाहिए कि यहाँ इस प्रकरण में इन्द्र मध्यम स्थानी देवता है, इसलिए यहाँ इन्द्र का अर्थ वायुतत्त्व से आच्छादित विद्युत् का ग्रहण करना ही अधिक उचित है।

इस विषय में अन्य ऋषियों का भी यही मत है कि सृष्टि का सम्पूर्ण बल इन्द्र का ही बल है अथवा इन्द्र का बल सबसे बड़ा बल है। उनका कथन है— इन्द्रो बलं बलपतिः (श.ब्रा.११.४.३.१२), इन्द्रो मे बले श्रितः (तै.ब्रा.३.१०.८.८), इन्द्रो वै देवानामोजिष्ठो बलिष्ठः सहिष्ठः सत्तमः पारयिष्णुतमः (ऐ.ब्रा.७.१६, ८.१२), इन्द्रो वै देवानामोजिष्ठो बलिष्ठः (कौ.ब्रा.६.१४)। इन्द्र के कर्मों का वर्णन करने के पश्चात् इसके साथ जिन देवताओं की वेदमन्त्रों में स्तुति की गई है अर्थात् जो पदार्थ इन्द्रतत्त्व के साथ-२ प्रकाशित व समृद्ध होते हैं, उनकी चर्चा करते हैं। वे देव पदार्थ क्रमशः इस प्रकार हैं—

१. अग्नि — वेद में अनेकत्र इन्द्र और अग्नि की साथ-२ स्तुति करने वाले अनेक मन्त्र विद्यमान हैं, उदाहरण के लिए ऋग्वेद ८.४० सूक्त के सभी मन्त्रों का देवता इन्द्राग्नि है। इससे यह विदित होता है कि इन छन्द रश्मियों के प्रभाव से इन्द्र और अग्नि दोनों ही तत्त्व प्रकाशित और समृद्ध होते हैं। हम यह जानते हैं कि इन्द्रतत्त्व स्वयं अग्नि और वायु का मिश्रित रूप है और अग्नितत्त्व स्वयं वायु का संघनित रूप है। इस कारण भी इन्द्रतत्त्व के साथ अग्नितत्त्व का प्रकाशित और समृद्ध होना स्वाभाविक ही है। इस कारण अग्नितत्त्व को इन्द्रतत्त्व के साथ स्तुत होने वाला देवता कहा गया है। उधर हम यह भी अनुभव करते हैं कि विद्युत् धारा की वृद्धि से किसी भी पदार्थ के ताप में वृद्धि होने लगती है। इससे भी इन्द्रतत्त्व के समृद्ध होने पर अग्नितत्त्व की समृद्धि सिद्ध होती है।

२. सोम — वेद मे अनेकत्र इन्द्र और सोम दोनों तत्त्वों की साथ-२ स्तुति की गई है, उदाहरण के लिए ऋग्वेद मण्डल ७ सूक्त १०४ में मन्त्र संख्या १-७, १५ एवं २५ इन ९

मन्त्रों का देवता। ऋग्वेद मण्डल ६ के सूक्त ७२ का देवता भी इन्द्रासोमो है। इस कारण इन दोनों देवताओं की साथ-२ स्तुति स्वयं सिद्ध हो जाती है। पूर्ववत् हमें यह भी जान लेना चाहिए कि इन दोनों देवताओं की समान स्तुति का तात्पर्य यह है कि इन छन्द रश्मियों के प्रभाव से इन्द्र और सोम दोनों ही तत्त्व प्रकाशित और समृद्ध होते हैं। अब हम इन्द्र और सोम का पारस्परिक सम्बन्ध बतलाने वाले कुछ आर्ष वचनों को यहाँ उद्धृत कर रहे हैं— इन्द्राय हि सोम आह्रियते (तै.सं.६.४.४.१), सोमो वाऽइन्द्रः (श.ब्रा.२.२.३.२३)। इन वचनों से इन्द्र और सोम पदार्थों का पारस्परिक सम्बन्ध प्रदर्शित होता है। वस्तुतः इन्द्रतत्त्व में अग्नि और सोम दोनों ही पदार्थों का मिश्रण है। यह बात महर्षि याज्ञवल्क्य के निम्न वचन से प्रमाणित होती है— योऽयं वायुः पवतऽएष सोमः (श.ब्रा.७.३.१.१)। यहाँ सोमतत्त्व को वायु कहा है और वायु इन्द्रतत्त्व का एक भाग होता है। इस कारण इन्द्रतत्त्व के समृद्ध होने पर सोमतत्त्व भी समृद्ध होगा और सोमतत्त्व के समृद्ध होने पर इन्द्रतत्त्व भी समृद्ध होगा। इसके अतिरिक्त इन्द्रतत्त्व सोम रश्मियों का भक्षण करता है और ऐसा करके वह बलवत्तर होता है। इस कारण बलवान् इन्द्रतत्त्व के अन्दर सोम रश्मियों की अधिकता होगी और सोम रश्मियों की अधिकता में इन्द्रतत्त्व बलवान् हो सकेगा। इसलिए इन दोनों को समान स्तुति वाला कहा गया है।

३. वरुण — इसके विषय में ऋषियों का कथन है— यः प्राणः स वरुणः (गो.उ.४.११), व्यानो वरुणः (श.ब्रा.१२.९.१.१६), अपानो वरुणः (श.ब्रा.८.४.२.६), इन्द्रो वै वरुणः स उ वै पयोभाजनः (गो.उ.१.२२), स यदग्निर्घोरसंस्पर्शस्तदस्य वारुणं रूपम् (ऐ.ब्रा.३.४), क्षत्रं वरुणः (श.ब्रा.४.१.४.१)। इन प्रमाणों से यह सिद्ध होता है कि सूक्ष्म स्तर पर प्राण, अपान एवं व्यान ये तीनों रश्मियाँ वरुण कहलाती हैं। विशेषकर इन तीनों रश्मियों का मिश्रित रूप विशेष बन्धन गुणयुक्त होने से वरुण कहलाता है। सूर्य के केन्द्रीय भाग में इन रश्मियों की प्रधानता होती है, जिनकी नाभिकीय संलयन में महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। इसके लिए 'वेदविज्ञान-आलोकः' का ३३वाँ अध्याय पठनीय है। यहाँ तीन अन्य वचन अग्नि एवं इन्द्र दोनों के ही विशेष रूपों को वरुण सिद्ध कर रहे हैं। जब इन्द्रतत्त्व (विद्युत्) विभिन्न रश्मियों का विभाजन करता है, इन्द्र की उस अवस्था को वरुण कहा गया है। उधर जब अग्नि का तीक्ष्ण रूप होता है, तब वह अग्नि भी वरुण कहलाता है। ऐसे अग्नि एवं इन्द्रतत्त्व भेदक शक्तिसम्पन्न भी होते हैं, इसलिए इन्हें 'क्षत्र' कहा है।

यहाँ पाठक यह स्वयं जान सकते हैं कि इनमें से वरुण का कोई भी रूप इन्द्रतत्त्व के साथ प्रकाशित व समृद्ध क्यों होता है? हम नहीं समझते कि हमें इसकी भी व्याख्या करना आवश्यक है। यहाँ हम इन्द्र और वरुण की साथ-२ स्तुति करने वाले मन्त्रों के उदाहरण प्रस्तुत करते हैं—

ऋग्वेद १.१७, ऋग्वेद ६.६८, ऋग्वेद ७.८२, ऋग्वेद ८.५९ आदि सूक्तों का देवता इन्द्रावरुणौ है, जिससे यह प्रकट होता है कि इन छन्द रश्मियों के प्रभाव से इन्द्र एवं वरुण दोनों ही प्रकार के पदार्थ प्रकाशित और समृद्ध होते हैं।

४. पूषा — सर्वप्रथम हम ऐसे मन्त्रों को उद्धृत करना चाहते हैं, जिनमें इन्द्र एवं पूषा दोनों ही देवताओं की साथ-२ स्तुति की गई है। ऋग्वेद ६.५७ के सभी छः मन्त्रों का देवता 'इन्द्रापूषणौ' है, जिससे यह ज्ञान होता है कि इन छन्द रश्मियों के प्रभाव से इन्द्र एवं पूषा दोनों ही देवता प्रकाशित व समृद्ध होते हैं। अब हम पूषा के विषय में कुछ आर्ष वचन प्रस्तुत करते हैं— असौ वै पूषा योऽसौ सूर्यः तपति (कौ.ब्रा.५.२), अन्नं वै पूषा (कौ.ब्रा. १२.८), पशवो वै पूषा (श.ब्रा.१३.१.८.६), इयं (पृथिवी) वै पूषा (मै.सं.२.५.५)। इन वचनों से निम्नलिखित चार पदार्थ पूषा कहलाते हैं—

(क) सूर्य — अपने परिवार के सभी लोकों तथा प्राणियों और वनस्पतियों का पोषक होने से सूर्यलोक को पूषा कहते हैं।

(ख) अन्न — विभिन्न संयोज्य वा अवशोष्य पदार्थ पूषा कहलाते हैं, क्योंकि पदार्थों के संयोग, अवशोषण एवं उत्सर्जन आदि क्रियाओं से ही सृष्टि के सभी पदार्थ और उनकी क्रियाएँ पुष्ट होती हैं।

(ग) पशु — यहाँ पशु शब्द का अर्थ विभिन्न छन्द, मरुद् एवं प्राण रश्मियाँ है, जिनके कारण सम्पूर्ण सृष्टि का पोषण होता है, इसलिए इन्हें भी पूषा कहते हैं।

(घ) पृथिवी — यहाँ 'पृथिवी' शब्द का अर्थ भूमि एवं अन्तरिक्ष दोनों ही समझना चाहिए। ग्रन्थकार ने निघण्टु १.३ में इस पद को अन्तरिक्ष नामों में भी पढ़ा है। भूमि और आकाशतत्त्व दोनों ही विभिन्न पदार्थों के पोषक होने के कारण पूषा कहलाते हैं।

अब इन चारों पदार्थों के इन्द्र के साथ सम्बन्ध दर्शाने का प्रयास करते हैं—

इन्द्र सूर्य का स्वयं एक नाम है, जैसा कि महर्षि याज्ञवल्क्य का कथन है— एष वाऽइन्द्रो य एष (सूर्य्यः) तपति (श.ब्रा.२.३.४.१२)। सूर्य के जिन भागों में विद्युत् चुम्बकीय क्षेत्रों की प्रबलता होती है, वहाँ उतना ही अधिक ताप होता है।

जिस कण में जितना अधिक विद्युत् चुम्बकीय बल होता है, उस कण की संयोजन व वियोजन क्षमता उतनी ही अधिक होती है। इस कारण इन्द्र के समृद्ध होने पर अन्न के समृद्ध होने की बात प्रमाणित होती है।

इन्द्र और पशु का सम्बन्ध दर्शाते हुए लिखा है— इन्द्रः पशूनां प्रदाता (काठ.सं. १०.८)। इस वचन से भी इन्द्र और पशु रश्मियों का सम्बन्ध सिद्ध होता है, क्योंकि समृद्ध इन्द्रतत्त्व अधिक रश्मियों को उत्सर्जित करेगा।

इन्द्र एवं पृथिवी संज्ञक अन्तरिक्ष को रेखांकित करते हुए लिखा है— इन्द्रोऽन्तरिक्षम्... ऋध्नोत् (काठ.सं.२९.७; क.सं.४५.८)। हम जानते हैं कि प्रबल विद्युत् चुम्बकीय क्षेत्र आकाशतत्त्व को संकुचित वा संघनित करता है। इस कारण इन्द्रतत्त्व की तीव्रता बढ़ने के साथ-साथ आकाशतत्त्व का संघनन वा संकुचन तीव्रतर होने लगता है।

उधर भूमि संज्ञक पृथिवी के निर्माण की प्रक्रिया एवं तारों के अन्दर भारी नाभिकों के बनने की प्रक्रिया इन्द्रतत्त्व पर ही निर्भर होती है। इस कारण इन्द्रतत्त्व की तीव्रता पर विभिन्न आयन्स और ग्रहादि लोकों के निर्माण की प्रक्रिया निर्भर है।

५. **बृहस्पति** — इसके विषय में ऋषियों का कथन है— अयं वै बृहस्पतिर्योऽयं (वायुः) पवते (श.ब्रा.१४.२.२.१०), एष (प्राणः) उ एव बृहस्पतिः (श.ब्रा.१४.४.१.२२), ब्रह्म वै बृहस्पतिः (ऐ.ब्रा.१.१३), अथ यस्सोऽपान आसीत् स बृहस्पतिरभवत् (जै.उ.२.२.५), बृहस्पतिर्वै सर्वं ब्रह्म (गो.उ.१.३), बृहस्पतिर्ब्रह्म ब्रह्मपतिः (तै.ब्रा.२.५.७.४)। इन वचनों का तात्पर्य यह है कि बड़े-२ बलों का पालक सूत्रात्मा वायु बृहस्पति कहलाता है। वायुतत्त्व को भी बृहस्पति कहते हैं, क्योंकि इससे स्थूल सभी पदार्थ इसी से उत्पन्न और रक्षित होते हैं। इसके साथ ही कोई भी बल बिना वायुतत्त्व के उत्पन्न व क्रियाशील नहीं हो सकते हैं। प्राण और अपान भी बृहस्पति कहलाते हैं, क्योंकि ये भी सभी पदार्थों के पालक और रक्षक होते हैं। इसके साथ ही विभिन्न बलों के भी ये प्राण रूप होते हैं। ब्रह्म अर्थात् विभिन्न प्रकार के बल और उनके रक्षक रश्मि आदि पदार्थ भी बृहस्पति कहलाते हैं,

क्योंकि ये पदार्थ ही सृष्टि के सभी पदार्थों के पालक और रक्षक होते हैं। उधर ग्रन्थकार लिख चुके हैं कि इन्द्रतत्त्व बलपति है, इसलिए इन्द्रतत्त्व और बृहस्पति संज्ञक ये सभी पदार्थ परस्पर एक-दूसरे से सम्बन्धित होते हैं और इन्द्रतत्त्व के प्रकाशित व समृद्ध होने पर ये सब भी प्रकाशित वा समृद्ध होते हैं।

वेद में कुछ मन्त्रों में इन्द्र एवं बृहस्पति दोनों ही पदार्थों की साथ-२ स्तुति की गई है। इसके लिए हम ऋग्वेद ४.४९ सूक्त को देख सकते हैं। साथ-साथ स्तुति करने का तात्पर्य पाठक पूर्ववत् समझें।

६. **ब्रह्मणस्पति** — इसके विषय में ऋषियों का कथन है— एष वै ब्रह्मणस्पतिर्य एष (सूर्य्यः) तपति (श.ब्रा.१४.१.२.१५), ब्रह्म वै ब्रह्मणस्पतिः (मै.सं.२.२.३), एष (प्राणः) उऽएव ब्रह्मणस्पतिः (श.ब्रा.१४.४.१.२३)। इन वचनों में जिन पदार्थों को ब्रह्मणस्पति कहा है, उनमें से अन्तिम दो पदार्थ बृहस्पति भी कहलाते हैं। इसलिए इनके विषय में बृहस्पति की भाँति ही समझें। इसके साथ ही सूर्य को ब्रह्मणस्पति कहा है, क्योंकि सूर्य के अन्दर सभी प्रकार के ब्रह्म अर्थात् बल विद्यमान होते हैं। इस कारण इन्द्र के प्रकाशित और समृद्ध होने से समस्त सूर्यलोक भी प्रकाशित और समृद्ध होता है। यहाँ बृहस्पति और ब्रह्मणस्पति के विषय में इतना भेद समझ लेना चाहिए कि ब्रह्मणस्पति बृहस्पति संज्ञक पदार्थों का भी पालक होता है। वेद में इन्द्र एवं ब्रह्मणस्पति की साथ-साथ स्तुति वाली ऋचा विद्यमान है। वह ऋचा इस प्रकार है—

विश्वं सत्यं मघवाना युवोरिदापश्चन प्र मिनन्ति व्रतं वाम्।
अच्छेन्द्राब्रह्मणस्पती हविर्नोऽन्नं युजेव वाजिना जिगातम्॥ (ऋ.२.२४.१२)

इस मन्त्र के देवता ब्रह्मणस्पति और इन्द्र दोनों हैं अर्थात् इस ऋचा के प्रभाव से ये दोनों ही तत्त्व समृद्ध व प्रकाशित होते हैं।

७. **पर्वत** — वेद में इन दोनों ही पदार्थों की साथ-२ स्तुति दर्शाने वाले अनेक मन्त्र हैं। उदाहरण के लिए ऋग्वेद ३.५३.१ का देवता इन्द्रापर्वतौ है, जिसका अर्थ पूर्ववत् समझें। पर्वत के विषय में ऋषियों का कथन है— पर्वतः मेघनाम (निघं.१.१०), पर्ववान् पर्वतः पर्व पुनः पृणाते प्रीणातेर्वा (निरु.१.२०)। इसका अर्थ यह है कि वायुमण्डल में जलीय मेघों, आकाश में कॉस्मिक मेघों एवं पृथ्वी आदि लोकों पर पहाड़ों को पर्वत कहते हैं। इस

विषय में हम पूर्व में खण्ड १.२० में लिख चुके हैं, पाठक उस प्रकरण को अवश्य पढ़ें। इन तीनों ही प्रकार के पदार्थों के निर्माण में इन्द्रतत्त्व की अनिवार्य भूमिका होती है और निर्मित हुए इन पदार्थों के अन्दर होने वाली विभिन्न क्रियाओं में भी इन्द्रतत्त्व की भूमिका होती है। इस कारण इन्द्र जितना अधिक समृद्ध होगा, उतने ही समृद्ध ये पदार्थ भी होंगे, इसलिए इन्हें इन्द्रतत्त्व के समान स्तुति वाला कहा है।

८. **कुत्स** — वेद में इन्द्र और कुत्स दोनों ही देवताओं की साथ-२ स्तुति वाले मन्त्र भी हैं। उदाहरण के रूप में ऋग्वेद ५.३१.८-९ इन दोनों मन्त्रों के देवता इन्द्र और कुत्स दोनों ही हैं। इस कारण इन छन्दों के प्रभाव से दोनों ही पदार्थ साथ-२ प्रकाशित और समृद्ध होते हैं। इसके विषय में ऋषियों का कथन है— कुत्सः वज्रनाम (निघं.२.२०), कुत्स इत्येतत्कृन्ततेर्ऋषिः कुत्सो भवति कर्त्ता स्तोमानामित्यौपमन्यवोऽत्राप्यस्य वधकर्मैव भवति (निरु.३.११) अर्थात् इन्द्र की वज्र रश्मियों को कुत्स कहते हैं। इन कुत्स नामक वज्र रश्मियों के विषय में पूर्व में खण्ड ३.११ में विस्तार से लिख चुके हैं, पाठक वहाँ स्वयं पढ़ लें। इन्द्रतत्त्व वज्र रश्मि का धारणकर्त्ता होता है, इस कारण इन्द्र के समृद्ध व प्रकाशित होने पर वज्र रश्मियों का प्रकाशित और समृद्ध होना स्वाभाविक है।

९. **विष्णु** — वेद में इन्द्र एवं विष्णु दोनों की साथ-२ स्तुति दर्शाने वाले अनेक मन्त्र विद्यमान हैं। उदाहरण के लिए ऋग्वेद ६.६९ सूक्त एवं ऋग्वेद ७.९९.४-६ मन्त्रों का देवता इन्द्राविष्णू है, जिसका आशय आप पूर्ववत् समझ सकते हैं। अब विष्णु के विषय में ऋषियों के वचनों को यहाँ उद्धृत करते हैं— यद् विषितो भवति तद् विष्णुर्भवति विष्णुर्विशतेर्वा व्यश्नोतेर्वा (निरु.१२.१८), यो वै विष्णुः स यज्ञः (श.ब्रा.५.२.३.६), विष्णुर्वै यज्ञः (ऐ.ब्रा.१.१५), स यः स विष्णुर्यज्ञः सः। स यः स यज्ञोऽसौ स आदित्यः (श.ब्रा.१४.१.१.६)। यहाँ हम महर्षि यास्क के शब्दों में ब्रह्माण्ड के सभी पदार्थों में अपनी किरणों के द्वारा व्याप्त होने वाले, सब पदार्थों में प्रविष्ट होने एवं विशेष गतिशील होने के कारण सूर्यादि तेजस्वी लोकों को विष्णु कहते हैं। महर्षि याज्ञवल्क्य एवं महर्षि ऐतरेय महीदास दोनों ही यजन प्रक्रिया को विष्णु कहते हैं, क्योंकि यजन प्रक्रिया भी सम्पूर्ण सृष्टि में होने वाली प्रक्रिया है। उधर महर्षि याज्ञवल्क्य सूर्यलोक को भी विष्णु कहते हैं, जिसकी चर्चा महर्षि यास्क भी कर चुके हैं। इस प्रकार यजन प्रक्रिया और सूर्य दोनों को विष्णु कहा गया है और ये दोनों ही पदार्थ इन्द्रतत्त्व के समृद्ध व प्रकाशित होने पर समृद्ध होते हैं।

१०. वायु — वेद में इन्द्र और वायु दोनों ही देवताओं की साथ-२ स्तुति दर्शाने वाले अनेक मन्त्र विद्यमान हैं। हम यहाँ कुछ उदाहरण प्रस्तुत करते हैं— ऋग्वेद १.२.४-६, ऋग्वेद ४.४६ सूक्त, ऋग्वेद १.२३.२-३ आदि अनेक मन्त्रों का देवता इन्द्रवायू है। पाठक इसका आशय भी अपने मस्तिष्क में बिठा लेवें। इसके विषय में ऋषियों का कथन है— स योऽयं (वायुः) पवते स एष एव प्रजापतिः (जै.उ.१.३४.३), यो वै वायुः स इन्द्रो य इन्द्रः स वायुः (श.ब्रा.४.१.३.१९), वायुर्वै यन्ता (ऐ.ब्रा.२.४१), यस्स प्राणो वायुस्स (जै.उ. १.२९.१), वायुर्हि प्राणः (ऐ.ब्रा.२.२६), वाग्वै वायुः (तै.ब्रा.१.८.८.१)। इन प्रमाणों से वायुतत्त्व को अपने से स्थूल पदार्थों का पालक, रक्षक एवं नियन्त्रक कहा है तथा वायु को इन्द्र भी कहा है तथा इसके साथ ही वायु को प्राण एवं वाक् तत्त्व भी कहा है। हम इस तथ्य से अवगत हैं कि वायुतत्त्व प्राण एवं मरुद् व छन्द रश्मियों का मिश्रण है। वायु के प्रकाशित व समृद्ध होने से इन्द्रतत्त्व कैसे प्रकाशित व समृद्ध होता है, इसकी विवेचना पाठक जन स्वयं करें।

इन दश देव पदार्थों का इन्द्रतत्त्व के साथ सम्बन्ध दर्शाने के पश्चात् इन दश देव पदार्थों में से कुछ देव पदार्थों का अन्य देव पदार्थों से सम्बन्ध बतलाते हुए लिखते हैं कि मित्र देवता की वरुण देवता के साथ स्तुति देखी जाती है। यहाँ वरुण देव पदार्थ उपर्युक्त दश पदार्थों में से एक है। वरुण और इन्द्र दोनों की समान स्तुति वाले वेद में अनेक मन्त्र हैं। यहाँ हम कुछ उदाहरण प्रस्तुत कर रहे हैं— ऋग्वेद १०.६५.५, यजुर्वेद ७.२३, अथर्ववेद १०.५.११; १८.३.१२; ५.२४.५ आदि मन्त्रों में मित्र और वरुण की साथ-२ स्तुति की गई है। इसका तात्पर्य पूर्ववत् समझा जा सकता है। अब हम यहाँ मित्र और वरुण दोनों के विषय में कुछ आर्ष वचनों को उद्धृत कर रहे हैं— प्राणो वै मित्रोऽपानो वरुणः (श.ब्रा.८.४.२.६), प्राणोदानौ वै मित्रावरुणौ (श.ब्रा.१.८.३.१२), द्यावापृथिवी वै मित्रावरुणौ प्रियं धाम (तां.ब्रा. १४.२.१०)। इन वचनों को यहाँ हमने इस कारण उद्धृत किया है, जिससे पाठक मित्र और वरुण का पारस्परिक सापेक्ष स्वरूप समझ सकें।

इसके पश्चात् लिखते हैं— 'पूष्णा रुद्रेण च सोमः'। यहाँ पूषा एवं सोम दोनों उपर्युक्त दश पदार्थों में से हैं। ये दोनों पदार्थ इन्द्रतत्त्व के साथ समान स्तुति वाले कैसे हैं, यह हम पूर्व में दर्शा चुके हैं, परन्तु यहाँ इन दोनों अर्थात् पूषा और सोम को ही परस्पर समान स्तुति वाला दर्शाया गया है। उदाहरण के लिए ऋग्वेद २.४०.१; २.४०.३ एवं

२.४०.५ मन्त्र। पूर्व में हम पढ़ चुके हैं कि 'पूषा' का अर्थ सूर्य भी होता है और हम यह भी जानते हैं कि सूर्य में सोम रश्मियों की भी प्रचुरता होती है, इस कारण सोम रश्मियों के प्रकाशित व समृद्ध होने से सूर्य भी प्रकाशित होने लगता है।

अब हम सोम और रुद्र की साथ-२ स्तुति करने वाले मन्त्रों के उदाहरण यहाँ प्रस्तुत करते हैं— ऋग्वेद ६.७४ सूक्त का देवता सोमारुद्रौ होने से इन मन्त्रों में सोम और रुद्र दोनों की ही साथ-२ स्तुति की गई है। अब हम रुद्र के विषय में कुछ ऋषियों के कथन उद्धृत करते हैं— अग्निरपि रुद्र उच्यते (निरु.१०.७), अग्निर्वै रुद्रः (श.ब्रा.५.३.१.१०), घोरो वै रुद्रः (कौ.ब्रा.१६.७), प्राणा वै रुद्राः प्राणा हीदं सर्वं रोदयन्ति (जै.उ.४.२.६)। यहाँ इन वचनों से यह स्पष्ट होता है कि तीक्ष्ण अग्नि को भी रुद्र कहते हैं और प्राण रश्मि को भी रुद्र कहते हैं। अब हम अग्नि और सोम का सम्बन्ध दर्शाने वाले एक आर्ष वचन को उद्धृत करते हैं— मिथुनं वा अग्निश्च सोमश्च सोमो रेतोधा अग्निः प्रजनयिता (काठ.सं.८.१०; क.सं.७.६)। इन प्रमाणों से सोम और रुद्र दोनों ही पदार्थों के साथ-२ प्रकाशित वा समृद्ध होने की बात प्रमाणित होती है।

तदनन्तर लिखते हैं— 'अग्निना च पूषा'। ये दोनों ही पदार्थ पूर्वोक्त दश पदार्थों में से हैं, जो इन्द्र के साथ स्तुत किये जाते हैं, किन्तु यहाँ इनको परस्पर एक-दूसरे के साथ स्तुत होने वाला बतलाया है। इसका उदाहरण यह मन्त्र है—

पूषा त्वेतश्च्यावयतु प्र विद्वाननष्टपशुर्भुवनस्य गोपाः।
स त्वैतेभ्यः परि ददत्पितृभ्योऽग्निर्देवेभ्यः सुविदत्रियेभ्यः॥ (ऋग्वेद १०.१७.३)

उधर पूषा संज्ञक सूर्य अग्नितत्त्व के साथ प्रकाशित व समृद्ध होगा, इसमें तो सन्देह ही कौन कर सकता है? अन्त में कहा— 'वातेन च पर्जन्यः' अर्थात् पर्जन्य नामक पदार्थ वायुतत्त्व के साथ स्तुत किया गया अथवा किया जाता है। इसका उदाहरण निम्नलिखित मन्त्र है—

धर्तारो दिव ऋभवः सुहस्ता वातापर्जन्या महिषस्य तन्यतोः।
आप ओषधीः प्र तिरन्तु नो गिरो भगो रातिर्वाजिनो यन्तु मे हवम्॥ (ऋग्वेद १०.६६.१०)

पर्जन्य नामक पदार्थ के विषय में हम पूर्व में खण्ड ७.८ में लिख चुके हैं। ऐसे पर्जन्य नामक पदार्थ वायुतत्त्व के कारण ही निर्मित, समृद्ध एवं प्रकाशित होते हैं। इस

कारण वायु के साथ पर्जन्य का समान स्तुति वाला होना स्वाभाविक ही है।

* * * * *

= एकादशः खण्डः =

अथैतान्यादित्यभक्तीनि।
असौ लोकस्तृतीयसवनं वर्षा जगती सप्तदशस्तोमो वैरूपं साम।
ये च देवगणाः समाम्नाता उत्तमे स्थाने याश्च स्त्रियः।
अथास्य कर्म रसादानम्। रश्मिभिश्च रसाधारणम्।
यच्च किंचित्प्रवल्हितम् आदित्यकर्मैव तत्।
चन्द्रमसा वायुना संवत्सरेणेति संस्तवः।
एतेष्वेव स्थानव्यूहेष्वृतुच्छन्दस्तोमपृष्ठस्य भक्तिशेषमनुकल्पयीत।
शरदनुष्टुबेकविंश स्तोमो वैराजं सामेति पृथिव्यायतनानि।
हेमन्तः पङ्क्तिस्त्रिणवस्तोमः शाक्वरं सामेत्यन्तरिक्षायतनानि।
शिशिरोऽतिच्छन्दास्त्रयस्त्रिंशस्तोमो रैवतं सामेति द्युभक्तीनि॥ ११॥

अग्नि एवं इन्द्र देवता और उनके साथ समान भक्ति एवं स्तुति वाले पदार्थों की चर्चा करने के पश्चात् आदित्य लोक के समान भोग वाले पदार्थों की चर्चा करते हुए लिखते हैं कि निम्नलिखित पदार्थ आदित्य लोक के समान भोग वाले होते हैं—

१. असौ लोकः (द्युलोक) — इस लोक के विषय में खण्ड २.१४ पठनीय है। आदित्य लोक इस द्युलोक क्षेत्र के केन्द्र में विद्यमान होते हैं। द्युलोक में विद्यमान विभिन्न क्षेत्र और उनमें विद्यमान नाना प्रकार के रश्मि आदि पदार्थों के स्वरूप, मात्रा एवं तीव्रता पर किसी भी सूर्यलोक का स्वरूप निर्भर होता है। इसी कारण आदित्य लोक और द्युलोक दोनों की समान भक्ति कही गयी है। द्युलोक के विषय में ऋषियों का कथन है— द्यौरसि वायौ श्रिता आदित्यस्य प्रतिष्ठा (तै.ब्रा.३.११.१.१०), द्यौरन्तरिक्षे प्रतिष्ठिता (ऐ.ब्रा.३.६), साम वा असौ (द्युलोकः) ऋगयम् (भूर्लोकः) (तां.ब्रा.४.३.५)। इन वचनों का तात्पर्य यह है

कि द्युलोक विभिन्न प्राण एवं छन्दादि रश्मियों के मिश्रण रूप वायुतत्त्व में आश्रित रहता है और यह आदित्य लोक का आधार होता है। इसके साथ ही द्युलोक के अन्तरिक्ष में स्थित होने का तात्पर्य यह है कि वायुतत्त्व स्वयं आकाशतत्त्व में ही स्थित होता है। इसके अतिरिक्त यह भी एक तथ्य है कि द्युलोक में साम रश्मियों की प्रधानता होती है।

आदित्य लोक एवं साम रश्मियों के विषय में ऋषियों का कथन है— ऋचि साम गीयते (श.ब्रा.८.१.३.३), तदाहुस्संवत्सर एव सामेति (जै.उ.१.३५.१), सर्वं तेजः सामरूप्यं ह शश्वत् (तै.ब्रा.३.१२.९.२), अर्चिः (आदित्यस्य) सामानि (श.ब्रा.१०.५.१.५)। इन वचनों का तात्पर्य यह है कि आदित्य लोक न केवल सूर्यादि तेजस्वी लोकों को कहते हैं, अपितु सूर्य की किरणों को भी आदित्य कहा जाता है, जिनके कारण सृष्टि में निरन्तर तेज दिखाई देता रहता है। वस्तुतः सूर्य की किरणें स्वयं दिखाई नहीं देतीं, बल्कि वे अन्य पदार्थों को दिखाने में सहायक होती हैं। इसलिए यहाँ कहा गया है कि साम रश्मियाँ ऋक् रश्मियों के अन्दर प्रकाशित होती हैं और इसका तात्पर्य यह हुआ कि सूर्य की किरणें स्वयं दिखाई नहीं देतीं, बल्कि वे पृथ्वी आदि के अणुओं को ही दिखाने में सहायक होती हैं और इस देखने की प्रक्रिया में विभिन्न प्राण एवं वाक् रश्मियों की भूमिका होती है। इन दोनों के योग को हम खण्ड ७.८ में अग्नि कह चुके हैं और इसी कारण वहाँ दृष्टिकर्म को अग्नि का कर्म कहा गया है, आदित्य का नहीं। स्मरण रहे कि इस सृष्टि में जो भी पदार्थ दिखाई देते हैं, उनका कोई न कोई कारण होता है। उनका यह रंग उनके अन्दर विद्यमान विशेष छन्द रश्मियों के कारण होता है। इसके साथ ही उन पदार्थों से टकराने वाली प्रकाश की किरणों के टकराते समय किसी पदार्थ विशेष से जो छन्द रश्मि उत्पन्न हो रही होती है, उसी के अनुसार उस पदार्थ का रंग दिखाई देता है। इसका विज्ञान जानने के लिए 'वेदविज्ञान-आलोकः' ग्रन्थ पठनीय है।

२. तृतीय सवन — सृष्टि रचना के तृतीय चरण को तृतीय सवन कहा जाता है। इसके विषय में ऋषियों का कथन है— अदस् (द्युलोकः) तृतीयसवनम् (जै.ब्रा.३.५७), असौ वै (द्यु) लोकस्तृतीयसवनम् (गो.उ.४.१८), आनुष्टुभं हि तृतीयसवनम् (जै.ब्रा.१.१८०), द्यौर्वै तृतीयसवनम् (श.ब्रा.१२.८.२.१०), वैश्वदेवं तृतीयसवनम् (मै.सं.४.५.९; काठ.सं. ३४.१६), जागतं हि तृतीयसवनम् (कौ.ब्रा.१६.१; तां.ब्रा.६.३.११; ष.ब्रा.१.४), जागतोऽसौ लोकः (कौ.ब्रा.८.९), त्रैष्टुब्जागतो वा आदित्यः (तां.ब्रा.४.६.२३)। इन सब वचनों का

तात्पर्य यह है कि इसी सवन अर्थात् चरण में द्युलोकों का निर्माण होता है तथा इसी चरण में अनुष्टुप्, त्रिष्टुप् एवं जगती छन्द रश्मियों की प्रचुरता होती है। इनमें भी जगती रश्मियों की सर्वाधिक प्रधानता होती है। इसके अतिरिक्त इस चरण में सभी देव पदार्थ उत्पन्न व परिपक्व हो जाते हैं। हम जानते हैं कि पूर्व सवनों में गायत्री एवं त्रिष्टुप् छन्द रश्मियों की प्रधानता थी, वे दोनों रश्मियाँ इस सवन में भी होती ही हैं, परन्तु इनके अतिरिक्त इस सवन में जगती रश्मियों की प्रधानता होती है और अनुष्टुप् छन्द रश्मियाँ सूर्य एवं द्युलोक के निर्माण की प्रक्रिया के समय अन्य छन्द रश्मियों को अनुकूलता से अपना कार्य करने में सहयोग करती हैं।

३. वर्षा ऋतु — इसके विषय में ऋषियों का कथन है— यदा वै वर्षाः पिन्वन्तेऽथैनाः सर्वे देवा सर्वाणि भूतान्युपजीवन्ति (श.ब्रा.१४.३.२.२२), वर्षं सावित्री (गो.पू.१.३३), वर्षा वै सर्वऽऋतवः (श.ब्रा.२.२.३.७), वर्षा एव यशः (गो.पू.५.१५), मरुतो वै वृष्ट्या ईशते (मै.सं.४.१.१४), विड्ढ वर्षाः (श.ब्रा.२.१.३.५)। इन प्रमाणों से सिद्ध होता है कि वर्षा ऋतु रश्मियों के उत्पन्न होने तक अन्य सभी ऋतु रश्मियाँ उत्पन्न हो चुकी होती हैं और सभी प्रकार के देव पदार्थ भी इन ऋतु रश्मियों से जीवन पाते हैं अर्थात् वे इनके द्वारा ही समृद्ध होते हैं। ये रश्मियाँ सावित्री रूप होती हैं, इसका तात्पर्य यह है कि इन ऋतु रश्मियों के उत्पत्ति काल में विभिन्न सूर्यादि तेजस्वी लोकों की उत्पत्ति होती है। विभिन्न मरुत् रश्मियाँ, जो तीनों ही लोकों में विद्यमान होती हैं तथा नाना प्रकार के द्रव्यों एवं उनके बलों का महत्त्वपूर्ण कारण होती हैं और ये रश्मियाँ विड् रूप होकर विभिन्न पदार्थों के अन्दर प्रविष्ट होकर उनमें विद्यमान विभिन्न रश्मियों को प्रेरित करती हैं। इन ऋतु रश्मियों की आदित्यलोक के साथ भक्ति इस कारण मानी जाती है कि जिस प्रकार से इन ऋतु रश्मियों के उत्पन्न होने तक अन्य सभी ऋतु रश्मियाँ उत्पन्न व सक्रिय हो जाती हैं, उसी प्रकार सूर्यलोक के उत्पन्न होने तक सभी ऋतु रश्मियाँ उत्पन्न हो चुकी होती हैं।

४. जगती — इन छन्द रश्मियों के विषय में आगे यथाप्रसंग चर्चा की जाएगी।

५. सप्तदश स्तोम — इसके विषय में ऋषियों का कथन है— प्रजापतिर्वै सप्तदशः (गो.उ.२.१३), सप्तदशो वै प्रजापतिः (ऐ.ब्रा.१.१६), विड् वै सप्तदशः (तां.ब्रा.२.७.५), संवत्सरः सप्तदशः (तां.ब्रा.६.२.२), विशः सप्तदशः (ऐ.ब्रा.८.४), राष्ट्रᳪ सप्तदशः (तै.ब्रा.१.८.८.५), सप्तेः सरणस्य (निरु.९.३), उदरं वा एषः स्तोमानां यत्सप्तदशः

(तां.ब्रा.४.५.१५), वायुः सप्तिः (तै.ब्रा.१.३.६.४)। इन वचनों का तात्पर्य यह है कि सत्रह गायत्री छन्द विशेषों के उत्पन्न होने पर ही सूर्यादि लोकों की उत्पत्ति हो पाती है और इन लोकों में ही नाना प्रकार के पदार्थ उत्पन्न होते हैं। ये रश्मि समूह वर्षा ऋतु रश्मियों की भाँति विभिन्न पदार्थों के अन्दर प्रविष्ट होकर उन्हें प्रभावित व सक्रिय करते हैं। ये रश्मि समूह त्रिवृत् आदि स्तोम रूप रश्मि समूहों के उदर रूप होते हैं अर्थात् अन्य समूह इन्हीं सप्तदश रश्मि समूहों के अन्दर स्थित होकर नाना प्रकार से विखण्डित होते हुए अनेक प्रकार की रश्मियों वा अन्य पदार्थों को उत्पन्न करते हैं। इस कारण ये रश्मि समूह अतीव प्रकाशित होने वाले सूर्यादि केन्द्रों का निर्माण करते हैं। सप्तदश स्तोम विशेषकर आदित्य लोकों में विद्यमान होते हैं, इस कारण इनकी आदित्यलोक के साथ समान भक्ति मानी गयी है।

६. वैरूप साम — 'वेदविज्ञान-आलोकः' ४.१३.२ ग्रन्थ में निम्न छन्द रश्मि को वैरूप साम कहा गया है—

यद् द्याव इन्द्र ते शतं शतं भूमीरुत स्युः।
न त्वा वज्रिन्त्सहस्रं सूर्या अनु न जातमष्ट रोदसी॥ (ऋ.८.७०.५)

इस साम के विषय में ऋषियों का कथन है— रथन्तरमेतत् परोक्षं यद् वैरूपम् (तां.ब्रा.१२.२.५,९), बृहदेतत् परोक्षं यद् वैरूपम् (तां.ब्रा.१२.८.४), आदित्यास्त्वा जागतेन छन्दसा सप्तदशेन स्तोमेन वैरूपेण साम्नाऽऽरोहन्तु तानन्वारोहामि स्वाराज्याय (ऐ.ब्रा. ८.१२)। इसका तात्पर्य यह है कि पूर्वोक्त रथन्तर एवं बृहत् रश्मियाँ भी परोक्ष रूप से वैरूप रश्मियों की भाँति कार्य करती हैं। आदित्य लोकों के अन्दर उनके केन्द्रों से बाहरी भाग तक आदित्य किरणों के आने में वैरूप रश्मियाँ अपनी अनिवार्य भूमिका निभाती हैं और इस कार्य को करने में सप्तदश स्तोम रश्मियों एवं अन्य जगती छन्द रश्मियों की भी भूमिका होती है, क्योंकि ये साम रश्मियाँ आदित्य लोकों के अन्दर विशेष क्रियाशील होती हैं। इस कारण आदित्यलोक के साथ इनकी भक्ति अर्थात् भोग की समानता स्वयं सिद्ध है।

द्युस्थानी जो-जो देवता एक साथ पढ़े गए हैं, वे सभी तथा उनके सापेक्ष जो-जो स्त्री रूप देवता विद्यमान हैं, वे सभी आदित्यलोक के सहचारी माने गए हैं। अब ग्रन्थकार आदित्यलोक के कर्मों की व्याख्या करते हुए लिखते हैं— 'अथास्य कर्म रसादानम् रश्मिभिश्च रसाधारणम् यच्च किंचित्प्रवल्हितम् आदित्यकर्मैव तत्'।

(क) रसादानम् — विभिन्न प्रकार के रसों को ग्रहण करना आदित्य किरणों का प्रथम कर्म है। संसार में जलों को आकर्षित करके पदार्थों को सुखाना अर्थात् उनको वाष्प बनाकर खींचना सूर्य की किरणों का ही कार्य है। आदित्य के विषय में हम यहाँ ऋषियों के कुछ और वचनों को उद्धृत करते हैं— असौ वा आदित्यः प्राणः (तै.सं.५.२.५.४), आदित्यो वै प्राणः (जै.उ.४.२२.११)। इससे यह स्पष्ट होता है कि न केवल सूर्य की किरणें, अपितु प्राण रश्मियाँ भी आदित्य कहलाती हैं। प्राण रश्मि रूपी आदित्य वाक् रश्मि रूप रसों के ग्रहण करने वाले होते हैं अर्थात् प्राण रश्मियों का वाक् रश्मियों के प्रति स्वाभाविक आकर्षण होता है। सूर्य की किरणें और प्राण रश्मियाँ अपने-२ रसरूप पदार्थों को सब ओर से धारण करती हैं।

यहाँ ग्रन्थकार ने एक महत्त्वपूर्ण कर्म और दर्शाया है— 'यच्च किंचित्प्रवल्हितम् आदित्यकर्मैव तत्'। यहाँ 'प्रवल्हितम्' पद 'वल्ह परिभाषणहिंसाऽऽच्छादनेषु', 'वल्ह भासार्थः भाषार्थो वा' इन दो धातुओं से व्युत्पन्न होता है, जिनके अर्थ हैं— बोलना, मार डालना, आच्छादित करना एवं प्रकाशित होना। स्कन्दस्वामी ने 'प्रवल्हितम्' का अर्थ अंतर्धान होना तथा प्रकाशित होना लिखा है। इसका भाष्य करते हुए भिन्न-२ भाष्यकारों ने भिन्न-२ अर्थ किए हैं, हम उनमें से कुछ अर्थों को यहाँ उद्धृत कर रहे हैं—

स्वामी ब्रह्ममुनि परिव्राजक— 'यत्किञ्चित् प्रवल्हितम् प्रभुत्वमीशितृत्वं नियन्तृत्वं कर्म तदादित्यस्यैव, 'बल्ह प्राधान्ये' (भ्वादि.) उक्तं हि वेदे तस्य नियन्तृत्वम्'। पण्डित भगवद्दत्त रिसर्च स्कॉलर— 'वेग से गतिशील होना'। आचार्य भगीरथ शास्त्री— 'ओषधि-वनस्पतियों की वृद्धि और पुष्टि'। पण्डित चन्द्रमणि विद्यालंकार— आचार्य भगीरथ शास्त्री के समान। मुकुन्द झा शर्मा— 'गूढाभिसन्धि अप्रकटितम्'।

हमारे मत में सभी भाष्यकारों ने अपने-२ स्तर पर उचित अर्थ ही ग्रहण किया है। वस्तुतः इस प्रकरण में आदित्य रश्मियों, आदित्यलोक एवं प्राण रश्मियों को आदित्य शब्द से ग्रहण करने पर 'प्रवल्हितम्' का अर्थ भिन्न-२ भी हो सकता है। आदित्य की किरणें न केवल प्रकाशित करने का कार्य करती हैं, अपितु वे ऊर्जा एवं प्राण रश्मियों से संसार के सभी प्राणियों और वनस्पतियों को पुष्ट भी करती हैं। इसके साथ ही वे अनेक प्रकार के कणों को नियन्त्रित करने में भी समर्थ होती हैं। सोम्य कण (इलेक्ट्रॉन) आदि कण, जो उच्च से निम्न कक्षा में संक्रमित होते समय एक प्रकाशाणु (फोटोन) को उत्सर्जित करते हैं,

इससे यह प्रकट होता है कि इलेक्ट्रॉन्स को गति देने में फोटोन की भी भूमिका होती है और यह फोटोन उस इलेक्ट्रॉन के साथ सदैव संगत रहता है।
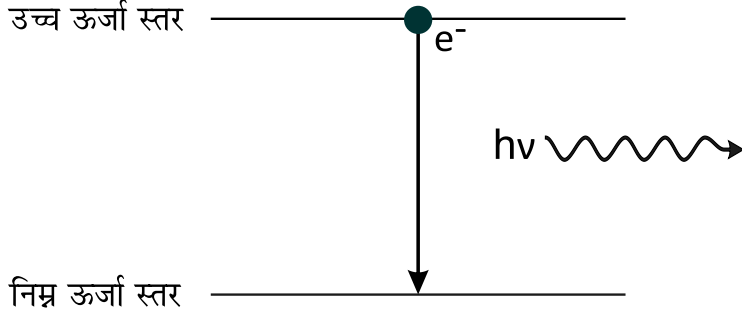
इससे हम यह भी अनुमान लगा सकते हैं कि अन्य जिन भी कणों को मूलकण कहा जाता है, उन सबके साथ कोई न कोई प्रकाशाणु अवश्य संगत रहता है और वही उस कण को गति प्रदान करता है, वही प्रकाशाणु उस कण को आच्छादित भी किए रहता है। उधर प्राण रश्मियाँ प्रकाशाणुओं को भी गति एवं पुष्टि प्रदान करती हैं। इसके साथ ही ये रश्मियाँ सृष्टि के सभी पदार्थों को गति प्रदान करती हैं। ये रश्मियाँ बाधक असुर पदार्थों को सूक्ष्म स्तर पर खण्ड-२ करके आकाशतत्त्व में छिपा देती हैं। उधर सूर्य की किरणें अनेक प्रकार के हानिकारक जीवाणुओं एवं अन्धकार को नष्ट करती हैं।

इस प्रकार ये सभी कार्य आदित्य के ही मानने चाहिए। अब ग्रन्थकार आदित्य के साथ स्तुत होने वाले देवताओं का वर्णन करते हुए लिखते हैं— 'चन्द्रमसा वायुना संवत्सरेणेति संस्तवः' अर्थात् आदित्यलोक के साथ समान स्तुति वाले तीन पदार्थ हैं—

१. चन्द्रमा — स्कन्दस्वामी ने आदित्य एवं चन्द्रमा दोनों की साथ-२ स्तुति के रूप में निम्नलिखित ऋचा को प्रस्तुत किया है—

पूर्वापरं चरतो माययैतो शिशू क्रीळन्तौ परि यातो अध्वरम्।
विश्वान्यन्यो भुवनाभिचष्ट ऋतूँरन्यो विदधज्जायते पुनः॥ (ऋ.१०.८५.१८)

चन्द्रमा के विषय में ऋषियों का कथन है— सोमो राजा चन्द्रमाः (श.ब्रा.१०.४.२.१), वागिति चन्द्रमाः (जै.उ.३.१३.१२), चन्द्रमा वै हिङ्कारः (जै.उ.१.३.४)। इसका अर्थ यह है कि खगोलीय पिण्ड विशेष के अतिरिक्त सोम रश्मियाँ एवं हिङ्कार सहित विभिन्न वाक्

रश्मियों को भी चन्द्रमा कहा गया है। प्रकरण के अनुकूल एवं आदित्य नामक पदार्थ के सापेक्ष चन्द्रमा का कौन सा अर्थ ग्रहण करना चाहिए, यह पाठक स्वयं विचार कर सकते हैं।

२. वायु — आदित्य और वायु की साथ-साथ स्तुति दर्शाने वाली ऋचा को स्कन्दस्वामी ने निम्नानुसार उद्धृत किया है—

सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे सप्त रक्षन्ति सदमप्रमादम्।
सप्तापः स्वपतो लोकमीयुस्तत्र जागृतो अस्वप्नजौ सत्रसदौ च दैवौ॥ (यजु.३४.५५)

वायुतत्त्व के विषय में हम पूर्व में अनेकत्र लिख चुके हैं। इस कारण वायु और आदित्य लोक के पारस्परिक सम्बन्ध को पाठक स्वयं विचार लेवें।

३. संवत्सर — स्कन्दस्वामी ने संवत्सर और आदित्य दोनों की साथ-साथ स्तुति दर्शाने वाली ऋचा को निम्नानुसार उद्धृत किया है—

सप्त युञ्जन्ति रथमेकचक्रमेको अश्वो वहति सप्तनामा।
त्रिनाभि चक्रमजरमनर्वं यत्रेमा विश्वा भुवनाधि तस्थुः॥ (ऋ.१.१६४.२)

संवत्सर के विषय में ऋषियों का कथन है— स यः स संवत्सरोऽसौ स आदित्यः (श.ब्रा.१०.२.४.३), अग्निः संवत्सरः (तां.ब्रा.१७.१३.१७), मध्ये ह संवत्सरस्य स्वर्गो लोकः (श.ब्रा.६.७.४.११), संवत्सरं विश्वकर्मा (ऐ.ब्रा.४.२२), ऋतवः संवत्सरः (तै.ब्रा. ३.९.९.१), संवत्सरोऽग्निः (श.ब्रा.६.३.१.२५), संवत्सरः सुवर्गो लोकः (तै.ब्रा.२.२.३.६)। इन वचनों से स्पष्ट होता है कि अग्नि, सूर्यलोक, सूर्य का केन्द्रीय भाग एवं विभिन्न प्रकार की ऋतु रश्मियाँ आदि पदार्थ संवत्सर कहलाते हैं। इन सभी पदार्थों एवं आदित्य संज्ञक पदार्थों का पारस्परिक सम्बन्ध पाठक स्वयं विचार करें।

तदनन्तर लिखते हैं—

'एतेष्वेव स्थानव्यूहेष्वृतुच्छन्दस्तोमपृष्ठस्य भक्तिशेषमनुकल्पयीत'

अर्थात् इन्हीं पृथ्वी आदि लोकों के वर्गों में ऋतु, छन्द, स्तोम एवं पृष्ठ के शेष भाग की कल्पना विद्वानों को स्वयं कर लेनी चाहिए। यहाँ प्रश्न यह उठता है कि ऋतु, छन्द एवं स्तोम की चर्चा हम पूर्व में करते रहे हैं, परन्तु पृष्ठ शब्द से यहाँ क्या तात्पर्य है? अगले

प्रकरण को देखकर इस प्रश्न का उत्तर सहज ही मिल जाता है कि पृष्ठ शब्द का अर्थ साम है, जिनमें से त्रिवृत् आदि कुछ सामों की चर्चा हम पूर्व में कर चुके हैं। अब ग्रन्थकार जिस अवशिष्ट भाग की कल्पना करने का संकेत पाठकों के लिए कर रहे हैं, उनमें से कुछ को वे स्वयं प्रस्तुत करते हुए लिखते हैं—'शरदनुष्टुबेकविंशस्तोमो वैराजं सामेति पृथिव्यायतनानि' अर्थात् शरद् ऋतु, अनुष्टुप् छन्द, एकविंश स्तोम एवं वैराज साम, ये चारों पदार्थ पृथिवीस्थानी माने गए हैं।

अब हम चारों पदार्थों पर संक्षिप्त विचार करते हैं—

१. शरद् ऋतु — इस विषय में ऋषियों का कथन है— अन्नꣳ वै शरद् (मै.सं.१.६.९), यद्विद्योतते तच्छरदः (रूपम्) (श.ब्रा.२.२.३.८), शरद्धविः (तै.आ.३.१२.३)। इसका अर्थ यह है कि ये ऋतु रश्मियाँ संयोजक गुणयुक्त होती हैं। साथ ही इनमें सूक्ष्म दीप्ति भी विद्यमान होती है। इस कारण ये विभिन्न क्रियाओं में हवि का कार्य करती हैं। यहाँ पाठक पृथिवीस्थानी अग्नितत्त्व से इन रश्मियों की तुलना करें, तो पायेंगे कि दोनों में बहुत समानता है। इसी कारण इन ऋतु रश्मियों को यहाँ पृथिवीस्थानी कहा गया है।

२. एकविंश स्तोम — इसके विषय में ऋषियों का कथन है— असौ वा आदित्य एकविꣳशः (तां.ब्रा.६.२.२), एकविंशं वा अनु सर्वे यज्ञक्रतवस्संतिष्ठन्ते अथो एष वाव दृढः प्रतिष्ठित स्तोमो यदेकविंशः (जै.ब्रा.२.१११), एकविंशो वा एष य एष (सूर्य्यः) तपति (कौ.ब्रा.२५.१), एकविꣳशोऽग्निष्टोमः (तां.ब्रा.१६.१३.४)। इसका तात्पर्य यह है कि सूर्यलोक को भी एकविंश कहा जाता है। इससे स्पष्ट होता है कि सूर्यलोक के अन्दर २१ गायत्री छन्द रश्मि विशेष के समूह प्रचुरता से विद्यमान होते हैं। इसी प्रकरण में हम सूर्यलोकों में सप्तदश नामक रश्मि समूहों की प्रचुरता की चर्चा कर चुके हैं, परन्तु यह प्रकरण बतलाता है कि सप्तदश रूप रश्मि समूहों के उत्पन्न होने से तारों की उत्पत्ति प्रक्रिया प्रारम्भ हो जाती है और एक श्रेणी विशेष के तारे इन्हीं रश्मि समूहों के रहते निर्मित हो जाते हैं। यहाँ संकेत मिलता है कि ब्रह्माण्ड में कुछ तारे ऐसे भी होते हैं, जिनके निर्माण की प्रक्रिया सप्तदश स्तोम रश्मि समूहों के द्वारा सम्पूर्ण नहीं हो पाती, बल्कि उनकी पूर्णता एकविंश स्तोम रश्मि समूहों के द्वारा ही हो पाती है।

यहाँ प्रश्न यह है कि ऐसे तारों को पृथिवीस्थानी क्यों कहा है? जबकि सप्तदश स्तोम रश्मि समूहों के द्वारा पूर्णता प्राप्त होने वाले तारों को द्युस्थानी कहा गया है। इस

विषय में हमारा मत यह है कि यहाँ पृथिवी पद के उस अर्थ को सम्मुख रखना चाहिए, जो हम पूर्व में लिख चुके हैं। इसका तात्पर्य यह है कि ऐसे तारों के चारों ओर ऋक् रश्मियों की प्रधानता होती है। इसके साथ ही उस क्षेत्र में विभिन्न प्रकार के मूलकणों की भी प्रचुरता होती है। इसी कारण इसको पृथिवीस्थानी कहा है।

३. अनुष्टुप् छन्द — इसके विषय में आगे यथास्थान चर्चा करेंगे, फिर भी हम यहाँ एक आर्ष वचन अवश्य उद्धृत करना आवश्यक समझते हैं— इयं (पृथिवी) वा अनुष्टुप् (तां.ब्रा.८.७.२)। यहाँ अनुष्टुप् को पृथिवी कहा गया है। उधर हम पूर्व में ऋक् रश्मियों के समूह को पृथिवी कह चुके हैं और ऋक् के विषय में ग्रन्थकार का कथन है— ऋक् वाङ्नाम (निघं.१.११)। उधर अनुष्टुप् के विषय में भी ग्रन्थकार ने लिखा है— अनुष्टुप् वाङ्नाम (निघं.१.११)। इससे अनुष्टुप् छन्द रश्मियों एवं ऋक् रूप पृथिवी का सम्बन्ध स्पष्ट हो जाता है। इस कारण अनुष्टुप् को पृथिवीस्थानी कहा गया है।

४. वैराज साम — वेदविज्ञान-आलोकः ४.१३.२ के अनुसार निम्नलिखित ऋचा को भी वैराज साम कहते हैं—

पिबा सोममिन्द्र मन्दतु त्वा यं ते सुषाव हर्यश्वाद्रिः।
सोतुर्बाहुभ्यां सुयतो नार्वा॥ (ऋ.७.२२.१)

इसके विषय में ऋषियों का कथन है— रथन्तरमेतत् परोक्षं यद् वैरूपम् (तां.ब्रा.१२.२.५, ९), वाग् वैरूपम् (तां.ब्रा.१६.५.१६)। इन वचनों से वैरूप एवं रथन्तर साम की समानता सिद्ध होती है। इस कारण रथन्तर की भाँति वैरूप साम भी पृथिवीस्थानी सिद्ध होता है। इसके साथ ही वैरूप साम को वाक् रूप कहने से भी यह पृथिवीस्थानी सिद्ध होता है।

पृथिवीस्थानी अवशिष्ट देवताओं के वर्णन के उपरान्त मध्यम अर्थात् अन्तरिक्ष-स्थानी अवशिष्ट देवताओं का वर्णन करते हुए कहते हैं— 'हेमन्तः पङ्क्तिस्त्रिणवस्तोमः शाक्वरं सामेत्यन्तरिक्षायतनानि'। अब हम एक-एक देवता पर क्रमशः विचार करते हैं।

१. हेमन्त ऋतु — इसके विषय में ऋषियों का कथन है— हेमन्तो मध्यम् (संवत्सरस्य) (तै.ब्रा.३.११.१०.४), तस्य (संवत्सरस्य) वसन्त एव द्वारं हेमन्तो द्वारं तं वाऽएतं संवत्सरं स्वर्गं लोकं प्रपद्यते (श.ब्रा.१.६.१.१९), हेमन्तो हिमवान् हिमं पुनर्हन्तेर्वा हिनोतेर्वा (निरु.४.२७)। इन वचनों से सिद्ध होता है कि हेमन्त ऋतु रश्मियाँ किसी तारे के निर्माण

की प्रक्रिया के मध्यम चरण में प्रचुरता से विद्यमान रहती हैं, किन्तु तारों की निर्माण प्रक्रिया का प्रवेश द्वार भी कहलाती हैं। हमें इसका यह आशय प्रतीत होता है कि केन्द्रीय भाग की निर्माण प्रक्रिया के प्रारम्भ में ही इनकी उत्पत्ति हो जाती है, इसलिए इनको संवत्सर का द्वार कहा गया है। इसके साथ जो वसन्त रश्मियों को संवत्सर का द्वार कहा गया है, उसका अर्थ यह है कि कॉस्मिक मेघों के अन्दर तारों के निर्माण हेतु जो अव्यक्त केन्द्र बनने प्रारम्भ होते हैं, उस समय हेमन्त नहीं, बल्कि वसन्त ऋतु रश्मियों की प्रचुरता व विद्यमानता रहती है। इन रश्मियों के विषय में इस ग्रन्थ के खण्ड ४.२७ को पाठक अवश्य पढ़ें, जिससे उन्हें स्वयं भी विदित हो जाएगा कि तारों के केन्द्रीय भागों के निर्माण में इन रश्मियों की भूमिका क्यों होती है? हम पूर्व में खण्ड ७.१० में यह स्पष्ट लिख चुके हैं कि माध्यन्दिन सवन में ही तारों के केन्द्रों के निर्माण की प्रक्रिया प्रारम्भ हो जाती है। इन रश्मियों को अन्तरिक्षस्थानी इस कारण कहा गया है, क्योंकि ये सभी क्रियाएँ आकाश में ही होती हैं अर्थात् आकाश उन सबका आधार होता है।

२. पंक्ति छन्द — इसके विषय में ऋषियों का कथन है— त्रिणवेन स्तोमेन पंक्तिमभ्यक्रन्दत् ततो मरुतोऽसृजतेशानमुखान् (जै.ब्रा.३.३८१), यजमानो वै पङ्क्तिः (मै.सं.३.३.९), पङ्क्तिर्विष्णोः पत्नी (गो.उ.२.९), पङ्क्तिर्वा अन्नम् (ऐ.ब्रा.६.२०; ऐ.आ.१.३.८), यज्ञस्य पङ्क्तिः (पत्नी) (तै.आ.३.९.२)। इसका आशय यह है कि त्रिणव स्तोम अर्थात २७ गायत्री छन्द रश्मि विशेष के समूहों के द्वारा विभिन्न प्रकार की पंक्ति छन्द रश्मियों की व्यापक स्तर पर उत्पत्ति होने लगती है और उस समय सब ओर तीव्र घोष भी उत्पन्न होने लगते हैं। ये पंक्ति रश्मियाँ अन्य छन्दों की अपेक्षा अधिक संयोजक बलयुक्त होती हैं। इस कारण सूर्यादि लोकों के निर्माण में और उनके केन्द्रीय भाग में सम्पन्न होने वाली संलयन आदि क्रियाओं में इनकी भूमिका होती है, इसलिए इन छन्द रश्मियों को विष्णु (सूर्य अथवा विभिन्न यजन क्रियाएँ) की पत्नी कहा है। इसको अन्तरिक्षस्थानी इस कारण कहा गया है, क्योंकि ये सारी क्रियाएँ आकाशतत्त्व में ही सम्पन्न होती हैं और द्युलोक का निर्माण अभी नहीं हुआ होता है।

३. त्रिणव स्तोम — इसके विषय में ऋषियों का कथन है— त्रिणवं ब्राह्मणाच्छंसिनः (जै.ब्रा.२.२२४), वज्रो वै त्रिणवः (तां.ब्रा.३.१.२), वज्रस्त्रिणवः (श.ब्रा.८.४.१.२०), त्रिणवो भवति विजित्यै (तै.सं.७.२.१.३)। उधर ब्राह्मणाच्छंसि के विषय में कहा गया

है— त्रैष्टुभो ब्राह्मणाच्छंसी (तां.ब्रा.५.१.१४), ऐन्द्रो ब्राह्मणाच्छंसि (तै.ब्रा.१.७.६.१; श.ब्रा. ९.४.३.७)। इन वचनों से यह सिद्ध होता है कि जब सृष्टि में २७ गायत्री रश्मि समूह विशेष उत्पन्न होने लगते हैं, उस समय त्रिष्टुप् छन्द रश्मियों की प्रचुरता से उत्पत्ति होने लगती है। इस कारण इन्द्रतत्त्व और उसकी वज्र रश्मियों की भी प्रबलता होने लगती है। इस प्रबलता के चलते ही सूर्यादि लोकों के निर्माण की प्रक्रिया तीव्रतर होने लगती है। पदार्थ के संघनन में बाधक बनने वाली असुर रश्मियाँ नष्ट होने लगती हैं।

४. शाक्वर साम — इसके विषय में वैदिक वैज्ञानिकों का कथन है— शाक्वरो वज्रः (तै.सं.३.२.९.२; तै.ब्रा.२.१.५.११), तच्छाक्वरमसृजत तदपां घोषोऽन्वसृज्यत...तस्माच्... उपनिधाय स्तुवन्ति (जै.ब्रा.१.१४३), यद्रथन्तरं तच्छाक्वरम् (ऐ.ब्रा.४.१३)। इसका तात्पर्य यह है कि शाक्वर साम रश्मियाँ तीक्ष्ण वज्र रूप होती हैं, जो गम्भीर घोष उत्पन्न करती हैं। ये रश्मियाँ रथन्तर रश्मियों के समान भी प्रभाव उत्पन्न करती हैं। 'वेदविज्ञान-आलोकः' ४.१३.२ में निम्नलिखित रश्मि को भी शाक्वर साम का रूप माना है—

प्रो ष्वस्मै पुरोरथमिन्द्राय शूषमर्चत। अभीके चिदु लोककृत्संगे समत्सु वृत्रहास्माकं बोधि चोदिता नभन्तामन्यकेषां ज्याका अधि धन्वसु॥ (ऋ.१०.१३३.१)

इस साम को अन्तरिक्षस्थानी इस कारण कहा है, क्योंकि इसके द्वारा इन्द्रतत्त्व एवं उसकी वज्र रश्मियाँ समृद्ध होती हैं और इन्द्रतत्त्व का स्थान अन्तरिक्ष ही होता है, ऐसा हम पूर्व में लिख चुके हैं।

अब द्युस्थानी कुछ अतिरिक्त देवताओं की चर्चा करते हुए लिखते हैं—

'शिशिरोऽतिच्छन्दास्त्रयस्त्रिंशस्तोमो रैवतं सामेति द्युभक्तीनि'।

१. शिशिर ऋतु — इसके विषय में ऋषियों का कथन है— स (प्रजापतिः) ग्रीष्माद् एव वसन्तं निरमिमीत, वर्षाभ्यश्शरदं, हेमन्ताच्छिशिरम् ...। स यत् प्रथममतप्यत ततो ग्रीष्मम-सृजत। तस्मात् स बलिष्ठं तपति (जै.ब्रा.३.१), शिशिरं वा अग्नेर्जन्म ... सर्वासु दिक्ष्वग्निश्शिशिरे (काठ.सं.८.१)। इनका आशय यह है कि अग्नि (ऊष्मा) शिशिर ऋतु रश्मियों में विशेषतः उत्पन्न होता है और इनकी उत्पत्ति हेमन्त ऋतु रश्मियों के पश्चात् होती है। इस कारण इन रश्मियों का स्थान द्युलोक में माना गया है।

२. अतिच्छन्दा — इनके विषय में ऋषियों का कथन है— अतिच्छन्दा वै सर्वाणि

छन्दाꣳसि (तै.सं.५.३.८.३), वर्ष्म वा एषा छन्दसां यदतिच्छन्दा: (काठ.सं.२४.५; क.सं. ३७.६), अतिच्छन्दो वै छन्दसामायतनम् (गो.पू.५.४), छन्दसां वै यो रसोऽत्यक्षरत्सोऽति-छन्दसमभ्यत्यक्षरत्तदतिछन्दसोऽतिछन्दस्त्वम् (ऐ.ब्रा.४.३)। इन वचनों का आशय यह है कि जो अतिच्छन्दा ऋचाएँ होती हैं, उन्हें छोटी ऋचाओं का आयतन कहा जाता है, क्योंकि छोटी ऋचाएँ अतिच्छन्दा संज्ञक ऋचाओं में समा सकती हैं। आकाश में विद्यमान अनेक छन्द रश्मियों से कुछ अंश रिस जाने और उन अंशों के परस्पर मिलने से अतिच्छन्दा नामक बड़ी छन्द रश्मियाँ उत्पन्न होती हैं। इनका स्थान द्युलोक माना गया है, क्योंकि द्युलोक के निर्माण के समय सभी छन्द रश्मियाँ उत्पन्न हो चुकी होती हैं।

३. त्रयस्त्रिंश स्तोम — इस विषय में ऋषियों का कथन है— अन्तो वै त्रयस्त्रिꣳशः परमो वै त्रयस्त्रिꣳश स्तोमानाम् (तां.ब्रा.३.३.२), ज्योतिस्त्रयस्त्रिंशः स्तोमानाम् (तां.ब्रा.१३.७.२), एष वै समृद्धः स्तोमो यत् त्रयस्त्रिꣳशः (तां.ब्रा.१५.१२.६), तत् त्रयस्त्रिंश स्तोमम् उ नाक इत्याहुः (तां.ब्रा.१०.१.१८), त्रयस्त्रिंशेनैव विश्वेदेवा आयन् ते स्वर्गं लोकं गत्वा सार्धमेवा व्यवसिता आसन् (जै.ब्रा.२.२०९), संवत्सर एव प्रतिष्ठा त्रयस्त्रिꣳशः (श.ब्रा.८.४.१.२२), त्रयस्त्रिꣳशो वै स्तोमानामधिपतिः (तां.ब्रा.६.२.७), त्रयस्त्रिꣳश एव स्तोमो भवति प्रतिष्ठायै (तां.ब्रा. १५.१२.८)। इन वचनों से यह प्रमाणित होता है कि ३३ गायत्री छन्द रश्मि विशेष पूर्वोक्त सभी स्तोमों को समृद्ध करने वाले और उनके ज्योति एवं प्रतिष्ठा रूप होते हैं। इन रश्मि समूहों के द्वारा विभिन्न देव पदार्थ तारों के केन्द्रीय भाग की ओर गमन करते और वहाँ ठहरे रहते हैं। वस्तुतः ये रश्मि समूह सूर्यादि लोकों के आधार रूप होते हैं। इन सब कारणों से इन्हें द्युस्थानी कहा है, क्योंकि द्युलोक भी सूर्यादि लोकों का आधार होते हैं।

४. रैवत साम — 'वेदविज्ञान-आलोकः' ४.१३.२ में निम्नलिखित ऋचा को रैवत साम कहा है—

रेवतीर्नः सधमाद इन्द्रे सन्तु तुविवाजाः। क्षुमन्तो याभिर्मदेम॥ (ऋ.१.३०.१३)

इसके विषय में ऋषियों का कथन है— तद् रैवतमसृजत तत्पशुघोषोऽन्वसृज्यत... तस्माद् रैवतस्य स्तोत्रे पशुघोषं कुर्वन्ति वत्सान् मातृभिस्संवाशयन्ति (जै.ब्रा.१.१४३), यद् बृहत्तद् रैवतम् (ऐ.ब्रा.४.१३) अर्थात् रैवत साम रश्मियाँ जब उत्पन्न होती हैं, तब विभिन्न प्रकार के कण आदि पदार्थ तीव्र घोष उत्पन्न करने लगते हैं। ये रश्मियाँ बृहत् साम रश्मियों के समान भी प्रभाव दर्शाती हैं। इन्हें द्युस्थानी इस कारण कहा गया है, क्योंकि द्युलोक में

गम्भीर घोष उत्पन्न हुआ करते हैं।

* * * * *

= द्वादशः खण्डः =

मन्त्रा मननात्। छन्दाँसि छादनात्। स्तोमः स्तवनात्। यजुर्यजतेः।
साम सम्मितमृचा। स्यतेर्वा। ऋचा समं मेने, इति नैदानाः।
गायत्री गायते स्तुतिकर्मणः। त्रिगमना वा विपरीता।
गायतो मुखादुदपतत्। इति च ब्राह्मणम्।

अब तक जो भी विचार-विनिमय किया गया है, वह सब वेद मन्त्रों से सम्बन्धित है, परन्तु मन्त्र क्या होते हैं, इसकी चर्चा ग्रन्थकार ने अभी तक नहीं की है। यहाँ वही चर्चा प्रारम्भ करते हुए लिखते हैं— 'मन्त्रा मननात्'।

इसकी व्याख्या करते हुए स्कन्दस्वामी ने लिखा है—

"मन्त्राः कस्मात्? मननात्। मन्तव्या हि ते, मन्यन्ते तैरधिदैवादिविषया इति मन्त्राः" अर्थात् जिनके द्वारा योगिजन नाना प्रकार के ज्ञान-विज्ञान पर चिन्तन करते हैं और जो स्वतः प्रमाण रूप में सदैव सबको माननीय हैं। इसके अतिरिक्त जिनके द्वारा आधिदैविक, आधिभौतिक, आध्यात्मिक एवं आधियाज्ञिक तथ्यों का ज्ञान प्राप्त करते हैं, उन्हें मन्त्र कहते हैं।

ऋषि दयानन्द जिसके विषय में अपनी ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में लिखते हैं—

"ईश्वरमारभ्य पृथिवीपर्यन्तानां गुप्तप्रसिद्धसामर्थ्यगुणानां पदार्थानां भाषणमुपदेशनं ज्ञानं वा भवति यस्मिन् येन वा सः वेदोपदेशः (वेदोक्त धर्मविषय)" अर्थात् प्रकृति से लेकर ईश्वरपर्यन्त सभी कार्य-कारण रूप पदार्थों का यथार्थ ज्ञान जिससे होता है, उसे मन्त्र कहते हैं।

इसके विषय में कुछ ऋषियों ने लिखा है— वाग्वै मन्त्रः (श.ब्रा.६.४.१.७), ब्रह्म

वै मन्त्रः (श.ब्रा.७.१.१.५)। इसका अर्थ यह है कि वेद की ऋचाएँ ही मन्त्र कहलाती हैं और ये मन्त्र वाक् रूप होते हैं। मन्त्र शब्द 'मन्त्रयते अर्चतिकर्मा' (निघं.३.१४) धातु से व्युत्पन्न होता है। इसका तात्पर्य यह है कि ये वाक् रश्मियाँ सूक्ष्म दीप्ति से युक्त एवं दीप्ति उत्पन्न करने वाली होती हैं। इन मन्त्रों को छन्द भी कहा जाता है, जिसके विषय में ग्रन्थकार लिखते हैं— 'छन्दाँसि छादनात्' अर्थात् जो ब्रह्माण्ड के सम्पूर्ण पदार्थों को आच्छादित किए हुए हैं। इससे वेद मन्त्रों को छन्द भी कहा जाता है। इस विषय में ऋषियों का कथन है— छन्दांसि छन्दयन्तीति वा (दे.ब्रा.३.२००), प्राणाः वै छन्दांसि (कौ.ब्रा.७.९, १७.२), छन्दांसि सावित्री (गो.पू.१.३३), छन्दोभिर्यज्ञस्तायते (जै.ब्रा.२.४३१)। इन वचनों का तात्पर्य है कि छन्द नामक वाक् रश्मियाँ सम्पूर्ण पदार्थ जगत् को आच्छादित किए रहती हैं। इन्हीं के कारण सम्पूर्ण सृष्टि यज्ञ का विस्तार होता है। ये ही सम्पूर्ण पदार्थ जगत् को उत्पन्न व प्रेरित भी करती हैं और ये प्राण रूप भी होती हैं। इसी कारण ऋषि दयानन्द ने अपने वेदभाष्य में 'छन्दः' पद के नाना प्रकार के अर्थ किए हैं, जिसमें से कुछ इस प्रकार है— प्रकाशकरम् (म.द.य.भा.१५.४), बलकारि (म.द.य.भा.१४.१८), ऊर्जनम् (म.द.य. भा.१५.४), प्रकाशः (म.द.य.भा.१४.१८), प्रयतनम् (म.द.य.भा.१५.५)। इन सब प्रमाणों से सिद्ध होता है कि छन्द वा मन्त्र सृष्टि के अन्दर होने वाले ऐसे कम्पन हैं, जो सृष्टि में नाना प्रकार के बल, ऊर्जा और तेज को उत्पन्न करके सभी पदार्थों को उत्पन्न करते हैं।

छान्दोग्य उपनिषद् १.४.२ में छन्द के विषय में लिखा है— 'त्रयीं विद्यां प्राविशँस्ते छन्दोभिरच्छादयन् यदेभिरच्छादयँस्तच्छन्दसां छन्दस्त्वम्।' इसका अर्थ यह है कि जब दो संयोज्य पदार्थों के मध्य संयोग प्रक्रिया हो रही होती है, उस समय मृत्यु [मृत्युः = मृत्युर्वै वरुणो मृत्युनैवैनं ग्राहयत्येतद् वै पाप्मनो रूपम् (काठ.सं.१३.२)] अर्थात् विभिन्न प्रकार के पतनकारी आसुरी रश्मि आदि पदार्थ उन पर आक्रमण करके कँपाने लगते हैं, उस समय वहाँ विद्यमान विभिन्न प्रकार की छन्द रश्मियाँ उन पतनकारी पदार्थों को नष्ट व नियन्त्रित करती हैं और वे छन्द रश्मियाँ उन संयोज्य पदार्थों को सुरक्षा प्रदान करते हुए सब ओर से आच्छादित कर लेती हैं। फलस्वरूप उनकी संयोग प्रक्रिया निर्विघ्न सम्पन्न हो जाती है, क्योंकि ये रश्मियाँ उन पदार्थों को आच्छादित कर लेती हैं, इसलिए इन्हें छन्द कहा जाता है। यहाँ उपनिषत्कार का यही भाव है।

छन्द की व्याख्या के पश्चात् स्तोम की चर्चा करते हुए लिखते हैं— 'स्तोमः

स्तवनात्' अर्थात् स्तवन करने से स्तोम कहते हैं। स्तोम कुछ ऋचाओं के समूहों को कहा जाता है और ऋचाओं का वह समूह पदार्थों को विशेष रूप से प्रकाशित करने वाला होता है। इनके विषय में ऋषियों का कथन है— अन्नं वै स्तोमाः (श.ब्रा.९.३.३.६), गायत्रीमात्रो वै स्तोमः (कौ.ब्रा.१९.८), प्राणा वै स्तोमाः (श.ब्रा.८.४.१.३) अर्थात् ये रश्मि समूह प्रायः गायत्री छन्दों के ही होते हैं और इनमें संयोज्यता का गुण विशेष होता है और ये छन्द रूप होने के कारण प्राण रूप भी होते हैं।

यहाँ ग्रन्थकार ने मन्त्रों के तीन विभाग किए हैं, जिसमें पहला विभाग करते हुए लिखा है—

१. **यजुर्यजतेः** — इसका अर्थ यह है कि कुछ मन्त्र 'यजुः' नाम से जाने जाते हैं और ये मन्त्र अर्थात् छन्द रश्मियाँ यजन क्रियाओं में विशेष सहयोगिनी होती हैं। इनके विषय में तत्त्वदर्शियों का कथन है— अन्तरिक्षं वै यजुषामायतनम् (गो.पू.२.२४), प्राणो वै यजुः प्राणे हीमानि सर्वाणि भूतानि युज्यन्ते (श.ब्रा.१४.८.१४.२), अन्तरिक्षं यजुषा (जयति) (श.ब्रा. ४.६.७.२), सर्वा गतिर्याजुषी हैव शश्वत् (तै.ब्रा.३.१२.९.१) अर्थात् मन्त्र रूपी ये रश्मियाँ प्राण रूप होती हैं, जो विभिन्न पदार्थों की संयोजन प्रक्रिया में अनिवार्य भूमिका निभाती हैं। सम्पूर्ण आकाशतत्त्व इन्हीं रश्मियों का विस्तार है अर्थात् आकाशतत्त्व इन्हीं रश्मियों से निर्मित होता है और इन्हीं के द्वारा नियन्त्रित भी होता है। सभी प्रकार के पदार्थ इनसे निर्मित आकाशतत्त्व में ही गमनागमन करते हैं, इसलिए महर्षि कणाद ने कहा— 'निष्क्रमणं प्रवेशनमित्याकाशस्य लिङ्गम्' (वै.द.२.१.२०)।

२-३. 'साम सम्मितमृचा स्यतेर्वा ऋचा समं मेने इति नैदानाः' इसका अर्थ है कि साम रश्मियाँ ऋक् रश्मियों के द्वारा अथवा उनके साथ सर्वत्र समाई हुई हैं। वस्तुतः वे ऋक् रश्मियों से ही प्रकाशित व सक्रिय होती हैं, इसलिए ही महर्षि याज्ञवल्क्य ने कहा है— ऋचि साम गीयते (श.ब्रा.८.१.३.३)। यहाँ साम रश्मियों का यह गुण भी प्रकट होता है कि ये रश्मियाँ ऋक् रश्मियों के द्वारा मापी हुई अर्थात् घिरी हुई होती हैं। इसके अतिरिक्त कहा कि ये रश्मियाँ ऋक् रश्मियों के अन्दर प्रक्षिप्त की जाती हैं अथवा प्रकट होती हैं। इससे यह स्पष्ट होता है कि साम रश्मियाँ सदैव वहाँ उत्पन्न होती हैं, जहाँ ऋक् रश्मियाँ विद्यमान होती हैं। इसके आगे ग्रन्थकार 'नैदानों' का मत प्रस्तुत करते हुए लिखते हैं— इस परम्परा के आचार्य साम रश्मियों को ऋक् रश्मियों के समान मानते हैं। निदान विचारधारा

के विषय में स्वामी ब्रह्ममुनि परिव्राजक अपने निरुक्त भाष्य में लिखते हैं—

"हेतुवादिनः पारिभाषिकशब्दानां लक्षणानुविधायिनः आचार्याः मन्यन्ते निदानं लक्षणं फलमाश्रित्य परिभाषिकशब्दानां व्यवस्थापका नैदानाः।" अर्थात् पारिभाषिक शब्दों के लक्षणों से शब्दों के मूल का अन्वेषण करने वाले मत को निदान और इस मत के अनुयायी विद्वानों को नैदान कहते हैं।

यहाँ साम और यजु की व्याख्या तो की गई है, परन्तु 'ऋक्' की व्याख्या नहीं की गई है, क्योंकि ऋक् की व्याख्या पूर्व में खण्ड १.८ में की जा चुकी है।

मन्त्रों के तीन विभागों की व्याख्या करने के पश्चात् अब नाना प्रकार के मुख्य-मुख्य छन्दों की क्रमशः व्याख्या करते हुए लिखते हैं— 'गायत्री गायते स्तुतिकर्मणः त्रिगमना वा विपरीता'। यहाँ गायत्री छन्द का नाम गायत्री क्यों है, इसकी अतीव सुन्दर वैज्ञानिक विवेचना की गई है। 'गायत्री' पद 'गायतेः' धातु से व्युत्पन्न माना गया है और यह धातु उत्पन्न करने के अर्थ में भी प्रयुक्त है, साथ में दीप्तिमान् अर्थात् लयबद्ध ध्वनि उत्पन्न करने के अर्थ में भी। इसका अर्थ यह हुआ कि सर्वथा अन्धकारपूर्ण प्रकृतिरूपी सृष्टि के मूल उपादान कारण रूप पदार्थ अथवा इससे उत्पन्न मनस्तत्त्व आदि पदार्थों में दीप्ति उत्पन्न होने का प्राथमिक कारण गायत्री छन्द रश्मियाँ ही हैं। प्रकृति पदार्थ में साम्यावस्था को भंग करते हुए परब्रह्म परमात्मा द्वारा सर्वप्रथम परा रूप में 'ओम्' रूपी दैवी गायत्री छन्द रश्मि उत्पन्न की जाती है। इस सम्पूर्ण सृष्टि में इससे सूक्ष्म न तो कोई ध्वनि है, न कोई स्पन्दन। वस्तुतः ध्वनि स्पन्दन रूप ही होती है। यही स्पन्दन प्रकृति की साम्यावस्था को भंग करके सर्वप्रथम सबसे सूक्ष्म एवं सबसे अव्यक्त दीप्ति व प्रकाश उत्पन्न करता है। इस कारण इसका नाम गायत्री हुआ, क्योंकि यह प्रकाश रूप भी है और ध्वनि रूप भी है। हम यहाँ आधिदैविक व्याख्या ही कर रहे हैं, इस कारण गायत्री मन्त्र से परमपिता परमात्मा की स्तुति की जाती है, ऐसा लिखना यहाँ आवश्यक नहीं है।

अब गायत्री पद का अगला निर्वचन करते हुआ लिखा कि जिसके तीन गमन होते हैं, उसे गायत्री कहा जाता है। यहाँ भाष्यकारों ने 'गमन' का अर्थ पाद किया है। उनके अनुसार जिस छन्द में तीन पाद होते हैं, उस छन्द को गायत्री कहते हैं। हमारी दृष्टि में यह व्याख्या संदिग्ध प्रतीत हो सकती है, क्योंकि दैवी गायत्री छन्द में केवल एक ही अक्षर (स्वर) होता है, तब उसे गायत्री छन्द कैसे कहेंगे? हाँ, जिन छन्दों में तीन पाद विद्यमान

होते हैं, वहाँ यह व्याख्या उचित है। एतदर्थ पाठकों को 'पाद' पद की व्याख्या के लिए पूर्व में खण्ड २.७ पढ़ना चाहिए, जिससे यह निष्कर्ष प्राप्त होता है कि जिस छन्द रश्मि में ऐसे जितने भाग होते हैं वा हो सकते हैं, जो उस छन्द रश्मि की गति को प्रभावित कर सकें व करते हैं, वे उस छन्द रश्मि के पाद कहलाते हैं।

हमारे मत में जिन छन्दों में तीन पाद पृथक्-पृथक् दृष्टिगोचर नहीं होते, वहाँ पदों को ही पाद मानना चाहिए, ऐसा पूर्व में हम लिख चुके हैं। तब प्रश्न यह उठता है कि जब पद ही एक हो, तब तीन पादों की व्याख्या कैसे होगी? इसके उत्तर में हमारा मत यह है कि ऐसी स्थिति में अक्षरों, वे चाहे स्वर हों अथवा व्यञ्जन, को ही एक पाद के रूप में मानना चाहिए। उदाहरण के लिए 'ओम्' यह दैवी गायत्री छन्द 'अ', 'उ' एवं 'म्' इन तीन अक्षरों से मिलकर बनता है और ये तीन अक्षर यहाँ तीन पादों का कार्य करते हैं। ध्यान रहे कि यहाँ तीन अक्षर होते हुए भी इनमें व्यञ्जन एक ही होने से इसका छन्द दैवी गायत्री माना जाता है। ये तीनों अक्षर पादरूप व्यवहार करने से 'ओम्' छन्द रश्मि की गति को उत्पन्न भी करते हैं और उसे स्वरूप भी प्रदान करते हैं। हमारे मत में जिस छन्द रश्मि में जितने पाद विद्यमान होते हैं, वह छन्द रश्मि उतनी ही दिशाओं अर्थात् उतने ही प्रकार से गमन करती है। इसी रहस्य को प्रकट करने के लिए एक महान् तत्त्ववेत्ता ने कहा है— दिशः पादाः (तै.सं.७.५.२५.१)। यहाँ तीन दिशाओं में गति का अर्थ तीन प्रकार की गति समझनी चाहिए और भिन्न-भिन्न प्रकार की गति का अर्थ वैज्ञानिकों को ऊहापूर्वक समझने का यत्न करना चहिए। यह त्रिगमना गायत्री का स्वरूप व्याख्यात हुआ।

अब इसके अन्य निर्वचन पर विचार करते हैं, वह निर्वचन है— 'त्रि+गाय' ही उलट कर 'गाय+त्रि' अर्थात् गायत्री बन जाता है। इसका अर्थ यह है कि यह छन्द रश्मि इसके तीनों प्रकार के गमन मार्गों को प्रकाशित करती हुई स्पन्दित होती है। अब गायत्री का अन्तिम निर्वचन करते हुए लिखा है— 'गायतो मुखादुदपतत् इति च ब्राह्मणम्'। पण्डित भगवद्दत्त रिसर्च स्कॉलर के अनुसार यह निर्वचन दे.ब्रा. ३.३ से लिया गया है और इससे पूर्व व्याख्यात निर्वचन दे.ब्रा. ३.२ से लिया गया है।

अब हम इस अन्तिम निर्वचन पर विचार करते हैं— इसके अनुसार गाते हुए के मुख से यह छन्द गिरा अथवा प्रकट हुआ। इस कारण इसे गायत्री कहा गया एवं सूक्ष्म व प्राथमिक तेज को उत्पन्न करते हुए मुख से यह छन्द प्रकट हुआ। 'मुखम्' पद की व्युत्पत्ति

करते हुए ऋषि दयानन्द ने लिखा है— 'खनत्यन्नादिकमनेनेति मुखम् आस्यम्'। इससे संकेत मिलता है कि जो एकरस पदार्थ को विकृत कर देता है, उसे मुख कहा जाता है। इस कारण यहाँ गायत्री पद का अर्थ है कि जब प्रकृति रूपी एकरस पदार्थ में बल और चेतनस्वरूप परब्रह्म परमात्मा विकार उत्पन्न करने वाला होता है, उस समय प्रथम विकार उत्पन्न होते ही जो सूक्ष्मतम प्रकाशयुक्त स्पन्दन उत्पन्न होता है, उसे गायत्री कहते हैं। यह स्पन्दन हमारे बौद्धिक और तकनीकी सामर्थ्य की दृष्टि से सदैव अव्यक्त ही मानना चाहिए। इस प्रकार यह गायत्री छन्द के स्वरूप की व्याख्या हुई।

अब उष्णिक् छन्द का निर्वचन करते हुए लिखते हैं—

उष्णिगुत्स्नाता भवति। स्निह्यतेर्वा स्यात्कान्तिकर्मणः। उष्णीषिणीवेत्यौपमिकम्। उष्णीषं स्नायतेः। ककुप्ककुभिनी भवति। ककुप्च कुब्जश्च कुजतेर्वा। उब्जतेर्वा।

यहाँ 'स्नाता' पद 'स्नै वेष्टने शोभायाञ्च' धातु से व्युत्पन्न होता है। इसका अर्थ यह है कि यह छन्द रश्मि गायत्री छन्द रश्मियों को आच्छादित करने वाली होती है और इसमें गायत्री की अपेक्षा कुछ अक्षर अधिक होते हैं। यहाँ सभी भाष्यकारों ने इसे एक गायत्री की अपेक्षा चार अक्षर अधिक वाली माना है, परन्तु यह सत्य केवल आर्षी छन्द रश्मियों के विषय में ही है, अन्यों के विषय में नहीं। जैसे उदाहरण के लिए दैवी उष्णिक् छन्द रश्मि में गायत्री की अपेक्षा केवल एक ही अक्षर अधिक है। याजुषी उष्णिक् में भी यही स्थिति है। साम्नी उष्णिक् में साम्नी गायत्री की अपेक्षा दो अक्षर अधिक हैं। आर्ची उष्णिक् में आर्ची गायत्री की अपेक्षा तीन अक्षर अधिक हैं। ब्राह्मी उष्णिक् में ब्राह्मी गायत्री की अपेक्षा छः अक्षर अधिक हैं। इस कारण चार अक्षर अधिक मानना समीचीन नहीं है। हाँ, इतना अवश्य है कि सभी प्रकार की उष्णिक् छन्द रश्मियाँ गायत्री छन्द रश्मियों को आच्छादित करती हैं। ध्यातव्य है कि इसका भी एक अपवाद है, जहाँ आसुरी गायत्री छन्द रश्मि में सर्वाधिक पन्द्रह अक्षर होते हैं, वहीं आसुरी उष्णिक् में चौदह अक्षर होते हैं, जो अन्य छन्द रश्मियों में क्रमशः एक-एक अक्षर घटते हुए आसुरी जगती में मात्र नौ अक्षर रह जाते हैं। वस्तुतः आसुरी रश्मियों के गुण, कर्म व स्वभाव अन्य रश्मियों से सर्वथा विपरीत होते हैं। इस कारण यह अपवाद स्वाभाविक है।

छन्दः	गायत्री	उष्णिक्	अनुष्टुप्	बृहती	पंक्तिः	त्रिष्टुप्	जगती
आर्षी	24	28	32	36	40	44	48
दैवी	1	2	3	4	5	6	7
आसुरी	15	14	13	12	11	10	9
प्राजापत्या	8	12	16	20	24	28	32
याजुषी	6	7	8	9	10	11	12
साम्नी	12	14	16	18	20	22	24
आर्ची	18	21	24	27	30	33	36
ब्राह्मी	36	42	48	54	60	66	72

उष्णिक् छन्द रश्मि को गायत्री की आच्छादिका बताने के पश्चात् लिखते हैं— 'स्निह्यतेर्वा स्यात्कान्तिकर्मण:' अर्थात् यह छन्द रश्मि विभिन्न देव पदार्थों के मध्य और स्वयं छन्द रश्मियों के मध्य भी संयोजन गुण को बढ़ाने वाली होती है। इसके साथ ही दीप्ति उत्पन्न करने वाली अथवा बढ़ाने वाली होती है। वैसे प्राय: सभी छन्द रश्मियाँ प्रकाश उत्पन्न करने वाली होती हैं, किन्तु यह छन्द रश्मि उन सब छन्द रश्मियों के इस गुण को और भी बढ़ा देती है, यह इसकी विशेषता है।

इसके पश्चात् कहा— 'उष्णीषिणीवेत्यौपमिकम् उष्णीषं स्नायते:'। यहाँ ग्रन्थकार उष्णिक् नाम को उष्णीषिणी अर्थात् पगड़ी वाला का उपमावाची मानकर भी व्याख्या करते हैं। यहाँ उष्णीष पगड़ी को कहा गया है, जैसे पगड़ी मनुष्य के सिर को आच्छादित कर उसके सिर की रक्षा करती है, वैसे ही उष्णिक् छन्द रश्मियाँ गायत्री छन्द रश्मियों को आच्छादित करके उनकी रक्षा करती हैं। जैसे हमारे सिर में सम्पूर्ण शरीर को नियन्त्रित करने की शक्ति होती है, वैसे ही गायत्री छन्द रश्मियों में जो भी विशेष नियन्त्रक भाग होते हैं, उनको उष्णिक् छन्द रश्मि के अतिरिक्त अक्षरों के द्वारा आच्छादित किया जाता है। तदुपरान्त उन अक्षरों से आच्छादित गायत्री छन्द रश्मि ही उष्णिक् छन्द रश्मि का रूप धारण कर लेती है।

अब ग्रन्थकार उष्णिक् के ही एक रूप ककुप् छन्द के विषय में लिखते हैं— 'ककुप्ककुभिनी भवति ककुप्च कुब्जश्च कुजतेर्वा उब्जतेर्वा'। इस प्रकार के छन्दों के

मध्यवर्ती पादों में कुछ अक्षर अधिक होने से वह भाग कुछ उभरा हुआ होता है, उस उभरे भाग को यहाँ ककुप् और इसके कारण सम्पूर्ण छन्द रश्मि को ककुप् उष्णिक् छन्द अथवा ककुप्ककुभिनी कहा जाता है। ककुप् कूबड़ को कहते हैं। जैसे ऊँट अथवा भारतीय नस्ल के बैलों की पीठ पर जो कूबड़ होता है, उसी प्रकार इस उष्णिक् छन्द रश्मि का मध्य भाग उभरा हुआ होता है। इसको ककुप् के साथ-साथ कुब्ज भी कहते हैं और 'कुब्ज' पद कौटिल्य अर्थ में प्रयुक्त कुज् धातु से व्युत्पन्न होता है। यद्यपि धातुपाठ में कुज् धातु कौटिल्य अर्थ में प्रयुक्त नहीं की गई है, परन्तु अधिकांश भाष्यकारों ने इसे इसी अर्थ में प्रयुक्त माना है, जो यहाँ हमें उचित प्रतीत होता है, क्योंकि एक ही धातु के अनेक अर्थ हो सकते हैं। यहाँ ग्रन्थकार ने 'ककुप्' एवं 'कुब्ज' दोनों ही पदों को 'उब्ज आर्जवे' धातु से व्युत्पन्न माना है। पण्डित युधिष्ठिर मीमांसक ने 'संस्कृत-धातु-कोष' में इस धातु का एक अर्थ 'दबाना' भी माना है। इसका अर्थ यह है कि यह ककुप् उष्णिक् छन्द उभरे हुए भाग के निकट कुछ इसी प्रकार दबा हुआ होता है, जिस प्रकार बैल की पीठ उसके कूबड़ के निकट दबी हुई अर्थात् नीचे झुकी हुई होती है, इसके कारण भी इसे ककुप् उष्णिक् कहा जाता है।

उष्णिक् छन्द के पश्चात् अब ग्रन्थकार अनुष्टुप् छन्द के विषय में लिखते हैं—

अनुष्टुबनुष्टोभनात्।
गायत्रीमेव त्रिपदां सतीं चतुर्थेन पादेनानुष्टोभति। इति च ब्राह्मणम्।

इसका अर्थ यह है कि अनुकूलतापूर्वक किसी पदार्थ को स्तम्भित करने के कारण इसे अनुष्टुप् छन्द कहा गया है। यहाँ स्तम्भित करने का क्या अर्थ है, यह विचारेंगे। यह पद 'स्तुभु स्तम्भे' धातु से व्युत्पन्न होता है, जिसका अर्थ है— थामना अथवा रोकना। स्कन्दस्वामी ने इस धातु को वृद्धि अर्थ में माना है। ग्रन्थकार ने निघण्टु ३.१४ में इस धातु को अर्चतिकर्मा माना है। इस प्रकार यहाँ 'अनुष्टोभनात्' पद का अर्थ है—

१. थामना, रोकना, धारण करना।
२. बढ़ाना, समृद्ध करना।
३. प्रकाशित करना।

इस प्रकार अनुष्टुप् छन्द रश्मियाँ अन्य छन्द रश्मियों को थामती अर्थात् आश्रय

देती, उन्हें समृद्ध करती अर्थात् उनके जो स्वाभाविक गुण होते हैं, उनको अनुकूलतापूर्वक बढ़ाती और प्रकाशित करती हैं। अब यह छन्द रश्मि किस छन्द रश्मि को थामती है, इसको स्पष्ट करते हुए ग्रन्थकार लिखते हैं— 'गायत्रीमेव त्रिपदां सतीं चतुर्थेन पादेनानुष्टोभति' अर्थात् अनुष्टुप् छन्द रश्मियाँ गायत्री छन्द रश्मियों, जिनमें तीन पाद ही होते हैं, में एक पाद के समान अक्षरों को मिलाकर उस पाद से गायत्री के तीन पादों को थामती, बढ़ाती और प्रकाशित करती हैं और वह गायत्री छन्द अनुष्टुप् छन्द में परिवर्तित हो जाता है। यहाँ प्रश्न यह उठता है कि जब कोई अनुष्टुप् छन्द रश्मि किसी गायत्री छन्द रश्मि के साथ अपने एक पाद को मिला देती है, तब उन दोनों ही छन्द रश्मियों का क्या स्वरूप रह जाता है? इस विषय में हमारा मत यह है कि जब कोई अनुष्टुप् छन्द रश्मि किसी गायत्री छन्द रश्मि के साथ अपना एक पाद मिला देती है, तब वह एक पाद दोनों ही छन्द रश्मियों के साथ उसी प्रकार क्रियाशील हो उठता है, जैसे आधुनिक रसायन विज्ञान में सह-संयोजक बन्ध कार्य करते हैं अर्थात् वे दोनों छन्द रश्मियाँ अनुष्टुप् की भाँति व्यवहार करने लगती हैं।

ध्यातव्य है कि अनुष्टुप् और गायत्री छन्द रश्मियों के मध्य ऐसा संयोग सदैव अनिवार्य नहीं है और दूसरा तथ्य यह भी है कि उपर्युक्त संयोग में गायत्री छन्द रश्मि अनुष्टुप् छन्द रश्मि की भाँति व्यवहार करते हुए भी अपने मूल स्वरूप और गुणों को सर्वथा नहीं त्यागती, ऐसा हमारा मत है। इन दोनों छन्द रश्मियों के परस्पर इस प्रकार के संयोग रूप व्यवहार के कारण ही एक वेदवेत्ता ने कहा है— 'गायत्री वै सा याऽनुष्टुप्' (कौ.ब्रा.१०.५)।

अनुष्टुप् छन्द रश्मियों के पश्चात् लिखते हैं—

बृहती परिबर्हणात्। पङ्क्ति पञ्चपदा। त्रिष्टुप्स्तोभत्युत्तरपदा।
का तु त्रिता स्यात्? तीर्णतमं छन्दः। त्रिवृद्वज्रस्तस्य स्तोभनीति वा।
यत् त्रिरस्तोभत्तत्त्रिष्टुभस्त्रिष्टुप्त्वम्।
इति विज्ञायते॥ १२॥

अब बृहती छन्द रश्मि के विषय में लिखते हैं कि यह छन्द रश्मि सब ओर से बढ़ी हुई होती है। इसका अर्थ यह है कि इसमें कोई अतिरिक्त पाद कहीं से संयुक्त नहीं

होता, बल्कि इसमें अनुष्टुप् की भाँति चार ही पाद होते हैं और सभी पादों में अक्षरों की संख्या भी समान होती है। किसी आर्षी अनुष्टुप् छन्द रश्मि के प्रत्येक पाद में एक-एक अक्षर संयुक्त होने से आर्षी बृहती छन्द रश्मि बन जाती है, क्योंकि यह छन्द रश्मि प्रत्येक पाद में अक्षर वृद्धि के कारण बनती है, इसलिए इसको बृहती छन्द रश्मि कहते हैं।

बृहती के पश्चात् पंक्ति छन्द रश्मियों के विषय में लिखते हैं कि यह छन्द रश्मि पाँच पदों अर्थात् पादों से युक्त होती है। यहाँ प्रश्न यह भी उठ सकता है कि पंक्ति छन्द रश्मि के प्रत्येक पाद में कितने अक्षर होते हैं? इसके उत्तर में हमें यह जान लेना चाहिए कि गायत्री और अनुष्टुप् छन्द रश्मियों के समान आर्षी पंक्ति छन्द रश्मि के एक पाद में आठ अक्षर ही होते हैं, परन्तु पाद पाँच होते हैं। पादों में अक्षरों की संख्या की दृष्टि से बृहती एक अपवाद है, इसलिए उसे बढ़े हुए अक्षरों वाला कहा है।

तदनन्तर त्रिष्टुप् छन्द रश्मि के विषय में लिखा है— 'त्रिष्टुप्स्तोभत्युत्तरपदा का तु त्रिता स्यात्? तीर्णतमं छन्दः त्रिवृद्वज्रस्तस्य स्तोभनीति वा' अर्थात् त्रिष्टुप् पद 'स्तुभु स्तम्भे' धातु से व्युत्पन्न स्तुभ् उत्तरपद वाला है, तब पूर्व पद 'त्रि' का क्या अर्थ है, यहाँ यह प्रश्न उठाया गया है। इसका उत्तर देते हुए कहा गया है कि 'त्रि' का अर्थ है— तीर्णतम अर्थात् अब तक वर्णित सभी छन्दों की अपेक्षा अधिक फैला हुआ। जैसा कि हम जानते हैं कि गायत्री, उष्णिक्, अनुष्टुप्, बृहती एवं पंक्ति, इन पाँचों छन्द रश्मियों की अपेक्षा त्रिष्टुप् सबसे बड़ा छन्द है। यहाँ इसका दूसरा अर्थ यह भी है कि ये छन्द रश्मियाँ विभिन्न रश्मि आदि पदार्थों को तीन प्रकार से थामती, प्रकाशित करती एवं बल आदि की दृष्टि से समृद्ध करती हैं। इसके साथ ही ये छन्द रश्मियाँ इस सृष्टि में बलहीन हो चुकी विभिन्न छन्दादि रश्मियों को बल और तेज प्रदान करके विभिन्न क्रियाओं में तारने का कार्य करती हैं और वे इस कार्य में सर्वश्रेष्ठ होती हैं, ऐसा भी त्रि पूर्वपद से स्पष्ट होता है। इस सृष्टि में होने वाली विभिन्न क्रियाओं के अनन्तर अनेक छन्द रश्मियाँ निर्बल होकर सृजन प्रक्रियाओं से बाहर होने लगती हैं, ऐसी स्थिति में त्रिष्टुप् छन्द रश्मियाँ ही उन्हें बल प्रदान करके पुनः सृजन प्रक्रियाओं से जोड़ती हैं। इस कारण इन छन्द रश्मियों की इस सृष्टि में बहुत बड़ी भूमिका होती है।

अब त्रिष्टुप् छन्द का अन्य निर्वचन करते हुए लिखते हैं कि 'त्रिवृत् स्तोम' रश्मियाँ, जिनके विषय में हम पूर्व में अनेकत्र लिख चुके हैं, वज्र की भाँति कार्य करते हुए

असुरादि पदार्थों को नष्ट व नियन्त्रित करती हैं। वज्र रश्मियों को त्रिष्टुप् छन्द रश्मियाँ बल प्रदान करती, प्रकाशित करती एवं धारण करती हैं, इस कारण भी इन्हें त्रिष्टुप् कहते हैं। इसी आशय को दृष्टिगत रखकर ऋषियों ने लिखा है— इन्द्रस्त्रिष्टुप् (श.ब्रा. ६.६.२.७), यदैन्द्रं तत् त्रिष्टुभो रूपम् (जै.ब्रा.३.२०६), त्रिष्टुबिन्द्रस्य वज्रः (ऐ.ब्रा.२.२), वज्रस् त्रिष्टुप् (मै.सं.३.२.१०) अर्थात् त्रिष्टुप् छन्द रश्मियाँ इन्द्र रूप में व्यवहार करती हैं।

अब यहाँ यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि त्रिष्टुप् छन्द रश्मियाँ वज्र रूप त्रिवृत् छन्द रश्मियों को कैसे धारण करती हैं? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए लिखते हैं कि ये छन्द रश्मियाँ वज्र रश्मियों को तीन प्रकार से थामती, समृद्ध करती और प्रकाशित करती हैं। हम जानते हैं कि तीन गायत्री छन्द रश्मि विशेष के समूह को त्रिवृत् स्तोम कहते हैं। त्रिष्टुप् छन्द रश्मियाँ तीन गायत्री छन्द रश्मियों को एक साथ धारण व प्रकाशित करती हैं, इस कारण त्रिष्टुप् कहलाती हैं, क्योंकि ये छन्द रश्मियाँ तीन गायत्री रश्मिरूप वज्र को तीन प्रकार से धारण करती हैं, इस कारण ही त्रिष्टुप् कहलाती हैं, ऐसा ब्राह्मण ग्रन्थों के विज्ञान से जाना जाता है।

* * * * *

= त्रयोदशः खण्डः =

जगती गततमं छन्दः। जलचरगतिर्वा।
जल्गल्यमानोऽसृजत्। [दैवत ब्रा.३] इति च ब्राह्मणम्।

अब जगती छन्द का निर्वचन करते हुए लिखते हैं कि ये रश्मियाँ सभी छन्द रश्मियों की अपेक्षा सबसे दूर तक पहुँची हुई होती हैं अर्थात् ये छन्द रश्मियाँ अन्यों की अपेक्षा व्यापक रूप से दूर-२ तक फैली होती हैं एवं ये जल में उठने वाली तरंगों के समान दूर-२ तक सब ओर गमन करती हैं, इस कारण इन्हें जगती कहा जाता है। इसका अर्थ यह है कि ये छन्द रश्मियाँ अपने उत्पत्ति स्रोत से त्रिविमीय क्षेत्र में दूर-२ तक गमन करती हैं।

अब ग्रन्थकार दैवत ब्राह्मण का उदाहरण देते हुए लिखते हैं—

'जल्गल्यमानोऽसृजत्'।

यहाँ 'जल्गल्यमानः' पद को आचार्य भगीरथ शास्त्री ने 'ग्लै हर्षक्षये' धातु से व्युत्पन्न माना है, स्कन्दस्वामी का भी यही मत है, जबकि पण्डित चन्द्रमणि वेदांलकार ने इसे 'गॄ शब्दे' धातु से व्युत्पन्न माना है। उधर स्वामी ब्रह्ममुनि परिव्राजक ने इसे 'गल स्रवणे' धातु से व्युत्पन्न माना है। हमें यहाँ यह प्रतीत होता है कि यह पद 'ग्लै हर्षक्षये', 'गल स्रवणे' इन दोनों धातुओं के साथ 'गॄ शब्दे' के स्थान पर 'गॄ निगरणे' इन तीनों धातुओं से व्युत्पन्न हो सकता है। इससे जगती छन्द रश्मियों के विषय में निम्नलिखित रहस्य उद्घाटित होते हैं—

१. इसके कारण त्रिष्टुप् आदि छन्द रश्मियों की अति सक्रियता में कुछ क्षीणता आने लगती है। ध्यातव्य है कि निरन्तर विक्षोभ एवं अति सक्रियता की स्थिति से सभी पदार्थों की रचना होना सम्भव नहीं है। इस कारण ऐसी स्थिति में कुछ क्षीणता भी अनिवार्य है। उस स्थिति में ही इन रश्मियों की उत्पत्ति होती है। इसी के कारण यहाँ 'जल्गल्यमानः' पद का प्रयोग किया गया है।

२. 'जल्गल्यमानः' का दूसरा आशय यह है कि इन जगती छन्द रश्मियों की उत्पत्ति से पूर्व जब पदार्थ में उपर्युक्तानुसार कुछ क्षीणता आने लगती है, उस समय विक्षुब्ध छन्द रश्मियों के कुछ अंश उनसे अलग होकर बाहर रिसने लगते हैं और फिर वे पद आगे चलकर जगती छन्द रश्मियों के निर्माण का कारण बनते हैं। छन्द रश्मियों से पृथक् हुए भागों से मिलकर अन्य छन्द रश्मियों के निर्माण की प्रक्रिया 'वेदविज्ञान-आलोकः' ग्रन्थ में अनेकत्र वर्णित की गई है।

३. 'जल्गल्यमानः' पद 'गॄ निगरणे' धातु से भी व्युत्पन्न होता है। इससे यह रहस्योद्घाटन होता है कि उपर्युक्तानुसार बड़ी छन्द रश्मियों से जो भाग पृथक् होते हैं, उन्हें कुछ छोटी रश्मियाँ निगल लेती हैं अर्थात् अपने साथ संयुक्त कर लेती हैं। इस प्रकार बड़ी छन्द रश्मियों की उत्पत्ति होती है। ये रश्मियाँ ही जगती छन्द रश्मियाँ कहलाती हैं।

जगती छन्द रश्मियों के पश्चात् विराट् छन्दों के विषय में लिखते हैं—

विराड् विराजनाद्वा। विराधनाद्वा। विप्रापणाद्वा। विराजनात्सम्पूर्णाक्षरा। विराधनादूनाक्षरा। विप्रापणादधिकाक्षरा। पिपीलिकामध्येत्यौपमिकम्।

पिपीलिका पेलतेर्गतिकर्मणः।

यहाँ विराट् छन्द रश्मियों के विषय में तीन प्रकार की व्याख्या की गई है, जिसमें प्रथम प्रकार में 'विराट्' पद को वि+राजृ धातु से व्युत्पन्न माना है और विराट् छन्द को सम्पूर्ण अक्षरयुक्त माना है। इसका अर्थ यह है कि इस प्रकार की विराट् छन्द रश्मियाँ अपने निश्चित अक्षरों के साथ विविध प्रकार एवं सम्पूर्ण रूप से प्रकाशित होती हैं। यहाँ प्रश्न यह उठता है कि निश्चित अक्षरों का तात्पर्य क्या है? इस विषय में ऋषियों का कथन है— विराजो वा एतद् रूपं यदक्षरम् (तां.ब्रा.८.६.१४), दश च ह वै चतुर्विराजोऽक्षराणि (गो.पू.५.२०), सहस्राक्षरा वै परमा विराट् (तां.ब्रा.२५.९.४), सा विराट् त्रयस्त्रिंशदक्षरा भवति (ऐ.ब्रा.२.३७), दशाक्षरा वै विराट् (श.ब्रा.१.१.१.२२), त्रिंशदक्षरा वै विराट् (ऐ.ब्रा.४.१६), त्रिंशदक्षरा विराट् (तै.ब्रा.३.८.१०.४)। इन सब वचनों का तात्पर्य यह है कि विराट् छन्द रश्मियों में अक्षरों की संख्या १ से लेकर ४० अथवा सहस्र तक हो सकती है। हमारे मत में यहाँ सहस्र का अर्थ अनेक भी मान सकते हैं, तब सम्पूर्ण अक्षर का तात्पर्य क्या लिया जाए, यह अत्यन्त विचारणीय विषय है। हम जानते हैं कि सामान्यतया किसी छन्द रश्मि में निश्चित निर्धारित अक्षरों की अपेक्षा यदि दो अक्षर कम होते हैं, तो उसे विराट् छन्द कहते हैं। उदाहरण के लिए यदि किसी छन्द में २२ अक्षर हैं, तब उसका छन्द विराट् आर्षी गायत्री कहलायेगा और यह २२ अक्षरों वाला गायत्री छन्द विविध प्रकार से प्रकाशित होने के कारण विराट् कहलाता है।

अब दूसरा निर्वचन करते हुए लिखते हैं कि जिस छन्द में सामान्य की अपेक्षा कुछ अक्षर न्यून हों, तब तक भी उसे विराट् छन्द कहा जाता है। यहाँ विराट् पद को वि+राध धातु से निष्पन्न माना है। इस स्थिति में भी यह छन्द रश्मि विविध प्रकार से प्रकाशित होने वाली होती है। इसी कारण हमने देखा है कि उपर्युक्त आर्ष वचनों में एक अक्षर वाले छन्द को भी विराट् कहा गया है। अन्तिम निर्वचन करते हुए लिखा कि जिन रश्मियों में सामान्य की अपेक्षा विशेष रूप से अक्षर प्राप्त कर लिए गए हों अर्थात् जिसमें अधिक अक्षर हों, उसे भी विराट् छन्द कहते हैं। इसलिए उपर्युक्त वचनों में सहस्राक्षरा छन्द रश्मि को भी विराट् कहा गया है।

इस प्रकार विराट् छन्द निश्चित अक्षरयुक्त किसी विशेष छन्द के लिए प्रयुक्त नहीं है, बल्कि अनेक प्रकार के छन्दों का एक समूह है। इन सबकी विशेषता यह अवश्य होती

है कि ये रश्मियाँ विविध प्रकार की दीप्तियों को उत्पन्न करती हैं। जिस प्रकार से कोई भी छन्द सामान्य की अपेक्षा दो अक्षरों की न्यूनता होने पर विराट् रूप को प्राप्त करता है, उसी प्रकार छन्दों के एक विशेष स्वरूप की चर्चा करते हुए लिखा है—

'पिपीलिकामध्येत्यौपमिकम् पिपीलिका पेलतेर्गतिकर्मण:'

अर्थात् उपमा द्वारा दिया गया एक और नाम कुछ छन्दों का होता है अर्थात् यह किसी छन्द का प्रकार विशेष होता है और यह नाम है— 'पिपीलिकामध्या'। इसका अर्थ यह है कि जिस प्रकार एक पिपीलिका अर्थात् चींटी का आगे और पीछे वाला भाग अपेक्षाकृत मोटा और मध्य वाला भाग पतला होता है, उसी प्रकार किसी छन्द के प्रथम और तृतीय पाद में अधिक अक्षर हों और मध्यम पाद में कम अक्षर हों, उस छन्द को पिपीलिकामध्या कहा जाता है। उदाहरण के लिए 'हरी यस्य सुयुजा विव्रता वे (१) रर्वन्तानु शेपा। (२) उभा रजी न केशिना पतिर्दन् (३)' (ऋ.१०.१०५.२) इस छन्द में कुल २८ अक्षर हैं, इस कारण इसका छन्द आर्षी उष्णिक् है, परन्तु यह सामान्य छन्द नहीं है, क्योंकि इसके पहले और तीसरे पाद में ११-११ अक्षर हैं, जबकि मध्यम पाद में ६ अक्षर ही हैं, इसलिए इसे पिपीलिकामध्या आर्षी उष्णिक् छन्द कहते हैं।

पिपीलिका पद का निर्वचन करते हुए लिखा है कि यह पद 'पेलृ गतौ' धातु से व्युत्पन्न होता है। इस कारण पिपीलिका का अर्थ है, जो निरन्तर गमन करती रहती है। यहाँ प्रश्न उठता है कि ग्रन्थकार ने इस छन्द की उपमा चींटी से की है, वह क्या केवल उसके आकार की दृष्टि से की है? हमें ऐसा नहीं लगता, क्योंकि ऐसा करने के लिए पिपीलिका पद के निर्वचन के द्वारा उसको सतत गतिशील रहने वाली नहीं कहना पड़ता। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि इस छन्द रश्मि की गति और चींटी की गति में कुछ समानता अवश्य होनी चाहिए। यदि सतत गति करने के गुण की ही समानता मानें, तब यह भी उचित नहीं है, क्योंकि सभी छन्द रश्मियाँ सतत गति करती ही हैं।

इतीमा देवता अनुक्रान्ताः सूक्तभाजो हविर्भाजः। ऋग्भाजश्च भूयिष्ठाः। काश्चिन्निपातभाजः।

इस प्रकार अब तक अग्नि आदि देवताओं का क्रमशः वर्णन किया गया है अर्थात् अग्नि और इन्द्र आदि पदार्थों के विज्ञान का वर्णन किया गया है। अब इन सभी देवताओं

के विषय में कुछ अन्य चर्चा करते हुए लिखते हैं—

१. सूक्तभाक् — कुछ देवता सूक्तभाक् होते हैं। इसका अर्थ यह है कि ये देवता एक अथवा एक से अधिक सूक्तों में स्तुत किए गए होते हैं। इसका अर्थ यह है कि इस नाम के देव पदार्थ एक सूक्त रूप छन्द रश्मि समूह अथवा अधिक सूक्त रूप रश्मि समूह की प्रत्येक छन्द रश्मियों के प्रभाव से समृद्ध होते हैं। इस प्रकार ये देव पदार्थ एक अथवा अनेक सूक्त रूप रश्मि समूहों का भक्षण करते रहते हैं, जिससे वे पदार्थ निरन्तर समृद्ध, सक्रिय और प्रकाशित होते रहते हैं।

२. हविर्भाक् — कुछ देव पदार्थ हविर्भाक् होते हैं अर्थात् जिनके लिए विभिन्न याज्ञिक क्रियाओं में हवि दी जाती है, परन्तु उनका वर्णन किसी सम्पूर्ण सूक्त में भी नहीं किया गया होता है। यहाँ 'हविष्' शब्द के अनेक अर्थ हो सकते हैं। इसके लिए हम यहाँ कुछ प्रमाण उद्धृत करते हैं— एतत्खलु वा एतर्हि हविर्यत् सोमः (मै.सं.४.५.३), मासा हवींꣳषि (श.ब्रा.११.२.७.३), प्राणो हविः (मै.सं.१.९.१)। इसका अर्थ यह है कि कुछ देव पदार्थ ऐसे होते हैं, जो मरुद् रश्मियों, प्राण रश्मियों एवं मास रश्मियों अथवा इनमें से किसी एक प्रकार की रश्मियों का भक्षण अर्थात् अवशोषण विशेष रूप से करते हैं। इस कारण इन देव पदार्थों को हविर्भाक् कहते हैं।

३. ऋग्भाक् — ऐसे देवता जो एक-एक ऋचाओं में स्तुत किए गये हैं, उन्हें ऋग्भाक् कहते हैं। कुछ देवता आधी ऋचाओं के द्वारा स्तुत किए गए हैं, तो कुछ एक पाद द्वारा, ऐसा मत निरुक्त भाष्यकार पण्डित चन्द्रमणि विद्यालंकार का है, साथ में स्कन्दस्वामी का भी। ये सभी ऋग्भाक् ही कहलाते हैं। इसका अर्थ यह है कि सृष्टि के जिन पदार्थों पर किसी एक छन्द रश्मि, आधी छन्द रश्मि अथवा एक पाद रूप छन्द रश्मि का विशेष और प्रत्यक्ष प्रभाव होता है, उसे ऋग्भाक् कहते हैं। यहाँ ध्यान रहे कि ऋग्भाक् पदार्थ इस सृष्टि में सबसे अधिक संख्या वा मात्रा में विद्यमान हैं।

४. निपातभाक् — कई देव पदार्थ निपातभाक् भी होते हैं। निपातभाक् उन देवताओं को कहते हैं, जिनका वर्णन अन्य देवताओं के साथ गौण रूप में आया हो।

इस विषय में स्वामी ब्रह्ममुनि परिव्राजक का भाष्य पठनीय है, जिसे हम यहाँ उद्धृत कर रहे हैं—

"भा.- काश्चिद् देवताः-निपातभाजः सन्ति। या निपातं स्वरूपं भजन्ते, निपातः-अकेवलो देवोऽन्यैर्देवैः सह प्रवृत्तः, तथा परतन्त्रः, परतन्त्रोऽपि द्विविधः-गौणः सहचरः, औपमिकश्च। भेदद्वयेऽपि त्रयो भेदा निपातदेवतानाम्। अकेवला सा देवता यस्या देवतायाः स्वतन्त्रा काचिदृङ्न स्यात् सैवैकाकिनी देवता न स्यात् किन्त्वन्याभिर्देवताभिः सह प्रयुक्ता भवेत्, तद्यथा—

सोमस्य राज्ञो वरुणस्य धर्मणि बृहस्पतेरनुमत्या उ शर्मणि।
तवाहमद्य मघवन्नुपस्तुतौ धातर्विधातः कलशाँ अभक्षयम्॥ (ऋ.१०.१६७.३)

अस्मिन् मन्त्रे सोमप्रभृतयः सोममारभ्य धातारं यावत् सन्ति ता ईदृश्यो देवताः खलु यासां केवलानामृचः सन्ति यत्र ताः केवला देवताः सन्ति, किन्तु 'विधाता' देवता केवलत्वेन न क्वचिदृचि प्रयुक्ता परन्त्वस्यामृचि सोमाद्याभिर्देवताभिः सार्द्धं देवत्वभाक् तस्मात् 'विधाता' देवता निपातदेवता न हि स्वातन्त्र्येण देवतात्वं भजते। उक्तमत्र यास्केन 'विधात्रा व्याख्यातः, तस्यैष निपातो भवति बहुदेवतायामृचि सोमस्य राज्ञो....विधातः कलशाँ अभक्षयम्' (निरु.अ.११, पा.१, खं.१२) द्वितीयप्रकारे गौणः सहचरः, औपमिकश्च। तत्र गौणः सहचर-

यदिन्द्राग्नी परमस्यां पृथिव्यां मध्यमस्यामवमस्यामुत स्थः।
अतः परि वृषणावा हि यातमथा सोमस्य पिबतं सुतस्य॥ (ऋ.१.१०८.१०)

अत्र पृथिव्यां स्थितौ-इन्द्राग्नी स्तूयेते तस्यामिन्द्रग्नी स्तूयमानौ स्तस्ताभ्यां सह पृथिवी खल्वपि स्तुता भवति स्तुत्यस्य स्थानमपि स्तुत्यं स्यादिति न्यायेन पृथिवी निपातभाग् देवता। उक्तं हि यास्केन 'पृथिवी व्याख्याता तस्य एष निपातो भवत्यैन्द्राग्न्यामृचि यदिन्द्राग्नी परमस्यां पृथिव्याम्' (निरु.अ.१२, पा.३, खं.३१) औपमिकी निपातदेवता 'अश्वं न त्वा वारवन्तं वन्दध्या अग्निं नमोभिः।' (ऋ.१.२७.१) अग्निर्देवता-उपमीयतेऽश्वेन 'अश्वं न' अश्व औपमिकी निपातदेवता, उक्तं हि यास्केन 'तद्यदन्यदैवते मन्त्रे निपतति नैघण्टुकं तत्-अश्वं न त्वा वारवन्तम्' (निरु.अ.१, पा.६, खं.२०) वारवत्त्वं वन्दनहेतुर्मतः। अन्यत्र 'अश्वः' देवताऽस्ति हि 'तेषामश्वः प्रथमागामी...तस्यैषा भवति-अश्वो वोढा सुखं रथम्' (निरु.९.१-२)॥"

यहाँ उल्लेखनीय यह भी है कि इन देवताओं में से हविर्भाक् देवता प्रायः

सूक्तभाक्, ऋग्भाक् अथवा निपातभाक् में से कोई अवश्य होते हैं, परन्तु ये तीनों प्रकार के देवता अवश्य ही हविर्भाक् भी हों, यह आवश्यक नहीं है। इसके उदाहरणरूप में आगे खण्ड १०.४२ में वेन, असुनीति, ऋत एवं इन्दु इन चार देवताओं के विषय में कहा है कि ये हविर्भाक् नहीं हैं।

अथोताभिधानैः संयुज्य हविश्चोदयति।
इन्द्राय वृत्रघ्ने। [ऋ.९.९८.१०]
इन्द्राय वृत्रतुरे, इन्द्रायाँहोमुचे। [मै.सं.३.१५.११] इति।

इसके अनन्तर लिखते हैं कि देवताओं के नामों को उनके विशेषणों के साथ संयुक्त करके हवि प्रदान की जाती है। यह याज्ञिक प्रक्रिया के सन्दर्भ में कथन है। आधिदैविक पक्ष में इसका तात्पर्य है कि जब किसी ऋचा में देवतावाची पद के साथ और वह भी हविर्भाक् देवतावाची पद के साथ यदि उसके विशेषण पद भी विद्यमान हों, तब विशेष्य व विशेषण दोनों के संयुक्त प्रभाव से पूर्वोक्त हवि संज्ञक पदार्थ देवतावाची पदार्थ के साथ संयुक्त होने के लिए और अधिक प्रेरित होते हैं अर्थात् उन हविर्भाक् देवताओं का प्रभाव अधिक बढ़ जाता है। इसके निम्न उदाहरण यहाँ प्रस्तुत किए गए हैं—

१. इन्द्राय वृत्रघ्ने — इस मन्त्र में 'वृत्रघ्न' पद इन्द्र का विशेषण है, जिसके कारण इन्द्र पद का वह गुण, जो वृत्र नामक असुर पदार्थ को नष्ट करने में सहायक होता है, अपेक्षाकृत अधिक प्रबल हो उठता है। इस कारण वह देव पदार्थ हवि पदार्थों को और अधिक आकर्षित करने में समर्थ होता है अर्थात् हवि पदार्थ देव पदार्थ से संयुक्त होने के लिए और अधिक तेजी से प्रेरित होने लगते हैं।

२. इन्द्राय वृत्रतुरे — यहाँ 'वृत्रतुर' इन्द्र का विशेषण है, जिसका अर्थ है— वृत्र रूपी पदार्थ को शीघ्रतापूर्वक नष्ट करने वाला। इस विशेषण के इन्द्र पद के साथ प्रयोग से इन्द्रतत्त्व की वृत्र रूप पदार्थ को नष्ट करने की क्षमता में वृद्धि होती है, जिसके कारण हविरूप पदार्थ पूर्वोक्तानुसार अधिक गति से प्रेरित होने लगते हैं।

३. इन्द्रायाँहोमुचे — यहाँ इन्द्रतत्त्व का एक विशेषण पापमोचक बताया है। इस कारण इस विशेषण के संयोग से इन्द्रतत्त्व सृजन कर्मों में पतनकारी पदार्थों से संयोज्य पदार्थों को मुक्त

करने में अधिक समर्थ होता है। इससे हविरूप पदार्थ और अधिक प्रेरित होते हैं। यहाँ ग्रन्थकार का कथन यही है।

तान्यप्येके समामनन्ति। भूयाँसि तु समाम्नानात्।
यत्तु संविज्ञानभूतं स्यात्प्राधान्यस्तुति तत्समामने।

कुछ निरुक्तकार अर्थात् निरुक्त के वे आचार्य, जो महर्षि यास्क किंवा उनके इस ग्रन्थ से पूर्व निरुक्तों की रचना कर चुके थे अथवा इस पद्धति को चला रहे थे, उनको भी अर्थात् इन 'वृत्रघ्न', 'वृत्रतुर' आदि विशेषणों को भी देवतापदों के समाम्नाय में पृथक्-२ पढ़ते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि यास्कीय निघण्टु समाम्नाय से पूर्व अनेक आचार्यों में से कुछ आचार्य क्रमशः 'इन्द्रः' एवं 'वृत्रघ्नः' इन विशेष्य व विशेषण पदों को अपने निघण्टु में पृथक्-२ दो पदों के रूप में पढ़ते रहे हैं। इसी प्रकार 'वृत्रतुरः' आदि पदों को भी 'इन्द्रः' पद से पृथक् पढ़ते रहे हैं।

इस विषय में ग्रन्थकार आपत्ति व्यक्त करते हुए लिखते हैं कि ऐसा करने से तो देवता बहुत अधिक संख्या में हो जायेंगे, यहाँ तक कि उनके समाम्नाय से भी बहुत अधिक। उदाहरण के लिए 'इन्द्रः' पद के सभी विशेषण यदि इन्द्र के अतिरिक्त उससे पृथक् पढ़े जायें, तो इन्द्र के स्थान पर अनेक देवता हो जायेंगे।

यहाँ ग्रन्थकार देवता विषय में अपना मत प्रस्तुत करते हुए लिखते हैं कि जो पद सम्पूर्ण विज्ञान का बोध कराने में सक्षम हो अर्थात् संज्ञावाची किंवा विशेष्य रूप शब्द हो और जिसकी प्रधानता से स्तुति की गई हो, ऐसे पदों को मैं (ग्रन्थकार महर्षि यास्क) देवता मानता हूँ। इस कारण इस प्रकार के पदों को ही देवतावाची पदों में गिना है, विशेषणरूप पदों को नहीं।

अथोत कर्मभिर्ऋषिर्देवता स्तौति।
वृत्रहा पुरन्दरः। इति।
तान्यप्येके समामनन्ति। भूयाँसि तु समाम्नानात्।
व्यञ्जनमात्रं तु तत्तस्याभिधानस्य भवति।
यथा ब्राह्मणाय बुभुक्षितायौदनं देहि स्नातायानुलेपनम्।

पिपासते पानीयम्। इति॥ १३॥

तदनन्तर लिखते हैं कि वैदिक ऋषिरूप रश्मियाँ कर्मवाची शब्दों के द्वारा देवतावाची पदार्थों की स्तुति करती हैं अर्थात् उनको उत्पन्न व प्रकाशित करती हैं, जैसे इन्द्र पद के स्थान पर 'वृत्रहा' एवं 'पुरन्दरः' की उत्पत्ति होती है। यहाँ 'वृत्रहा' पद वृत्र का हनन करने रूप इन्द्र के कर्म को दर्शाता है और 'पुरन्दरः' पद का अर्थ है— असुरादि बाधक पदार्थों के ठिकानों को विदीर्ण करके नष्ट करने वाला। इस प्रकार ये दोनों पद इन्द्रतत्त्व के कर्मों को ही दर्शा रहे हैं। यहाँ कुछ नैरुक्त ऐसे कर्मवाची नामों को देवता के रूप में गिनते हैं, जैसे 'वृत्रहा' एवं 'पुरन्दरः' आदि पदों को इन्द्र के साथ गिन लिया जाए। इस पर ग्रन्थकार आपत्ति करते हुए लिखते हैं कि ऐसा करने से भी देवताओं की संख्या बहुत अधिक हो जाएगी, यहाँ तक कि उनके समाम्नाय से भी बहुत अधिक। इन सब मतों का खण्डन करने के पश्चात् ग्रन्थकार अपना मत प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि वृत्रहा एवं पुरन्दर आदि पद तो इन्द्रतत्त्व के कर्मों को दर्शाने वाले ही होते हैं अर्थात् ये पद तो इन्द्र पद के विशेषण मात्र ही होते हैं और विशेषणवाची पदों को विशेष्यवाची पदों के साथ पढ़ना क्यों उचित नहीं है, यह हम ऊपर दर्शा चुके हैं।

यहाँ ग्रन्थकार कहते हैं कि वृत्रहा एवं पुरन्दर ये दोनों पद इन्द्र के लिए उसी प्रकार हैं, जैसे कोई कहे कि भूखे ब्राह्मण को भात दो, स्नान किए हुए व्यक्ति के लिए चन्दन आदि का अनुलेपन तथा प्यासे के लिए पानी दो। यहाँ भूखा, स्नान किया हुआ और प्यासा ये सभी विशेषण हैं और विशेष्य ब्राह्मण है। इन सभी विशेषणों को ब्राह्मण के साथ नहीं गिना जा सकता, क्योंकि ऐसे विशेषण तो और भी बहुत हो जाएँगे।

इस अध्याय के अब तक व्याख्यात किए गए ये १३ खण्ड वस्तुतः दैवत काण्ड की भूमिका के रूप में ही लिखे गए हैं, जिन्हें समझे बिना दैवत काण्ड को समझना दुष्कर है। इसलिए पाठक इन खण्डों के विज्ञान को अपने मस्तिष्क अच्छी तरह बिठा लेवें।

* * * * *

= चतुर्दशः खण्डः =

अथातोऽनुक्रमिष्यामः। अग्निः पृथिवीस्थानस्तं प्रथमं व्याख्यास्यामः। अग्निः कस्मादग्रणीर्भवति। अग्रं यज्ञेषु प्रणीयते। अङ्गं नयति सन्नममानः। अक्नोपनो भवतीति स्थौलाष्ठीविः। न क्नोपयति। न स्नेहयति। त्रिभ्य आख्यातेभ्यो जायत इति शाकपूणिः। इतात्। अक्ताद् दग्धाद्वा। नीतात्। स खल्वेतेरकारमादत्ते। गकारमनक्तेर्वा दहतेर्वा। नीः परः। तस्यैषा भवति॥ १४॥

अब हम देवतावाची पदों की क्रमबद्ध व्याख्या प्रारम्भ करेंगे अर्थात् इनकी व्याख्या यहाँ से प्रारम्भ की जा रही है। हम पूर्व में खण्ड ७.५ में यह लिख चुके हैं कि अग्नि देवता पृथिवीस्थानी है, ऐसा ही यहाँ कहा गया है। इसी कारण इस देवता की सबसे पहले व्याख्या की जा रही है।

यहाँ अग्नि व पृथिवी का आधिदैविक पक्ष में क्या अर्थ है, इसकी हम पूर्व में व्याख्या कर चुके हैं। अब यहाँ अग्नितत्त्व के गुणों की चर्चा करते हुए लिखते हैं कि अग्नितत्त्व को अग्नि इस कारण कहते हैं, क्योंकि सृष्टि प्रक्रिया में यही पदार्थ सबसे अग्रणी होता है। 'अग्रणी' पद में 'णीञ् प्रापणे' धातु का प्रयोग है, जिसके कई अर्थ हैं, जिनमें से कुछ मुख्य अर्थ इस प्रकार हैं— पहुँचना, प्राप्त होना, मार्ग दिखाना, मिलना, ले जाना, शासन करना, संचालित करना आदि। यहाँ 'अग्रणी' पद में ये सभी अर्थ घट सकते हैं। इससे अग्नितत्त्व के निम्नलिखित गुण केवल अग्रणी पद से प्रकाशित हो सकते हैं—

१. अग्नितत्त्व विभिन्न पदार्थों को उनके गन्तव्य तक पहुँचाने में सर्वप्रथम सहायक होता है।
२. यह किसी भी पदार्थ में सर्वप्रथम व्याप्त रहने वाला होता है।
३. यह विभिन्न पदार्थों के गमन के समय गति की दिशा को निर्धारित करने में सहायक होता है।
४. यह पदार्थ अन्य पदार्थों से सर्वप्रथम संयुक्त होने वाला होता है।
५. यह पदार्थ अन्य पदार्थों को उठाकर दूर तक ले जाने वालों में भी अग्रणी होता है।

६. सृष्टि के विभिन्न पदार्थों को नियन्त्रित एवं संचालित करने में इसकी सर्वप्रमुख भूमिका होती है।

ये इतने गुण अग्नि पद के प्रथम निर्वचन से सिद्ध होते हैं।

अब हम अगले निर्वचन पर विचार करते हैं— 'अग्रं यज्ञेषु प्रणीयते'। इसका अर्थ यह है कि किसी भी यज्ञ प्रक्रिया में सर्वप्रथम यही लाया जाता है अर्थात् इसी की सर्वप्रथम आवश्यकता होती है। अब हम यज्ञ के विषय में कुछ ऋषियों का मत प्रस्तुत करते हैं—संवत्सरो यज्ञः (श.ब्रा.११.२.७.१), यज्ञो वै भुवनम् (तै.ब्रा.३.३.७.५), स यः स यज्ञोऽसौ स आदित्यः (श.ब्रा.१४.१.१.६), स्वर्गो वै लोको यज्ञः (कौ.ब्रा.१४.१), यज्ञो वा आपः (कौ.ब्रा.१२.१, श.ब्रा.१.१.१.१२, तै.ब्रा.३.२.४.१)। इन सब प्रमाणों से यह स्पष्ट होता है कि इस सृष्टि में विभिन्न प्रकार की तन्मात्राओं अर्थात् सूक्ष्म कणों से लेकर विभिन्न अप्रकाशित लोक, सूर्यादि तेजस्वी लोक एवं विशाल कॉस्मिक मेघ आदि के सृजन की प्रक्रिया तथा इस सृष्टि में होने वाली प्रत्येक यजन प्रक्रिया के लिए सर्वप्रथम अग्नितत्त्व की आवश्यकता होती है। यहाँ अग्नितत्त्व से भिन्न-भिन्न स्तर पर भिन्न-भिन्न पदार्थों का ग्रहण करना चाहिए। ये पदार्थ प्राणतत्त्व, ऊष्मा, विद्युत्, प्रकाशाणु अथवा मूलकण कुछ भी हो सकते हैं। यहाँ आप स्वयं ही सृष्टि की विभिन्न सृजन प्रक्रियाओं को देखकर इस तथ्य की पुष्टि कर सकते हैं।

अब हम यज्ञ शब्द के उस अर्थ, जो व्याकरण के आधार पर सिद्ध होता है, को दृष्टिगत रखते हुए भी 'अग्निः' पद पर विचार करते हैं। यज्ञ शब्द देवपूजा, संगतिकरण और दान अर्थ वाली यज धातु से व्युत्पन्न होता है, जिससे यह अर्थ निकलता है कि विभिन्न देव पदार्थों के सृष्टि प्रक्रिया में उपयोग में आने, उनके परस्पर संयुक्त वा वियुक्त होने एवं उनके विसर्जन व उत्सर्जन आदि क्रियाओं में अग्नितत्त्व ही प्रधानतापूर्वक सर्वप्रथम आवश्यक होता है।

अब 'अग्निः' पद के तीसरे निर्वचन पर विचार करते हैं। वह निर्वचन इस प्रकार है— 'अङ्गं नयति सन्नममानः'। यहाँ 'अङ्गम्' पद से दो अर्थों का ग्रहण हो सकता है, जिनमें प्रथम अर्थ है— स्वयं का शरीर अथवा उसका कोई भाग। इसका दूसरा अर्थ 'अङ्गेति क्षिप्रनाम' से प्रकट होता है। इन दोनों अर्थों से अग्नितत्त्व का गुण निम्नानुसार प्रकट होता है—

यह तत्त्व विभिन्न पदार्थों को शीघ्रतापूर्वक अपनी ओर झुकाता हुआ अपने साथ ले जाता है और उन पदार्थों को अपने जैसे गुणों से युक्त कर देता है। उदाहरणस्वरूप विद्युत् व ऊष्मा जिस पदार्थ के सम्पर्क में आते हैं, उनमें क्रमशः ऊष्मा अथवा विद्युत् आवेश उत्पन्न कर देते हैं।

अग्नि के विषय में अब तक दर्शाए गए गुण ग्रन्थकार द्वारा दिए गए निर्वचनों से प्रकट होते हैं। अब ग्रन्थकार एक अन्य ऋषि 'स्थौलाष्ठीविः' के मत को उद्धृत करते हुए लिखते हैं— 'अक्नोपनो भवतीति स्थौलाष्ठीविः न क्नोपयति न स्नेहयति' अर्थात् महर्षि स्थौलाष्ठीवि का कथन है कि अग्नितत्त्व किसी पदार्थ को सुखाने वाला होता है अर्थात् अग्नि विभिन्न पदार्थों में से जलीय अंश को वाष्प बनाकर उड़ाने वाला होता है। यहाँ 'स्नेह' का अर्थ गीलापन के अतिरिक्त पारस्परिक आकर्षण बल भी हो सकता है, जिससे सिद्ध होता है कि जलवाष्प बनाने के साथ-साथ विभिन्न संयुक्त पदार्थों को वियुक्त करना भी अग्नि का ही धर्म है।

अब ग्रन्थकार एक अन्य महर्षि शाकपूणि के मत के अनुसार अग्नितत्त्व का निर्वचन करते हुए लिखते हैं— 'त्रिभ्य आख्यातेभ्यो जायत इति शाकपूणिः इतात् अक्ताद् दग्धाद्वा नीतात् स खल्वेतेरकारमादत्ते गकारमनक्तेर्वा दहतेर्वा नीः परः'। यहाँ महर्षि शाकपूणि कहते हैं कि अग्नि पद की व्युत्पत्ति तीन धातुओं से होती है। इस विषय में स्वामी ब्रह्ममुनि परिव्राजक का भाष्य इस प्रकार है—

''शाकपूणिमन्यते त्रिभ्य आख्यातेभ्यो धातुभ्यः-इतात्, अक्ताद् यद्वा दग्धात्, नीतात् खलु भवति 'अग्निः' शब्दः। एतेः-इण् धातोरकारमादत्ते 'अ'। अनक्तेः-अञ्ज धातोर्जकारस्य गकारं यद्वा दह्धातोर्हकारस्य-धग्-इत्यस्य गकारं गृहीत्वा नीः परो नयतेः। इः प्रत्ययो डित्, अग्निः। अग्निर्गतिशीलश्चलः स्वयं व्यक्तोऽन्यस्य व्यञ्जकः, दहनशीलः, नेताऽन्यस्य नायकश्चास्ति।''

इस व्युत्पत्ति से भी अग्नितत्त्व के अनेक गुणों का प्रकाश होता है। ऋषि दयानन्द सरस्वती ने अग्नितत्त्व को ८ गुणों से युक्त बताया है, वे गुण इस प्रकार हैं— रूप, दाह, वेग, धारण, प्रकाश, छेदन, आकर्षण आदि। (देखें- म.द.ऋ.भा.१.१.१) यहाँ 'आदि' शब्द से हम प्रतिकर्षण गुण का ग्रहण करते हैं। ये सभी गुण अग्नि पद के विभिन्न निवर्चनों के द्वारा भी सिद्ध किए जा सकते हैं।

अब अग्नि पद की ऋचा को अगले खण्ड में प्रस्तुत करते हैं।

* * * * *

= पञ्चदशः खण्डः =

अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम्।
होतारं रत्नधातमम्॥ [ऋ.१.१.१]
अग्निमीळेऽग्निं याचामि। ईळिरध्येषणाकर्मा। पूजाकर्मा वा।
पुरोहितो व्याख्यातो यज्ञश्च। देवो दानाद्वा। दीपनाद्वा। द्योतनाद्वा।
द्युस्थानो भवतीति वा। यो देवः सा देवता। होतारं ह्वातारम्।
जुहोतेर्होतेत्यौर्णवाभः। रत्नधातमं रमणीयानां धनानां दातृतमम्।
तस्यैषापरा भवति॥ १५॥

यह मन्त्र ऋग्वेद का प्रथम मन्त्र तो है ही, इसे चारों वेदों का प्रथम मन्त्र भी माना जाता है। यहाँ प्रश्न यह उठ सकता है कि इस मन्त्र में ऐसी कौन सी विशेषता है, जिसके कारण इसे प्रथम मन्त्र माना जाता है? इस विषय पर हमने कुछ समय पूर्व एक पुस्तक 'ईश्वर का प्रथम उपदेश यही क्यों' भी लिखी थी। इस पुस्तक से उपर्युक्त प्रश्न के उत्तर के साथ अथवा उसकी पुष्टि हेतु आधिदैविक एवं आधिभौतिक भाष्य भी किए थे। पाठकों के लाभ के लिए हम उसको यहाँ उद्धृत कर रहे हैं—

"अब आइए, मन्त्र पर विचार करते हैं—

इस मन्त्र का ऋषि मधुच्छन्दा है। [मधु = वधकर्मा (निघं.२.१९), प्राणो वै मधु (श.ब्रा.१४.१.३.३०), मधु धमतेर्विपरीतस्य (निरु.१०.३१), गतिकर्मा (निघं.२.१४), धमति अर्चतिकर्मा (निघं.३.१४)] इसका अर्थ यह है कि यह छन्द रश्मि ऐसी प्राण रश्मि विशेष, जो प्रकाशयुक्त होकर गमन करती तथा किसी भी बाधक पदार्थ को नष्ट करती है, जो प्राण नामक प्राण रश्मि से आच्छादित होती है, से उत्पन्न होती है। इसका देवता अग्नि तथा छन्द गायत्री है। इस कारण इसके दैवत व छान्दस प्रभाव से अग्नि तत्त्व तेजस्वी एवं

बलवान् होता है। यहाँ अग्नि तत्त्व से अनेक पदार्थों का बोध होता है, ऐसा जानना चाहिए, जिनके विषय में हम भाष्य में चर्चा करेंगे, क्योंकि मन्त्र में भी अग्नि पद विद्यमान है।

अब हम इस मन्त्र का दो प्रकार का भाष्य दर्शाते हैं, जिनमें सर्वप्रथम आधिदैविक भाष्य करेंगे, क्योंकि यह भाष्य किसी भी मन्त्ररूप छन्द रश्मि के इस सृष्टि में हो रहे उसके प्रभावों तथा सृष्टि के पदार्थों का स्पष्ट बोध कराता है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(यज्ञस्य) [यज्ञम् = क्रियाकाण्डजन्यं संसारम् (म.द.य.भा.२.२१), संगतः संसारः (म.द.ऋ.भा.१.१८.७)] 'यज्ञ' शब्द 'यज्ञ देवपूजासंगतिकरणदानेषु' धातु से व्युत्पन्न होता है अर्थात् जिसमें विभिन्न देव पदार्थों की पूजा अर्थात् उनका समुचित उपयोग, उनका पारस्परिक संगतिकरण एवं उनका ग्रहण व विसर्जन आदि कर्म होते हों, उसे यज्ञ कहते हैं। इस सृष्टि में सर्वत्र ऐसा ही हो रहा है। इस कारण यह सम्पूर्ण सृष्टि यज्ञरूप है, जैसा कि ऋषि दयानन्द के इन उद्धरणों से स्पष्ट है, उस ऐसे सृष्टि यज्ञ का मुख्य साधक पदार्थ यह वह प्रथम शब्द है, जो मानव के मस्तिष्क में सर्वप्रथम आया। इस पद के विषय में ऋषियों का कथन है—

(अग्निम्) [अग्निः = अग्निः कस्मादग्रणीर्भवति अग्रं यज्ञेषु प्रणीयते अङ्गं नयति सन्नममानः (निरु.७.१४), अग्निर्वै देवानां मुखं प्रजनयिता स प्रजापतिः (श.ब्रा.३.९.१.६), मन एवाग्निः (श.ब्रा.१०.१.२.३), अग्निरेव ब्रह्म (श.ब्रा.१०.४.१.५), वागेवाग्निः (श.ब्रा. ३.२.२.१३), आत्मैवाग्निः (श.ब्रा.६.७.१.२०) अग्निर्वै देवानां वसिष्ठः (ऐ.ब्रा.१.२८)] इन वचनों से यह स्पष्ट होता है कि यह वह पदार्थ है, जिसकी सृष्टि रचना में सर्वप्रथम आवश्यकता होती है। सृष्टि निर्माण के पृथक्-२ स्तरों पर 'अग्नि' पद के पृथक्-२ अर्थ होते हैं, क्योंकि पृथक्-२ स्तरों पर प्राथमिक उपादान पृथक्-२ होते हैं। इसलिए जब मूल उपादान कारण प्रकृति ही विद्यमान होती है, उस समय 'अग्नि' का अर्थ वाक् तत्त्व अर्थात् परा 'ओम्' रश्मि मानना चाहिए, क्योंकि यही रश्मि प्रकृति में प्राथमिक स्पन्दन उत्पन्न करती है।

द्वितीय चरण में 'अग्नि' का अर्थ मनस्तत्त्व (महत्) मानना चाहिए, क्योंकि यही सृष्टि का सर्वप्रथम पदार्थ है, जिसके बिना आगामी सृष्टि असम्भव है।

तीसरे चरण में 'अग्नि' पद का अर्थ आत्मा अर्थात् सूत्रात्मा वायु है, जो पदार्थ को संघनित करना प्रारम्भ करता है। 'अग्नि' पद का चौथा अर्थ है— 'प्राण', जिसके प्राणापान आदि दस भेद हैं। 'अग्नि' का पाँचवाँ अर्थ है— ब्रह्म तथा यहाँ 'ब्रह्म' का अर्थ है— बल, जैसा कि महर्षि तित्तिर ने कहा है— 'बलम् वै ब्रह्म' (तै.ब्रा.३.८.५.२)। बल वह गुण है, जिसकी सृष्टि रचना के लिए सर्वप्रथम आवश्यकता होती है। परा 'ओम्' रश्मि उत्पन्न होते ही बल गुण उत्पन्न हो जाता है।

ये सभी पदार्थ सभी देव पदार्थों को बसाने एवं उत्पन्न करने में सर्वश्रेष्ठ हैं, इसलिए अग्नि को देवों का वसिष्ठ कहा है। ये पदार्थ ही विभिन्न देव पदार्थों का मुख रूप भी हैं, क्योंकि सभी प्रकार के देव पदार्थ छन्द, कण, विकिरण, आकाश आदि इन्हीं पदार्थों से ऊर्जा प्राप्त करते हैं और ये ही सबको उत्पन्न, संचालित एवं संरक्षित करने वाले होते हैं। इन पदार्थों से स्थूल अग्नि के दो पदार्थ और भी हैं।

प्रथम अर्थात् पाँचवाँ अर्थ है— 'विद्युत्', जिसके उत्पन्न होने से सभी कण-विकिरण आदि उत्पन्न होना प्रारम्भ होते हैं। विद्युत् की उत्पत्ति के बिना इनकी उत्पत्ति सम्भव नहीं। यद्यपि हम बल को पाँचवाँ पदार्थ लिख चुके हैं, परन्तु बल द्रव्य न होकर गुण है, इस कारण उसे पृथक् मानकर विद्युत् को पाँचवाँ पदार्थ लिखा है।

द्वितीय अर्थात् छठा अर्थ है— 'ऊष्मा'। इसकी उत्पत्ति के बिना भी सृष्टि में कोई भी पदार्थ निर्मित नहीं हो सकता। यहाँ छन्द रश्मियों की चर्चा इस कारण नहीं की है, क्योंकि इनका ग्रहण वाक् तत्त्व से ही हो जाता है।

इस प्रकार इन छः पदार्थों रूपी अग्नि तत्त्व, जिसके विशेषणों की चर्चा इस मन्त्र में क्रमशः निम्नलिखित प्रकार से की गई है—

१. पुरोहितम् — [पुरोहितः = यः पुरस्तात् सर्वं जगद् दधाति, छेदन धारणाऽऽकर्षणादि-गुणाँश्चापि तम् (अग्निं = परमेश्वरं भौतिकं वा), पुरोहितः पुर एनं दधति (निरु.२.१२), प्रथमः पुरोहितमिति पुर एव वा एनमेतद् दधते यदग्निमादधते (जै.ब्रा.३.६३)] अर्थात् जिस पदार्थ को अन्य पदार्थ सम्मुख धारण करके नाना प्रकार के बल प्राप्त करते हैं, उन पदार्थों को पुरोहित कहते हैं। अग्नि नामक उपर्युक्त सभी पदार्थ पुरोहित कैसे कहलाते हैं, इस पर हम क्रमशः विचार करते हैं—

(क) वाक् तत्त्व — सृष्टि का सूक्ष्म से सूक्ष्म पदार्थ, चाहे वह रश्मि हो अथवा कोई तरंग आदि, वे जब अपने सम्मुख अथवा अपने साथ 'ओम्' रश्मि को धारण करते हैं, तभी वे सृष्टि के सूक्ष्मतम बल को प्राप्त करके अग्रिम यजन प्रक्रिया प्रारम्भ कर पाते हैं। स्थूल पदार्थ, जो स्वयं रश्मि आदि सूक्ष्म पदार्थों से मिलकर बने होते हैं, वे अपनी अवयवभूत सूक्ष्म रश्मियों के द्वारा सूक्ष्मतम 'ओम्' रश्मि को धारण करके ही विभिन्न प्रकार के बल प्राप्त कर पाते हैं, अन्यथा सृष्टि में कोई भी बल उत्पन्न ही नहीं हो सकता। ऋषि दयानन्द ने वेद भाष्य में 'पुरोहित' पद से आठ गुणों का ग्रहण किया है— रूप, दाह, प्रकाश, वेग, छेदन, धारण और आकर्षण आदि। यहाँ 'आदि' शब्द से प्रतिकर्षण गुण का ग्रहण करना चाहिए। इन आठों गुणों में से एक भी गुण तब तक प्रकट नहीं हो सकता, जब तक कि कोई पदार्थ 'ओम्' रश्मि से युक्त नहीं होता। ध्यान रहे कि प्रत्येक पदार्थ के अन्दर 'ओम्' रश्मि व्याप्त होती है, इसके उपरान्त भी जब तक वह पदार्थ अन्य किसी पदार्थ की 'ओम्' रश्मि को अपने साथ धारण करके नहीं मिलेगा, तब तक उनका मिलन सम्भव नहीं होगा अर्थात् तब तक कोई बल उत्पन्न नहीं होगा। इस कारण वाक् रूप अग्नि को यहाँ पुरोहित कहा गया है। अन्य छन्द रश्मियों के विषय में भी इसी प्रकार पुरोहित गुण का सम्बन्ध समझना चाहिए।

(ख) मन — इस सृष्टि में परा 'ओम्' रश्मि के अतिरिक्त सभी रश्मियाँ मनस्तत्त्व में ही उत्पन्न होती हैं। मनस्तत्त्व में रश्मियाँ उसी प्रकार उत्पन्न वा स्पन्दित होती हैं, जिस प्रकार जल में लहरें उत्पन्न होती हैं। इस कारण वाक् रश्मियों के सभी कार्य मनस्तत्त्व के ही कार्य होते हैं। इसलिए महर्षि जैमिनी को कहना पड़ा— 'वागिति मनः' (जै.उ.४.२२.११) और महर्षि ऐतरेय महीदास ने कहा— 'वाक् च वै मनश्च देवानां मिथुनम्' (ऐ.ब्रा.५.२३)। इस प्रकार वाक् तत्त्व मनस्तत्त्व के बिना उत्पन्न ही नहीं हो सकता, इसलिए मनस्तत्त्व रूप अग्नि को भी पुरोहित रूप कहा गया है।

(ग) आत्मा (सूत्रात्मा वायु) — इस सृष्टि में जहाँ कहीं भी दो रश्मियों का संयोग होता है, वहाँ 'ओम्' रश्मि के पश्चात् यदि किसी रश्मि की सबसे प्रमुख एवं प्राथमिक भूमिका होती है, तो वह सूत्रात्मा वायु रश्मि ही है। इसके बिना बल की कल्पना सम्भव ही नहीं है। जब कोई कण, तरंग वा रश्मि किसी अन्य कण, तरंग वा रश्मि से संयोग करते हैं, तो उनके अन्दर विद्यमान सूत्रात्मा वायु सम्मुख उपस्थित पदार्थ के बाहर विद्यमान सूत्रात्मा

वायु रश्मियों से ही संयुक्त होती है। 'पुरोहित' शब्द से अग्नि के जिन आठ गुणों को दर्शाया गया है, उनमें से कोई भी गुण सूत्रात्मा वायु के बिना कभी प्रकट नहीं हो सकता। इसलिए सूत्रात्मा वायु रूप अग्नि भी पुरोहित कहलाता है।

(घ) प्राण — दो पदार्थों के संयोग और वियोग की प्रक्रिया में सूत्रात्मा वायु के पश्चात् जिस पदार्थ का स्थान है, वह है— प्राण तत्त्व अर्थात् प्राण, अपान, व्यान, समान, उदान, नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त एवं धनञ्जय की ही भूमिका होती है। पूर्वोक्त आठ गुणों में से प्रत्येक गुण की उत्पत्ति में किसी न किसी प्राण रश्मि का होना अनिवार्य है। ये रश्मियाँ भी विभिन्न पदार्थों की यजन क्रियाओं में सदैव उन पदार्थों के सम्मुख प्रकट होकर उन क्रियाओं को सम्पादित करती हैं।

(ङ) विद्युत् — इस सृष्टि में प्रत्येक यजन क्रिया को सम्पन्न करने में विद्युत् की अनिवार्य भूमिका होती है। वह विद्युत् धनावेश, ऋणावेश अथवा उदासीन किसी भी रूप में हो सकती है। वैदिक विज्ञान में 'विद्युत्' शब्द का अर्थ बहुत व्यापक है, जो आधुनिक विज्ञान में नहीं है। गुरुत्वाकर्षण बल भी विद्युत् का ही एक रूप है। इस प्रकार सभी पदार्थ विद्युत् के किसी न किसी रूप को अवश्य धारण किए रहते हैं। पूर्वोक्त आठ गुणों की उत्पत्ति भी विद्युत् के बिना सम्भव नहीं है। इस कारण यह भी पुरोहित रूप है।

(च) ऊष्मा — सभी पदार्थों की सभी प्रकार की क्रियाएँ ऊष्मा की विद्यमानता में ही होती हैं, भले ही वह ऊष्मा की मात्रा कितनी ही कम क्यों न हो। अनन्त शीतल प्रकृति में कोई भी क्रिया अथवा बल का होना सम्भव नहीं है और इनके बिना पूर्वोक्त आठ गुणों का प्रकट होना भी सम्भव नहीं हैं। इस कारण ऊष्मा को भी पुरोहित कहा गया है।

२. देवम् — [देवम् = देवो दानाद्वा दीपनाद्वा द्योतनाद्वा द्युस्थानो भवतीति वा यो देवः सा देवता (निरु.७.१५)] अर्थात् जो पदार्थ बल आदि का देने वाला, स्वयं प्रकाशित एवं दूसरों को प्रकाशित करने वाला तथा द्युस्थानी होता है, उसे देव कहते हैं। यहाँ 'द्यु' के अर्थ [द्यौः = वागिति द्यौः (जै.उ.४.२२.११), द्यौरेवात्मा (श.ब्रा.९.३.३.१५), आपो वै द्यौः (श.ब्रा. ६.४.१.९), ऐन्द्री द्यौः (तां.ब्रा.१५.४.८), प्राणो वै दिवः (श.ब्रा.६.७.४.३)] प्रकरण के अनुसार पृथक्-२ होते हैं। जो अग्निवाची सभी छः पदार्थों के साथ घट सकते हैं। जैसे 'ओम्' रश्मि परमात्मा में विद्यमान है। मनस्तत्त्व 'ओम्' रश्मि एवं परमात्मा में विद्यमान है। प्राण रश्मियाँ भी सूत्रात्मा वायु में विद्यमान हैं। सूत्रात्मा वायु रश्मि वाक्

अर्थात् 'ओम्' रश्मि में विद्यमान है, विद्युत् प्राण रश्मियों में विद्यमान है तथा ऊष्मा विद्युत् में विद्यमान है। इस कारण देवरूपी अग्नि को द्युस्थानी कहा है अर्थात् जो अग्नि पहले पृथिवीस्थानी था, वह धीरे-२ द्युस्थानी होने लगता है। इसका तात्पर्य यह है कि प्रारम्भ में सूक्ष्म कणों में ऊष्मा, प्रकाश एवं विद्युत् उत्पन्न होता है और वे सभी कण पृथक्-पृथक् होते हैं। इसके पश्चात् सृष्टि प्रक्रिया आगे बढ़ते हुए एक स्थिति ऐसी उत्पन्न होती है, जब एक विशाल क्षेत्र में प्रकाश, ऊष्मा और विद्युत् आदि की बहुलता से आदित्य लोकों का निर्माण होने लगता है और वे आदित्य लोक विशाल द्युलोक में स्थित होते हैं। इसलिए यहाँ देव रूप अग्नि को द्युस्थानीय कहा गया है। द्युलोक के विषय में हम पूर्व में भी चर्चा कर चुके हैं। हमने पूर्व में पृथिवी का अर्थ ऋक् छन्द रश्मियों का समूह तथा द्यौ का अर्थ साम रश्मियाँ भी किया है। इससे स्पष्ट है कि पहले अग्नि का प्रार्दुभाव ऋक् रश्मियों में और उसका चरम रूप साम रश्मियों में होता है। इस कारण ही यहाँ देवरूप अग्नि को द्युस्थानी कहा है। यहाँ अग्नि को देव कहा है, वही देवता भी कहलाता है।

३. ऋत्विजम् — [ऋत्विक् = ऋत्विक् कस्मात् ईरणः ऋग्यष्टा भवतीति शाकपूणिः ऋतुयाजी भवतीति वा।] पूर्वोक्त अग्निवाची सभी छः पदार्थ ऋत्विक् इस कारण कहलाते हैं, क्योंकि ये अग्रिम चरण के पदार्थों को प्रेरित करने वाले होते हैं। इसके साथ ही ये सभी पदार्थ सूक्ष्म से लेकर बड़ी छन्द रश्मियों का यजन करने वाले होते हैं। इस यजन से सभी पदार्थ क्रमशः उत्पन्न होते हैं। ये सभी पदार्थ यथासमय प्रकट होकर यजन प्रक्रियाओं को सम्पादित करते हैं। इस कारण सभी पदार्थ ऋत्विक् कहलाते हैं।

४. होतारम् — [होता = होतारं ह्वातारम् (निरु.७.१५), मनो होता (तै.ब्रा.२.१.५.९), आत्मा वै यज्ञस्य होता (कौ.ब्रा.९.६), प्राणो वै होता (ऐ.ब्रा.६.८), वाग्वै होता (कौ.ब्रा.१३.९, १७.७), क्षत्रं वै होता (ऐ.ब्रा.६.२१)] पूर्वोक्त अग्निवाची सभी पदार्थ होतारूप भी होते हैं, क्योंकि ये सभी पदार्थ अन्य पदार्थों को अपनी ओर आकृष्ट करते हैं। 'ओम्' रश्मि, मनस्तत्त्व, सूत्रात्मा वायु एवं प्राण रश्मियाँ सभी आकर्षण गुण से युक्त होते हैं। विद्युत् एवं ऊष्मा भी आकर्षण अथवा भेदन अथवा दोनों गुणों से युक्त होने के कारण क्षत्ररूप कहलाते हैं। इसी कारण वे होतारूप भी होते हैं।

५. रत्नधातमम् — [रत्नम् = रमयति हर्षयतीति रत्नम् (उ.को.३.१४), रत्नम् धननाम (निघं.२.१०)] अग्निवाची पूर्वोक्त सभी पदार्थ रत्नधा भी कहलाते हैं, क्योंकि ये सभी

पदार्थ स्वयं से सूक्ष्म अन्य पदार्थों को धारण करने में श्रेष्ठ होते हैं। हम यहाँ क्रमशः इस बात को स्पष्ट करते हैं—

(क) 'ओम्' रश्मि — यह रश्मि सभी पदार्थों को उत्पन्न व तृप्त करने वाली तथा मूल उपादान पदार्थ प्रकृति को धारण करने वाली होने से रत्नधातम कही जाती है। इससे अधिक निकटता से प्रकृति को धारण करने वाला अन्य कोई भी पदार्थ इस सृष्टि में नहीं है।

(ख) मनस्तत्त्व — 'ओम्' रश्मियाँ जो सबकी तृप्तिकारिणी हैं, उनको धारण करने वालों में यह श्रेष्ठतम है।

(ग) सूत्रात्मा वायु — यह रश्मि सबकी तृप्तिकारिणी 'ओम्' रश्मि एवं मनस्तत्त्व को धारण करने वालों में श्रेष्ठतम है।

(घ) प्राण — पूर्वोक्त तीनों पदार्थ, जो आगामी पदार्थों को तृप्त करते हैं, उन्हें धारण करने वालों में प्राण श्रेष्ठतम है।

(ङ) विद्युत् — पूर्वोक्त सभी पदार्थ, जो अपने से स्थूल पदार्थों को तृप्त करने वाले हैं, उन सबको धारण करने वालों में विद्युत् श्रेष्ठतम है।

(च) ऊष्मा — ऊष्मा से युक्त पदार्थ इन पाँचों पदार्थों को धारण करने वालों में श्रेष्ठतम है।

ध्यातव्य है कि यहाँ जिन पदार्थों को तृप्तिकारी कहा है, वे सभी पदार्थ उन पदार्थों को क्रियाशील भी करने वाले होते हैं। इस कारण वे 'रत्न' कहलाते हैं। उन रत्नरूपी पदार्थों को धारण करने वाले पदार्थ रत्नधा कहलाते हैं और अनेक रत्नधा पदार्थों में से जो श्रेष्ठ होता है, वह रत्नधातम कहलाता है।

(ईळे) 'स्तुवे याचे अधीच्छामि प्रेरयानि वा' अर्थात् मैं इस उपर्युक्त अग्नि, जो उपर्युक्त विशेषणों से विभूषित होता है, को प्रकाशित करता हूँ, उनको आकर्षित करने की बार-२ इच्छा करता हूँ। यहाँ करने वाला कर्त्ता इस मन्त्र का ऋषि मधुच्छन्दा है, जिसकी व्याख्या हम प्रारम्भ में ही कर चुके हैं अर्थात् ये मधुच्छन्दा रश्मियाँ अग्नि के छः रूपों में से किसी को प्रकाशित करती हैं, किसी को आकर्षित करती हैं और किसी को प्रेरित भी करती हैं।

इन ऋषि रश्मियों से उत्पन्न विभिन्न छन्द रश्मियाँ भी इन सब कार्यों में पूर्ण सहयोग करती हैं।

भावार्थ— सम्पूर्ण सृष्टि विभिन्न सूक्ष्म तत्त्वों के मेल से बनी है, इस कारण यह यज्ञरूप ही है। इस यज्ञ का मुख्य घटक अग्नि तत्त्व विभिन्न स्तरों पर भिन्न-२ तत्त्वों का परिचायक है। ये पदार्थ क्रमशः इस प्रकार माने जा सकते हैं— 'ओम्' रश्मि, मनस्तत्त्व, सूत्रात्मा वायु, प्राण तत्त्व, विद्युत् एवं ऊष्मा। ये सभी तत्त्व प्रत्येक पदार्थ को अपने सम्मुख धारण करके उसमें नाना प्रकार के आवश्यक बलों को उत्पन्न करते हैं। रूप, दाह, प्रकाश, वेग, छेदन आदि गुणों के लिए भी ये ही तत्त्व अपने-अपने स्तरों पर प्रथम उत्तरदायी होते हैं। ये ही पदार्थ स्वयं की अपेक्षा सूक्ष्म पदार्थ में स्थित होकर अपने गुणों और कर्मों को प्रकट करते हैं। सृष्टि की विभिन्न क्रियाओं में जब-जब जिस-जिस पदार्थ की आवश्यकता होती है, ये प्रकट होते रहते हैं। ये ही पदार्थ अपने से सूक्ष्म पदार्थों को सदैव अपने अन्दर धारण किए रहते हैं। इस छन्द रश्मि को उत्पन्न करने वाली ऋषिरूप रश्मियाँ ऐसे सभी पदार्थों में से कुछ को आकर्षित करती हैं, तो कुछ को प्रेरित करती रहती हैं। सम्पूर्ण सृष्टि इन छः मुख्य पदार्थों के द्वारा खेला जा रहा ईश्वर का खेल है।

इस मन्त्र में सृष्टि निर्माण के मुख्य घटकों, उनके प्रेरकों आदि का संक्षेप में वर्णन है। मनुष्य की प्रथम पीढ़ी ने जब इस पृथ्वी पर जन्म लिया अथवा ब्रह्माण्ड में कहीं भी जन्म लिया, तब उस समय मनुष्य ने कुतूहलपूर्वक इस सृष्टि को देखा, तब उसे इसके बारे में कुछ भी ज्ञान नहीं था और उसे कोई बताने वाला अर्थात् उससे बुद्धिमान् दूसरा प्राणी भी नहीं था। उस समय अग्नि ऋषि ने ब्रह्माण्ड से जिन छन्द रश्मियों को समाधि अवस्था में ग्रहण किया, उन रश्मियों में यह प्रथम रश्मि थी, जो सृष्टि का सार बतलाने के लिये अनिवार्य थी और इन शब्दों का ज्ञान अग्नि ऋषि को ईश्वर द्वारा हुआ, ऐसा हम लिख चुके हैं। मनुष्य सृष्टि में कैसे रहे, सृष्टि के पदार्थों का कैसे उपयोग करे और सृष्टि को जानकर के ईश्वर को कैसे जाने व प्राप्त करे, इन सबके लिये सृष्टि का ज्ञान अनिवार्य है।

अब हम इसका आधिभौतिक अर्थ प्रस्तुत करते हैं—

(यज्ञस्य) [यज्ञम् = अनेकविधव्यवहारम् (म.द.य.भा.२९.३६), विद्याप्रज्ञावर्धकम् (म.द. ऋ.भा.४.३४.१)] इस सृष्टि के सम्पूर्ण विज्ञान को जानने व प्रज्ञा को बढ़ाने वाले एवं सभी प्रकार के लौकिक व्यवहारों के जानने वाले (अग्निम्) [अग्निः = अग्निरेव ब्रह्म

(श.ब्रा. १०.४.१.५), विश्वोपकारक (म.द.ऋ.भा.१.७६.२)] वेद अर्थात् सम्पूर्ण सृष्टि के विज्ञान व ब्रह्म को जानने वाले, सम्पूर्ण प्राणिजगत् का हित चाहने वाले महाविद्वान्, (पुरोहितम्) जो अपने सम्मुख आये किसी भी मनुष्य वा प्राणी का सदैव हित सम्पादन करने में प्रवृत्त रहने वाला है। (देवम्) [देवः = दिव्यगुणसम्पन्नो विद्वान् (म.द.ऋ.भा. १.६८.१), यो वै देवानां पथैति स ऋतस्य पथैति (श.ब्रा.४.३.४.१६)] जो दिव्यगुणसम्पन्न तथा सदैव ईश्वराज्ञा के अनुकूल मार्ग पर चलने वाला विद्वान् है। (ऋत्विजम्) जो सदैव सबके साथ संगति एवं सृष्टि के प्रत्येक पदार्थ का सर्वहित में उपयोग करने की भावना रखने वाला हो। (होतारम्) जो देने योग्य पदार्थों व उनके यथार्थ विज्ञान का दाता व लेने योग्य पदार्थों का गृहीता अर्थात् सभी लोकोपकारक व्यवहारों का ज्ञाता व उन पर सदैव आचरणशील हो, (रत्नधातमम्) जो तीनों प्रकार के सुखों को प्रदान करने वाले पदार्थों को धारण करने वालों में सर्वश्रेष्ठ हो, उस ऐसे महान् पुरुष की (ईडे) खोज करो, उसे खोजने व जानने की इच्छा करो और ऐसा पुरुष प्राप्त होने पर उससे सम्पूर्ण सृष्टि व लोकव्यवहारों को सीखने की याचना करो व सीखो। यहाँ पुरुष-व्यत्यय से मध्यम पुरुष के स्थान पर उत्तम पुरुष का प्रयोग है।

भावार्थ— इस सृष्टि के सम्पूर्ण विज्ञान और उसका उपयोग करने तथा सांसारिक व्यवहारों को विशुद्ध रूप से जानने वाले, सम्पूर्ण प्राणिजगत् का हित चाहने वाले, दिव्यगुणसम्पन्न और सदैव ईश्वर की आज्ञा के अनुसार आचरण करने वाले, सभी प्रकार के सुखप्रदाता त्यागी-तपस्वी गुरु को पुरुषार्थपूर्वक खोजकर लौकिक एवं पारलौकिक ज्ञान लेने का पूर्ण प्रयत्न करना चाहिए। इससे ही सभी मनुष्य परस्पर एक-दूसरे का सुख बढ़ाते हुए आनन्द से रह सकते हैं। इसी प्रकार सब मनुष्यों को इन्हीं सब सद्गुणों से युक्त तेजस्वी राजा का भी चयन करना चाहिए, जिससे सम्पूर्ण पृथ्वी पर सुख एवं शान्ति का साम्राज्य स्थापित हो सके।

ज्ञातव्य— यहाँ इस मन्त्र के द्वारा पृथिवी पर उत्पन्न प्रारम्भिक पीढ़ी के सभी मनुष्यों को संसार में रहने के लिए ऐसे गुरु को खोजने की प्रेरणा दी गई है, जो वेद का साक्षात् कर चुका है अर्थात् अग्नि आदि चार महर्षियों, पुनः अन्य ब्रह्मादि ऋषियों को खोजने का उपदेश है।

सभी मनुष्यों को चार ऋषियों से वा ब्रह्मादि से सम्पूर्ण विद्या व व्यवहार सीखने

का उपदेश है और यह उपदेश लेना भी अनिवार्य था। यहाँ शिक्षक पुरुष के साथ-२ राजपुरुष का भी ग्रहण हो सकता है, तब अर्थ में किञ्चित् भेद हो जायेगा। महर्षि दयानन्द ने जो भौतिक व आध्यात्मिक अर्थ किए हैं, उन्हें भी यहाँ जोड़कर देखना चाहिए। इस प्रकार मन्त्र के कुल चार अर्थ हैं। दो अर्थ यहाँ हमने दिए व दो ऋषि दयानन्द भाष्य में पढ़ें। यदि ऋषि का भाष्य उपलब्ध नहीं होता, तो हम इस प्रकार के दो अर्थ और भी करते। ऋषि दयानन्द ने अर्थों में भौतिक अग्नि को खोजकर नाना प्रकार के भौतिक अनुसंधानों की प्रेरणा की बात कही है, जो इस पृथिवी पर सुखद जीवनयापन के लिए अनिवार्य है। यह ज्ञान भी प्रथम पीढ़ी के लिए अनिवार्य था।

अन्त में ऋषि दयानन्द ने 'अग्नि' पद से परमेश्वर का ग्रहण करके उसका साक्षात् करके जानने की प्रेरणा प्रदान की है। यही मानव जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य है, इस कारण यह ज्ञान सबसे अधिक अनिवार्य था, परन्तु सृष्टि को जाने बिना सृष्टि बनाने वाले परमात्मा का विज्ञान कभी नहीं हो सकता, इस कारण इस मन्त्र का आधिदैविक भाष्य अनिवार्य है।

इस प्रकार यह मन्त्र मनुष्य के लौकिक व पारलौकिक सभी धर्म वा कर्त्तव्यों एवं सम्पूर्ण सृष्टि को जानने का साररूप में उपदेश देता है, जो सम्पूर्ण वेद का मुख्य प्रतिपाद्य विषय है। इस कारण यह मन्त्र चारों वेदों की प्रस्तावना है और इसीलिए यह प्रथम मन्त्र है।''

ऋषि दयानन्द ने इस मन्त्र का आध्यात्मिक एवं भौतिक अर्थ किया है, उसे भी पाठकों के लाभ के लिए यहाँ उद्‌धृत कर रहे हैं—

''**पदार्थः** — (अग्निम्) परमेश्वरं भौतिकं वा। इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्। एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः॥ ऋ.१.१६४.४६। अनेनैकस्य सतः परब्रह्मण इन्द्रादीनि बहुधा नामानि सन्तीति वेदितव्यम्। तदेवाग्निस्तदा-दित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः। तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः॥ यजु.३२.१। यत्सच्चिदानन्दादिलक्षणं ब्रह्म तदेवात्राग्न्यादिनामवाच्यमिति बोध्यम्। ब्रह्म ह्यग्निः। श.ब्रा.१.४.२.११। आत्मा वा अग्निः। श.ब्रा.१.२.३.२। अत्राग्निर्ब्रह्मात्मनोर्वाच-कोऽस्ति। अयं वा अग्निः प्रजाश्च प्रजापतिश्च। श.ब्रा.९.१.२.४२। अत्र प्रजाशब्देन भौतिकः प्रजापतिशब्देनेश्वरश्चाग्निर्ग्राह्यः। अग्निर्वै देवानां व्रतपतिः। एतद्ध वै देवा व्रतं चरन्ति

यत्सत्यम्। श.ब्रा.१.१.१.२,५। सत्याचारनियम पालनं व्रतं तत्पतिरीश्वरः। त्रिभिः पवित्रैरपुपोद्ध्यर्कं हृदा मतिं ज्योतिरनु प्रजानन्। वर्षिष्ठं रत्नमकृत स्वधाभिरादिद् द्यावापृथिवी पर्य्यपश्यत्॥ ऋ.३.२६.८। अत्राग्निशब्दस्यानुवृत्तेः प्रजानन्निति ज्ञानवत्त्वात् पर्य्यपश्यदिति सर्वज्ञत्वादीश्वरो ग्राह्यः।

यास्कमुनिरत्रोभयार्थकरणायाग्निशब्दपुरःसरमेतन्मन्त्रमेवं व्याचष्टे-अग्निः कस्मादग्रणीर्भवत्यग्रं यज्ञेषु प्रणीयतेऽङ्गं नयति सन्नममानोऽक्नोपनो भवतीति स्थौलाष्ठीविर्न क्नोपयति न स्नेहयति त्रिभ्य आख्यातेभ्यो जायत इति शाकपूणिरितादक्ताद्दग्धाद्वा नीतात्स खल्वेतेरकारमादत्ते गकारमनक्तेर्वा दहतेर्वा नीः परस्तस्यैषा भवतीति- अग्निमीळेऽग्निं याचीमीळिरध्येषणाकर्मा पूजाकर्मा वा देवो, दानाद्वा दीपनाद्वा द्योतनाद्वा द्युस्थानो भवतीति वा यो देवः सा देवता। होतारं ह्वातारं जुहोतेर्होतेत्यौर्णवाभो रत्नधातमं रमणीयानां धनानां दातृतमम्। निरु.७.१४-१५।

अग्रणीः सर्वोत्तमः सर्वेषु यज्ञेषु पूर्वमीश्वरस्यैव प्रतिपादनात्तस्यात्र ग्रहणम्। दग्धादिति विशेषणाद्भौतिकस्यापि च।

प्रशासितारं सर्वेषामणीयांसमणोरपि। रुक्माभं स्वप्नधीगम्यं विद्यात्तं पुरुषं परम्॥ १॥ एतमेके वदन्त्यग्निं मनुमन्ये प्रजापतिम्। इन्द्रमेकेऽपरे प्राणमपरे ब्रह्म शाश्वतम्॥ २॥ मनु.अ. १२। श्लो.१२२, १२३। अत्राप्यग्न्यादीनि परमेश्वरस्य नामानि सन्तीति। ईळे अग्निं विपश्चितं गिरा यज्ञस्य साधनम्। श्रुष्टीवानं धितावानम्॥ ऋ.३.२७.२। विपश्चितमीळे इति विशेषणादग्निशब्देनात्रेश्वरो गृह्यते, अनन्तविद्यावत्त्वाच्चेतनस्वरूपत्वाच्च।

अथ केवलं भौतिकार्थग्रहणाय प्रमाणानि— यदश्वं तं पुरस्तादुदश्रयंस्तस्याभयेऽनाष्ट्रे निवातेऽग्निरजायत तस्माद्यत्राग्निं मन्थिष्यन्त्स्यात्तदश्वमानेतवै ब्रूयात्। स पूर्वेणोपतिष्ठते वज्रमेवैतदुच्छ्रयंति तस्याभयेऽनाष्ट्रे निवातेऽग्निर्जायते। श.ब्रा.२.१.४.१६। वृषो अग्निः। अश्वो ह वा एष भूत्वा देवेभ्यो यज्ञं वहति। श.ब्रा.१.३.३.२९-३०।

वृषवद्यानानां वोढृत्वाद्वृषोऽग्निः। तथाऽयमग्निराशुगमयितृत्वेनाश्वो भूत्वा कलायन्त्रैः प्रेरितः सन् देवेभ्यो विद्वद्भ्यः शिल्पविद्याविद्भ्यो मनुष्येभ्यो विमानादियानसाधनसंगतं यानं वहति प्रापयतीति। तूर्णिर्हव्यवाडिति। श.ब्रा.१.३.४.१२। अयमग्निर्हव्यानां यानानां प्रापकत्वेन शीघ्रतया गमकत्वाद्धव्यवाट् तूर्णिश्चेति।

अग्निर्वै योनिर्यज्ञस्य। श.ब्रा.१.४.३.११। इत्याद्यनेकप्रमाणैरश्वनाम्ना भौतिकोऽग्निर्वात्र गृह्यते, आाशुगमनहेतुत्वादश्वोऽग्निर्विज्ञेयः। वृषो अग्निः समिध्यतेऽश्वो न देववाहनः। त हविष्मन्त ईळते॥ ऋ.३.२७.१४। यदा शिल्पिभिरयमग्निर्यन्त्रकलाभिर्यानेषु प्रदीप्यते तदा देववाहनो देवान् यानस्थान् विदुषः शीघ्रं देशान्तरेऽश्व इव वृष इव च प्रापयति, ते हविष्मन्तो मनुष्या वेगादिगुणवन्तमश्वमग्निमीडते कार्य्यार्थमधीच्छन्तीति वेद्यम्।

(ईळे) स्तुवे याचे अधीच्छामि प्रेरयामि वा (पुरोहितम्) पुरस्तात्सर्वं जगद्दधाति छेदनधारणाकर्षणादिगुणांश्चापि तम्। पुरोहितः पुर एनं दधति होत्राय वृतः कृपायमाणोऽन्व-ध्यायत् निरु.२.१२। (यज्ञस्य) इज्यतेऽसौ यज्ञस्तस्य महिम्नः कर्मणो विदुषां सत्कारस्य संगतस्य सत्संगत्योत्पन्नस्य विद्यादिदानस्य शिल्पक्रियोत्पाद्यस्य वा। यज्ञः कस्मात्प्रख्यातं यजति कर्मेति नैरुक्ता याञ्चो भवतीति वा बहुकृष्णाजिन इत्यौपमन्यवो यजूष्येनं नयन्तीति वा। (निरु.३.१९) (देवम्) दातारं हर्षकरं विजेतारं द्योतकं वा (ऋत्विजम्) य ऋतौ ऋतौ प्रत्युत्पत्तिकालं संसारं संगतं यजति करोति तथा च शिल्पसाधनानि संगमयति सर्वेषु ऋतुषु यजनीयस्तम्। ऋत्विग्दधृग्. अष्टा.३.२.५९ अनेन कर्त्तरि निपातनम् तथा कृतो बहुलमिति कर्मणि वा। (होतारम्) दातारमादातारं वा (रत्नधातमम्) रमणीयानि पृथिव्यादीनि सुवर्णादीनि च रत्नानि दधाति धापयतीति रत्नधा, अतिशयेन रत्नधा इति रत्नधातमस्तम्।

भावार्थः — अत्र श्लेषालङ्कारेणोभयार्थग्रहणमस्तीति बोध्यम्। इतोऽग्रे यत्र यत्र मन्त्रभूमि-कायामुपदिश्यत इति क्रियापदं प्रयुज्यतेऽस्य सर्वत्र कर्त्तेश्वर एव बोध्यः। कुतः, वेदानां तेनैवोक्तत्वात्, पितृवत्कृपायमाण ईश्वरः सर्वविद्याप्राप्तये सर्वजीवहितार्थं वेदोपदेशं चकार। यथा पिताऽध्यापको वा स्वपुत्रं शिष्यं च प्रति त्वमेवं वदैवं कुरु सत्यं वद पितरमाचार्य्यं च सेवस्वानृतं मा कुर्वित्युपदिशति, तथैवात्र बोध्यम्। वेदश्च सर्वजीवकल्याणार्थमाविर्भूतः। एवमर्थोऽत्रोत्तमपुरुषप्रयोगः। वेदोपदेशस्य परोपकारार्थत्वात्।

अत्राग्निशब्देन परमार्थव्यवहारविद्यासिद्धये परमेश्वरभौतिकौ द्वावर्थौ गृह्येतं। पुरा आर्य्यैर्याऽश्वविद्यानाम्ना शीघ्रगमनहेतुः शिल्पविद्या संपादितेति श्रूयते साग्निविद्यैवासीत्। परमेश्वरस्य स्वयंप्रकाशत्वसर्वप्रकाशकत्वाभ्यामनन्तज्ञानवत्त्वात् भौतिकस्य रूपदाहप्रकाश-वेगछेदनादिगुणवत्त्वाच्छिल्पविद्यायां मुख्यहेतुत्वाच्च प्रथमं ग्रहणं कृतमस्तीति वेदितव्यम्।

पदार्थान्वयभाषा — (यज्ञस्य) हम लोग विद्वानों के सत्कार, संगम, महिमा और कर्म के (होतारम्) देने तथा ग्रहण करने वाले (पुरोहितम्) उत्पत्ति के समय से पहिले परमाणु

आदि सृष्टि के धारण करने और (ऋत्विजम्) वारंवार उत्पत्ति के समय में स्थूल सृष्टि के रचने वाले तथा ऋतु ऋतु में उपासना करने योग्य (रत्नधातमम्) और निश्चय करके मनोहर पृथिवी वा सुवर्ण आदि रत्नों के धारण करने वा (देवम्) देने तथा सब पदार्थों के प्रकाश करने वाले परमेश्वर की (ईळे) स्तुति करते हैं।

तथा उपकार के लिये (यज्ञस्य) हम लोग विद्यादि दान और शिल्पक्रियाओं से उत्पन्न करने योग्य पदार्थों के (होतारम्) देनेहारे तथा (पुरोहितम्) उन पदार्थों के उत्पन्न करने के समय से पूर्व भी छेदन, धारण और आकर्षण आदि गुणों के धारण करने वाले (ऋत्विजम्) शिल्प विद्या साधनों के हेतु (रत्नधातमम्) अच्छे अच्छे सुवर्ण आदि रत्नों के धारण कराने तथा (देवम्) युद्धादिकों में कलायुक्त शस्त्रों से विजय कराने हारे भौतिक अग्नि की (ईळे) वारंवार इच्छा करते हैं।

यहाँ अग्नि शब्द के दो अर्थ करने में प्रमाण ये हैं कि (इन्द्रं मित्रं.) इस ऋग्वेद के मन्त्र से यह जाना जाता है कि एक सद्ब्रह्म के इन्द्र आदि अनेक नाम हैं। तथा (तदेवाग्नि.) इस यजुर्वेद के मन्त्र से भी अग्नि आदि नामों करके सच्चिदानन्दादि लक्षण वाले ब्रह्म को जानना चाहिये। (ब्रह्म ह्य.) इत्यादि शतपथ ब्राह्मण के प्रमाणों से अग्नि शब्द ब्रह्म और आत्मा इन दो अर्थों का वाची है। (अयं वा.) इस प्रमाण में अग्नि शब्द से प्रजा शब्द करके भौतिक और प्रजापति शब्द से ईश्वर का ग्रहण होता है। (अग्नि.) इस प्रमाण से सत्याचरण के नियमों का जो यथावत् पालन करना है, सो ही व्रत कहाता है और इस व्रत का पति परमेश्वर है। (त्रिभिः पवित्रैः.) इस ऋग्वेद के प्रमाण से ज्ञान वाले तथा सर्वज्ञ प्रकाश करने वाले विशेषण से अग्नि शब्द करके ईश्वर का ग्रहण होता है।

निरुक्तकार यास्क मुनि जी ने भी ईश्वर और भौतिक पक्षों को अग्नि शब्द की भिन्न-भिन्न व्याख्या करके सिद्ध किया है, सो संस्कृत में यथावत् देख लेना चाहिये, परन्तु सुगमता के लिये कुछ संक्षेप से यहाँ भी कहते हैं। यास्क मुनि जी ने स्थौलाष्ठीवि ऋषि के मत से अग्नि शब्द का अग्रणी = सबसे उत्तम अर्थ किया है अर्थात् जिसका सब यज्ञों में पहिले प्रतिपादन होता है, वह सबसे उत्तम ही है। इस कारण अग्नि शब्द से ईश्वर तथा दाह गुण वाला भौतिक अग्नि इन दो ही अर्थों का ग्रहण होता है।

(प्रशासितारं., एतमे.) मनु जी के इन दो श्लोकों में भी परमेश्वर के अग्नि आदि नाम प्रसिद्ध हैं। (ईळे.) इस ऋग्वेद के प्रमाण से भी उस अनन्त विद्या वाले और चेतनस्वरूप

आदि गुणों से युक्त परमेश्वर का ग्रहण होता है।

अब भौतिक अर्थ के ग्रहण करने में प्रमाण दिखलाते हैं— (यदश्वं.) इत्यादि शतपथ ब्राह्मण के प्रमाणों से अग्नि शब्द करके भौतिक अग्नि का ग्रहण होता है। यह अग्नि बैल के समान सब देश-देशान्तरों में पहुँचाने वाला होने के कारण वृष और अश्व भी कहाता है, क्योंकि वह कलाओं के द्वारा अश्व अर्थात् शीघ्र चलाने वाला होकर शिल्पविद्या के जानने वाले विद्वान् लोगों के विमान आदि यानों को वेग से वाहनों के समान दूर-२ देशों में पहुँचाता है। (तूर्णि.) इस प्रमाण से भी भौतिक अग्नि का ग्रहण है, क्योंकि वह उक्त शीघ्रता आदि हेतुओं से हव्यवाट् और तूर्णि भी कहाता है। (अग्निर्वै यो.) इत्यादिक और भी अनेक प्रमाणों से अश्व नाम करके भौतिक अग्नि का ग्रहण किया गया है। (वृषो.) जबकि इस भौतिक अग्नि को शिल्पविद्या वाले विद्वान् लोग यन्त्रकलाओं से सवारियों में प्रदीप्त करके युक्त करते हैं, तब (देववाहनः) उन सवारियों में बैठे हुए विद्वान् लोगों को देशान्तर में बैलों वा घोड़ों के समान शीघ्र पहुँचाने वाला होता है। हे मनुष्यो! तुम लोग (हविष्मन्तम्) वेगादि गुणवाले अश्वरूप अग्नि के गुणों को (ईळते) खोजो। इस प्रमाण से भी भौतिक अग्नि का ग्रहण है॥

भावार्थ— इस मन्त्र में श्लेषालङ्कार से दो अर्थों का ग्रहण होता है। पिता के समान कृपाकारक परमेश्वर सब जीवों के हित और सब विद्याओं की प्राप्ति के लिये कल्प कल्प के आदि में वेद का उपदेश करता है। जैसे पिता वा अध्यापक अपने शिष्य वा पुत्र को शिक्षा करता है कि तू ऐसा कर वा ऐसा वचन कह, सत्य वचन बोल, इत्यादि शिक्षा को सुनकर बालक वा शिष्य भी कहता है कि सत्य बोलूँगा, पिता और आचार्य्य की सेवा करूँगा, झूठ न कहूँगा, इस प्रकार जैसे परस्पर शिक्षक लोग शिष्य वा लड़कों को उपदेश करते हैं, वैसे ही 'अग्निमीळे.' इत्यादि वेदमन्त्रों में भी जानना चाहिये, क्योंकि ईश्वर ने वेद सब जीवों के उत्तम सुख के लिए प्रकट किया है। इसी 'अग्निमीळे.' वेद के उपदेश का परोपकार फल होने से इस मन्त्र में 'ईडे' यह उत्तम पुरुष का प्रयोग भी है।

(अग्निमीळे.) परमार्थ और व्यवहार विद्या की सिद्धि के लिए अग्नि शब्द करके परमेश्वर और भौतिक ये दोनों अर्थ लिये जाते हैं। जो पहिले समय में आर्य लोगों ने अश्वविद्या के नाम से शीघ्रगमन का हेतु शिल्पविद्या उत्पन्न की थी, वह अग्निविद्या की ही उन्नति थी। आप ही आप प्रकाशमान सब का प्रकाश और अनन्त ज्ञानवान् आदि हेतुओं से अग्नि शब्द

करके परमेश्वर तथा रूप, दाह, प्रकाश व छेदन आदि गुण और शिल्पविद्या के मुख्य साधक आदि हेतुओं से प्रथम मन्त्र में भौतिक अर्थ का ग्रहण किया है।''

अग्नि पद की दूसरी ऋचा अगले खण्ड में प्रस्तुत की गई है।

* * * * *

= षोडशः खण्डः =

अग्निः पूर्वेभिर्ऋषिभिरीड्यो नूतनैरुत।
स देवाँ एह वक्षति॥ [ऋ.१.१.२]
अग्निर्यः पूर्वैर्ऋषिभिरीळितव्यो वन्दितव्योऽस्माभिश्च नवतरैः स देवानिहावहत्विति। स न मन्येतायमेवाग्निरिति। अपि एते उत्तरे ज्योतिषी अग्नी उच्येते। ततो नु मध्यमः॥ १६॥

इस ऋचा का भी ऋषि मधुच्छन्दा, देवता अग्नि और छन्द गायत्री है। इन सबका प्रभाव पूर्व मन्त्र के समान समझें। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(अग्निः) 'अग्निः यः' जो अग्नितत्त्व अर्थात् ऐसा अग्नितत्त्व, जिसकी चर्चा पूर्व मन्त्र में की गई है, (पूर्वेभिः, ऋषिभिः) 'पूर्वैर्ऋषिभिः' इस छन्द रश्मि की कारणरूप ऋषि रश्मियों से पूर्व में उत्पन्न होने वाली अनेक प्रकार की ऋषि रश्मियों, जिनमें प्राण-अपान आदि सभी प्राण रश्मियाँ सम्मिलित हैं, के द्वारा (ईड्यः) 'ईळितव्यो वन्दितव्यः' उत्पन्न वा प्रकाशित किया जाता है। इसका अर्थ यह है कि पूर्व मन्त्र में जो यह कहा गया था कि अग्नि की उत्पत्ति मधुच्छन्दा ऋषि रश्मियों के द्वारा होती है, यह बात निरपेक्ष सत्य नहीं है। उसका केवल इतना ही अर्थ है कि मधुच्छन्दा ऋषि रश्मियों के द्वारा अग्नितत्त्व की समृद्धि होती है और सृष्टि प्रक्रिया का एक नवीन चरण प्रारम्भ होता है। वस्तुतः अग्नि, जो विद्युत् के रूप में होता है, उसकी उत्पत्ति प्राण और अपान से ही होने लगती है। इसी कारण ऋषियों ने लिखा है— प्राणापानौ वा इन्द्राग्नी (मै.सं.१.५.६, काठ.सं.७.५, गो.उ.२.१)। प्राण एवं अपान रश्मियों के अतिरिक्त अन्य कई सूक्ष्म रश्मियाँ भी मधुच्छन्दा से पूर्व उत्पन्न

हो चुकी होती हैं, जिनके द्वारा भी सूक्ष्म विद्युत् और प्रकाश की उत्पत्ति हो चुकी होती है। प्राण रश्मियों को ऋषि कहने की पुष्टि ऋषियों के इस कथन से भी होती है— प्राणा ऽऋषयः (श.ब्रा.७.२.३.५, ऐ.ब्रा.२.२७)। इस कारण ही इस मन्त्र में कहा गया है कि पूर्व ऋषियों द्वारा भी यह अग्नि उत्पन्न होता है, खोजकर निकाला जाता है। यहाँ वन्दना करने का तात्पर्य अग्नि को प्रकाशित करना है। इस कथन से यह भी सिद्ध होता है कि अग्नि की उत्पत्ति महर्षि यास्क की दृष्टि में प्राणापान की उत्पत्ति से भी पूर्व में हो चुकी होती है। इसी कारण अग्नि के विषय में ऋषियों ने लिखा है— वागेवाग्निः (श.ब्रा.३.२.२.१३), मन एवाग्निः (श.ब्रा.१०.१.२.३), प्राणो वा अग्निः (श.ब्रा.९.५.१.६८)। इन वचनों का तात्पर्य यह है कि प्राण रश्मियों के अतिरिक्त मन एवं वाक् रश्मियों को भी अग्नि कहा जाता है, जिनकी उत्पत्ति बहुत पहले हो चुकी होती है।

(उत, नूतनैः) 'अस्माभिश्च नवतरैः' मधुच्छन्दा ऋषि रश्मियों की अपेक्षा नवीन ऋषि रश्मियों अर्थात् मधुच्छन्दा ऋषि रश्मियों के पश्चात् उत्पन्न होने वाली ऋषि रश्मियों के द्वारा भी अग्नितत्त्व खोजा जाता है अर्थात् उसको अनेक स्तरों पर उत्पन्न वा प्रकट किया जाता है। इसके साथ ही वह अग्नितत्त्व उन ऋषि रश्मियों के द्वारा और अधिक तेजस्वी बनाया जाता है। वेदमन्त्रों की उत्पत्ति अनेक प्रकार की ऋषि रश्मियों से होती है, इस तथ्य से हम अवगत हैं। इस कारण मधुच्छन्दा ऋषि रश्मियों की उत्पत्ति के पश्चात् जो-जो ऋषि रश्मियाँ उत्पन्न होती हैं और जो अग्नि देवता वाली छन्द रश्मियों को उत्पन्न करती हैं, वे सभी अग्नितत्त्व को समृद्ध वा उत्पन्न करती हैं। इसके साथ ही जिन ऋचाओं का देवता अग्नि नहीं भी हो, परन्तु उन ऋचाओं में अग्नि अथवा उसका विशेषण पद विद्यमान हो, तब उन छन्द रश्मियों के द्वारा भी अग्नितत्त्व समृद्ध व प्रकाशित होता है। (सः, देवान्) 'स देवान्' वह ऐसा अग्नि विभिन्न देव पदार्थों, जो विभिन्न प्रकार के कण एवं रश्मि आदि कुछ भी हो सकते हैं, को (आ, इह, वक्षति) 'इहावहत्विति' इस सृष्टि यज्ञ में प्राप्त होता है अथवा उनको सब ओर से आकर्षित करता रहता है।

मन्त्र के व्याख्यान के पश्चात् ग्रन्थकार लिखते हैं— 'स न मन्येतायमेवाग्निरिति अपि एते उत्तरे ज्योतिषी अग्नी उच्येते ततो नु मध्यमः'। यहाँ ग्रन्थकार कहना चाहते हैं कि विद्वान् को यह नहीं मानना चाहिए कि पृथिवीस्थानी अग्नि की ही उपर्युक्त मन्त्र में चर्चा की गई है। उसे समझना चाहिए कि पृथिवीस्थानी अग्नि के अतिरिक्त अन्य दो अग्नि सूर्य

एवं विद्युत् भी अग्नि ही कहाते हैं। उन दोनों अग्नियों में से मध्यम अग्नि अर्थात् आकाश में विद्यमान अग्नि की ऋचा अगले खण्ड में प्रस्तुत की गई है।

* * * * *

= सप्तदशः खण्डः =

अभि प्रवन्त समनेव योषाः कल्याण्य१ः स्मयमानासो अग्निम्।
घृतस्य धाराः समिधो नसन्त ता जुषाणो हर्यति जातवेदाः॥

[ऋ.४.५८.८]

अभिनमन्त समनस इव योषाः। समनं समननाद्वा। सम्माननाद्वा। कल्याण्यः। स्मयमानासः। अग्निमित्यौपमिकम्। घृतस्य धारा उदकस्य धाराः। समिधो नसन्त। नसतिराप्नोतिकर्मा वा। नमतिकर्मा वा। ता जुषाणो हर्यति जातवेदाः। हर्यतिः प्रेप्साकर्मा। विहर्यतीति।

इस मन्त्र का ऋषि वामदेव है। इसका अर्थ यह है कि इस छन्द रश्मि की उत्पत्ति प्राण नामक प्राथमिक प्राण रश्मियों से होती है। इसका देवता अग्नि है और छन्द त्रिष्टुप् है। इस कारण इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से अग्नितत्त्व तीव्र रक्तवर्णीय तेज से युक्त होता है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(अभि, प्रवन्त, समना, इव, योषाः, कल्याण्यः, स्मयमानासः) 'अभिनमन्त समनस इव योषाः समनं समननाद्वा सम्माननाद्वा कल्याण्यः स्मयमानासः' [कल्याणी = कल्याणं कमनीयं भवति (निरु.२.३), कल्याणी तत्पशवः (ऐ.ब्रा.५.२५)] आकर्षण आदि बलों से युक्त, समान रूप से प्रकाशित होते हुए, समान परिमाण से युक्त, उत्तेजित होकर आगे बढ़ते हुए, संयोग अथवा वियोग क्रियाओं में तत्पर स्त्री रूप कण व तरंगें अन्य कणों की ओर झुकती हुई उन्हें प्राप्त होती हैं अर्थात् उनसे संयुक्त हो जाती हैं, उस समय (अग्निम्, घृतस्य, धाराः, समिधः, नसन्त) 'अग्निमित्यौपमिकम् घृतस्य धारा उदकस्य धाराः समिधो

नसन्त नसतिराप्नोतिकर्मा वा नमतिकर्मा वा' जिस प्रकार यह क्रिया होती है, उसी प्रकार [घृतम् = तेजो वै घृतम् (मै.सं.१.६.८, २.१.७), पशवो घृतम् (मै.सं.१.१०.७), वज्रो घृतम् (काठ.सं.२०.५), रेतः सिक्तिर्वै घृतम् (कौ.ब्रा.१६.५), स घृङ्ङकरोत् तद् घृतस्य घृतत्वम् (काठ.सं.२४.७; क.सं.३७.८)] तेजस्विनी 'घृम्' रश्मियों से युक्त विभिन्न वज्र व छन्दादि रूप रश्मियाँ प्राण रूप रश्मियों की वर्षा करती हुई विभिन्न धाराओं के रूप में वेगपूर्वक बढ़ती हुई अग्नि को प्राप्त होती हैं अर्थात् अग्नि को उत्पन्न करती हैं अथवा वे धाराएँ आग्नेय पदार्थों की ओर झुकती हुई जाती हैं अथवा झुक जाती हैं।

सामान्यतः यह अर्थ सत्य है, परन्तु आधिदैविक दृष्टि में उपमा अलंकार की उपयोगिता नहीं है, इस कारण अब तक उद्धृत अंश का भाष्य इस प्रकार है— जब तेजोत्पादिका 'घृम्' रश्मियों से युक्त विभिन्न छन्द रश्मियाँ प्राण रश्मियों की वृष्टि करती हुई विभिन्न धाराओं के रूप में वेगपूर्वक बढ़ती हुई अग्नि को समृद्ध करती हैं, उस समय उपर्युक्त स्त्री रूप कण वा तरंगें अन्य कणों की ओर झुकती हुई उनसे संयुक्त होने लगती हैं।

(ताः, जुषाणः) वे स्त्रीरूप कण वा तरंगें 'घृङ्' रश्मियों से युक्त छन्द रश्मियों का सेवन करती हुई (हर्यति, जातवेदाः) जातवेदा अग्नि की कामना करती हैं अर्थात् प्रत्येक वस्तु में विद्यमान होने योग्य अग्नि को उत्पन्न करती हैं। यह अग्नि मध्यम अर्थात् अन्तरिक्षस्थ अग्नि का उदाहरण है। इसका तात्पर्य यह है कि यहाँ दर्शायी गई संयोग प्रक्रियाएँ आकाश में विद्यमान कणों के मध्य होती हैं, न कि पृथिवी आदि लोकों में ।

भावार्थ— जब स्त्री रूप कण वा तरंगें अन्य कणों वा तरंगों से संयोग करने हेतु गमन करती हैं, उस समय 'घृम्' रश्मियों से युक्त विभिन्न रश्मियाँ उन पर प्राण रश्मियों की वर्षा करती हुई उन स्त्री रूप कण वा तरंगों के द्वारा अवशोषित होती रहती हैं। इसके कारण उन कणों वा रश्मियों की संयोग प्रक्रिया के अनन्तर अग्नितत्त्व समृद्ध होने लगता है अर्थात् ऊष्मा एवं प्रकाश में वृद्धि होने लगती है।

समुद्रादूर्मिर्मधुमाँ उदारत्। [ऋ.४.५८.१]
इति आदित्यमुक्तं मन्यन्ते।
समुद्राद्ध्येषोऽद्भ्य उदेति। [कौ.ब्रा.२५.१]

इति च ब्राह्मणम्। अथापि ब्राह्मणं भवति।
अग्निर्वै सर्वा देवताः। [ऐ.ब्रा.२.३] इति।
तस्योत्तरा भूयसे निर्वचनाय॥ १७॥

अब आदित्यलोकस्थ अग्नि के उदाहरण रूप में जो मन्त्रांश यहाँ प्रस्तुत किया गया है, उसे हम सम्पूर्ण रूप में उद्धृत कर रहे हैं—

समुद्रादूर्मिर्मधुमाँ उदारदुपांशुना सममृतत्वमानट्।
घृतस्य नाम गुह्यं यदस्ति जिह्वा देवानाममृतस्य नाभिः॥

इस मन्त्र का ऋषि पूर्ववत् है। इसका देवता सूर्यस्थ अग्नि और छन्द निचृत् त्रिष्टुप् होने से इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से अग्नितत्त्व रक्तवर्णीय तीक्ष्ण तेज और बल से युक्त होता है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(समुद्रात्) [समुद्रः = अन्तरिक्षनाम (निघं.१.३), एष वाव स समुद्रः यच्चात्वालः (तै.ब्रा. १.५.१०.१), एषा (चात्वालः) वा अग्नीनाꣳयोनिः (मै.सं.३.९.७), आपो वै समुद्रः (श.ब्रा.३.८.४.११)] अन्तरिक्ष में स्थित विभिन्न आदित्य रश्मियों और तन्मात्राओं के अन्दर (ऊर्मिः, मधुमान्) [मधु = प्राणो वै मधु (श.ब्रा.१४.१.३.३०), अन्नं वै मधु (तां.ब्रा.११.१०.३), मिथुनं वै मधु प्रजा मधु (ऐ.आ.१.३.४)] नाना प्रकार की प्राण रश्मियाँ एवं उनसे युक्त विभिन्न संयोज्य कण एवं उनकी संयोग प्रक्रियाएँ (उप, उत्, आरत्) उत्कृष्टता को प्राप्त होती हैं अर्थात् आकाशतत्त्व में नाना प्रकार के कण व तरंगें सर्वत्र व्याप्त रहते हुए निरन्तर यजन प्रक्रियाओं को सम्पादित करके नाना प्रकार के पदार्थों को उत्पन्न करती रहती हैं।

(अंशुना, अमृतत्वम्) [अंशुः = पशवोऽँशवः (काठ.सं.२६.२, २७.६), प्राणा वा अꣳशवः (तै.सं.६.४.४.४)] ये विभिन्न छन्द एवं प्राण रश्मियों के द्वारा निरन्तरता को (सम्, आनट्) अच्छी प्रकार प्राप्त होती हैं। इसका तात्पर्य यह है कि अन्तरिक्ष में विद्यमान पदार्थों के अन्दर जो भी क्रियाएँ निरन्तर हो रही हैं, उनकी निरन्तरता का कारण यह है कि अन्तरिक्ष में सर्वत्र विभिन्न प्राण एवं छन्दादि रश्मियाँ भी विद्यमान होती हैं, जो विभिन्न कणों एवं तरंगों को नाना प्रकार की अभिक्रियाओं के लिए आवश्यक ऊर्जा एवं बल प्रदान करती रहती हैं। इतना ही नहीं, अपितु विभिन्न कणों एवं तरंगाणुओं के अन्दर विद्यमान उनकी

अवयवभूत रश्मियों को संरक्षित करके उनके अस्तित्व को बनाये रखने और उनके द्रव्यमान, विद्युदावेश अथवा ऊर्जा आदि की मात्रा को संरक्षित करने में भी इन्हीं प्राणादि रश्मियों की भूमिका होती है।

(यत्, घृतस्य, गुह्यम्, नाम, अस्ति) पूर्वोक्त घृत संज्ञक वज्र वा छन्दादि रश्मियों [नाम = उदकनाम (निघं.१.१२), प्रसिद्ध व्यवहार (म.द.ऋ.भा.६.६६.५)] के व्यवहार और उनके विभिन्न कण वा तरंगों के ऊपर सिंचन की प्रक्रिया आदि सभी कार्य गुप्त होते हैं। वस्तुतः वे छन्द वा वज्र रश्मियाँ पूर्व मन्त्र में वर्णितानुसार विभिन्न कणों वा तरंगों के ऊपर प्राण रश्मियों का सिंचन करती हैं और यह प्रक्रिया अव्यक्त भाव से होती है, इसी कारण इसे गुह्य कहा है। (देवानाम्, जिह्वा, अमृतस्य, नाभिः) यह सिंचन प्रक्रिया अर्थात् ये प्राण रश्मियाँ विभिन्न देव पदार्थों (कणों अथवा तरंगों) की जिह्वा रूप होती हैं, क्योंकि इनके द्वारा ही ये अन्य कणों वा तरंगों से उत्सर्जित रश्मियों को ग्रहण करके अपने साथ संयुक्त कर लेती हैं, जिससे उन कणों वा तरंगों के मध्य संयोगादि प्रक्रियाएँ सम्पादित हो पाती हैं। इसके साथ ही इन प्राण रश्मियों के सिंचन की प्रक्रिया उन संयोगादि प्रक्रियाओं की अमरता अर्थात् निरन्तरता का केन्द्र होती है। इससे दो संकेत मिलते हैं—

१. सृष्टि में जहाँ भी जो भी संयोगादि प्रक्रियाएँ निरन्तर हो रही हैं, उन सभी में प्राण रश्मियों की उपर्युक्त प्रक्रिया अनिवार्य भूमिका निभाती है और सृष्टि काल तक संयोग एवं वियोग आदि क्रियाएँ अविराम चलती रहती हैं।

२. जब दो कण अथवा कण एवं तरंगाणु अथवा दो रश्मियाँ परस्पर संयुक्त हो जाती हैं, तब भी उस संयुक्त पदार्थ के अन्दर विभिन्न प्राण रश्मियों का विनिमय अथवा पूर्वोक्त सिञ्चन कर्म बन्द नहीं होते हैं, अपितु निरन्तर चलते रहते हैं, भले ही उन कर्मों के स्वरूप में कुछ भेद हो जाए। प्राण-विनिमय रूप ये धाराएँ ही सम्पूर्ण सृष्टि को बाँधे हुए हैं, अन्यथा सम्पूर्ण सृष्टि बिखर जाए।

भावार्थ— अन्तरिक्ष में विभिन्न प्रकार के कण और तरंगें सर्वत्र विद्यमान होने के कारण निरन्तर नाना प्रकार की यजन प्रक्रियाओं को सम्पादित होती रहती हैं। इन कणों और तरंगों को आकाश में व्याप्त विभिन्न प्रकार की रश्मियाँ बल और ऊर्जा प्रदान करती रहती हैं। इसके साथ ही इन वायु रश्मियों के कारण कणों और तरंगों के अन्दर पदार्थ की मात्रा संरक्षित रहती है। प्राण एवं छन्द रश्मियों के कार्य मानव तकनीक के सापेक्ष अव्यक्त होते

हैं। इन प्राणादि रश्मियों के व्यवहार सम्पूर्ण सृष्टिकाल तक अविराम चलते रहते हैं।

इस मन्त्र में तरंगों के रूप में आदित्य रूपी अग्नि की चर्चा की गई है। इसी आदित्य अग्नि की चर्चा में ब्राह्मण ग्रन्थकार ने लिखा है— 'समुद्राद्ध्येषोऽद्भ्य उदेति' अर्थात् आकाशरूपी समुद्रस्थ आपः अर्थात् प्राणों एवं तन्मात्राओं (आयन्स) से ही यह आदित्य-अग्नि उदित होता है अर्थात् आदित्य रश्मियों की उत्पत्ति प्राणों व तन्मात्राओं के कारण ही होती है। इसके साथ ही आदित्य रश्मियों की ऊर्ध्व व उत्कृष्ट गति का कारण भी आपः अर्थात् प्राण रश्मियाँ ही होती हैं।

इसके अतिरिक्त एक अन्य ब्राह्मण ग्रन्थ का भी वचन अग्नि देवता के विषय में निम्नानुसार है— 'अग्निर्वै सर्वा देवताः' अर्थात् अग्नि ही सभी देवता है अर्थात् यही सर्वप्रधान देवता है एवं इसी से सभी देवताओं का भी ग्रहण हो जाता है। इसका अर्थ है कि अग्नि रूप प्राण, मन, वाक्, विद्युत् से लेकर आदित्य रश्मियों तक, इन सब पदार्थों से ही सृष्टि के अन्य सभी पदार्थों की उत्पत्ति होती है।

इस ब्राह्मण वचन की स्पष्टता वा समर्थन के लिए अगली ऋचा को अगले खण्ड में उद्धृत करते हैं।

* * * * *

= अष्टादशः खण्डः =

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः॥

[ऋ.१.१६४.४६]

इममेवाग्निं महान्तं [च] आत्मानम् एकमात्मानं बहुधा मेधाविनो वदन्ति।
इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निं दिव्यं च गरुत्मन्तम्।
दिव्यो दिविजः। गरुत्मान्गरणवान्। गुर्वात्मा। महात्मेति वा।
यस्तु सूक्तं भजते यस्मै हविर्निरुप्यतेऽयमेव सोऽग्निः।

निपातमेवैते उत्तरे ज्योतिषी एतेन नामधेयेन भजेते॥ १८॥

इस मन्त्र का ऋषि दीर्घतमा है, जिसके विषय में हम पूर्व में लिख चुके हैं। इसका देवता सूर्य और छन्द निचृत् त्रिष्टुप् होने से इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से सूर्य की रश्मियाँ रक्तवर्णीय तीक्ष्ण तेज और बल से युक्त होती हैं। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(एकम्, सत्, अग्निम्) 'इममेवाग्निं महान्तं च आत्मानम् एकमात्मानम्' यह जो अग्नि, जिसकी चर्चा हम अब तक करते आये हैं, वह महान् है, व्यापक है और सभी पदार्थों के अन्दर निरन्तर विचरण करने वाला है। यह अग्नि आत्मा रूप होकर सृष्टि के सभी पदार्थों के मध्य यजमान की भाँति क्रियाशील रहता है। इस कारण विभिन्न संयोग और वियोग की क्रियाएँ निरन्तर चलती रहती हैं। यह विभिन्न पदार्थों का शरीर रूप भी होता है। इसका तात्पर्य यह है कि जहाँ-२ भी यह विभिन्न कण आदि पदार्थों के अन्दर विद्यमान होता है, वहाँ यह उनके बाहर भी विद्यमान रहकर उनको आच्छादित किए रहता है। इसलिए इस अग्नि को ग्रन्थकार ने महान् आत्मा कहा है। (विप्राः, बहुधा, वदन्ति) 'बहुधा मेधाविनो वदन्ति' यहाँ ग्रन्थकार का अभिप्राय यह है कि ऐसे अग्नि को विद्वान् लोग अनेक प्रकार से पुकारते हैं अर्थात् अनेक नामों से सम्बोधित करते हैं। उल्लेखनीय है कि ऐसा अर्थ आधिदैविक पक्ष में उचित नहीं है, अन्य पक्षों में ऐसा अर्थ सर्वथा उचित है। यहाँ इसका आधिदैविक अर्थ यह है [विप्राः = एते वै विप्रा यद् ऋषयः (श.ब्रा.१.४.२.७)] कि यह उपर्युक्त अग्नितत्त्व सृष्टि में विद्यमान विभिन्न प्रकार की ऋषि अर्थात् प्राण रश्मियों के द्वारा नाना प्रकार के तेज और गतियों को प्राप्त करके नाना रूपों को धारण करता हुआ अनेक प्रकार के कर्म करता है। [वदति = वदति गतिकर्मा (निघं.२.१४), यद्वै वदति शंसतीति वै तदाहुः (श.ब्रा.१.८.२.१२)]

(इन्द्रम्, मित्रम्, वरुणम्, अग्निम्, आहुः) 'इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निम्' विभिन्न ऋषि अर्थात् प्राण रश्मियों के कारण अग्नितत्त्व कभी व कहीं इन्द्र रूप धारण करके तीक्ष्ण विद्युत् युक्त वायु के रूप में प्रकट होकर बाधक असुरादि पदार्थों को नष्ट करता है। कहीं यह अग्नि विद्युत् के रूप में प्रकट होकर विद्युत् चुम्बकीय आदि बलों के द्वारा विभिन्न कण आदि पदार्थों के मध्य आकर्षण आदि बलों को उत्पन्न करता है। यही अग्नि वरुण रूप में प्रकट होकर [वरुणः = स यदग्निर्घोरसंस्पर्शस्तदस्य वारुणं रूपम् (ऐ.ब्रा.३.४), क्षत्रं वरुणः

(श.ब्रा.४.१.४.१)] तीक्ष्ण आग के रूप में विभिन्न पदार्थों का छेदन-भेदन एवं दहन करने में समर्थ होता है। उधर अग्नि इसका स्वयं का मूल नाम है ही, जो ऊष्मा, विद्युत् एवं प्रकाश आदि गुणों से युक्त होकर अन्य पदार्थों में भी ऐसे गुण उत्पन्न करता रहता है।

(अथ, सः, दिव्यः, सुपर्णः, गरुत्मान्) 'दिव्यं च गरुत्मन्तम् दिव्यो दिविजः गरुत्मान्गरण-वान् गुर्वात्मा महात्मेति वा' पूर्वोक्त प्राण रूप ऋषि रश्मियों के सानिध्य से ही अग्नि दिव्य रूप को धारण करता है अर्थात् वह विभिन्न तारों के केन्द्रों और तारों के बाहरी विशाल द्यौ संज्ञक क्षेत्र में उत्पन्न वा विद्यमान रहता है। वह गरुत्मान् अग्नि नाना प्रकार की प्रकाश रश्मियों से युक्त होता है तथा विभिन्न प्राणादि रश्मियों को निगलने वाला होता है। ऐसा वह अग्नि महान् आत्मा रूप होकर सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में सतत गमन करता रहता है। (यमम्, मातरिश्वानम्, आहुः) ऐसा वह अग्नि सभी कण आदि पदार्थों को नियन्त्रित करता रहता है और उस अग्नि को ही ऋषि प्राण रश्मियाँ मातरिश्वा के रूप में प्रकाशित करती रहती हैं अर्थात् यही अग्नि अन्तरिक्ष रूपी माता की गोद में शयन करता हुआ सभी पदार्थों को प्राणत्व अर्थात् बल और गति प्रदान करता रहता है। इसी कारण ऋषियों ने कहा है— मातरिश्वा वायुर्मातर्यन्तरिक्षे श्वसिति मातर्याशु अनितीति वा (निरु.७.२६), प्राणो मातरिश्वा (ऐ.ब्रा.२.३८)।

भावार्थ— विद्युदग्नि सृष्टि के प्रत्येक पदार्थ के अन्दर और बाहर व्याप्त रहता है। इस कारण यह सभी पदार्थों का आत्मरूप कहा जाता है। यह अग्नि विभिन्न प्राण रश्मियों के द्वारा नाना प्रकार के तेज और गतियों को प्राप्त करते हुए नाना रूपों में प्रकट होकर विविध कर्मों को सम्पन्न करता है। यह अग्नि कहीं तीक्ष्ण रश्मियों को प्राप्त करके इन्द्ररूप को प्राप्त होता है, जो नाना प्रकार के बाधक पदार्थों का विध्वंस करता है। कहीं-२ यह अग्नि विद्युत् चुम्बकीय बलों को उत्पन्न करके नाना प्रकार की संयोग प्रक्रियाओं को सम्पादित करता है। कहीं-२ यह तीक्ष्ण ज्वालाओं से युक्त हो उठता है और अन्य पदार्थों को अपने जैसा उष्ण बना लेता है। कहीं-२ यह अग्नि द्युलोक को उत्पन्न करता है। कहीं-२ यह अग्नि विभिन्न प्राणादि रश्मियों को निगलता हुआ सभी कणादि पदार्थों को नियन्त्रित करता है, तो कहीं यह अग्नि अन्तरिक्षरूपी माता की गोद में शयन करता हुआ विभिन्न पदार्थों को बल प्रदान करता है।

इस मन्त्र का ऋषि दयानन्द ने आध्यात्मिक भाष्य किया है, जिसे हम यहाँ उद्धृत

कर रहे हैं—

''**पदार्थः** — (इन्द्रम्) परमैश्वर्ययुक्तम् (मित्रम्) मित्रमिव वर्त्तमानम् (वरुणम्) श्रेष्ठम् (अग्निम्) सर्वव्याप्तं विद्युदादिलक्षणम् (आहुः) कथयन्ति (अथो) (दिव्यः) दिवि भवः (सः) (सुपर्णः) शोभनानि पर्णानि पालनानि यस्य सः (गरुत्मान्) गुर्वात्मा (एकम्) असहायम् (सत्) विद्यमानम् (विप्राः) मेधाविनः (बहुधा) बहुप्रकारैर्नामभिः (वदन्ति) (अग्निम्) सर्वव्याप्तं परमात्मरूपम् (यमम्) नियन्तारम् (मातरिश्वानम्) मातरिश्वा वायुस्त-ल्लक्षणम् (आहुः) कथयन्ति। अयं मन्त्रो निरुक्ते व्याख्यातः। निरु.७.१८।

भावार्थः — यथाऽग्न्यादेरिन्द्रादीनि नामानि सन्ति तथैकस्य परमात्मनोऽग्न्यादीनि सहस्रशो नामानि वर्त्तन्ते। यावन्तः परमेश्वरस्य गुणकर्मस्वभावाः सन्ति तावन्त एवैतस्य नामधेयानि सन्तीति वेद्यम्।

पदार्थ— (विप्राः) बुद्धिमान् जन (इन्द्रम्) परमैश्वर्ययुक्त (मित्रम्) मित्रवत् वर्त्तमान (वरुणम्) श्रेष्ठ (अग्निम्) सर्वव्याप्त विद्युदादि लक्षणयुक्त अग्नि को (बहुधा) बहुत प्रकारों से बहुत नामों से (आहुः) कहते हैं। (अथो) इस के अनन्तर (सः) वह (दिव्यः) प्रकाश में प्रसिद्ध प्रकाशमय (सुपर्णः) सुन्दर जिसके पालना आदि कर्म (गरुत्मान्) महान् आत्मा वाला है इत्यादि बहुत प्रकारों बहुत नामों से (वदन्ति) कहते हैं तथा वे अन्य विद्वान् (एकम्) एक (सत्) विद्यमान परब्रह्म परमेश्वर को (अग्निम्) सर्वव्याप्त परमात्मारूप (यमम्) सर्वनियन्ता और (मातरिश्वानम्) वायु लक्षण लक्षित भी (आहुः) कहते हैं।

भावार्थ— जैसे अग्न्यादि पदार्थों के इन्द्र आदि नाम हैं, वैसे एक परमात्मा के अग्नि आदि सहस्रों नाम वर्त्तमान हैं। जितने परमेश्वर के गुण, कर्म, स्वभाव हैं, उतने ही इस परमात्मा के नाम हैं, यह जानना चाहिये।''

अग्नि के अनेक गुणों की व्याख्या करने के पश्चात् ग्रन्थकार लिखते हैं— 'यस्तु सूक्तं भजते यस्मै हविर्निरुप्यतेऽयमेव सोऽग्निः निपातमेवैते उत्तरे ज्योतिषी एतेन नामधेयेन भजेते' अर्थात् यद्यपि यह अग्नितत्त्व एक होते हुए अनेक रूपों वाला एवं अनेक नामों वाला होता है, परन्तु जो अग्नि सम्पूर्ण सूक्त वा अनेक सूक्तों का देवता है और जिसमें नाना प्रकार की मास रश्मि आदि हवियाँ प्रक्षिप्त होती हैं, वह अग्नि एक ही है, जो पृथिवीस्थानी ही है। इसकी चर्चा हम पूर्व में अर्थात् इस प्रकरण के प्रारम्भ में कर चुके हैं।

पृथिवीस्थानीय पूर्वोक्त अग्नि के पश्चात् जो अन्तरिक्षस्थ अग्नि एवं द्युलोकस्थ आदित्य अग्नि है, ये दोनों पृथिवीलोकस्थ अग्नि के ऊपर निरन्तर गिरती रहती हैं और ऐसा करके पृथिवीलोकस्थ अग्नि की रक्षा भी करती हैं। इस कारण इन दोनों को भी अग्नि कहा जाता है। यह अनुसन्धान का विषय है कि पृथिव्यादि लोकों को यदि किसी प्रकार अन्तरिक्षस्थ और सूर्यस्थ अग्नि से पृथक् कर दिया जाए, तब पृथिवी आदि लोकों के अग्नि पर क्या प्रभाव पड़ेगा। परन्तु हाँ, इतना निश्चय अवश्य है कि ऐसी स्थिति में ये लोक ऐसे नहीं रहेंगे, जैसे कि वर्तमान में हैं। यद्यपि इनसे इन लोकों को पृथक् करना काल्पनिक विषय ही है, व्यावहारिक नहीं।

* * * * *

= एकोनविंशः खण्डः =

जातवेदाः कस्मात्। जातानि वेद। जातानि वैनं विदुः।
जाते जाते विद्यत इति वा। जातवित्तो वा जातधनः।
जातविद्यो वा जातप्रज्ञानः।
यत्तज्जातः पशूनविन्दत इति तज्जातवेदसो जातवेदस्त्वम्।
[मै.सं.१.८.२]

इति ब्राह्मणम्।
तस्मात्सर्वानृतून्पशवोऽग्निमभिसर्पन्ति। [मै.सं.१.८.२] इति च।
तस्यैषा भवति॥ १९॥

अग्नि को जातवेदा भी कहते हैं। अग्नि को जातवेदा क्यों कहते हैं? इसका उत्तर देते हुए कहते हैं कि यह अग्नि सभी उत्पन्न पदार्थों को जानता अर्थात् जानने में सहायक होता है। इसके साथ ही संसार के सभी उत्पन्न पदार्थ इस अग्नि को जानते हैं। वस्तुतः अग्नि के द्वारा सभी पदार्थ जाने जाते हैं। यह अग्नि उत्पन्न हुए सभी पदार्थों के अन्दर सदैव विद्यमान रहता है और जिससे सभी पदार्थ उत्पन्न हुए हैं एवं जिससे सम्पूर्ण सृष्टि का

अर्थात् प्रत्येक उत्पन्न पदार्थ का ज्ञान होता है, उस अग्नि को जातवेदा कहते हैं। अब हम इस पर क्रमशः कुछ विचार करते हैं—

अग्नि सभी उत्पन्न पदार्थों को जानता है। इसका अर्थ यह है कि वह सभी उत्पन्न पदार्थों को अनुभव करता है, खोजता है। यहाँ अनुभव का तात्पर्य यह समझना चाहिए कि जैसे एक विद्युत् आवेशित पदार्थ अन्य पदार्थों पर प्रभाव डालते हुए उनके साथ प्रतिक्रिया करता है और उन पदार्थों से उत्सर्जित होती हुए सूक्ष्म रश्मियों के द्वारा उनका अनुभव करके उन्हें भी प्रतिक्रिया के लिए विवश करता है। इन प्रतिक्रियाओं को देखकर ही हमें सृष्टि के सभी पदार्थों का अनुभव होता है और अग्नि स्वयं भी इन्हीं पदार्थों के द्वारा जाना जाता है। स्मरण रहे कि यदि सृष्टि में कोई भी कण विद्यमान न हो, तो हम किसी भी प्रकाशाणु का अनुभव नहीं कर सकते और यदि प्रकाशाणु न हो, तो हम किसी कण का अनुभव नहीं कर सकते। इसके साथ ही इस सृष्टि में ऐसा कोई कण नहीं, जिसमें विद्युत् आदि किसी भी प्रकार की ऊर्जा न हो। इसके साथ ही यह भी ज्ञातव्य है कि इस सृष्टि का प्रत्येक कण अग्नितत्त्व के संघनन से ही उत्पन्न होता है। इन सभी कारणों से अग्नि को जातवेदा कहते हैं। यह ग्रन्थकार के निर्वचन की व्याख्या है।

अब ग्रन्थकार अन्य ऋषि को उद्धृत करते हुए लिखते हैं—

'यत्तज्जातः पशूनविन्दत इति तज्जातवेदसो जातवेदस्त्वम्'

अर्थात् वह अग्नि उत्पन्न होते ही नाना प्रकार की प्राण एवं मरुत् रश्मियों को प्राप्त कर लेता है अर्थात् उन्हें अपने साथ संयुक्त कर लेता है। इस कारण वह अग्नि जातवेदा कहलाता है। उत्पन्न होते ही विभिन्न मरुत् व प्राण रश्मियों को अपने साथ संयुक्त करना ही उसका जातवेदस्त्व है। उल्लेखनीय है कि कोई भी प्रकाशाणु जब भी किसी सोम्य कण (इलेक्ट्रॉन) से उत्सर्जित होता है, तब उसके उत्सर्जन में कुछ विशेष छन्द रश्मियों की भूमिका होती है और उसके पश्चात् उसे तीव्रतम गति प्रदान करने में धनञ्जय नामक प्राण की भूमिका होती है, जो उस प्रकाशाणु के बाहर निकलते ही उसके साथ संयुक्त हो जाता है और गमन करते समय प्राण एवं अपान रश्मियाँ भी उसका मार्ग बनाती जाती हैं। ये सभी कार्य उस प्रकाशाणु के उत्पन्न होते ही हो जाते हैं। इन सभी रश्मियों को पशु और प्रकाशाणु को जातवेदा कहा गया है।

अब ग्रन्थकार इसी संहिता के एक और वचन को इस प्रकार उद्धृत करते हैं— 'तस्मात्सर्वानृतून्पशवोऽग्निमभिसर्पन्ति' [ऋतुः = तद्यानि तानि भूतानि ऋतवस्ते (श.ब्रा. ६.१.३.८), अग्नयो वाऽऋतवः (श.ब्रा.६.२.१.३६.), पुनः पुनर्ऋच्छति गच्छत्यागच्छतीति ऋतुः (उ.को.१.७२)] अर्थात् अग्नि के जातवेदस्त्व के कारण ही विभिन्न पशु रूप प्राण, मरुत् व छन्दादि रश्मियाँ अग्नि एवं अग्नि से युक्त विभिन्न कण आदि पदार्थों, जो सतत गति करते रहते हैं, की ओर सर्पिलाकार गति करती रहती हैं। इसका अर्थ यह है कि जैसे विभिन्न प्राण एवं मरुदादि रश्मियाँ प्रकाशाणुओं की ओर अग्रसर होती अथवा उनसे संयुक्त होती हैं, वैसे ही तीव्रतापूर्वक गमन करते हुए सूक्ष्म कणों की ओर भी ये रश्मियाँ गमन करती और उनसे संयुक्त हुआ करती हैं।

जातवेदा अग्नि की ऋचा को अगले खण्ड में प्रस्तुत किया गया है।

* * * * *

विंशः खण्डः

[जातवेदसे सुनवाम सोममरातीयतो नि दहाति वेदः।
स नः पर्षदति दुर्गाणि विश्वा नावेव सिन्धुं दुरितात्यग्निः॥

[ऋ.१.९९.१]

जातवेदस इति जातवेदस्यां वैवं जातवेदसेऽर्चाय सुनवाम सोममिति।
प्रसवायाभिषवाय सोमं राजानममृतमरातीयतो यज्ञार्थमिति स्मोः।
निदहाति निश्चयेन दहति भस्मीकरोति। सोमो ददिदित्यर्थः।
स नः पर्षदति दुर्गाणि विश्वानि दुर्गमानि स्थानानि नावेव सिन्धुं सिन्धुं नावा नदीं जलदुर्गां महाकूलां तारयति। दुरितात्यग्निरिति दुरितानि तारयति।
तस्यैषापरा भवति॥][1]

[1] पण्डित भगवद्दत्त रिसर्च स्कॉलर के अनुसार कोष्ठकान्तर्गत सम्पूर्ण पाठ किसी अन्य निरुक्त अथवा किसी निरुक्त भाष्यकार का है।

प्र नूनं जातवेदसमश्वं हिनोत वाजिनम्।
इदं नो बर्हिरासदे॥ [ऋ.१०.१८८.१]
प्रहिणुत जातवेदसं कर्मभिः समश्नुवानम्। अपि वोपमार्थे स्यात्।
अश्वमिव जातवेदसमिति। इदं नो बर्हिरासीदतु इति।
तदेतदेकमेव जातवेदसं गायत्रं तृचं दशतयीषु विद्यते।
यत्तु किंचिदाग्नेयं तज्जातवेदसानां स्थाने युज्यते।
स न मन्येत अयमेवाग्निरिति। अप्येते उत्तरे ज्योतिषी जातवेदसी उच्येते।
ततो नु मध्यमः।
अभि प्रवन्त समनेव योषाः। [ऋ.४.५८.८] इति।
तत्पुरस्ताद् [निरु.७.१७] व्याख्यातम्।
उदु त्यं जातवेदसम्। [ऋ.१.५०.१] इति।
तदुपरिष्टाद् [निरु.१२.१५] व्याख्यास्यामः।
यस्तु सूक्तं भजते यस्मै हविर्निरुप्यतेऽयमेव सोऽग्निर्जातवेदाः।
निपातमेवैते उत्तरे ज्योतिषी एतेन नामधेयेन भजेते॥ २०॥

कोष्ठक के अन्तर्गत दिये हुए पाठ को अधिकांश भाष्यकारों ने इस ग्रन्थ का भाग नहीं माना है। स्कन्दस्वामी, पण्डित चन्द्रमणि विद्यालंकार आदि भाष्यकारों ने इसे अपने भाष्य में उद्धृत ही नहीं किया है। आचार्य भगीरथ शास्त्री, पण्डित मुकुन्द झा शर्मा, पण्डित भगवद्दत्त रिसर्च स्कॉलर, स्वामी ब्रह्ममुनि परिव्राजक, पण्डित सीताराम शास्त्री आदि भाष्यकारों ने इस भाग को उद्धृत तो किया है, परन्तु इसे ग्रन्थ का भाग न मानकर इसका भाष्य नहीं किया है। इसमें कुछ पाठभेद भी है। यह मन्त्र आगे इस ग्रन्थ के खण्ड १४.३३ में व्याख्यात किया गया है। ज्ञातव्य है कि इसी मन्त्र का भाष्य, जो ग्रन्थकार ने १४वें अध्याय में किया है, उसका यहाँ दिए गए भाष्य से कुछ पाठभेद है। इस कारण भी यह भाग अप्रकाशित एवं संदिग्ध है। इस कारण हमें सभी भाष्यकारों का मत उचित प्रतीत होता है। यद्यपि ऋग्वेद संहिता में यह ऋचा विद्यमान है, परन्तु जातवेदा अग्नि की एक अन्य ऋचा को उद्धृत किया ही है, इस कारण अन्य भाष्यकारों के मत को मानते हुए हम

इस मन्त्र का भाष्य नहीं कर रहे हैं।

अब हम अगला मन्त्र लेते हैं, वह मन्त्र इस प्रकार है—

प्र नूनं जातवेदसश्वं हिनोत वाजिनम्। इदं नो बर्हिरासदे॥

इस मन्त्र का ऋषि आग्नेय श्येन है। [श्येनः = स यदाह श्येनोऽसीति सोमं वा एतदाहैष ह वा अग्निर्भूत्वाऽस्मिंलोके संश्याययति। तद्यत्संश्याययति तस्माच्छ्येनस्तच्छ्ये-नस्य श्येनत्वं (गो.पू.५.१२)] इसका अर्थ यह है कि इस छन्द रश्मि की उत्पत्ति संदीप्त सोम रश्मियों से होती है। इसका देवता जातवेदा अग्नि और छन्द गायत्री होने से जातवेदा अग्नि श्वेतवर्णीय तेज से युक्त होने लगता है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(नूनम्, जातवेदसम्, अश्वम्, प्र, हिनोत, वाजिनम्) 'प्रहिणुत जातवेदसं कर्मभिः समश्नुवानम् अपि वोपमार्थे स्यात् अश्वमिव जातवेदसमिति' [वाजः = वाजः अन्ननाम (निघं.२.७), बलनाम (निघं.२.९), वाजो वै पशवः (ऐ.ब्रा.५.८)] विभिन्न देव पदार्थ अर्थात् प्राणादि रश्मियाँ अपने कर्मों से सबको व्याप्त करने वाले अथवा अत्यन्त आशुगामी नाना प्रकार के संयोजक बलों और उनकी कारणभूत छन्दादि रश्मियों से युक्त जातवेदा अग्नि को निश्चय ही अच्छी प्रकार से प्रेरित करती हैं। इसका अर्थ यह है कि इस सृष्टि के सभी पदार्थों के अन्दर जो जातवेदा अग्नि विद्यमान है, वह उन पदार्थों में सम्पूर्ण रूप से व्याप्त होता है तथा उसकी उत्पत्ति नाना प्रकार की छन्द रश्मियों से होती है। इस अग्नि को विभिन्न प्राण रश्मियाँ सदैव प्रेरित करती रहती हैं किंवा इन प्राण रश्मियों के बिना इस अग्नि का कोई अस्तित्व नहीं है।

(इदम्, नः, बर्हिः, आसदे) 'इदं नो बर्हिरासीदतु इति' [बर्हिः = अयं लोको बर्हिः (श.ब्रा. १.४.१.२४) बर्हिः अन्तरिक्षनाम (निघं.१.३), प्रजा वै बर्हिः (कौ.ब्रा.५.७)] यह अग्नि हमारे अर्थात् संदीप्त सोम रश्मि रूप ऋषि प्राण में स्थित आकाशतत्त्व, सूक्ष्म कण आदि पदार्थों में विद्यमान होता है अर्थात् वे पदार्थ अग्नितत्त्व के आधार रूप होते हैं।

अब ग्रन्थकार अग्नि एवं जातवेदा दोनों पदों के विषय में स्पष्ट करते हैं— 'तदेतदेकमेव जातवेदसं गायत्रं तृचं दशतयीषु विद्यते यत्तु किंचिदाग्नेयं तज्जातवेदसानां स्थाने युज्यते' उपर्युक्त ऋग्वेदीय सूक्त (१०.१८८) सभी दस मण्डलों में अकेला ही ऐसा सूक्त है, जिसका देवता जातवेदाग्नि है और जिसकी सभी ऋचाओं में भी जातवेदस् पद विद्यमान

है। इसके अतिरिक्त अन्य जो भी आग्नेय सूक्त ऋग्वेद में विद्यमान हैं तथा जिनका छन्द गायत्री है, वहाँ 'अग्नि' पद जातवेदा के स्थान पर प्रयुक्त हैं। इससे स्पष्ट होता है कि जातवेदा और अग्नि दोनों ही पर्यायवाची हैं।

तदनन्तर कहते हैं— 'स न मन्येत अयमेवाग्निरिति अप्येते उत्तरे ज्योतिषी जातवेदसी उच्येते ततो नु मध्यमः' अर्थात् कोई पाठक यह न समझे कि पूर्वोक्त पृथिवीस्थानीय अग्नि को ही जातवेदा कहते हैं, अपितु अन्य दोनों प्रकार के अग्नि अर्थात् अन्तरिक्षस्थानी, जिसे मध्यमस्थानी भी कहा जाता है एवं द्युस्थानी, जिसे आदित्य अग्नि भी कहा जाता है, को भी जातवेदा अग्नि कहते हैं। यहाँ जातवेदा का तात्पर्य पूर्ववत् समझ सकते हैं। अब ग्रन्थकार मध्यमस्थानी जातवेदा का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं— 'अभि प्रवन्त समनेव योषाः'। इस सम्पूर्ण मन्त्र की व्याख्या हम पूर्व में खण्ड ७.१७ में कर चुके हैं।

अब ग्रन्थकार अन्य जातवेदा अग्नि अर्थात् आदित्य अग्नि के उदाहरण के रूप में एक ऋचा इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं— 'उदु त्यं जातवेदसम्'। इसकी व्याख्या आगे खण्ड १२.१५ में की जाएगी।

इसके पश्चात् ग्रन्थकार लिखते हैं— 'यस्तु सूक्तं भजते यस्मै हविर्निरुप्यतेऽयमेव सोऽग्निर्जातवेदाः निपातमेवैते उत्तरे ज्योतिषी एतेन नामधेयेन भजेते'। इस भाग की व्याख्या पूर्व खण्ड ७.१८ के समान समझें।

* * * * *

एकविंशः खण्डः

वैश्वानरः कस्मात्। विश्वान्नरान्नयति। विश्व एनं नरा नयन्तीति वा। अपि वा विश्वानर एव स्यात्। प्रत्यृतः सर्वाणि भूतानि। तस्य वैश्वानरः। तस्यैषा भवति॥ २१॥

अब अग्नि के ही एक रूप वैश्वानर की चर्चा करते हुए कहते हैं कि अग्नि को

वैश्वानर क्यों कहते हैं? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए ग्रन्थकार स्वयं कहते हैं— 'विश्वान्नरान्नयति विश्व एनं नरा नयन्तीति वा' [नरः = अश्वनाम (निघं.१.१४), प्रजा वै नरः (ऐ.ब्रा.२.४), नरो वै देवानां ग्रामः (तां.ब्रा.६.९.२)] अर्थात् अग्नि सभी प्रकार के कणों, आशुगामी रश्मियों, विभिन्न देव पदार्थों अर्थात् विभिन्न छन्द एवं प्राण रश्मि समूहों तथा स्थूल पिण्डों को ले जाने वाला होता है। अग्नि ही इन सब पदार्थों के मार्गों को निर्धारित करता और उनमें व्याप्त होता है। अगले निर्वचन में कहा कि ये सभी पदार्थ अग्नितत्त्व को अपने साथ लेकर गमन करते हैं अर्थात् कोई भी पदार्थ अग्नि से रहित होकर न तो गमन कर सकता है और न गमन की दिशा ही निश्चित कर सकता है।

इसी पद का अगला निर्वचन करते हुए कहते हैं कि उपर्युक्त निर्वचनों के साथ एक विकल्प यह भी है कि मूल पद 'विश्वानरः' ही है और विश्वानर इसलिए है, क्योंकि यह अग्नि सभी उत्पन्न पदार्थों को प्राप्त किया हुआ होता है। यहाँ 'विश्वानरः' पद का अर्थ है— 'विश्वान् अर एव स्यात्' अर्थात् जो सभी उत्पन्न पदार्थों में व्याप्त होवे, उसे विश्वानर कहते हैं। इस विश्वानर नामक पदार्थ से उत्पन्न पदार्थ वैश्वानर कहलाता है। उल्लेखनीय है कि मरुत् रश्मियों को भी नर कहा जाता है। इस कारण मरुत् रश्मियों को वहन करने वाली रश्मियों अर्थात् प्राण रश्मियों को विश्वानर कहा जाता है और इन्हीं को वैश्वानर भी कहा जाता है।

इसकी ऋचा अगले खण्ड में उद्धृत की गई है।

* * * * *

= द्वाविंशः खण्डः =

वैश्वानरस्य सुमतौ स्याम राजा हि कं भुवनानामभिश्रीः।
इतो जातो विश्वमिदं वि चष्टे वैश्वानरो यतते सूर्येण॥ [ऋ.१.९८.१]
इतो जातः सर्वमिदमभिविपश्यति। वैश्वानरः संयतते सूर्येण। राजा यः सर्वेषां भूतानामभिश्रयणीयः तस्य वयं वैश्वानरस्य कल्याण्यां मतौ स्यामेति।

तत्को वैश्वानरः। मध्यम इत्याचार्याः। वर्षकर्मणा ह्येनं स्तौति॥ २२॥

इस मन्त्र का ऋषि आङ्गिरस कुत्स है अर्थात् इस छन्द रश्मि की उत्पत्ति सूक्ष्म प्राण रश्मियों से उत्पन्न वज्र रश्मियों अथवा दहकती हुई अग्नि से उत्पन्न तीक्ष्ण वज्ररूप तरंगों से होती है। इसका देवता वैश्वानर एवं छन्द विराट् त्रिष्टुप् होने से इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से पूर्वोक्त वैश्वानर अग्नि विविध प्रकार के रक्तवर्णीय तीव्र तेज से युक्त होता है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(वैश्वानरस्य) सभी पदार्थों के वाहक एवं उनमें सदैव बसने वाले पूर्वोक्त वैश्वानर अग्नि की (सुमतौ, स्याम) [मतिः = वाग्वै मतिर्वाचा हीदं सर्वं मनुते (श.ब्रा.८.१.२.७), प्रजा वै मतयः (तै.आ.५.६.८)] अवयवभूत विभिन्न वाक् रश्मियों एवं उस वैश्वानर अग्नि द्वारा ले जाए जा रहे विभिन्न कण आदि पदार्थों के अन्दर आङ्गिरस कुत्स नामक उपर्युक्त ऋषि रश्मियाँ विद्यमान होती हैं, जो नाना प्रकार की संयोग क्रियाओं में बाधक बन रहे असुरादि पदार्थों को नष्ट करती रहती हैं। (राजा, हि, कम्) [कम् = पदपूरणः (निरु.१.४)] विभिन्न पदार्थों को प्रकाशित व नियन्त्रित करने वाला वैश्वानर अग्नि निश्चित ही राजा रूप होता है। (भुवनानाम्, अभिश्रीः) [भुवनम् = यज्ञो वै भुवनम् (तै.ब्रा.३.३.७.५)] सृष्टि में उत्पन्न विभिन्न पदार्थ एवं उनके मध्य होने वाली नाना प्रकार की यजन क्रियाएँ वैश्वानर अग्नि पर ही आश्रित होती हैं अर्थात् इसके अभाव में न तो किसी पदार्थ की उत्पत्ति ही हो सकती है और न उत्पन्न पदार्थों के मध्य कोई यजन क्रिया ही सम्भव है।

(इतः, जातः, विश्वम्, इदम्, विचष्टे) यहाँ उत्पन्न होने वाला अग्नि अर्थात् पृथिवीस्थानी वैश्वानर अग्नि सभी पदार्थों को प्रकाशित करता है। यहाँ यह प्रश्न उठता है कि पृथिवीस्थानी विद्युत् आदि वैश्वानर अग्नि सम्पूर्ण विश्व को कैसे प्रकाशित करता अथवा कर सकता है? इसका उत्तर मन्त्र के अन्तिम पाद में दिया गया है, जो इस प्रकार है— (वैश्वानरः, सूर्येण, यतते) पृथिवीस्थानी वैश्वानर अग्नि सूर्य की किरणों के साथ संगत होता है अर्थात् जब सूर्य की किरणें किसी कण से टकराती हैं, तब उस कण में विद्यमान वैश्वानर अग्नि अर्थात् विद्युत् व प्राण रश्मियाँ उन सूर्य की किरणों के साथ क्रिया करते हुए उनको परावर्तित कर देती हैं। इस क्रिया में कुछ छन्द रश्मियों का भी योगदान रहता है। जब वे परावर्तित किरणें किसी द्रष्टा के नेत्र तक पहुँचती हैं, तब वह कण आदि पदार्थ द्रष्टा को दिखाई देने लगता है। इसी प्रकार सृष्टि के सभी पदार्थ दिखाई देते हैं।

अब हम ग्रन्थकार द्वारा किए संक्षिप्त भाष्य पर विचार करते हैं। वह भाष्य इस प्रकार है— 'इतो जातः सर्वमिदमभिविपश्यति वैश्वानरः संयतते सूर्येण राजा यः सर्वेषां भूतानामभिश्रयणीयः तस्य वयं वैश्वानरस्य कल्याण्यां मतौ स्यामेति'। इसका अर्थ यह है— पृथिवीस्थानी वैश्वानर अग्नि सभी पदार्थों को चारों ओर से विविध प्रकार से देखता है अर्थात् सब पदार्थों को दिखाता है। ऐसा करने के लिए वह अग्नि सूर्य की किरणों के साथ अच्छी प्रकार से संयुक्त होता है, तभी कोई पदार्थ दिखाई देता है अथवा दे सकता है। ऐसा वह वैश्वानर अग्नि अर्थात् विद्युत् वा प्राणादि रश्मियाँ सभी पदार्थों को प्रकाशित व नियन्त्रित करने वाली होती हैं, इस कारण सभी उत्पन्न पदार्थ इस वैश्वानर अग्नि पर ही आश्रित रहते हैं। यहाँ ग्रन्थकार लिखते हैं कि हम सब मनुष्यों को उस वैश्वानर अग्नि को अपनी प्रज्ञा से जानना और सर्वहितार्थ उसका उपयोग करना चाहिए। वर्तमान वैज्ञानिक इस मूलमन्त्र से नितान्त दूर हैं। उन्हें सर्वहित की अनिवार्यता का न तो कोई बोध है और न वे सर्वहित को विज्ञान की परिभाषा के अन्तर्गत ही मानते हैं। आधुनिक विज्ञान का यह अत्यन्त भयावह दोष है। यहाँ मति अर्थात् प्रज्ञा के साथ उन्होंने कल्याणी विशेषण जोड़कर यह स्पष्ट कर दिया है कि वैज्ञानिक अथवा राजा को सदैव सर्वकल्याणकारिणी प्रज्ञा वाला ही होना चाहिए। जिस दिन वैज्ञानिकों एवं राजसत्ताओं को इस बात का बोध हो जायेगा, उस दिन विज्ञान व तकनीक न केवल मानव सभ्यता, अपितु प्राणिमात्र के कल्याण का ही साधन बनेगा, न कि वर्तमान की भाँति विनाश का। ध्यातव्य है कि ऋषि दयानन्द ने भी ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में विज्ञान की परिभाषा करते हुए विज्ञान का सर्वहितकारी होना अनिवार्य बताया है।

उल्लेखनीय है कि विज्ञान के विषय में ऐसा उपदेश आधिभौतिक व्याख्या का रूप है। हमने मन्त्र के भाष्य में इस भाग का भी आधिदैविक अर्थ किया है।

इस मन्त्र का ऋषि दयानन्द कृत भाष्य इस प्रकार है—

''**पदार्थः** — (वैश्वानरस्य) विश्वेषु नरेषु जीवेषु भवस्य (सुमतौ) शोभना मतिर्यस्य यस्माद्वा तस्याम् (स्याम) भवेम (राजा) न्यायाधीशः सर्वाऽधिपतिरीश्वरः। प्रकाशमानो विद्युदग्निर्वा (हि) खलु (कम्) सुखम् (भुवनानाम्) लोकानाम् (अभिश्रीः) अभितः श्रियो यस्माद्वा (इतः) कारणात् (जातः) प्रसिद्धः (विश्वम्) सकलं जगत् (इदम्) प्रत्यक्षम् (वि) (चष्टे) दर्शयति (वैश्वानरः) सर्वेषां जीवानां नेता (यतते) संयतो भवति (सूर्येण) प्राणेन

वा मार्त्तण्डेन सह॥ अत्राहुर्नैरुक्ताः- इतो जातः सर्वमिदमभिविपश्यति, वैश्वानरः संयतते सूर्येण, राजा यः सर्वेषां भूतानामभिश्रयणीयस्तस्य वयं वैश्वानरस्य कल्याण्यां मतौ स्यामेति। तत्को वैश्वानरो मध्यम इत्याचार्या वर्षकर्मणा ह्येनं स्तौति। निरु.७.२२॥

भावार्थः — [अत्र श्लेषालङ्कारः] हे मनुष्या योऽभिव्याप्य सर्वं जगत्प्रकाशयति तस्यैव सुगुणैः प्रसिद्धायां तदाज्ञायां नित्यं प्रवर्त्तध्वम्। यस्तथा सूर्य्यादिप्रकाशकोऽग्निरस्ति तस्य विद्यासिद्धौ च नैवं विना कस्यापि मनुष्यस्य पूर्णाः श्रियो भवितुं शक्यन्ते।

पदार्थ— जो (वैश्वानरः) समस्त जीवों को यथायोग्य व्यवहारों में वर्त्ताने वाला ईश्वर वा जाठराग्नि (इतः) कारण से (जातः) प्रसिद्ध हुए (इदम्) इस प्रत्यक्ष (कम्) सुख को (विश्वम्) वा समस्त जगत् को (विचष्टे) विशेष भाव से दिखलाता है और जो (सूर्येण) प्राण वा सूर्यलोक के साथ (यतते) यत्न करने वाला होता है वा जो (भुवनानाम्) लोकों का (अभिश्रीः) सब प्रकार से धन है तथा जिस भौतिक अग्नि से सब प्रकार का धन होता है वा (राजा) जो न्यायाधीश सबका अधिपति है तथा प्रकाशमान बिजुलीरूप अग्नि है, उस (वैश्वानरस्य) समस्त पदार्थ को देने वाले ईश्वर का भौतिक अग्नि की (सुमतौ) श्रेष्ठ मति में अर्थात् जो कि अत्यन्त उत्तम अनुपम ईश्वर की प्रसिद्ध की हुई मति वा भौतिक अग्नि से अतीव प्रसिद्ध हुई मति उसमें (हि) ही (वयम्) हम लोग (स्याम) स्थिर हों।

भावार्थ— इस मन्त्र में श्लेषालङ्कार है। हे मनुष्यो! जो सबसे बड़ा व्याप्त होकर सब जगत् को प्रकाशित करता है, उसी के अति उत्तम गुणों से प्रसिद्ध उसकी आज्ञा में नित्य प्रवृत्त होओ तथा जो सूर्य आदि को प्रकाशित करने वाला अग्नि है, उसकी विद्या की सिद्धि में भी प्रवृत्त होओ, इसके बिना किसी मनुष्य को पूर्ण धन नहीं हो सकते।''

यहाँ ग्रन्थकार प्रश्न उठाते हैं कि वैश्वानर क्या वस्तु है? इसका उत्तर देते हुए ग्रन्थकार ने लिखा है कि पूर्व आचार्य अथवा ग्रन्थकार के आचार्य की दृष्टि में मध्यम अग्नि अर्थात् विद्युत् को ही वैश्वानर कहते हैं, क्योंकि इस वैश्वानर की वेद में वृष्टिकरण के द्वारा स्तुति की गई है, जिसकी ऋचा अगले खण्ड में प्रस्तुत की गई है।

* * * * *

= त्रयोविंशः खण्डः =

प्र नू महित्वं वृषभस्य वोचं यं पूरवो वृत्रहणं सचन्ते।
वैश्वानरो दस्युमग्निर्जघन्वाँ अधूनोत्काष्ठा अव शम्बरं भेत्॥

[ऋ.१.५९.६]

प्रब्रवीमि तत्। महित्वं माहाभाग्यम्। वृषभस्य वर्षितुरपाम्।
यं पूरवः पूरयितव्या मनुष्याः। वृत्रहणं मेघहनम्। सचन्ते सेवन्ते वर्षकामाः।
दस्युर्दस्यतेः क्षयार्थात्। उपदस्यन्त्यस्मिन् रसाः। उपदासयति कर्माणि।
तमग्निर्वैश्वानरो घ्नन्। अवाधूनोदपः काष्ठाः। अभिनत् शम्बरं मेघम्।
अथासावादित्य इति पूर्वे याज्ञिकाः।
एषां लोकानां रोहेण सवनानां रोह आम्नातः। रोहात् प्रत्यवरोहश्चिकीर्षितः। तामनुकृतिं होताग्निमारुते शस्त्रे वैश्वानरीयेण सूक्तेन प्रतिपद्यते सोऽपि न स्तोत्रियमाद्रियेत। आग्नेयो हि भवति। तत आगच्छति मध्यस्थाना देवता रुद्रं च मरुतश्च। ततोऽग्निमिहस्थानम्। अत्रैव स्तोत्रियं शंसति।

इस ऋचा का ऋषि गोतम नोधा है। इसका तात्पर्य यह है कि इस छन्द रश्मि की उत्पत्ति गोतम नोधा नामक ऋषि रश्मियों से होती है। ये ऋषि रश्मियाँ अति तीव्रगामी धनञ्जय रश्मियों से उत्पन्न होती हैं। इनके विषय में हम पूर्व में खण्ड ४.१६ में लिख चुके हैं। इसका देवता वैश्वानर अग्नि तथा छन्द त्रिष्टुप् होने से इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से आकाशस्थ विद्युत् रूप अग्नि तीव्र रक्तवर्णीय तेज से युक्त होती है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(प्र, वोचम्, महित्वम्, नू, वृषभस्य) 'प्रब्रवीमि तत् महित्वं माहाभाग्यम् वृषभस्य वर्षितुरपाम्' इस छन्द रश्मि की कारणरूप नोधा ऋषि रश्मियाँ नाना प्रकार की आपः अर्थात् विभिन्न तन्मात्राओं व प्राणादि रश्मियों की वृष्टि करने वाले अथवा विभिन्न सूक्ष्म कणों एवं प्राण रश्मियों से परिपूर्ण [वृषभः = स एष आदित्यः सप्तरश्मिर्वृषभस्तुविष्मान् (जै.उ.१.२८.२)] आदित्यलोक को प्रकृष्ट रूप से प्रकाशित करती हैं एवं वे उस

निर्माणाधीन आदित्यलोक को व्यापक रूप से नाना प्रकार की वाक् रश्मियों से युक्त करती हैं। वे ही रश्मियाँ उस आदित्यलोक की विशालता और महिमा को दर्शाती हैं। इसका अर्थ यह है कि उन प्राणादि रश्मियों के अभाव में सूर्यलोक की विशालता और गुणों को जानना भी सम्भव नहीं है।

(यम्, पूरवः, वृत्रहणम्, सचन्ते) 'यं पूरवः पूरयितव्या मनुष्याः वृत्रहणं मेघहनम् सचन्ते सेवन्ते वर्षकामाः' जिसके लिए ऐसे मनुष्य नामक कण, जिनकी चर्चा हम पीछे खण्ड ३.७ में कर चुके हैं और जो विभिन्न यजन क्रियाओं को सम्पादित करने में प्रत्यक्ष व परोक्ष भूमिका निभाते हैं, ऐसे वे कण वृत्र नामक विशाल आसुर मेघ के संसर्ग में आते हैं और उनसे प्रतिक्रिया करते हैं। ये मनुष्य नामक कण आदित्य लोक के निर्माण हेतु नाना प्रकार के कणों एवं रश्मि आदि पदार्थों की वृष्टि कराने का प्रयास करते हैं।

इसके पश्चात् (वैश्वानरः, अग्निः, दस्युम्, जघन्वान्) 'दस्युर्दस्यतेः क्षयार्थात् उपदस्यन्त्य-स्मिन् रसाः उपदासयति कर्माणि तमग्निर्वैश्वानरो घ्नन्' पूर्वोक्त वैश्वानर अग्नि आदित्य लोक की निर्माण प्रक्रिया को क्षीण करने वाली उस प्रक्रिया की बीज रूप विभिन्न प्राणादि रश्मियों एवं उनकी क्रियाशीलता को क्षीण करने वाले विभिन्न असुरादि पदार्थों को नष्ट कर देता है, जिससे यजन व संघनन की प्रक्रिया की बाधा दूर होने लगती हैं। इस समय (अधूनोत्, काष्ठाः, शम्बरम्, अवभेत्) 'अवाधूनोदपः काष्ठाः अभिनत् शम्बरं मेघम्' [काष्ठाः = सुवर्गो वै लोकः काष्ठा (तै.ब्रा.१.३.६.५), दिङ्नाम (निघं.१.६)] कॉस्मिक मेघ, जिससे आदित्य लोक का निर्माण हो रहा होता है, छिन्न-भिन्न हो जाता है और निर्मित हो रहे आदित्य लोक के केन्द्रीय भाग और आदित्य लोक की दिक् रूप रश्मियाँ और दोनों ध्रुव कम्पन करने लगते हैं। इसका अर्थ यह है कि कोई भी तारा जब निर्मित हो रहा होता है, तब वह तीव्रता से कम्पन कर रहा होता है।

भावार्थ— विभिन्न प्रकार की ऋषि रश्मियाँ नाना प्रकार की छन्द रश्मियों को उत्पन्न करके आदित्य लोकों का निर्माण करती हैं। आदित्य लोकों का आकार, स्वरूप और तेज सब कुछ इन रश्मियों पर ही निर्भर करता है। कुछ विशेष प्रकार के कण आदित्य लोकों के निर्माण हेतु नाना प्रकार के कणों व रश्मियों को उत्पन्न वा प्रकट करने में सहायक होते हैं। तीव्र ऊष्मा बाधक असुरादि पदार्थों को नष्ट करके यजन और संघनन की प्रक्रिया को समृद्ध करती है। जब संतप्त कॉस्मिक मेघ में विखण्डन होता है, तब वह सम्पूर्ण मेघ तेजी

से कम्पन करता है। मध्य भाग जो तारे के रूप में परिवर्तित होने वाला होता है, उस समय उसके उत्तरी और दक्षिणी दोनों ध्रुव तेजी से कम्पन करने लगते हैं।

अब ग्रन्थकार प्राचीन याज्ञिकों के मत को प्रस्तुत करते हुए लिखते हैं कि आदित्य लोक ही वैश्वानर है। इसके विभिन्न हेतु दर्शाते हुए क्रमशः लिखते हैं—

१. इन लोकों की उत्पत्ति से विभिन्न सवनों की उत्पत्ति मानी गयी है। [लोकः = छन्दांसि वै सर्वे लोकाः (जै.ब्रा.१.३३२), इमे वै लोकाः (पृथिवी, अन्तरिक्षम्, द्यौः) देवाः साध्याः (मै.सं.३.७.१०)। सवनम् = सवनम् यज्ञनाम (निघं.३.१७), स्थानानि (निरु.५.२५)] इसका अर्थ यह है कि छन्द रश्मियों, विशेषकर तीन प्रकार की मुख्य छन्द रश्मियों (गायत्री, त्रिष्टुप् एवं जगती) की प्रधानता के पृथक्-पृथक् क्षेत्र एवं यजन कर्म ऋषियों ने कहे हैं। इसके साथ ही तीनों लोकों अर्थात् पृथिवीलोक, अन्तरिक्ष लोक एवं आदित्य लोक के निर्माण की प्रक्रिया में पृथक्-पृथक् क्षेत्र एवं यजन कर्म जाने जाते हैं। इन यजन कर्मों को क्रमशः प्रातःसवन, माध्यन्दिन सवन एवं तृतीय सवन कहा जाता है। इनका सम्बन्ध इस प्रकार दर्शाया गया है—

गायत्री छन्द एवं पृथिवीलोक का सम्बन्ध प्रातःसवन के साथ है। इससे संकेत मिलता है कि पृथिव्यादि लोकों की रचना के समय गायत्री छन्द रश्मियों की प्रधानता होती है। पृथिवी आदि लोकों एवं सूर्यादि लोकों के मध्य अवकाश रूपी अन्तरिक्ष के निर्माण की प्रक्रिया के समय अर्थात् विशाल कॉस्मिक मेघ से दोनों ही प्रकार के लोकों के मध्य दूरी के बढ़ने की प्रक्रिया के समय त्रिष्टुप् छन्द रश्मियों की प्रधानता होती है। ध्यातव्य है कि पहले दोनों ही प्रकार के लोक परस्पर निकट ही विद्यमान होते हैं, फिर वे धीरे-धीरे दूर हटते चले जाते हैं। यहाँ इसी प्रक्रिया की चर्चा है। इसकी प्रक्रिया को पाठक 'वेदविज्ञान-आलोकः' में पढ़ें। अब आदित्य लोक के निर्माण की प्रक्रिया के विषय में इतना ज्ञातव्य है कि इस प्रक्रिया के समय जगती छन्द रश्मियों की प्रधानता होती है।

इस प्रक्रिया के विपरीत इन तीनों ही लोकों के प्रलय की प्रक्रिया भी कही गयी है। इस प्रक्रिया के अनुकरण के रूप में होता अर्थात् प्राण नामक प्राण रश्मियाँ एवं वाक् रश्मियाँ अग्निमरुत् देवता वाले मन्त्र समूहों को 'वैश्वानर' शब्द से प्रारम्भ होने वाले सूक्त से प्रारम्भ करती हैं। इसे 'वेदविज्ञान-आलोकः' ३.१४.४ में समझा जा सकता है, जहाँ

ऋग्वेद का सम्पूर्ण ३.३ सूक्त जगती छन्दस्क है। इस सूक्त के पूर्व केवल दो ऋचाएँ बृहती छन्दस्क हैं। ये ऋचाएँ क्रमशः साम.उ.आ.७०३, ७०४ हैं। इस प्रकार प्रधानता के आधार पर सभी ऋचाएँ जगती छन्दस्क हैं तथा इन छन्द रश्मियों के प्रभाव से तारों के केन्द्रीय भागों के निर्माण की प्रक्रिया हो रही होती है। इसे 'वेदविज्ञान-आलोकः' के उपर्युक्त स्थान पर देखा जा सकता है। इस प्रकरण में ग्रन्थकार का कथन है कि स्तोत्रिय संज्ञक [स्तोत्रियः = साम वै स्तोत्रिय ऋगनुरूपः (जै.ब्रा.३.२१)] अर्थात् उपर्युक्त साम ऋचाओं (साम.उ.आ.७०३, ७०४), जो अग्नि देवता की हैं, की विशेष महत्ता नहीं है, जबकि अग्निमरुत् देवताक ऋग्वेद ३.३ सूक्त रूप छन्द रश्मि समूह की महत्ता सिद्ध की गई है।

इसका अर्थ यह है कि आदित्य लोकों के निर्माण में अग्नि देवता वाली ऋचाओं की अपेक्षा अग्निमरुत् देवता वाली ऋचाओं की भूमिका अधिक होती है। इसका कारण यह है कि आदित्य लोकों के निर्माण में अग्नि एवं सोम दोनों की ही संयुक्त भूमिका होती है, किन्तु इससे यह आशय नहीं निकालना चाहिए कि पृथिवी आदि लोकों के निर्माण में इन दोनों की भूमिका नहीं होती। यहाँ केवल सापेक्ष चर्चा की गई है, निरपेक्ष नहीं। यहाँ साम रश्मियों को स्तोत्रिय कहने का तात्पर्य यह नहीं समझना चाहिए कि साम रश्मियाँ ही स्तोत्रिय होती हैं, बल्कि यहाँ अग्नि देवता वाली ऋचाओं को ही स्तोत्रिय कहा गया है। यहाँ यह प्रश्न भी उठ सकता है कि सूर्य में अग्नि व मरुत् की प्रधानता क्यों है? इसका उत्तर यह है कि सूर्य आग्नेय के साथ वायव्य रूप भी है, जबकि पृथिव्यादि लोक ऐसे नहीं हैं। यहाँ अग्नि का तात्पर्य ऊष्मा व प्रकाश ही नहीं, अपितु विद्युत् भी है।

इसके पश्चात् ग्रन्थकार मध्यम स्थान के विषय में याज्ञिकों के मत की चर्चा करते हुए लिखते हैं कि इस स्थान व सवन में रुद्र एवं मरुत् देवता वाली ऋचाओं की भूमिका अधिक होती है। इससे यह संकेत मिलता है कि लोकों की परस्पर दूरगमन क्रिया में रुद्र अर्थात् तीक्ष्ण अग्नि और इन्द्र तथा मरुत् रश्मियों की प्रधान भूमिका होती है। इसका अर्थ यह है कि इस क्रिया में तीक्ष्ण बलों और ऊष्मा की संयुक्त भूमिका होती है। ये बल आसुरी होते हैं।

इसके पश्चात् पृथिवीस्थानी अग्नि की चर्चा करते हुए ये आचार्य कहते हैं कि उपर्युक्त दोनों चरणों की अपेक्षा इस समय अग्नि देवता वाली ऋचाओं की भूमिका अधिक होती है। यहाँ पाठकों के मन में यह प्रश्न उपस्थित हो सकता है कि ग्रन्थकार ने याज्ञिक

आचार्यों के मत को प्रस्तुत किया है, अतः इसका व्याख्यान भी यज्ञपरक ही होना चाहिए, न कि आधिदैविक, तब हमने उसका आधिदैविक व्याख्यान क्यों किया है? इसके उत्तर में हमारा निवेदन है कि सम्पूर्ण सृष्टि परमात्मा द्वारा किया जा रहा विशालतम यज्ञ है। इसी यज्ञ को समझाने के लिए कुछ ऋषियों ने नाना प्रकार के यज्ञ कल्पित किए। उन यज्ञों की सभी प्रक्रियाएँ प्रतीकात्मक ही होती हैं, वस्तुतः वे सृष्टि की ही व्याख्या कर रही होती हैं। इस कारण हमने उन याज्ञिक प्रक्रियाओं की उपेक्षा करके सीधे वास्तविक तथ्यों को उजागर किया है, जो कि उन ऋषियों का भी मूल उद्देश्य था। हमने सर्वत्र यही शैली अपनाई है। इसी प्रकार ग्रन्थकार ने जहाँ कहीं भी ऐतिहासिक शैली द्वारा सृष्टि की व्याख्या करने वालों के पक्ष को प्रस्तुत किया है, वहाँ हमने सृष्टि के नित्य इतिहास को उद्घाटित करने के लिए यौगिक शैली का आश्रय ही लिया है, जबकि अन्य व्याख्याकारों ने वेद की अनित्य इतिहासपरक व्याख्या करके घोर अनर्थ किया है। वस्तुतः ऐसा करना और प्रतीकात्मक लौकिक यज्ञपरक व्याख्या करना वेद के वेदत्व को नष्ट करने वाला ही है। दुर्भाग्यवश हजारों वर्षों से ऐसा ही अनर्थ होता चला आया है, जिसे दूर करके वेद के वेदत्व को बचाना ही हमारा संकल्प है।

अथापि वैश्वानरीयो द्वादशकपालो भवति। एतस्य हि द्वादशविधं कर्म। अथापि ब्राह्मणं भवति।

असौ वा आदित्योऽग्निर्वैश्वानरः। [मै.सं.२.१.२] इति।

२. आदित्य को वैश्वानर कहने के लिए कुछ आचार्यों के तर्क को प्रस्तुत करते हुए फिर लिखते हैं कि वैश्वानर देवता वाला पुरोडाश बारह कपालों पर पकाया हुआ होता है। यह कर्मकाण्ड का विषय है। इसका आधिदैविक पक्ष यह है कि आदित्य रश्मियाँ मुख्य रूप से बारह प्रकार की प्राण रश्मियों से निर्मित होती हैं। ये रश्मियाँ क्रमशः इस प्रकार मानी जा सकती हैं—

१. प्राण
२. अपान
३. व्यान
४. समान

५. उदान
६. धनञ्जय
७. सूत्रात्मा वायु
८. कूर्म
९. विभिन्न छन्द रश्मियाँ
१०. मरुत् रश्मियाँ
११. ऋतु रश्मियाँ
१२. मास रश्मियाँ

यहाँ कपाल का अर्थ है— प्राण रश्मियों द्वारा रक्षित। कोई भी प्रकाशाणु इन बारह प्रकार की रश्मियों से निर्मित और रक्षित होने के कारण ही बारह कपाल वाला कहा जाता है। इसके साथ ही आदित्य रश्मियों के बारह प्रकार के कर्म मुख्य रूप से माने जाते हैं। इन बारह प्रकारों को हम पृथक्-पृथक् स्तर पर पृथक्-पृथक् मान सकते हैं। सूक्ष्म स्तर पर इन उपर्युक्त बारह प्रकार की रश्मियों के कर्म किसी भी प्रकाशाणु के अन्दर ये पृथक्-२ होते हैं। स्थूल स्तर पर बारह प्रकार के कर्म इस प्रकार माने जा सकते हैं—

१. प्रकाश करना
२. उष्णता प्रदान करना
३. कणों का भेदन करना
४. कणों का संयोजन करना
५. विभिन्न रसों का आकर्षण करना अर्थात् जल आदि का वाष्पन करना
६. प्रकाश संश्लेषण
७. विभिन्न प्राणियों का पोषण
८. हानिकारक जीवाणुओं को नष्ट करना
९. आदित्य लोकों में विद्यमान सम्पूर्ण पदार्थ का केन्द्रीय भाग की ओर कार्यरत गुरुत्वाकर्षण बल का संतुलन रखना
१०. अत्यन्त तीव्र गति से गमन करना
११. सूक्ष्म कणों को उठाकर ले जाना (फोटोइलेक्ट्रिक इफेक्ट, वाष्पन क्रिया आदि)
१२. विभिन्न कणों की ऊर्जा में वृद्धि करना।

आदित्य लोक को भी वैश्वानर कहा जा सकता है और आदित्य रश्मियों के कर्मों को आदित्य लोक के कर्म भी माना जा सकता है। इसके अतिरिक्त आदित्य लोक छः ऋतुओं का निर्माता है। इस प्रकार यह १२ मासों का भी निर्माता होने से वैश्वानर कहलाता है। इस कारण भी आदित्य रश्मियाँ वैश्वानर कहलाती हैं, क्योंकि वैश्वानर देवता के पुरोडाश की याज्ञिक प्रक्रिया से इसके अवयवों की संख्या और इसके कर्मों की संख्या की साम्यता है।

३. कुछ आचार्यों ने इसका हेतु देते हुए कुछ लिखा है कि वेद के व्याख्याकारों का भी कथन है— 'असौ वा आदित्योऽग्निर्वैश्वानरः' अर्थात् आदित्य का अग्नि किंवा आदित्य की रश्मियों को भी वैश्वानर कहा जाता है।

अथापि निवित्सौर्यवैश्वानरी भवति।
आ यो द्यां भात्यापृथिवीम्। [शा.श्रौ.८.२२.१] इति।
एष हि द्यावापृथिव्यौ आभासयति।
अथापि छान्दोमिकं सूक्तं सौर्यवैश्वानरं भवति।
दिवि पृष्टो अरोचत। [यजु.३३.९२] इति।
एष हि दिवि पृष्ठो अरोचतेति।
अथापि हविष्पान्तीयं सूक्तं [ऋ.१०.८८] सौर्यवैश्वानरं भवति।

४. अन्य आचार्यों का मत प्रस्तुत करते हुए लिखा कि निवित् रश्मियाँ भी सूर्यलोक एवं सूर्य की रश्मियों को वैश्वानर सिद्ध करने वाली होती हैं। 'वेदविज्ञान-आलोकः' ग्रन्थ में निम्नलिखित बारह रश्मियों को निवित् अर्थात् मास रश्मि कहा है। ये रश्मियाँ इस प्रकार हैं—

१. अग्निर्देवेद्धः
२. अग्निर्मन्विद्धः
३. अग्निः सुषमित्
४. होता देववृतः
५. होता मनुवृतः

६. प्रणीर्यज्ञानाम्
७. रथीरध्वराणाम्
८. अतूर्त्तो होता
९. तूर्णिर्हव्यवाट्
१०. आ देवो देवान् वक्षत्
११. यज्ञदग्निर्देवो देवान्
१२. सो अध्वरा करति जातवेदाः

इन सभी निवित् रश्मियों के विषय में 'वेदविज्ञान-आलोकः' का खण्ड २.३४ पठनीय है। वहाँ इन सभी रश्मियों का सूर्य से सम्बन्ध सुस्पष्ट हो जाता है। इसके साथ ही इसकी संगति पूर्वोक्त द्वादशकपाल से भी होती है।

उल्लेखनीय है कि इन रश्मियों को निवित् रश्मियाँ कहना इस प्रकरण में उल्लिखित नहीं है। यहाँ उल्लिखित निवित् ऋचा इस प्रकार है— 'आ यो द्यां भात्यापृथिवीम्' अर्थात् यह वैश्वानर अग्नि ही द्युलोक एवं पृथिवीलोकों को सब ओर से प्रकाशित करता है। इसके अभाव में ये लोक कभी प्रकाशित नहीं हो सकते। हम यह जानते ही हैं कि इन दोनों लोकों को सूर्यलोक ही प्रकाशित करता है अथवा सूर्य की रश्मियाँ ही प्रकाशित करती हैं। इस कारण सूर्यलोक एवं सूर्य रश्मियाँ ही वैश्वानर कहलाती हैं।

५. पुनः अन्य आचार्यों का सूर्य वा इसकी रश्मियों को वैश्वानर कहने का हेतु प्रस्तुत करते हुए लिखते हैं— 'अथापि छान्दोमिकं सूक्तं सौर्यवैश्वानरं भवति दिवि पृष्टो अरोचत एष हि दिवि पृष्ठो अरोचतेति' अर्थात् छान्दोमिक सूक्त भी सूर्यलोक व सूर्य रश्मियों को वैश्वानर सिद्ध करता है। यहाँ इस उपर्युक्त मन्त्र वा अध्याय को सूक्त कहा गया है। इसके साथ ही इसे छान्दोमिक सूक्त कहा है। यहाँ भी वैश्वानर अग्नि के विषय में कहा गया है कि यह अग्नि आकाश वा द्युलोक में स्थित होकर प्रकाशित होती है। ऋषि दयानन्द ने इस मन्त्र के भाष्य में 'पृष्टः' का अर्थ 'सिक्तः स्थितः' किया है। हमने यही अर्थ ग्रहण किया है। इस मन्त्रांश के अर्थ से स्पष्ट है कि यहाँ सूर्य को ही वैश्वानर कहा गया है। इस मन्त्र को छान्दोमिक क्यों कहा है, इस विषय में हम यहाँ कुछ तत्त्वदर्शियों को उद्धृत करते हैं— तद्यच्छन्दोभिर्मितास्तस्माच्छन्दोमाः (कौ.ब्रा.२६.७), तद्यच्छन्दोभ्यो निरमिमत तच्छन्दोमानां

छन्दोमत्वम् (जै.ब्रा.३.१७३) अर्थात् विभिन्न छन्द रश्मियों से आच्छादित एवं छन्द रश्मियों से निर्मित पदार्थ को छन्दोम कहते हैं। इससे यह संकेत मिलता है कि यह उपर्युक्त छन्द रश्मि विभिन्न छन्द रश्मियों से आच्छादित रहती तथा अन्य कुछ लघु छन्द रश्मियों से मिलकर उत्पन्न होती है।

६. सूर्य को वैश्वानर मानने वाले अन्य आचार्यों का कथन है कि हविष्पान्तीय सूक्त (ऋ.१०.८८) की सभी ऋचाएँ सूर्य को वैश्वानर सिद्ध करती हैं। इस सूक्त का प्रथम मन्त्र इस प्रकार है—

हविष्पान्तमजरं स्वर्विदि दिविस्पृश्याहुतं जुष्टमग्नौ।
तस्य भर्मणे भुवनाय देवा धर्मणे कं स्वधया पप्रथन्त॥

इस मन्त्र में आए हुए दो पद अग्नि के विशेषण के रूप में प्रयुक्त हैं। वे पद हैं—

१. स्वर्विदि अर्थात् सूर्यलोक में विद्यमान अग्नि में।
२. दिविस्पृशि अर्थात् द्युलोक को स्पर्श करने वाले एवं द्युलोक के साथ बँधे हुए अग्नि में।

इन दोनों ही विशेषणों से सूर्य एवं उसकी किरणें ही वैश्वानर सिद्ध होती हैं। सूर्य की किरणें सूर्य के अन्दर ही उत्पन्न होती हैं और उसी में निवास भी करती हैं। जो किरणें अन्तरिक्ष में गमन करती हैं, वे सूर्य से ही निकलकर आती हैं, इसलिए उन्हें स्वर्वित् कहते हैं। उधर सूर्य के विषय में यह विचार प्रस्तुत किया गया है कि कोई भी सूर्यलोक द्युलोक को स्पर्श करता ही है एवं वह द्युलोक से बँधा भी रहता ही है। स्मरण रहे कि द्युलोक उस क्षेत्र का नाम है, जो किसी तारे और उसके निकटतम किसी ग्रह के मध्य तारे के चारों ओर स्थित होता है। हम पूर्व में द्युलोक के विषय में लिख चुके हैं, परन्तु वहाँ किसी भी आकाशगंगा के केन्द्र के सापेक्ष जो विशाल द्युलोक स्थित होता है, उसकी ही चर्चा की गई है। गुण एवं स्वरूप की दृष्टि से ये दोनों द्युलोक समान हैं, अन्तर केवल विशालता एवं तीव्रता का है। ये द्युलोक ही इन लोकों को थामे रखते हैं और ये लोक अपने-अपने द्युलोक को स्पर्श किए रहते हैं अर्थात् कोई भी लोक अपने द्युलोक से पृथक् कभी नहीं हो सकता। इसी कारण सूर्यादि तारों को दिविस्पृश् कहा गया है। इस मन्त्र का देवता सूर्यवैश्वानर होने से सूर्य आदि लोकों को वैश्वानर कहा गया है। यहाँ 'स्पृश संस्पर्शने' धातु

के अर्थ छूना एवं संयोग करना अथवा ग्रहण करना, ये तीनों ही होते हैं। इन अर्थों का ही हमने यहाँ प्रयोग किया है। अब हम दिविस्पृश् पद का अर्थ सूर्य की रश्मियों के सन्दर्भ में विचारते हैं। हमारे मत में यहाँ द्यौ का अर्थ यह उपर्युक्त द्युलोक एवं आकाशतत्त्व दोनों ही है। यहाँ 'दिविस्पृश्' पद से सूर्य रश्मियों के विषय में निम्नलिखित दो प्रकार का ज्ञान होता है—

१. सूर्य की किरणें उसके चारों ओर विद्यमान द्युलोक में स्थित विभिन्न छन्दादि रश्मियों, अनेक प्रकार की तरंगों एवं सूक्ष्मकणों को छूती हुई, उनसे टकराती हुई और उनके साथ आकर्षण आदि क्रिया करती हुई बाहरी अन्तरिक्ष में प्रवेश करती हैं। इस कारण इस क्षेत्र में वे नितान्त सरल रेखा में गमन नहीं कर पाती और अपने मार्गों से कुछ विचलित होकर अपेक्षाकृत विलम्ब से बाहर निकल पाती हैं अर्थात् उनका बाहरी दिशा में वेग तीन लाख कि.मी. प्रति सेकण्ड से कम हो जाता है।

२. जब वे किरणें द्युलोक से बाहर निकलकर खुले आकाश में आती हैं, तब वे आकाश तत्त्व की सूक्ष्म इकाईयों को स्पर्श करती हुई गमन करती हैं। इसके साथ ही आकाश की सूक्ष्म इकाईयाँ उन तरंगों को अपने सूक्ष्म आकर्षण बल के प्रभाव से कुछ अवरुद्ध करने का प्रयास भी करती हैं, परन्तु धनञ्जय रश्मि का प्रबल वेग उन किरणों को खींचकर ले जाता है। इस संघर्ष के कारण ही सूर्य की किरणों का वेग धनञ्जय रश्मि के वेग से चार गुना कम हो जाता है। इस समय उनका वेग ३×१०^{८} मी. प्रति सेकण्ड हो जाता है।

इसी सूक्त के १२वें मन्त्र के पूर्वार्ध 'विश्वस्मा अग्निं भुवनाय देवा वैश्वानरं केतु मह्नामकृणवन्' में वैश्वानर अग्नि को दिनों का निर्माता कहा है। इससे भी सूर्यलोक ही वैश्वानर सिद्ध होता है।

अयमेवाग्निर्वैश्वानर इति शाकपूणिः। विश्वानरावित्यप्येते उत्तरे ज्योतिषी। वैश्वानरोऽयं यत्ताभ्यां जायते। कथं त्वयमेताभ्यां जायत इति। यत्र वैद्युतः शरणमभिहन्ति यावदनुपात्तो भवति मध्यमधर्मैव तावद्भवति। उदकेन्धनः शरीरोपशमनः। उपादीयमान एवायं सम्पद्यते। उदकोपशमनः शरीरदीप्तिः।

तदनन्तर महर्षि शाकपूणि के मत को प्रस्तुत करते हुए लिखते हैं कि यही अग्नि अर्थात् पार्थिव अग्नि ही वैश्वानर है, सौर अग्नि एवं विद्युत् नहीं। उनका कहना है कि अन्तरिक्षस्थ विद्युत् एवं सौर अग्नि को विश्वानर कहते हैं और पार्थिव अग्नि को वैश्वानर कहते हैं, क्योंकि पार्थिव अग्नि अन्तरिक्षस्थ मेघों की विद्युत् एवं सौर अग्नि से ही उत्पन्न होती है। अब पार्थिव अग्नि अन्तरिक्षस्थ एवं सौर अग्नि से कैसे उत्पन्न होती है, यह स्पष्ट करते हुए महर्षि शाकपूणि लिखते हैं—

जहाँ अन्तरिक्षस्थ मेघों का विद्युदग्नि पृथिवीस्थ किसी शरण अर्थात् अपने आश्रयरूपी पदार्थ के ऊपर गिरता है अर्थात् उसके सम्पर्क में आता है, तब उसे नष्ट कर देता है। जब तक ऐसा नहीं होता, तब तक वह अन्तरिक्षस्थ विद्युत् मध्यमस्थानी अग्नि के रूप में मेघों में ही रहता व प्रकाशित होता है।

इस मध्यम अग्नि के गुणों का वर्णन करते हुए लिखते हैं कि मेघस्थ विद्युत् का ईन्धन जल होता है अर्थात् यह तडित् विद्युत् जलों के मेघों में उत्पन्न होती और उन्हीं जलों से प्रदीप्त होती है। जब यही विद्युदग्नि शरीर अर्थात् किसी पार्थिव आश्रयस्थल के सम्पर्क में आता है, तब उस पदार्थ रूपी आश्रयस्थल को नष्ट करके स्वयं उसी में लीन हो जाता है अर्थात् पृथिवी आदि में लीन हो जाता है। इस प्रकार उसका वैद्युत् रूप शान्त हो जाता है। विद्युत् कैसे शान्त होती है किंवा दो विपरीत आवेश मिलकर कैसे उदासीन हो जाते हैं, इसके लिए 'वेदविज्ञान-आलोक:' ग्रन्थ का खण्ड ८.२८ पठनीय है। आगे महर्षि शाकपूणि कहते हैं कि जैसे ही मेघस्थ विद्युत् को कोई पार्थिव पदार्थ स्पर्श वा ग्रहण करता है, वैसे ही यह विद्युत् पार्थिव अग्नि में परिवर्तित होकर जल उठता है। यह अग्नि जल के द्वारा शान्त होता है और पार्थिव पदार्थ को जलाता व दीप्तिमान करता है।

यहाँ महर्षि शाकपूणि ने पृथिवीस्थानी अग्नि व अन्तरिक्षस्थानी अग्नि में भेद स्पष्ट किया है। मेघस्थ अग्नि मेघों के जल से प्रकाशित होता तथा पार्थिव पदार्थ से संयुक्त होकर शान्त हो जाता है, जबकि पृथिवीस्थ अग्नि जल से शान्त होता तथा पार्थिव पदार्थ में प्रकाशित होता है। यह अग्नि जल को सुखाकर वाष्प तो बना सकता है, परन्तु उसे प्रकाशित नहीं कर सकता, परन्तु मेघस्थ अग्नि मेघस्थ जल को प्रकाशित करता है, क्योंकि मेघस्थ विद्युत् पृथिवीस्थ पदार्थ के सम्पर्क में आने से उसमें पार्थिव अग्नि को उत्पन्न करता है। इसी कारण कहा कि पार्थिव अग्नि ही वैश्वानर है तथा अन्तरिक्ष अग्नि वैश्वानर नहीं,

बल्कि विश्वानर है, जो पार्थिव अग्नि रूपी वैश्वानर को उत्पन्न करता है।

यहाँ पण्डित भगवद्दत्त रिसर्च स्कॉलर ने लिखा है—

''आज हमारे घरों में जो विद्युत् धारा काम देती है, वह तारों और लट्टुओं में अर्थात् शरीरों में दीप्त होती है और अग्नि भी लोहे और पाकशाला के बर्तनों के अन्दर गया हुआ और बर्तनों को अत्यन्त गरम करके दीप्त कर देता है और जल में वह शान्त होके रहती है। जल को वह धूम बनाकर उड़ा सकती है, पर उसमें दीप्त कदापि नहीं होती।''

इस विषय में अभी तक हम निश्चित रूप से कुछ भी कहने में असमर्थ हैं। इस पर कुछ प्रयोग करना अपेक्षित है, लेकिन आग रूपी पार्थिव अग्नि के लिए उपर्युक्त कथन सत्य है।

अथादित्यात्। उदीचि प्रथमसमावृत्ते आदित्ये कंसं वा मणिं वा परिमृज्य प्रतिस्वरे यत्र शुष्कगोमयमसंस्पर्शयन्धारयति तत्प्रदीप्यते।
सोऽयमेव सम्पद्यते।
अथाप्याह—
वैश्वानरो यतते सूर्येण। [ऋ.१.९८.१] इति।
न च पुनरात्मनात्मा संयतते। अन्येनैवान्यः संयतते। इत इममादधाति।
अमुतोऽमुष्य रश्मयः प्रादुर्भवन्ति। इतोऽस्यार्चिषः।
तयोर्भासोः संसङ्गं दृष्ट्वैवमवक्ष्यत्।

अब आदित्य रश्मियों से पार्थिव अग्नि कैसे उत्पन्न होती है, इसकी चर्चा करते हुए लिखते हैं कि जब सूर्य उत्तरायण में लौटना प्रारम्भ ही करता है अथवा वह ऊपर की ओर उठना प्रारम्भ ही करता है अर्थात् उदय हुआ ही होता है, [स्वर: = य आदित्यस्स्वर एव स: (जै.उ.३.३३.१)] उस समय काँसे का कोई पात्र अथवा मणि लैंस (सूर्यकान्त मणि) को स्वच्छ करके सूर्य के सम्मुख रखकर जहाँ शुष्क गोबर रखा हो, उसकी ओर सूर्य के प्रकाश की धारणा करे, तब वह गोबर प्रदीप्त हो उठता है। इसका अर्थ यह है कि सूर्य के प्रकाश को केन्द्रीभूत करके यदि किसी शुष्क गोमय अथवा काष्ठ आदि पर डाला जाता है, तब सूर्य की केन्द्रीयभूत किरणें उस पदार्थ को जलाने में समर्थ होती हैं। इससे महर्षि

शाकपूणि यह सिद्ध करना चाहते हैं कि पार्थिव अग्नि सूर्य से भी उत्पन्न होती है। इस कारण पार्थिव अग्नि ही वैश्वानर है और सूर्य का अग्नि विश्वानर है।

तदुपरान्त वैश्वानर को सूर्य से पृथक् सिद्ध करने के लिए महर्षि शाकपूणि ऋग्वेद का एक प्रमाण प्रस्तुत करते हुए लिखते हैं— 'वैश्वानरो यतते सूर्येण' अर्थात् वैश्वानर अग्नि सूर्य की किरणों के साथ मिलकर यत्न करता है अथवा उनके साथ संगत होता है। इस विषय में व्याख्यान करते हुए लिखते हैं—

आत्मा स्वयं अपने साथ संगत नहीं होता अर्थात् कोई भी पदार्थ स्वयं अपने साथ संगत नहीं होता, बल्कि किसी अन्य पदार्थ के साथ संगत होता है। इस सृष्टि में सदैव यही अटल सिद्धान्त है। यहाँ इस पृथिवी पर कोई इस पार्थिव अग्नि को उत्पन्न व स्थापित करता है, उधर वहाँ सूर्यलोक में उसकी किरणें उत्पन्न होती हैं। यहाँ से पार्थिव अग्नि की ज्वालाएँ ऊपर की ओर उठती हैं, उधर वहाँ से सूर्य की किरणें नीचे पृथिवी पर आती हैं। तब दोनों ही प्रकार की ज्योतियों के मिलने पर इस मन्त्र के ऋषि आङ्गिरस कुत्स अर्थात् [अङ्गिरा = अङ्गिरा उ ह्यग्निः (श.ब्रा.१.४.१.२५), अङ्गिरा वा अग्निः (श.ब्रा.६.४.४.४)] पार्थिव अग्नि की ज्वालाओं से इस उपर्युक्त छन्द रश्मि की उत्पत्ति होती है। इसी बात को यहाँ इस प्रकार कहा गया है कि इन दोनों प्रकार की किरणों के संसर्ग को देखकर ऋषि (आङ्गिरस कुत्स) ने ऐसा कहा है।

यहाँ महर्षि शाकपूणि का इस मन्त्रांश को प्रस्तुत करने का मात्र यही उद्देश्य है कि वैश्वानर अग्नि और सूर्य की किरणों का पृथक्त्व सिद्ध किया जा सके। इस सम्पूर्ण मन्त्र का भाष्य हम पूर्व खण्ड में कर चुके हैं, परन्तु वह भाष्य महर्षि शाकपूणि द्वारा इस प्रसंग में किए गए भाष्य से कुछ भिन्न है। उनका यह कहना कि पार्थिव अग्नि आदित्य अग्नि से ही उत्पन्न होती है, यथार्थ है, क्योंकि पृथिवी पर विद्यमान सभी पदार्थ, जो जलकर ऊष्मा उत्पन्न करते हैं, उस सम्पूर्ण ऊर्जा का मूल स्रोत सूर्य ही है। सूर्य के अभाव में पृथिवी अथवा उस पर विद्यमान पदार्थों के अस्तित्व की कल्पना भी सम्भव नहीं है। यही दर्शाना ऋषि का उद्देश्य प्रतीत होता है।

अथ यान्येतान्यौत्तमिकानि सूक्तानि भागानि वा सावित्राणि वा सौर्याणि वा पौष्णानि वा वैष्णवानि वा वैश्वदेव्यानि वा।

तेषु वैश्वानरीयाः प्रवादा अभविष्यन्। आदित्यकर्मणा चैनमस्तोष्यन्।
इत्युदेषि। इत्यस्तमेषि। इति विपर्येषीति।
आग्नेयेष्वेव हि सूक्तेषु वैश्वानरीयाः प्रवादा भवन्ति।
अग्निकर्मणा चैनं स्तौतीति। वहसीति। पचसीति। दहसीति।
यथो एतद्वर्षकर्मणा ह्येनं स्तौतीति। अस्मिन्नप्येतदुपपद्यते।
समानमेतदुदकमुच्चैत्यव चाहभिः।
भूमिं पर्जन्या जिन्वन्ति दिवं जिन्वन्त्यग्नयः॥ [ऋ.१.१६४.५१]
इति सा निगदव्याख्याता॥ २३॥

यहाँ महर्षि शाकपूणि पुनः आदित्य रश्मियों अथवा आदित्य लोक के वैश्वानर होने का खण्डन करते हुए जो लिखते हैं, उसे ग्रन्थकार ने इस उपर्युक्त प्रथम गद्यांश में उद्धृत किया है। इसका अर्थ सामान्य है, इस कारण हम इसका भाष्य न करके प्रो. चन्द्रमणि विद्यालंकार का भाष्य यथावत् उद्धृत कर रहे हैं—

''**३.** और, यदि 'वैश्वानर' आदित्यवाची होता, तो जो उत्तमस्थानीय आदित्य के सूक्त हैं, जैसे भग के, सविता के, सूर्य के, पूषा के, विष्णु के और विश्वेदेवाः के, उनमें वैश्वानरीय प्रवचन होते अर्थात् कहीं न कहीं भग आदि के विशेषण के तौर पर 'वैश्वानर' शब्द अवश्य प्रयुक्त होता, परन्तु ऐसा कहीं नहीं पाया गया। अतः स्पष्ट है कि 'वैश्वानर' आदित्यवाचक नहीं।

४. और यदि 'वैश्वानर' आदित्यवाची होता, तो वैश्वानर की स्तुति आदित्य-कर्म से अवश्य पायी जाती कि तू उदय होता है, तू अस्त होता है, तू लौट कर आता है इत्यादि। परन्तु ऐसा भी कहीं नहीं पाया गया। अतः वैश्वानर आदित्यवाचक नहीं।

५. परन्तु इसके विपरीत आग्नेय सूक्तों में ही विशेषण रूप से वैश्वानरीय प्रवचन पाये जाते हैं।

६. और अग्नि-कर्म से ही वेद उसकी स्तुति करता है कि तू ले जाता है, तू पकाता है, तू दग्ध करता है इत्यादि। अतः स्पष्ट है कि वैश्वानर आदित्यवाची नहीं।

एवं शाकपूणि ने 'वैश्वानर' को अग्निवाचक सिद्ध करने के लिए ये ६ हेतु दिये

हैं—

१. ताद्धित निर्वचन का होना।
२. एक वाक्य में भिन्न विभक्ति से व्यपदिष्ट किया जाना।
३. औत्तमिक सूक्तों में वैश्वानर का न आना।
४. आदित्यकर्म से स्तुति का न पाया जाना।
५. आग्नेय सूक्तों में 'वैश्वानर' का प्रयुक्त होना।
६. और अग्निकर्म से स्तुति का पाया जाना।''

हमारे मत में महर्षि शाकपूणि के मत एवं उन अन्य आचार्यों के मत, जो आदित्य एवं अन्तरिक्षस्थ अग्नि को वैश्वानर सिद्ध करते हैं, में विशेष भेद नहीं हैं। विश्वानर एवं वैश्वानर, इन दोनों पदों में सूक्ष्म सा भेद है। केवल इस कारण ही ऋषियों के विचारों में कोई गम्भीर मतभेद नहीं माना जा सकता है। महर्षि शाकपूणि ने भी मध्यम अग्नि एवं सौर अग्नि को विश्वानर तो कहा ही है एवं पृथिवीस्थानी अग्नि को वैश्वानर कहकर इसे अन्य दोनों अग्नियों द्वारा उत्पन्न भी माना है। इस कारण यहाँ कोई मौलिक भेद सिद्ध नहीं होता।

इन सभी ऋषियों के वैश्वानर सम्बन्धी विचार प्रस्तुत करने के उपरान्त ग्रन्थकार इन सभी मतों पर अपना मत प्रस्तुत करना प्रारम्भ करते हैं—

सर्वप्रथम मध्यमस्थानी विद्युदग्नि को वैश्वानर कहने के विषय में लिखते हैं कि जो यह कहा गया कि इस मध्यमस्थानी विद्युदग्नि की ऋ.१.५९.६ में वृष्टिकर्म में स्तुति की गयी है, तब ऐसा तो इस पार्थिव अग्नि के विषय में भी कहा जा सकता है। इसके लिए निम्नलिखित मन्त्र प्रस्तुत किया है—

समानमेतदुदकमुच्चैत्यव चाहभिः।
भूमिं पर्जन्या जिन्वन्ति दिवं जिन्वन्त्यग्नयः॥ (ऋ.१.१६४.५१)

इस मन्त्र का ऋषि दीर्घतमा है, जिसके विषय में पूर्व में लिखा जा चुका है। इसका देवता 'सूर्य्यः पर्जन्यो वाऽग्नयो' तथा छन्द विराडनुष्टुप् होने से अग्नितत्त्व में विद्यमान विभिन्न छन्द रश्मियों के कर्म अनुकूलतापूर्वक होने लगते हैं एवं लालमिश्रित भूरे रंग की उत्पत्ति होने लगती है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(उदकम्) जल (अहभिः, उत्, एति) [अहन् = अहर्देवाः सूर्यः (श.ब्रा.१.१.२.२१),

अग्निर्वाऽअहः सोमो रात्रिः (श.ब्रा.३.४.४.१५)] सूर्य की किरणों के ताप से ऊपर की ओर उठकर चला जाता है (च, अव, च) और वह जल वृष्टि के द्वारा नीचे भूमि पर भी गिरता है। (एतत्, समानम्) वह जल जो ऊपर उठता फिर नीचे गिरता है, वह समान ही होता है। (पर्जन्याः, भूमिम्, जिन्वन्ति) जलीय मेघ भूमि एवं उस पर रहने वाले प्राणियों को वृष्टि के द्वारा तृप्त करते हैं अर्थात् बिना जल के प्राणियों का जीवन असम्भव है। (अग्नयः, दिवम्, जिन्वन्ति) अग्नितत्त्व अर्थात् विद्युत् व ऊष्मा आदि आकाश एवं द्युलोकों को तृप्त करते हैं अर्थात् विद्युदग्नि के अभाव में इन लोकों का अस्तित्व सम्भव नहीं है। इन दोनों ही लोकों में तीव्र विद्युत् क्षेत्र विद्यमान रहते हैं, जो नाना प्रकार की क्रियाओं को संचालित करते रहते हैं।

इस मन्त्र का अन्य प्रकार से आधिदैविक भाष्य इस प्रकार भी सम्भव है—

(उदकम्, अहभिः, उत्, एति, च, अव, च) कॉस्मिक मेघ से सूर्य एवं ग्रहादि लोकों की उत्पत्ति प्रक्रिया के समय सिंचन करने योग्य विभिन्न कण आदि पदार्थ प्राणादि रश्मियों के द्वारा ऊपर व नीचे गमन करते हैं। इसके साथ ही उस मेघ में बहुत सारा पदार्थ ऊपर-नीचे दोलन करने लगता है। (एतत्, समानम्) यह पदार्थ समान ही होता है। इससे यह संकेत मिलता है कि इन लोकों का निर्माण सहसा नहीं हो जाता अर्थात् ये लोक सहसा ही पृथक्-पृथक् नहीं हो जाते, बल्कि यह एक लम्बी प्रक्रिया होती है, तब कहीं ये लोक पृथक्-पृथक् होकर स्थिर कक्षाओं को प्राप्त हो पाते हैं। (पर्जन्याः, भूमिम्, जिन्वन्ति) वह विशाल मेघ नाना प्रकार के ग्रहादि लोकों को तृप्त करता है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि ग्रहादि लोकों के निर्माणाधीन किसी तारे से पृथक् होने के उपरान्त विशाल मेघ का अवशिष्ट सूक्ष्म पदार्थ निरन्तर ग्रहादि लोकों पर बरसते हुए उन्हें तृप्त करता रहता है और उनकी वृष्टि से ही वे लोक अपने स्वरूप को प्राप्त कर पाते हैं। (अग्नयः, दिवम्, जिन्वन्ति) उधर केन्द्रीय विशाल भाग, जो किसी भी निर्माणाधीन तारे का रूप होता है, को उसमें विद्यमान अग्नि तृप्त करता है अर्थात् अग्नि का समुचित मात्रा में होना ही तारों के निर्माण का कारण होता है।

यहाँ ग्रन्थकार ने मन्त्र का व्याख्यान नहीं किया है, क्योंकि उपर्युक्त भाष्यों में से प्रथम भाष्य सरल ही है। इस मन्त्र को उदाहरण के रूप में प्रस्तुत करके ग्रन्थकार यह कहना चाहते हैं कि वृष्टि कर्म केवल विद्युत् का ही कार्य नहीं है, अपितु ऊष्मा का भी

कार्य है। हम यह नहीं समझते कि ग्रन्थकार ने यहाँ अपने ही आचार्य के इस मत (मध्यमस्थानी विद्युत् वैश्वानर है) का खण्डन किया है, बल्कि उनका कहना मात्र यही है कि ऊष्मा आदि भी वैश्वानर रूप हैं।

* * * * *

= चतुर्विंशः खण्डः =

कृष्णं नियानं हरयः सुपर्णा अपो वसाना दिवमुत्पतन्ति।
त आववृत्रन्त्सदनादृतस्यादिद् घृतेन पृथिवी व्युद्यते॥

[ऋ.१.१६४.४७]

कृष्णं निरयणं रात्रिरादित्यस्य। हरयः सुपर्णाः। हरणा आदित्यरश्मयः।
ते यदामुतोऽर्वाञ्चः पर्यावर्तन्ते। सहस्थानादुदकस्यादित्यात्।
अथ घृतेनोदकेन पृथिवी व्युद्यते। घृतम् इत्युदकनाम। [निघं.१.१२]
जिघर्तेः सिञ्चतिकर्मणः।

इस मन्त्र का ऋषि दीर्घतमा है, जिसे पूर्ववत् समझें। इसका देवता सूर्य तथा छन्द निचृत् त्रिष्टुप् होने से सूर्य की किरणें तीक्ष्ण रक्तवर्णीय तेज को उत्पन्न करने लगती हैं। इसका आधिदैविक भाष्य निम्नानुसार है—

(कृष्णम्, नियानम्) 'कृष्णं निरयणं रात्रिरादित्यस्य' सूर्य का कृष्ण मार्ग अर्थात् दक्षिणायन उसकी रात्रि के समान है, क्योंकि इस समय पृथिवी आदि लोकों पर रात्रि का समय शनैः-शनैः बढ़ता जाता है और दिन की अवधि शनैः-शनैः न्यून होती जाती है। (हरयः, सुपर्णाः) 'हरयः सुपर्णाः हरणा आदित्यरश्मयः' सूर्यलोक की हरणशील रश्मियाँ, जो विभिन्न पदार्थों का नानाविध पालन करने में समर्थ होती हैं, (अपः, वसानाः) जल के अणुओं को अपना आच्छादक बनाते हुए अर्थात् उनके अन्दर प्रवेश करते हुए (दिवम्, उत्पतन्ति) अन्तरिक्ष की ओर उड़ती हुई जाती हैं अर्थात् सूर्य से आने वाली किरणें पृथिवी पर स्थित जल के अणुओं में प्रविष्ट होकर उन्हें वाष्प रूप में परिवर्तित करके अर्थात् जल

को वाष्प रूप देकर अन्तरिक्ष में उठती हुई मेघों का निर्माण करती हैं।

(ते, आ, अववृत्रन्, ऋतस्य, सदनात्) 'ते यदामुतोऽर्वाञ्चः पर्यावर्तन्ते सहस्थानादुदकस्या-दित्यात्' तदनन्तर दक्षिणायन में वे किरणें जलों के स्थान मेघों से पृथिवी पर लौट कर आती हैं अर्थात् जल के जो अणु सूर्य की ऊर्जा को ग्रहण करके अन्तरिक्ष में ऊपर चले गये थे और मेघों का निर्माण किया था, जल के वे अणु पृथिवी पर लौटकर आते हैं। यहाँ आदित्य रश्मियों का पृथिवी पर लौटना बताया गया है। इससे यह संकेत मिलता है कि बादलों से वृष्टि होने में आदित्य किरणों का भी अनिवार्य योगदान रहता है। इसकी चर्चा पूर्व में खण्ड २.१६ में की गई है, जो पाठकों के लिए पठनीय है।

(आत्, इत्, घृतेन, पृथिवी, व्युद्यते) 'अथ घृतेनोदकेन पृथिवी व्युद्यते घृतम् इत्युदकनाम जिघर्तेः सिञ्चतिकर्मणः' वे आदित्य रश्मियाँ मेघों से जल की वृष्टि करके पृथिवी आदि लोकों को जल से सींचती हैं। यहाँ 'घृतम्' जल का नाम है, जो 'घृ प्रस्रवणे' धातु से व्युत्पन्न होता है और यह धातु सींचने के अर्थ में प्रयुक्त होती है।

भावार्थ— सूर्य का दक्षिणायन उसकी रात्रि के समान होता है, क्योंकि इन दिनों में पृथिवी आदि लोकों पर रात्रि का समय शनैः शनैः बढ़ता जाता है। सूर्य की हरणशील तरंगें जल के अणुओं के अन्दर प्रवेश करके उन्हें वाष्प रूप में परिवर्तित करके मेघों का निर्माण करती हैं। दक्षिणायन में वे किरणें मेघों से पृथ्वी पर लौटकर आती हैं अर्थात् पृथिवी पर जल की वर्षा होती है। इस वृष्टि में सूर्य की किरणों का अनिवार्य योगदान रहता है।

इस मन्त्र का आधिदैविक भाष्य अन्य प्रकार से भी सम्भव है, जो इस प्रकार है—

(अपः, वसानाः) [आपः = आपो वै प्राणाः (श.ब्रा.३.८.२.४), आपो वै रक्षोघ्नीः (तै.ब्रा. ३.२.३.१२)] विभिन्न प्राण रश्मियाँ, जो बाधक एवं विनाशक असुरादि पदार्थों को नष्ट करने में समर्थ होती हैं, को अपना आच्छादन बनाकर, (हरयः, सुपर्णाः) हरणशील [पर्णः = गायत्रो वै पर्णः (तै.ब्रा.३.२.१.१)] कुछ गायत्री छन्द रश्मियों को सुन्दर पंख बनाकर (दिवम्, उत्पतन्ति, कृष्णम्, नियानम्) सूर्य के प्रबल आकर्षण क्षेत्र में व्याप्त अर्थात् सूर्य के प्रबल आकर्षण बल के रूप में व्याप्त द्युलोक रूपी विशाल क्षेत्र की ओर उड़ने लगती हैं अर्थात् सूर्य की सतह से बाहर की ओर उत्सर्जित होने लगती हैं।

(ते, आ, अववृत्रन्) वे द्युलोक सूर्यलोक के सब ओर विद्यमान होते हैं। (ऋतस्य,

सदनात्) [ऋतम् = अग्निर्वा ऋतम् (तै.ब्रा.२.१.११.१)] वह द्युलोक रूपी क्षेत्र तीव्र तापयुक्त होता है। इसके अतिरिक्त उस क्षेत्र में नाना प्रकार के उदक विद्यमान होते हैं। इसका अर्थ यह है कि उस क्षेत्र में अनेक प्रकार के सूक्ष्म कण भारी मात्रा में विद्यमान होते हैं। (आत्, इत्, घृतेन, पृथिवी, व्युद्यते) वे आदित्य रश्मियाँ उन सूक्ष्म कणों के साथ पृथिवी आदि लोकों को सिंचित करती हैं। इसका अर्थ यह है कि सूर्यलोक से प्रकाश आदि किरणों के साथ-साथ अनेक प्रकार के सूक्ष्म कण भी निरन्तर आते रहते हैं। ध्यान रहे कि ये कण भी किरणों के समान सूर्यलोक में ही उत्पन्न होते हैं और द्युलोक से गुजरते हुए पृथिवी आदि लोकों में पहुँचते रहते हैं।

भावार्थ— विभिन्न प्राण रश्मियाँ कुछ वज्र रश्मियों को अपना आच्छादन बनाकर और कुछ छन्द रश्मियों को पंख बनाकर द्युलोकरूपी विशाल क्षेत्र की ओर उड़ने लगती हैं अर्थात् वे सूर्य की सतह से बाहर की ओर उत्सर्जित होती रहती हैं। सूर्यलोक के बाहर द्युलोक में विभिन्न प्रकार के सूक्ष्म कण भरे रहते हैं। सूर्य से पृथिवी आदि लोकों पर न केवल विद्युत् चुम्बकीय तरंगें ही आती हैं, अपितु अनेक सूक्ष्म कण भी निरन्तर आते रहते हैं।

इस मन्त्र के द्वारा भी ग्रन्थकार यह कहना चाहते हैं कि वृष्टि कर्म केवल मध्यम-स्थानी अग्नि का ही कर्म नहीं हैं, अपितु यह आदित्य रश्मियों का भी कर्म है, जिसे उपर्युक्त मन्त्र में दर्शाया है।

अथापि ब्राह्मणं भवति। अग्निर्वा इतो वृष्टिं समीरयति।
धामच्छद् दिवि खलु वै भूत्वा वर्षति। मरुतः सृष्टां वृष्टिं नयन्ति।
यदा खलु वाऽसावादित्यो न्यङ्रश्मिभिः पर्यावर्त्ततेऽथ वर्षति। इति।

इस विषय में किसी प्राचीन ब्राह्मण ग्रन्थ का भी निम्नानुसार वचन है— 'अग्निर्वा इतो वृष्टिं समीरयति धामच्छद् दिवि खलु वै भूत्वा वर्षति मरुतः सृष्टां वृष्टिं नयन्ति'। अग्नि, विशेषकर यज्ञाग्नि इस पृथिवीलोक से वृष्टि कर्म को प्रेरित करता है अर्थात् यज्ञाग्नि का धूम वृष्टि कराने में सहायक होता है। यह अन्तरिक्ष में ऊपर उठकर पृथिवी को ढकने वाले मेघों के रूप में परिवर्तित होकर अर्थात् अन्तरिक्ष में विद्यमान जलवाष्प को वृष्टि

योग्य मेघों में परिवर्तित करके जल की वृष्टि करता है। इस प्रक्रिया में मरुत् अर्थात् पवन उन उत्पन्न हुए मेघों को पृथिवी की ओर लाते हैं।

इस विषय में अन्य किसी प्राचीन ब्राह्मण ग्रन्थ का कथन है— 'यदा खलु वाऽसा-वादित्यो न्यङ्रश्मिभिः पर्यावर्त्ततेऽथ वर्षति इति' अर्थात् जब उस सूर्यलोक की किरणों से अग्नि नीचे की ओर आता है अर्थात् वह अग्नि किरणों के रूप में नीचे की ओर आता है, तब वह मेघों से पृथिवीलोक पर जल की वृष्टि करता है।

यहाँ इन ब्राह्मण ग्रन्थों के वचनों से भी यही सिद्ध होता है कि वृष्टि कर्म केवल मध्यमस्थानी अग्नि अर्थात् विद्युत् का ही कर्म नहीं है, अपितु आदित्य अग्नि और पार्थिव अग्नि का भी कर्म है। इस प्रकार यहाँ भी देखते हैं कि ग्रन्थकार ने मध्यम अग्नि अर्थात् विद्युत् के वैश्वानर होने का खण्डन नहीं किया है, बल्कि आदित्य अग्नि और पार्थिव अग्नि को भी वैश्वानर सिद्ध किया है।

यथो एतद् रोहात्प्रत्यवरोहश्चिकीर्षित इति। आम्नायवचनादेतद् भवति।
यथो एतद्वैश्वानरीयो द्वादशकपालो भवति इति।
अनिर्वचनं कपालानि भवन्ति। अस्ति हि सौर्य एककपालः पञ्चकपालश्च।
यथो एतद् ब्राह्मणं भवतीति। बहुभक्तिवादीनि हि ब्राह्मणानि भवन्ति।
पृथिवी वैश्वानरः। संवत्सरो वैश्वानरः। ब्राह्मणो वैश्वानर इति।

पूर्व खण्ड में आदित्य लोक को वैश्वानर कहते हुए कहा गया है कि लोकों के आरोहण और तद्वत् प्रत्यवरोहण की प्रक्रिया में वैश्वानर देवताक सूक्त रूप छन्द रश्मि समूहों की उत्पत्ति होती है, इस कारण आदित्य लोक को वैश्वानर संज्ञक माना जाता है, इस विषय में ग्रन्थकार का कथन है कि यह वेदोक्त आर्ष परम्परा से कहा गया है और इस परम्परा का निर्वहन याज्ञिक लोग अपनी यज्ञ प्रक्रियाओं में करते हैं। ये यज्ञ प्रक्रियाएँ सृष्टि की ही व्याख्या करती हैं। इस कारण लोकों का आरोहण एवं अवरोहण इन वैदिक यज्ञ प्रक्रियाओं द्वारा जाना जा सकता है।

तदुपरान्त ग्रन्थकार आदित्य लोक व आदित्य रश्मियों को वैश्वानर मानने के अगले हेतु के विषय में लिखते हैं— पूर्व खण्ड में जो यह कहा गया है कि सूर्य बारह कपालों

वाला देवता होता है, यहाँ बारह कपालों का आशय पूर्व खण्ड में समझें। इस विषय में ग्रन्थकार लिखते हैं कि सूर्य को बारह कपालों वाला ही नहीं, अपितु एक कपाल और पाँच कपालों वाला भी कहा गया है। इसका अर्थ यह है [कः = कं वै प्रजापतिः प्रजाभ्यः कायेनैककपालेन पुरोडाशेनाकुरुत (श.ब्रा.२.५.२.१३), को वै प्रजापतिः (गो.उ.२.६.३), प्रजापतिर्वै कः (तै.सं.१.६.८.५; ऐ.ब्रा.२.३८; गो.उ.१.२२)। प्रजापतिः = प्रजापतिर्वै मनः (श.ब्रा.४.१.१.२२), प्रजापतिर्हि वाक् (तै.ब्रा.१.३.४.५), प्रजापतिरसा आदित्यः (मै.सं. २.३.३)] कि सूर्यलोक मनस्तत्त्व अथवा वाक् तत्त्व रूपी प्रजापति के द्वारा पालित व रक्षित होता है। इस कारण उसे एक कपाल वाला भी कहा गया है। यह सूर्यलोक एवं उसकी किरणें प्राणतत्त्व का भण्डार होती हैं। इसके साथ ही ग्यारह प्रकार की प्राण रश्मियों में से मुख्य रूप से प्राण, अपान, व्यान, सूत्रात्मा वायु एवं धनञ्जय की इसमें विशेष प्रधानता होती है। इस कारण सूर्यलोक एवं सूर्य रश्मियों को पाँच कपालों वाला भी कहा जा सकता है। उधर छन्द रश्मियों में से गायत्री, उष्णिक्, अनुष्टुप्, त्रिष्टुप् एवं जगती इन पाँच छन्द रश्मियों की आदित्य लोक एवं आदित्य किरणों के अन्दर प्रधानता होती है। इस कारण भी आदित्य को पाँच कपालों वाला कहा जाता है। अन्य दृष्टि से विचारें, तो आदित्य लोक में प्राण, छन्द, मरुत्, मास एवं ऋतु रश्मियाँ विद्यमान होती हैं। इन्हीं के कारण आदित्य लोक का अस्तित्व होता है। इस कारण भी आदित्य को पाँच कपालों वाला कहा जा सकता है।

इस प्रकार यहाँ ग्रन्थकार ने बारह कपालों वाले मत का खण्डन न करके अपना भी मत प्रस्तुत कर दिया है। तदनन्तर पूर्व खण्ड में वर्णित आदित्य को वैश्वानर सिद्ध करने वाले ब्राह्मण वचन 'असौ वा आदित्योऽग्निर्वैश्वानरः' के विषय में लिखते हैं कि ब्राह्मण ग्रन्थ बहुभक्तिवादी होते हैं अर्थात् वे पदार्थों में अनेक गुणों की व्याख्या करने वाले होते हैं अथवा वे विभिन्न पदार्थों में अनेक प्रकार के गुणों के अस्तित्व को सिद्ध करने वाले होते हैं। इस कारण वे एक ही विशेषण को अनेक विशेष्यवाची पदार्थों से सम्बद्ध करते हैं। इसी कारण वे जहाँ आदित्य को वैश्वानर कहते हैं, वहीं पृथिवी, संवत्सर एवं ब्राह्मण को भी वैश्वानर कहते हैं। यहाँ पृथिवी वैश्वानर है, इसका तात्पर्य यह है कि यह पृथिवी न केवल सभी मनुष्यों, अपितु सभी प्राणियों को अपने साथ निरन्तर सौरमण्डल एवं गैलेक्सी की यात्रा कराती रहती है।

संवत्सर अर्थात् वर्ष को वैश्वानर इसलिए कहते हैं, क्योंकि वर्ष, मास आदि ही हमारी आयु को ले जाते रहते हैं अर्थात् क्षीण करते रहते हैं। यहाँ संवत्सर का अर्थ विशाल कॉस्मिक मेघ भी माना जा सकता है, जो विशाल पदार्थ राशि को अपने साथ ढोता रहता है अथवा जिसमें विशाल पदार्थ राशि विद्यमान होती है। यहाँ ब्राह्मण को भी वैश्वानर कहा गया है, क्योंकि ब्राह्मण अर्थात् वेदवेत्ता विद्वान् अपने ज्ञान के प्रकाश से सभी मनुष्यों को मार्ग दिखाने वाले होते हैं। यहाँ ब्राह्मण शब्द से इस नाम वाले कणों अथवा रश्मियों का भी ग्रहण किया जा सकता है, क्योंकि ये पदार्थ अन्य क्षत्रिय आदि पदार्थों को प्रेरित करने वाले होते हैं।

यथो एतन्निवित्सौर्यवैश्वानरी भवति। इति अस्यैव सा भवति।
यो विड्भ्यो मानुषीभ्यो दीदेत्। [शां.श्रौ.८.२२.१] इति।
एष हि विड्भ्यो मानुषीभ्यो दीप्यते।
यथो एतच्छान्दोमिकं सूक्तं सौर्यवैश्वानरं भवतीति। अस्यैव तद्भवति।
जमदग्निभिराहुतः। [आश्व.श्रौ.८.९.७] इति।
जमदग्नयः प्रजमिताग्नयो वा। प्रज्वलिताग्नयो वा। तैरभिहुतो भवति।
यथो एतत्। हविष्पान्तीयं सूक्तं [ऋ.१०.८८] सौर्यवैश्वानरं भवतीति।
अस्यैव तद्भवति॥ २४॥

पूर्व खण्ड में सूर्य को वैश्वानर कहने के लिए निवित् रश्मियों को सौर्यवैश्वानरी बताया है तथा 'आ यो द्यां भात्यापृथिवीम्' से सूर्य को वैश्वानर सिद्ध किया है। इस विषय में ग्रन्थकार लिखते हैं कि इसी प्रकार यह ऋचा आदित्य की भाँति पृथिवी के लिए भी है। [एव = एवम् (निरु.२.१९)] यहाँ निवित् रश्मियों को सौर्यवैश्वानरी बताया है, वह पृथिवी को वैश्वानर बताने के समान ही है। यहाँ 'आ यो द्यां भात्यापृथिवीम्' के साथ-२ 'यो विड्भ्यो मानुषीभ्यो दीदेत्' भी कहा गया है अर्थात् यह सूर्यलोक द्युलोक एवं पृथिवीलोक को प्रकाशित करने के साथ-२ मनुष्य व अन्य प्राणियों के लिए भी चमकता है। इनका जीवन भी सूर्य पर ही आश्रित है। यह मनुष्यादि प्रजा पृथिवी आदि अप्रकाशित लोकों पर भी है एवं सूर्य्यादि लोकों पर भी। इस प्रकार सूर्यलोक के साथ पृथिवीलोक को भी

वैश्वानर कहते हैं। यहाँ भी ग्रन्थकार ने पृथिवी को वैश्वानर तो कहा, परन्तु आदित्य को वैश्वानर बताने का खण्डन नहीं किया है।

तदनन्तर कहा— 'यथो एतच्छान्दोमिकं सूक्तं सौर्यवैश्वानरं भवतीति अस्यैव तद्भवति जमदग्निभिराहुतः इति जमदग्नयः प्रजमिताग्नयो वा प्रज्वलिताग्नयो वा तैरभिहुतो भवति' अर्थात् पूर्व में जो यजु.३३.९२ मन्त्र को छन्दोम कहकर सूर्य को वैश्वानर कहा गया है, वह भी पृथिवी को वैश्वानर कहने के समान ही है। इसके उदाहरण के रूप में आश्व.श्रौ. 'जमदग्निभिराहुतः' को उद्धृत किया है। आश्व.श्रौ. में इसे भी छन्दोम कहा है। प्रो. चन्द्रमणि विद्यालंकार ने यहाँ 'जम्' धातु का अर्थ 'गति करना' किया है, जो यहाँ प्रसंगा-नुकूल भी है और उचित भी। इस कारण 'जमदग्निः' का अर्थ है— प्रभूत मात्रा में किंवा व्यापक अग्नि तथा दूसरा अर्थ स्वयं ग्रन्थकार ने प्रज्वलित अग्नि किया है अर्थात् यह पृथिवी भी व्यापक रूप से प्रज्वलित अग्नि द्वारा आहुत है अर्थात् व्यापक रूप से जलते हुए अग्नि से ही इसकी उत्पत्ति हुई है। ध्यान रहे कि सूर्य की उत्पत्ति भी ऐसे अग्नि से हुई है और निरन्तर सूर्य में ऐसा अग्नि विद्यमान रहता है। इस प्रकरण में ग्रन्थकार का उद्देश्य सूर्य के वैश्वानर अग्नि होने का खण्डन करना नहीं, बल्कि पृथिवी को भी वैश्वानर कहना है।

तदनन्तर सूर्य के वैश्वानर होने में पूर्व में प्रयुक्त तर्क हविष्पान्तीय सूक्त (ऋ.१०.८८) की ऋचाएँ सूर्य को वैश्वानर सिद्ध करती हैं, के विषय में ग्रन्थकार लिखते हैं कि यहाँ भी इस सूक्त की ऋचाओं के द्वारा पृथिवी के वैश्वानर होने के समान ही सूर्य वैश्वानर है। इस मन्त्र पर अगले खण्ड में इसी दृष्टिकोण से विचार किया गया है।

* * * * *

पञ्चविंशः खण्डः

हविष्पान्तमजरं स्वर्विदि दिविस्पृश्याहुतं जुष्टमग्नौ।
तस्य भर्मणे भुवनाय देवा धर्मणे कं स्वधया ऽपप्रथन्त॥

[ऋ.१०.८८.१]

हविर्यत्पानीयम्। अजरम्। सूर्यविदि। दिविस्पृशि। अभिहुतं जुष्टमग्नौ। तस्य भरणाय च भावनाय च धारणाय च।
एतेभ्यः सर्वेभ्यः कर्मभ्यो देवा इममग्निमन्नेनापप्रथन्त। अथाप्याह॥ २५॥

इस मन्त्र का ऋषि आङ्गिरसो वामदेव्यो वा मूर्धन्वान् है। [मूर्धा = मूर्धा मूर्त्तमस्मिन् धीयते (निरु.७.२७)] अर्थात् इस छन्द रश्मि की उत्पत्ति विभिन्न प्राण रश्मियों से उत्पन्न अङ्गारों से अर्थात् तीव्र तापयुक्त पदार्थ से होती है। इसका देवता सूर्यवैश्वानरौ एवं छन्द विराट् त्रिष्टुप् होने से सूर्यलोक और उसके अन्दर विद्यमान वैश्वानर अग्नि विविध रूप से प्रकाशित तीव्र रक्तवर्णीय तेज से युक्त होते हैं। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(हविः, पान्तम्) 'हविर्यत्पानीयम्' ऐसी विभिन्न प्रकार की मास रश्मियाँ, जो विभिन्न संयोगादि क्रियाओं में नाना प्रकार के कणों और विकिरणों के द्वारा अवशोषित की जाती रहती हैं, वे रश्मियाँ (अजरम्) 'अजरम्' सृष्टिकाल में कभी जीर्ण नहीं होती। इसके साथ ही वे सूर्यादि लोकों के अन्दर निरन्तर प्रसरण करती रहती हैं।

(स्वर्विदि, दिविस्पृशि, अग्नौ, आहुतम्, जुष्टम्) 'सूर्यविदि दिविस्पृशि अभिहुतं जुष्टमग्नौ' सूर्यलोक में विद्यमान किंवा सूर्य के केन्द्रीय भाग में विद्यमान सब ओर से प्रेरित और सेवित अग्नि में जिन कणों की आहुति दी जाती है, (तस्य, भर्मणे, भुवनाय) 'तस्य भरणाय च भावनाय च धारणाय च' उस आहुति के भरण-पोषण एवं वृद्धि के लिए एवं उस वृद्धि और भरण-पोषण के द्वारा अग्नि के भरण-पोषण और वृद्धि के लिए (देवा, धर्मणे, स्वधया, कम्, अपप्रथन्त) 'एतेभ्यः सर्वेभ्यः कर्मभ्यो देवा इममग्निमन्नेनापप्रथन्त' इन क्रियाओं के द्वारा अर्थात् मासादि रश्मियों एवं विभिन्न कणों की आहुति आदि क्रियाओं के द्वारा देव अर्थात् विभिन्न प्राणादि रश्मियाँ उस अग्नि के धारण और पोषण के लिए [स्वधा = अन्ननाम (निघं.२.७), द्यावापृथिव्योर्नाम (निघं.३.३०)] विभिन्न संयोज्य प्रकाशित एवं अप्रकाशित कणों के संयोग के द्वारा अर्थात् विभिन्न कणों एवं छन्दादि रश्मियों के नानाविध संयोग कर्म के द्वारा प्रजापति [प्रजापतिः = अग्निः प्रजापतिः (काठ.सं.२२.७), अग्निर्वै देवतानां मुखं प्रजनयिता स प्रजापतिः (श.ब्रा.२.५.१.८)] अर्थात् अग्नि को सम्पूर्ण लोक में दूर-दूर तक फैलाती हैं। यहाँ ग्रन्थकार ने अग्नि के लिए 'इमम्' सर्वनाम का प्रयोग किया है, इससे वे यह कहना चाहते हैं कि इस पृथिवीलोक का

अग्नि भी इन्हीं उपर्युक्त क्रियाओं के द्वारा इस पृथिवी पर फैलाया गया है। [प्रजापतिः = प्रजापतिर्वा अयं लोकः (कौ.ब्रा.१४.३)] यहाँ प्रजापति का अर्थ पृथिवी भी है। इस कारण यहाँ वैश्वानर पद से सूर्य के साथ-साथ पृथिवी का भी ग्रहण होता है। ग्रन्थकार यहाँ यही कहना चाहते हैं। इसके लिए एक अन्य ऋचा को अगले खण्ड में प्रस्तुत किया गया है।

* * * * *

= षड्विंशः खण्डः =

अपामुपस्थे महिषा अगृभ्णत विशो राजानमुप तस्थुर्ऋग्मियम्।
आ दूतो अग्निमभरद्विवस्वतो वैश्वानरं मातरिश्वा परावतः॥

[ऋ.६.८.४]

अपामुपस्थे उपस्थाने। महत्यन्तरिक्षलोके आसीनाः। महान्त इति वा।
अगृह्णत माध्यमिका देवगणाः। विश इव राजानं उपतस्थुः।
ऋग्मियमृग्मन्तमिति वा। अर्चनीयमिति वा। पूजनीयमिति वा।
आहरद्यं दूतो देवानां विवस्वत आदित्यात्। विवस्वान्विवासनवान्।
प्रेरितवतः। परागताद्वा।
अपि वा अस्याग्नेः वैश्वानरस्य मातरिश्वानमाहर्तारमाह।
मातरिश्वा वायुः। मातरि अन्तरिक्षे श्वसिति। मातरि आशु अनिति इति वा।
अथैनम् एताभ्यां सर्वाणि स्थानान्यभ्यापादं स्तौति॥ २६॥

इस मन्त्र का ऋषि बार्हस्पत्य भरद्वाज है। इसका अर्थ यह है कि इस छन्द रश्मि की उत्पत्ति सूत्रात्मा वायु से उत्पन्न प्राण नामक प्राण रश्मियों से होती है। इसका देवता वैश्वानर तथा छन्द जगती होने से वैश्वानर अग्नि दूर-दूर तक गमन करता है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(अपाम्, उपस्थे) 'अपामुपस्थे उपस्थाने' विभिन्न प्राण रश्मियों एवं जलतत्त्व अर्थात्

विभिन्न आयन्स के निकट स्थित अथवा उनसे सम्पन्न (महिषा, अगृभ्णत) 'महत्यन्त-रिक्षलोके आसीनाः महान्त इति वा अगृह्णत माध्यमिका देवगणाः' व्यापक अन्तरिक्ष लोक में विद्यमान अथवा उन आयन्स आदि पदार्थों को मध्यमस्थानी देवगण अर्थात् वायुतत्त्व एवं विद्युत् आदि पदार्थ ग्रहण करते हैं अर्थात् आकर्षित व संयुक्त करते हैं। इन्हीं वायुतत्त्व आदि पदार्थों के द्वारा सूर्यादि लोकों में नाना प्रकार के कणों का महान् यजन कर्म चलता है।

(विशः, राजानम्, उप, तस्थुः) 'विश इव राजानं उपतस्थुः' वे आयन्स आदि पदार्थ सम्पूर्ण लोक को प्रकाशित और नियन्त्रित करने वाले केन्द्रीय भाग में उसी प्रकार से निकटता से स्थित व विद्यमान होते हैं, जैसे विट् संज्ञक छन्द रश्मियाँ, जिनकी चर्चा वेदविज्ञान-आलोकः २.३३ में की गई है, ब्रह्म रूप एवं क्षत्र रूप रश्मियों के निकट स्थित होकर नाना प्रकार के सूक्ष्म कणों के उत्पन्न होने की प्रक्रिया को आरम्भ करती हैं, वैसे ही आयन्स आदि पदार्थ प्राणादि रश्मियों के निकट स्थित होकर नाना प्रकार के कणों और विकिरणों को उत्पन्न करते हैं। (ऋग्मियम्) 'ऋग्मियमृग्मन्तमिति वा अर्चनीयमिति वा पूजनीयमिति वा' वह वैश्वानर अग्नि विभिन्न ऋक् रश्मियों के द्वारा मापा जाता अर्थात् उनके द्वारा निर्मित वा आच्छादित होता है और उन्हीं के द्वारा प्रकाशित व क्रियाशील भी होता है।

(आ, दूतः, अग्निम्, अभरत्, विवस्वतः, परावतः) 'आहरद्यं दूतो देवानां विवस्वत आदित्यात् विवस्वान्विवासनवान् प्रेरितवतः परागताद्वा अपि वा' [दूतः = यो दुनोति परितापयति सः (ऋ.द.भा.)] वे देव अर्थात् प्राणादि पदार्थ अन्धकार को दूर करने वाले विभिन्न लोकों के प्रेरक तथा पृथिव्यादि लोकों से दूर स्थित सूर्यलोक से पदार्थों को तपाने वाले अग्नि को सब ओर से लेकर आते हैं।

(वैश्वानरम्, मातरिश्वा) 'अस्याग्नेः वैश्वानरस्य मातरिश्वानमाहर्तारमाह मातरिश्वा वायुः मातरि अन्तरिक्षे श्वसिति मातरि आशु अनिति इति वा' आकाश में श्वास लेने वाले अर्थात् आकाश की रश्मियों पर आश्रित तथा आकाश में शीघ्रतापूर्वक गमन करने वाले मातरिश्वा अर्थात् वायुतत्त्व को आदित्य लोक से अग्नि को लाने वाला कहा गया है।

भावार्थ— विभिन्न प्रकार के आयन्स को वायु एवं विद्युत् आकर्षित करते रहते हैं, जिसके कारण इन कणों का महान् यजन कर्म चलता रहता है। वे कण सूर्यलोक के केन्द्रीय भाग में सघनता से भरे रहते हैं और विभिन्न कणों और विकिरणों को उत्पन्न करते रहते हैं।

विभिन्न प्राण रश्मियाँ सूर्यलोकों से नाना प्रकार के कणों और विकिरणों को लेकर अन्तरिक्ष में गमन करती रहती हैं।

यह वायुतत्त्व आदित्य किरणों को कैसे लाता है? यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है। इस विषय में हमारा मत है कि अग्नि के परमाणुओं को तीव्रतम गति प्रदान करने वाली धनञ्जय रश्मियाँ एवं उसके साथ गमन करने तथा उसके मार्ग को निर्विघ्न करने वाली प्राण व अपान रश्मियाँ वायुतत्त्व का ही भाग होती हैं। मैत्रायणी संहिता (३.१.१०) में भी लिखा है— 'वायुर्वा अग्नेस्तेजस्तस्माद् वायुमग्निरन्वेति' अर्थात् अग्नि का तेज वायु ही है, इस कारण अग्नि के परमाणु वायु का अनुगमन करते हैं।

स्मर्तव्य है कि वायुतत्त्व ही अग्नि का उपादान कारण है। यही सभी प्रकार के बलों को उत्पन्न करने वाला है और यही प्रकाशाणुओं की गति का कारण है, ऐसा यहाँ कहा गया है। प्रकाशाणुओं की गति के समय अनेक प्रकार की प्राण, मरुत् व छन्द रश्मियों की अनिवार्य भूमिका होती है और ये सभी रश्मियाँ वायुतत्त्व का ही भाग हैं। इनके अभाव में कोई भी कण व प्रकाशाणु कभी गति नहीं कर सकता। जब कोई प्रकाशाणु किसी स्रोत से उत्सर्जित होता है, तब वायुतत्त्व की धनञ्जय रश्मियाँ तुरन्त ही उसे गति प्रदान करती हैं।

यहाँ भी ग्रन्थकार आदित्य को वैश्वानर कहने का खण्डन नहीं कर रहे, बल्कि आदित्य के साथ-२ पार्थिव अग्नि, जो आदित्य के द्वारा ही उत्पन्न होती है, को भी वैश्वानर अग्नि सिद्ध करते हैं।

तदनन्तर अगले दो खण्डों में वर्णित दो ऋचाओं के द्वारा सभी स्थानों अर्थात् पृथिवी, अन्तरिक्ष एवं सूर्य में इस अग्नि को व्याप्त करके प्रकाशित किया जाता है। इसका अर्थ यह है कि वे दोनों छन्द रश्मियाँ अग्नितत्त्व को व्याप्त होने एवं प्रकाशित होने में सहयोग करती हैं।

* * * * *

= सप्तविंशः खण्डः =

मूर्धा भुवो भवति नक्तमग्निस्ततः सूर्यो जायते प्रातरुद्यन्।
मायामू तु यज्ञियानामेतामपो यत्तूर्णिश्चरति प्रजानन्॥ [ऋ.१०.८८.६]
मूर्धा मूर्तमस्मिन्धीयते। मूर्धा यः सर्वेषां भूतानां भवति नक्तमग्निः।
ततः सूर्यो जायते प्रातरुद्यन्त्स एव।
प्रज्ञां त्वेतां मन्यन्ते यज्ञियानां देवानां यज्ञसम्पादिनाम्।
अपो यत्कर्म चरति प्रजानन्। सर्वाणि स्थानान्यनुसञ्चरति त्वरमाणः।
तस्योत्तरा भूयसे निर्वचनाय॥ २७॥

इस मन्त्र का ऋषि आङ्गिरसो वामदेव्यो वा मूर्धन्वान् है। इसके विषय में खण्ड ७.२५ में देखें। इसका देवता सूर्यवैश्वानरौ तथा छन्द निचृत् त्रिष्टुप् होने से इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से सूर्य एवं उसमें विद्यमान वैश्वानर अग्नि तीक्ष्ण रक्तवर्णीय तेज से युक्त होते हैं। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(मूर्धा, भुवः, भवति, नक्तम्, अग्निः) 'मूर्धा मूर्तमस्मिन्धीयते मूर्धा यः सर्वेषां भूतानां भवति नक्तमग्निः' रात्रि के समय यह पार्थिव अग्नि ही पृथिवी पर स्थित सभी जड़ पदार्थों एवं विभिन्न प्राणियों का मूर्धा रूप होता है। इसका अर्थ यह है कि रात्रि के समय सभी प्राणी एवं जड़ पदार्थ इस पार्थिव अग्नि के द्वारा ही पुष्ट होते एवं धारण किए जाते हैं। इसके अतिरिक्त रात्रि के समय सभी प्राणी इस पार्थिव अग्नि द्वारा ही देखते हैं। इस विषय में एक वैदिक वैज्ञानिक का कथन है— अग्नेर्वै मनुष्या नक्तं चक्षुषा पश्यन्ति सूर्यस्य दिवैतौ वै चक्षुषः प्रदातारौ (मै.सं.२.३.६) अर्थात् वैश्वानर अग्नि रात्रि में सूर्य के समान प्रकाशक का कार्य करता है। इससे यह संकेत मिलता है कि रात्रि में विभिन्न पार्थिव माध्यमों से प्राप्त अग्नि (दीपक, विद्युत् एवं आग आदि) के अतिरिक्त वह अग्नि भी अत्यन्त मन्द प्रकाश के स्रोत के रूप में व्यवहार करती है, जो दिन के समय पृथिवी पर स्थित पदार्थों द्वारा सूर्य से प्राप्त की जाती है। इसका अर्थ यह है कि सूर्य की किरणों को जो पदार्थ दिन में अवशोषित करते हैं, उनमें से कुछ मात्रा में वे पदार्थ उनका रात्रि के समय उत्सर्जन भी करते हैं, जिसके कारण पृथिवी पर अन्धकारपूर्ण एवं बादलों से युक्त रात्रि भी सर्वथा

अन्धकारमय नहीं होती। (ततः, सूर्यः, जायते, प्रातः, उद्यन्) 'ततः सूर्यो जायते प्रातरुद्यन्त्स एव' उसके पश्चात् प्रातःकाल सूर्य उदय होता हुआ उत्पन्न होता है अर्थात् पृथिवी पर जो अग्नि रात्रि में प्रकाशक का कार्य करता है, वही वैश्वानर अग्नि दिन के समय सूर्य के रूप में उदय होता है।

(मायाम्, ऊ, तु, यज्ञियानाम्, एताम्) 'प्रज्ञां त्वेतां मन्यन्ते यज्ञियानां देवानां यज्ञसम्पादिनाम्' [माया = प्रज्ञापिका विद्युत् (तु.म.द.य.भा.१३.४४)] यह प्रकाशवती विद्युत् नाना प्रकार के देव पदार्थों के यजन कर्म सम्पादित करती है अर्थात् यहाँ यह वैश्वानर अग्नि विद्युत् रूप में विद्यमान रहकर विभिन्न कण आदि पदार्थों के मध्य संयोग-वियोग आदि क्रियाओं को सम्पादित करता है। (अपः, यत्, तूर्णिः, चरति, प्रजानन्) 'अपो यत्कर्म चरति प्रजानन् सर्वाणि स्थानान्यनुसञ्चरति त्वरमाणः' वह अग्नि, जिसकी चर्चा ऊपर की गई है, प्रज्वलित होता हुआ [अपः = कर्मनाम (निघं.२.१), प्रजननकर्म (निरु.११.३१)] अति शीघ्रतापूर्वक नाना पदार्थों की उत्पत्ति प्रक्रिया को संचालित व प्रकाशित करता हुआ सर्वत्र अनुकूलता-पूर्वक संचरण करता रहता है।

इस प्रकार ग्रन्थकार स्वयमेव तीनों प्रकार की अग्नियों को एक ही बताकर उन्हें वैश्वानर कह रहे हैं। इसी बात को और अधिक स्पष्ट करने के लिए अगले खण्ड में अन्य ऋचा का व्याख्यान किया गया है।

* * * * *

= अष्टाविंशः खण्डः =

स्तोमेन हि दिवि देवासो अग्निमजीजनञ्छक्तिभी रोदसिप्राम्।
तमू अकृण्वन्त्रेधा भुवे कं स ओषधीः पचति विश्वरूपाः॥

[ऋ.१०.८८.१०]

स्तोमेन हि यं दिवि देवा अग्निमजनयन्। शक्तिभिः कर्मभिः।
द्यावापृथिव्योः आ पूरणम्। तमकुर्वंस्त्रेधाभावाय।

पृथिव्याम् अन्तरिक्षे दिवीति शाकपूणिः।
यदस्य दिवि तृतीयं तदसावादित्यः। इति हि ब्राह्मणम्। तदग्नीकृत्य स्तौति।
अथैनमेतयादित्यीकृत्य स्तौति॥ २८॥

इस मन्त्र के ऋषि व देवता पूर्व मन्त्र के समान हैं तथा छन्द निचृत् त्रिष्टुप् के स्थान पर त्रिष्टुप् होने से छान्दस प्रभाव पूर्वापेक्षा कुछ मृदु होता है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(स्तोमेन, हि, दिवि, देवासः, अग्निम्, अजीजनत्) 'स्तोमेन हि यं दिवि देवा अग्निमजनयन्' विभिन्न देव अर्थात् प्राण रश्मियाँ नाना प्रकार के स्तोमों अर्थात् छन्द रश्मि समूहों के द्वारा किंवा उनके साथ मिलकर द्युलोक वा अन्तरिक्ष में अग्नितत्त्व को निश्चित ही उत्पन्न करती हैं। इससे यह भी स्पष्ट है कि अग्नि की उत्पत्ति से पूर्व आकाशतत्त्व की ही नहीं, अपितु द्युलोक की भी उत्पत्ति हो चुकी होती है अर्थात् सूर्यलोक के चारों ओर विद्यमान द्युलोक रूपी क्षेत्र अथवा जिस क्षेत्र में सूर्यलोक का निर्माण होने वाला होता है, उसकी उत्पत्ति हो चुकी होती है। (शक्तिभिः, रोदसिप्राम्) 'शक्तिभिः कर्मभिः द्यावापृथिव्योः आ पूरणम्' उन प्राण व छन्दादि रश्मियों की [शक्तिः = कर्मनाम (निघं.२.१)] शक्ति वा क्रियाओं के द्वारा द्युलोक व पृथिवीलोक अथवा सूर्यलोक व पृथिवीलोक को परिपूर्ण करने वाले (तम्, ऊ, अकृण्वन्, त्रेधा, भुवे) 'तमकुर्वंस्त्रेधाभावाय पृथिव्याम् अन्तरिक्षे दिवीति शाकपूणिः' उस अग्नि को अन्तरिक्ष लोक में तीन प्रकार का कर दिया। इसका अर्थ यह है कि एक ही अग्नि भिन्न-२ परिस्थितियों में तीन प्रकार से व्यवहार करता है। वह तीन प्रकार का अग्नि पृथिवी, अन्तरिक्ष एवं आदित्य लोक में निवास करता है, ऐसा महर्षि शाकपूणि का भी मत है। (कम्, सः, ओषधीः, पचति, विश्वरूपाः) [कम् = पदपूरणः (निरु.१.४)] वही अग्नि इस पृथिवी पर विद्यमान सभी रूपों वाली औषधियों व वनस्पतियों को पकाता है।

यहाँ भी ग्रन्थकार का उद्देश्य किसी ऋषि के विचार का खण्डन करना नहीं, बल्कि पृथिवी, अन्तरिक्ष व आदित्य तीनों लोकों में विद्यमान अग्नि को वैश्वानर सिद्ध करके सभी मतों की यथार्थता का ही प्रतिपादन करना है।

इस विषय में किसी प्राचीन ब्राह्मण ग्रन्थ का वचन इस प्रकार उद्धृत किया है— 'यदस्य दिवि तृतीयं तदसावादित्यः' अर्थात् जो अग्नि इस पृथिवीलोक में विद्यमान है, वही

अन्तरिक्ष लोक में और वही अग्नि तृतीय रूप में उस आदित्य लोक में विद्यमान है अर्थात् तीनों रूप एक ही अग्नि के हैं। इस कारण तीनों ही प्रकार के अग्नि को वैश्वानर कहते हैं किंवा सभी को अग्नि ही कहते हैं। इसका यहाँ यह भी अर्थ है कि इस हविष्पान्तीय सूक्त की पूर्व की दस ऋचाओं में इसे अग्नि ही कहा गया है।

अब अग्नि को आदित्य मानकर अगले खण्ड में प्रस्तुत ग्यारहवीं ऋचा में स्तुत किया गया है।

* * * * *

= एकोनत्रिंशः खण्डः =

यदेदेनमदधुर्यज्ञियासो दिवि देवाः सूर्यमादितेयम्।
यदा चरिष्णू मिथुनावभूतामादित्प्रापश्यन्भुवनानि विश्वा॥

[ऋ.१०.८८.११]

यदैनमदधुर्यज्ञियाः सर्वे दिवि देवाः सूर्यम्। आदितेयम्। अदितेः पुत्रम्।
यदा चरिष्णू मिथुनौ प्रादुरभूताम्। सर्वदा सहचारिणौ। उषाश्चादित्यश्च।
मिथुनौ कस्मात्। मिनोतिः श्रयतिकर्मा। थु इति नामकरणः। थकारो वा।
नयतिः परः। वनिः वा। समाश्रितावन्योन्यं नयतः। वनुतो वा।
मनुष्यमिथुनावप्येतस्मादेव। मेथन्तावन्योन्यं वनुत इति वा।
अथैनमेतयाग्नीकृत्य स्तौति॥ २९॥

इस मन्त्र का ऋषि, देवता व छन्द खण्ड ७.२७ में उद्धृत मन्त्र के समान होने से प्रभाव भी तद्वत् समझें। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(यदा, इत्, एनम्, सूर्यम्, आदितेयम्, दिवि, देवाः, यज्ञियासः, अदधुः) 'यदैनमदधुर्यज्ञियाः सर्वे दिवि देवाः सूर्यम् आदितेयम् अदितेः पुत्रम्' [अदितिः = अदितिर्हि गौः (श.ब्रा. २.३.४.३४), वाग्वाऽअदितिः (श.ब्रा.६.५.२.२०)] जब वाक् रश्मियों एवं सूक्ष्म कणों से

उत्पन्न इस सूर्यलोक को विभिन्न प्राण रश्मि आदि पदार्थ, जो नाना प्रकार के यजन कर्म करने में समर्थ होते हैं, अन्तरिक्ष में निश्चित कक्षाओं में स्थापित करते हैं। इसका अर्थ यह है कि पूर्व में सूर्यलोक अस्थिर होकर अनियमित गति से डगमगाता रहता है, न उसकी गति निश्चित होती है और न मार्ग। इसके साथ ही पृथिवी आदि लोक भी उसके निकट स्थित होते हैं। ऐसे समय में विभिन्न प्राण एवं छन्दादि रश्मियाँ न केवल सूर्य एवं पृथिवी आदि लोकों को पृथक् करती हैं, अपितु उस सूर्यलोक को आकाशगंगा के केन्द्र का परिक्रमण करने के लिए एक निश्चित कक्षा भी प्रदान करती हैं। इन दोनों अर्थात् प्राणादि रश्मियों को यहाँ यज्ञियास कहा गया है, क्योंकि सम्पूर्ण सृष्टि यज्ञ इन्हीं के द्वारा सम्पादित हो रहा है।

(यदा, चरिष्णू, मिथुनौ, अभूताम्) 'यदा चरिष्णू मिथुनौ प्रादुरभूताम् सर्वदा सहचारिणौ उषाश्चादित्यश्च मिथुनौ कस्मात् मिनोतिः श्रयतिकर्मा थु इति नामकरणः थकारो वा नयतिः परः वनिः वा समाश्रितावन्योन्यं नयतः वनुतो वा मनुष्यमिथुनावप्येतस्मादेव मेथन्तावन्योन्यं वनुत इति वा' जब साथ-साथ गमन करने वाले उषा एवं सूर्यलोक अर्थात् सूर्य एवं उसका प्रकाश दोनों उत्पन्न होते हैं, तभी से ये मिथुन रूप में सदैव साथ-साथ ही रहते हैं अर्थात् वे कभी एक-दूसरे से पृथक् नहीं हो सकते। जोड़े को मिथुन क्यों कहते हैं? इस विषय में ग्रन्थकार लिखते हैं कि यह पद आश्रय अर्थ वाली 'मिनोति' धातु से व्युत्पन्न होता है, जिसमें 'थु' अथवा 'थ' प्रत्यय का प्रयोग होकर साथ ही इस प्रत्यय से परे 'णीञ् प्रापणे' अथवा 'वन सम्भक्तौ' धातु का प्रयोग होता है। इसका अर्थ यह है कि जो पदार्थ एक-दूसरे पर आश्रित होते हैं, एक-दूसरे का सेवन करते हैं अर्थात् दोनों ही पदार्थ एक-दूसरे से लाभ प्राप्त करते हैं और एक-दूसरे को साथ लेकर चलते हैं, ऐसे पदार्थों का मिथुन इस सृष्टि में देखा जाता है। यहाँ उषा अर्थात् प्रकाश व ऊष्मा सूर्य पर आश्रित होते हैं। इसके साथ ही सूर्य भी प्रकाश और ऊष्मा पर आश्रित होता है। यदि सूर्य में से प्रकाश और ऊष्मा समाप्त हो जाए, तब सूर्य का अस्तित्व समाप्त हो जाएगा। इस कारण सूर्य एवं ऊष्मा परस्पर एक-दूसरे पर आश्रित होने के साथ-साथ एक-दूसरे का सेवन करने वाले अर्थात् लाभ प्राप्त करने वाले भी होते हैं। सूर्य ऊष्मा रूप किरणों को सदैव अपने साथ लेकर चलता है। इसी प्रकार ऊष्मा रूप किरणें भी सूर्य के गुणों को सदैव साथ लेकर चलती हैं और सूर्य का सबको अनुभव भी कराती हैं। यदि ये किरणें सूर्य से बाहर निकलकर विभिन्न

लोकों तक न पहुँचें, तो उन लोकों के वासियों को सूर्य दिखाई ही नहीं देगा। यही बात मन्त्र के अन्तिम पाद में भी कही है।

इन्हीं अर्थों में मनुष्यों में स्त्री और पुरुष के जोड़े को भी मिथुन कहा जाता है, क्योंकि वे भी परस्पर एक-दूसरे पर आश्रित होते हैं, प्रत्येक कार्य में एक-दूसरे का साथ देते हैं, प्रत्येक सुख-दु:ख में एक-दूसरे के सहभागी होते हैं तथा कभी एक-दूसरे से पृथक् नहीं होते। यह मिथुन पद 'मिथृ मेधाहिंसनयो:' से व्युत्पन्न होता है। इससे यह भी संकेत मिलता है कि पति-पत्नी दोनों एक-दूसरे के विचारों को निकटता से जानने वाले होते हैं और किसी त्रुटि के लिए एक-दूसरे की ताड़ना करने के भी अधिकारी होते हैं। यदि ऐसा नहीं होता है अर्थात् एक-दूसरे से अपने विचारों को छुपाया जाता है, ताड़ना एकपक्षीय होती है, एक-दूसरे के सुख-दु:ख में पूर्णरूपेण भागीदार नहीं होते हैं, तब वे परस्पर पति-पत्नी के रूप में रहने के योग्य नहीं हैं।

(आत्, इत्, प्रापश्यन्, भुवनानि, विश्वा) यहाँ भी पूर्वोक्त बात को दोहराया गया है कि जब सूर्य अपनी किरणों के साथ प्रकट होता है, तभी विभिन्न लोकों पर रहने वाले सभी प्राणी उसे पूर्णरूपेण व स्पष्टत: देख पाते हैं। इसका अर्थ यह है कि जब सूर्यलोक में नाभिकीय संलयन की प्रक्रिया प्रारम्भ हो जाती है, तभी उसे देखा जा सकता है, अन्यथा नहीं अथवा धुँधले रूप में दिखाई दे सकता है, किन्तु ऐसा होने के लिए भी उससे प्रकाश का उत्सर्जन व परावर्तन होना अनिवार्य है।

यहाँ सूर्यलोक के ऊपर उठकर अपनी कक्षा में स्थापित होने तथा पृथिव्यादि लोकों से दूर होने की जो चर्चा की गई है, उस प्रक्रिया को वैदिक भौतिकी में 'दूरोहण प्रक्रिया' कहा जाता है। इस प्रक्रिया के विषय में विशेष जानकारी के लिए 'वेदविज्ञान-आलोक:' के खण्ड ४.२० एवं ४.२१ पठनीय हैं।

पण्डित भगवद्दत्त रिसर्च स्कॉलर ने इसका व्याख्यान करते हुए अनेक वेद मन्त्रों को प्रस्तुत किया है। इस कारण हम उनके भाष्य को भी यहाँ उद्धृत कर रहे हैं—

"जब सूर्य को स्थापित किया द्यौ में। यज्ञ करते हुये देवों ने। इस विषय में देखो पूर्व ६.१७ में जबारू पद। इस तथ्य का सूक्ष्म रहस्य समझने के लिए अगले दो वचन ध्यान में रखने चाहिए—

१. असावादित्योऽस्मिन् लोक आसीत्। (तै.सं.७.३.१०.१)
२. इह वा असा आदित्य आसीत्। तमितोऽध्यमुं लोकमहरन्। (मै.सं.१.११.७)

तत्पश्चात् देवों द्वारा सूर्य ऊपर चढ़ाया गया। इस विषय में निम्नलिखित प्रमाण देखने चाहिए—

१. सो [आदित्यो] ऽग्निमस्तौत् स एनं स्तुतः सुवर्गे लोकम् अगमयत्। (तै.सं.१.५.९.४)
२. एकविंश एषः। एतेन वै देवा एकविंशेन आदित्यम् इतः स्वर्गं लोकम् आरोहयन्...। (काठ.सं.३३.६)
३. इन्द्रो दीर्घाय चक्षस आ सूर्यं रोहयद् दिवि। (ऋ.१.७.३)
४. सूर्यं दिव्या रोहयो दृशे। (ऋ.१.५१.४)
५. यत्सूर्यं दिव्यारोहयन्ति। (ऋ.४.१३.२)
६. सूर्यो अरुहत् शुक्रमर्णः। (ऋ.७.६०.४)
७. आ सूर्यं रोहयो दिवि। (ऋ.८.८९.७)
८. नृभिर्यतः सूर्यमारोहयो दिवि। (ऋ.९.८६.२२)
९. य ऋतेन सूर्यमारोहयन्। (ऋ.१०.६२.३)
१०. सूर्यं दिवि रोहयन्तः। (ऋ.१०.६५.११)

संख्या ३-१० में दिए गए निगमों और संख्या १ तथा २ में दिए गए प्रवचनों में एक महान् ज्ञान की अपूर्व छटा है। संसार में कौनसा विज्ञान का ग्रन्थ है, जहाँ इतना ज्ञान भरा पड़ा है। सूर्य के ऊपर चढ़ने की सारी माया एक पृथक् पुस्तक में लिखी जा सकती है। तुलना करो निरुक्त ६.१७ में जबारू पद का व्याख्यान।

पूर्व प्रमाणों में उल्लिखित घटनाओं के उत्तर काल की अवस्था का निदर्शन निरुक्त के इस खण्ड २९ में उद्धृत वेदमन्त्र में विद्यमान है अर्थात् एनम् सूर्यम् आदितेयम् यज्ञियासो देवा दिवि अदधुः।

इस आदितेय सूर्य को यज्ञिय देवों ने द्यौ में स्थापित कर दिया। वे यज्ञिय देव कौन थे, इस पर भी लिखा जा सकता है, पर विस्तारभय से इतने पर ही अलम्। सृष्टि बनते समय देव यज्ञ में व्यापृत थे।

उषा और आदित्य मिथुन हैं। वे साथ ही घूमते हैं। इस वैदिक ज्ञान के सामने

संसार नतशिर होगा। पक्षपाती और अज्ञानी ईसाई-यहूदी लेखकों ने वेद-ज्ञान को कलुषित करने का जो आन्दोलन किया है, उस पर वज्रप्रहारों का अभी प्रारम्भ ही है।''

यहाँ वैश्वानर अग्नि के रूप में आदित्य लोक की चर्चा की गई है। अगले खण्ड में उद्धृत ऋचा के द्वारा वैश्वानर के रूप में अग्नि की चर्चा की जाएगी।

* * * * *

= त्रिंशः खण्डः =

यत्रा वदेते अवरः परश्च यज्ञन्योः कतरो नौ वि वेद।
आ शेकुरित्सधमादं सखायो नक्षन्त यज्ञं क इदं वि वोचत्॥

[ऋ.१०.८८.१७]

यत्र विवदेते दैव्यौ होतारौ। अयं चाग्निरसौ च मध्यमः।
कतरो नौ यज्ञे भूयो वेदेति। आशक्नुवन्ति तत्सहमदनं समानख्याना ऋत्विजः।
तेषां यज्ञं समश्नुवानानां को न इदं विवक्ष्यति इति।
तस्योत्तरा भूयसे निर्वचनाय॥ ३०॥

इस मन्त्र के ऋषि, देवता एवं छन्द पूर्ववत् समझें। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(यत्रा, वदेते, अवरः, परश्च, यज्ञन्योः) 'यत्र विवदेते दैव्यौ होतारौ अयं चाग्निरसौ च मध्यमः' जहाँ इस सृष्टि में देव पदार्थों के संगमन कर्मों के नायक रूप दो पदार्थ सर्वत्र गतिमान एवं प्रकाशमान रहते हैं, उन पदार्थों में से एक पदार्थ निम्नस्थानी अर्थात् पार्थिव अग्नि होता है और दूसरा पदार्थ उनसे दूरस्थ व उच्च स्थानी अर्थात् मध्यमस्थानी वायु रूप होता है अथवा मध्यमस्थानी विद्युत् होता है। (कतरः, नौ, विवेद) 'कतरो नौ यज्ञे भूयो वेदेति' वहाँ इन दोनों में से जिस पदार्थ में प्राणतत्त्व अधिक मात्रा में विद्यमान होता है, वही पदार्थ संगमन कर्मों को अपेक्षाकृत अधिक मात्रा में जानता अर्थात् प्रकाशित व सम्पादित करता है। यहाँ 'कः' पद का अर्थ प्राण करके 'कतरः' पद का अर्थ अधिक

प्राणवान् पदार्थ मानना चाहिए।

(आ, शेकुः, इत्, सधमादम्) 'आशक्नुवन्ति तत्सहमदनम्' ये दोनों पदार्थ विभिन्न यजन क्रियाओं में साथ-साथ उत्तेजित व क्रियाशील होते हुए समर्थ होते हैं अर्थात् वे सृष्टि यज्ञ को सम्पन्न करने में समर्थ होते हैं। (सखायः, नक्षन्तः, यज्ञम्, कः, इदम्, विवोचत्) 'समानख्याना ऋत्विजः तेषां यज्ञं समश्नुवानानां को न इदं विवक्ष्यति' वे दोनों पदार्थ साथ-२ प्रकाशित व सक्रिय होते हुए इस सृष्टि यज्ञ को प्राप्त करते हैं अर्थात् सृजन क्रियाओं में व्याप्त होते हैं। प्राणतत्त्व इन दोनों ही पदार्थों को विविध प्रकार से प्रकाशित करता रहता है।

यहाँ हमने 'कः' पद को सर्वनाम न मानकर प्राणवाची संज्ञा के रूप में माना है। यह हमारी शैली है कि आधिदैविक भाष्य इस प्रकार किया जाए, जिससे किसी छन्द रश्मि का सृष्टि पर प्रभाव दर्शाया जा सके। अन्य भाष्यकार 'कः' पद को सर्वनाम मानकर संवाद की शैली में अर्थ किया करते हैं और ऐसा करना अनुचित भी नहीं है, किन्तु 'वैदिक रश्मि सिद्धान्त' के द्वारा सृष्टि प्रक्रिया को समझने में हमारी शैली ही उपयोगी है, परन्तु मन्त्र के अर्थ को सरल रूप से जानने के लिए अन्य भाष्यकारों की शैली भी उपयोगी है। उस शैली के अनुसार इस मन्त्र में यह संवाद किया जा रहा है कि सृष्टि निर्माण में पार्थिव अग्नि और अन्तरिक्षस्थ अग्नि में किसकी भूमिका श्रेष्ठतर होती है?

इस विषय को और अधिक स्पष्ट करते हुए अगले खण्ड में अन्य ऋचा को प्रस्तुत किया गया है।

* * * * *

= एकत्रिंशः खण्डः =

यावन्मात्रमुषसो न प्रतीकं सुपर्ण्यो३ वसते मातरिश्वः।
तावद्दधात्युप यज्ञमायन्ब्राह्मणो होतुरवरो निषीदन्॥ [ऋ.१०.८८.१९]
यावन्मात्रमुषसः प्रत्यक्तं भवति। प्रतिदर्शनमिति वा।

अस्त्युपमानस्य सम्प्रत्यर्थे प्रयोगः। इहेव निधेहीति यथा। सुपर्ण्यः सुपतनाः। एता रात्रयः। वसते मातरिश्वञ्ज्योतिर्वर्णस्य।
तावत् उपदधाति यज्ञमागच्छन्ब्राह्मणो होतास्याग्नेर्होतुरवरो निषीदन्।
होतृजपस्त्वनग्निर्वैश्वानरीयो भवति।
देव सवितरेतं त्वा वृणतेऽग्निं होत्राय सह पित्रा वैश्वानरेण।
[आश्व.श्रौ.१.३.२३] इति। इममेव अग्निं सवितारमाह। सर्वस्य प्रसवितारम्। मध्यमं वोत्तमं वा पितरम्।
यस्तु सूक्तं भजते यस्मै हविर्निरूप्यतेऽयमेव सः अग्निर्वैश्वानरः।
निपातमेवैते उत्तरे ज्योतिषी एतेन नामधेयेन भजेते। भजेते॥ ३१ ॥

इस मन्त्र के ऋषि और देवता पूर्व मन्त्र के समान हैं। इसका छन्द विराट् त्रिष्टुप् होने से इसका छान्दस प्रभाव पूर्वापेक्षा कुछ मृदु, किन्तु विविध रूपों में होता है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(यावत्, मात्रम्, उषसः, न, प्रतीकम्, सुपर्ण्यः, वसते) 'यावन्मात्रमुषसः प्रत्यक्तं भवति प्रतिदर्शनमिति वा अस्त्युपमानस्य सम्प्रत्यर्थे प्रयोगः इहेव निधेहीति यथा सुपर्ण्यः सुपतनाः एता रात्रयः वसते' जब तक उषा काल की रश्मियों का पुनरागमन नहीं होता अर्थात् वे रश्मियाँ दिखाई नहीं देती, उस समय तक सुन्दर रूप से व सहज रूप से आने वाली रात्रि सारे जगत् को आच्छादित किये रहती है। इसका अर्थ यह है कि इस सृष्टि में जहाँ भी प्रकाश का अभाव होता है, वहाँ पदार्थ मात्र को अन्धकार ढके हुए रहता है। इसके साथ ही जब तक ऊष्मा का उदय नहीं होता, तब तक सम्पूर्ण पदार्थ शीतल ही रहता है। यहाँ 'न' पद, जो उपमा अर्थ में प्रयुक्त होता है, वह यहाँ 'सम्प्रति' अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। यहाँ ग्रन्थकार एक उदाहरण 'इहेव निधेहीति यथा' में 'इव' पद, जो उपमा अर्थवाची है, यहाँ सम्प्रति अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, जहाँ इसका अर्थ है— 'जैसे कि यहाँ अब रख दे'। यहाँ रात्रि को सुपर्णा कहा गया है, इसका कारण यह है कि रात्रि का अन्धकार उसी तीव्र गति से फैलता जाता है, जिस तीव्र गति से उषा का प्रकाश फैला करता है। जितनी-२ मात्रा में उषा का प्रकाश नहीं फैल पाता है, उतनी-उतनी मात्रा में पदार्थ रात्रि के अन्धकार से व्याप्त हुआ होता है और जितनी-जितनी मात्रा में उषा का प्रकाश फैलता जाता है,

उतनी-उतनी मात्रा में रात्रि का अन्धकार मिटता जाता है।

(मातरिश्वः, तावत्, दधाति, उप, यज्ञम्, आयन्, ब्राह्मणः, होतुः, अवरः, निषीदन्) 'मातरिश्वज्ज्योतिर्वर्णस्य तावत् उपदधाति यज्ञमागच्छन्ब्राह्मणो होतास्याग्नेर्होतुरवरो निषीदन्' [ब्राह्मणः = अग्निर्वै ब्राह्मणः (काठ.सं.६.६), आग्नेयो हि ब्राह्मणः (काठ.सं.२९.१०), असौ खलु वावैष आदित्यो यद् ब्राह्मणः (तै.आ.२.१३.१)] जब रात्रि का अन्धकार जगत् को ढके रहता है, उस समय पदार्थों के रंगों की ज्योति को वायुतत्त्व निकटता से धारण करके अपने अन्दर ढके रखता है। इस कारण रात्रि में रंग नहीं दिखाई देते। यहाँ कोई यह विचार कर सकता है कि रंग तो प्रकाश की किरणों में होते हैं, न कि किसी पार्थिव पदार्थ में। तब प्रकाश के अभाव में अर्थात् रात्रि के अन्धकार में रंग हो ही कैसे सकते हैं? इस पर हमारा प्रतिप्रश्न है कि जो यह कहा जाता है कि जिस रंग के प्रकाश को जो पदार्थ परावर्तित कर देता है, वही उस पदार्थ का रंग होता है, तब कोई पदार्थ विशेष क्यों किसी रंग विशेष की किरणों को ही परावर्तित करता है? क्या पार्थिव पदार्थों का कोई रंग नहीं होता? क्या पार्थिव पदार्थ में अग्नितत्त्व नहीं होता? यदि हाँ, तो क्या उस अग्नितत्त्व की पदार्थ को रंग प्रदान करने में कोई भूमिका नहीं होती? यदि पार्थिव पदार्थों में अग्नितत्त्व नहीं होता, तब क्या पार्थिव पदार्थ बिना अग्नितत्त्व के कभी बन सकते हैं?

वस्तुतः इस सारी प्रक्रिया में विभिन्न छन्द रश्मियों की माया काम करती है और उन छन्द रश्मियों के कारण ही विभिन्न पदार्थों में रंगों की विद्यमानता होती है। ये छन्द रश्मियाँ अग्नि एवं पृथिवी दोनों ही प्रकार के पदार्थों का भाग होती हैं। महर्षि तित्तिर ने पृथिवी को नाना रंगों से युक्त होने के कारण ही कहा है— 'इयं (पृथिवी) वै पृश्निः' (तै.ब्रा.१.४.१.५)। वायुतत्त्व में भी ये सभी छन्द रश्मियाँ विद्यमान होती हैं। प्रकाश के अभाव में पार्थिव पदार्थ की इन छन्द रश्मियों को वायुतत्त्व अपने अन्दर छिपाए रखता है। इस कारण अन्धकार में पदार्थों के रंग को हम नहीं देख पाते। रंगों की माया को जानने के लिए 'वेदविज्ञान-आलोकः' पठनीय है। विभिन्न क्रियाओं को करने वाला ब्राह्मण होता रूप अवर अग्नि अर्थात् पार्थिव अग्नि यजन कर्मों में व्याप्त होता हुआ अर्थात् उन्हें सम्पादित करता हुआ इस अग्नि अर्थात् पार्थिव अग्नि के होता रूप विद्युत् रूप अग्नि (मध्यम अग्नि) में विद्यमान रहता है। यहाँ मध्यम अग्नि के स्थान पर वायुतत्त्व का भी ग्रहण किया जा सकता है, क्योंकि यही अग्नि आदि पदार्थों का आकर्षण करने वाला होता है। इसी

कारण ऋषियों ने कहा है— प्राणो वै होता (ऐ.ब्रा.६.८, गो.उ.५.१४), वागेव होता (गो.पू.२.११)।

जब किन्हीं दो कणों का संयोग होने वाला होता है, तब उनमें विद्यमान विद्युत् आवेश लुप्त होकर वायुतत्त्व में ही छुप जाता है, यही बात ऊपर कही गयी है।

यहाँ ग्रन्थकार लिखते हैं कि होता का जप अग्नि से भिन्न वैश्वानर सम्बन्धी होता है। यह वचन कर्मकाण्ड सम्बन्धी हुआ। इस पर अन्य प्रकार से विचार करते हैं। जप के विषय में कहा गया है— 'ब्रह्म वै जपः' (कौ.ब्रा.३.७)। इस कारण यहाँ ग्रन्थकार किसी के विचार को इस प्रकार रखना चाहते हैं कि व्यापक व वर्धमान होतारूप वायुतत्त्व अग्नि से भिन्न होता है और वही वैश्वानर कहलाता है। इस विषय में आश्वलायन श्रौतसूत्र का प्रमाण देते हुए लिखा है— 'देव सवितरेतं त्वा वृणतेऽग्निं होत्राय सह पित्रा वैश्वानरेण'। यहाँ ग्रन्थकार की दृष्टि में इस पार्थिव अग्नि को ही सविता कहा गया है, जो सभी पदार्थों को उत्पन्न व प्रेरित करने वाला है। मध्यम अग्नि अथवा उत्तम अर्थात् आदित्य अग्नि को पिता कहा गया है, जैसा कि पूर्व में खण्ड ७.२२ में महर्षि शाकपूणि ने इन दोनों अग्नियों को पार्थिव अग्नि का पिता ही कहा है। ग्रन्थकार यहाँ इसी पक्ष का प्रतिपादन कर रहे हैं।

तदनन्तर लिखते हैं कि जो अग्नि सम्पूर्ण सूक्त का भागी होता है [सूक्तम् = यजमानो हि सूक्तम् (ऐ.ब्रा.६.९), प्रजाः पशवः सूक्तम् (कौ.ब्रा.१४.४)] अर्थात् विभिन्न संयोज्य रश्मियों व कणों में व्याप्त होकर उनकी संयोग प्रक्रिया का प्रत्यक्ष उत्तरदायी होता है और जिसमें विभिन्न पदार्थ होमे या आहुत किए जाते हैं, वह पार्थिव अग्नि ही होता है अर्थात् ये पदार्थ ऊष्मा की विद्यमानता में ही अपनी संयोग क्रिया को सम्पादित कर पाते हैं। इस कारण यह पार्थिव अग्नि ही मुख्य रूप से वैश्वानर कहलाता है। यहाँ कोई यह प्रश्न कर सकता है कि प्रकाशाणु के निर्माण से पूर्व भी रश्मियों का यजन कर्म तो होता ही है, तब यहाँ ऊष्मा-अग्नि को ही सूक्तभागी एवं हवियों को ग्रहण करने वाला क्यों कहा गया है?

इसके उत्तर में हमारा मत यह है कि प्रकृति में विक्षोभ होते ही पदार्थ की अत्यन्त शीतलता का गुण समाप्त हो जाता है एवं उष्णता की उत्पत्ति का प्रारम्भ हो जाता है, भले ही उस उष्णता को कोई भी जीव कभी न जान सके। इस कारण ग्रन्थकार ने इस पार्थिव अग्नि को वैश्वानर कहा है। अन्य दो अग्नियों को अर्थात् मध्यम एवं आदित्य अग्नि को

वैश्वानर निपात से कहा गया है। यहाँ निपात का अर्थ सभी भाष्यकारों ने गौण किया है, परन्तु हमारी दृष्टि में यह पूर्ण सत्य नहीं है, बल्कि इसका अर्थ यह है कि मध्यम एवं आदित्य अग्नि को पार्थिव अग्नि का रक्षक होने के कारण निपात रूप कहा गया है, क्योंकि ये दोनों प्रकार के अग्नि ही पार्थिव अग्नि के पालक, रक्षक व उत्पादक होते हैं और पार्थिव अग्नि दोनों प्रकार के अग्नि का सेवन करता है अथवा ये दोनों प्रकार के अग्नि पार्थिव अग्नि की रक्षा के भागी होते हैं। यहाँ 'भजेते' पद की दो बार आवृत्ति इस अध्याय की समाप्ति का सूचक है।

इस प्रकार हमने देखा कि जिन भाष्यकारों ने ग्रन्थकार के द्वारा अन्य ऋषियों, यहाँ तक कि अपने स्वयं के आचार्य प्रवर के मत का खण्डन करवाया गया है, वह सर्वथा अनुचित है। इन भाष्यकारों ने ग्रन्थकार के वचनों को समझने में त्रुटि की है। यह पाठक स्वयं ही समझ सकते हैं।

* * * * *

इति ऐतरेयब्राह्मणस्य वैज्ञानिकभाष्यकारेण आचार्याग्निव्रतनैष्ठिकेन
यास्कीयनिरुक्तस्य वैज्ञानिक-व्याख्यानस्य (वेदार्थ-विज्ञानस्य)

सप्तमोऽध्यायः समाप्यते।

अथ अष्टमोऽध्यायः

= प्रथमः खण्डः =

द्रविणोदाः कस्मात्। धनं द्रविणमुच्यते। यदेनदभिद्रवन्ति। बलं वा द्रविणम्। यदेनेनाभिद्रवन्ति। तस्य दाता द्रविणोदाः। तस्यैषा भवति॥ १॥

अब ८वें अध्याय के प्रथम पद 'द्रविणोदा:' का निर्वचन करते हुए उपर्युक्त वचन कहा गया है। यहाँ ग्रन्थकार कहते हैं कि 'धनम्' को 'द्रविणम्' कहा गया है। 'धनम्' पद का निर्वचन करते हुए ग्रन्थकार ने पूर्व में खण्ड ३.९ में लिखा है— 'धनं कस्मात् धिनोतीति सत:'। आधिदैविक पक्ष में इसका अर्थ यह है कि जो कण आदि पदार्थ दूसरे कण आदि पदार्थों के साथ संयुक्त होकर उन्हें स्थायित्व प्रदान करने में सहायक होते हैं, उन्हें धन कहते हैं। उदाहरणस्वरूप एक धनायन किसी ऋणायन के साथ मिलकर किसी अणु का निर्माण करके उसे स्थायित्व प्रदान करता है। इस कारण आयन भी धन कहलाते हैं। अब धन को द्रविण क्यों कहते हैं, इसका कारण बताते हुए ग्रन्थकार लिखते हैं— 'यदेनदभिद्रवन्ति' अर्थात् जिसकी ओर अन्य कण सब ओर से आते हैं, क्योंकि वह कण अन्य कणों को सब ओर से अपनी ओर आकृष्ट करता है। यद्यपि दो कण अपने उत्तरी अथवा दक्षिणी ध्रुवों की ओर से परस्पर संयुक्त होते हैं, परन्तु उनका आकर्षण बल सब ओर कार्य करता है। इस कारण किसी भी कण के आकर्षण बल के कारण किसी भी ओर से कोई अन्य कण उस कण की दिशा में तेजी से गमन करता हुआ आता है, भले ही उनमें से एक ही कण उस कण के साथ संयुक्त हो सके।

तदनन्तर लिखते हैं— 'बलं वा द्रविणम् यदेनेनाभिद्रवन्ति' अर्थात् बल को भी द्रविण कहते हैं, क्योंकि इसी के द्वारा सभी कण आदि पदार्थ किसी अन्य पदार्थ की ओर गमन करते हैं। ऊपर जो किसी कण आदि पदार्थ की ओर अन्य किसी कण आदि पदार्थ के गति करने की चर्चा है, ग्रन्थकार उसी चर्चा के क्रियाविज्ञान को यहाँ व्याख्यात करते हैं। इस प्रसंग में यह ज्ञातव्य है कि बल किसी भी द्रव्य का एक गुण है और यही गुण किसी धन को द्रविण बनाता है। यदि किसी कण आदि पदार्थ में यह बल गुण न हो, तो अन्य कण आदि कभी उसकी ओर आकृष्ट होकर गमन नहीं कर सकते। इसी कारण ग्रन्थकार ने 'धनम्' पद के तत्काल पश्चात् 'बलम्' पद को भी द्रविणम् कहा है। स्मरणीय है कि बल के अतिरिक्त किसी पदार्थ का कोई अन्य गुण द्रविणम् के निर्वचन की कसौटी पर खरा नहीं उतर सकता।

अब 'द्रविणोदाः' का निर्वचन करते हुए कहते हैं कि ऐसे द्रविण रूपी धन अथवा बल अथवा दोनों ही पदार्थों को देने वाला द्रविणोदा कहलाता है और किसी भी पदार्थ को देने वाला पदार्थ वही हो सकता है, जिसके पास स्वयं वे पदार्थ विद्यमान हों।

इस पद के उदाहरण के रूप में एक ऋचा को अगले खण्ड में प्रस्तुत करते हैं।

* * * * *

द्वितीयः खण्डः

द्रविणोदा द्रविणसो ग्रावहस्तासो अध्वरे।
यज्ञेषु देवमीळते॥ [ऋ.१.१५.७]
द्रविणोदा यस्त्वम्। द्रविणस इति द्रविणसादिन इति वा।
द्रविणसानिन इति वा। द्रविणसस्तस्मात्पिबत्विति वा। यज्ञेषु देवमीळते।
याचन्ति। स्तुवन्ति। वर्धयन्ति। पूजयन्तीति वा।
तत्को द्रविणोदाः। इन्द्र इति क्रौष्टुकिः। स बलधनयोः दातृतमः।
तस्य च सर्वा बलकृतिः।
ओजसो जातमुत मन्य एनम्॥ [ऋ.१०.७३.१०]
इति चाह। अथाप्यग्निं द्राविणोदसमाह। एष पुनरेतस्मात् जायते।

इस मन्त्र का ऋषि कण्व मेधातिथि है अर्थात् इस छन्द रश्मि की उत्पत्ति सूत्रात्मा वायु से होती है। इसका देवता द्रविणोदा तथा छन्द गायत्री होने से इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से विभिन्न कण आदि पदार्थों में बल और श्वेतवर्णीय तेज की उत्पत्ति होती है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(द्रविणोदाः, द्रविणसः) 'द्रविणोदा यस्त्वम् द्रविणस इति द्रविणसादिन इति वा द्रविण-सानिन इति वा द्रविणसस्तस्मात्पिबत्विति वा' विभिन्न कण आदि पदार्थों एवं विभिन्न प्रकार के बलों को देने अथवा उत्पन्न करने वाला जो प्राण तत्त्व है, वह विभिन्न कण आदि पदार्थों

को अपनी ओर आकर्षित करने वाली अथवा उनके अन्दर विद्यमान अथवा उनके नाना प्रकार के विभाग करने वाली नाना प्रकार की मरुद् रश्मियों का निरन्तर अवशोषण अर्थात् अपने साथ संयोजन करता रहता है अर्थात् इस सृष्टि में सर्वत्र ही प्राण रश्मियाँ निरन्तर मरुद् वा छन्द रश्मियों को अपने साथ संयुक्त करती रहती हैं। यहाँ 'पिब' धातु के प्रयोग से यह सिद्ध होता है कि प्राण रश्मियाँ मरुद् रश्मियों को न केवल अवशोषित करती हैं, बल्कि उनका संरक्षण भी निरन्तर करती रहती हैं। (ग्रावहस्तासः) [ग्रावाणः = ग्रावाणो हन्तेर्वा गृणातेर्वा गृह्णातेर्वा (निरु.९.८), वज्रो वै ग्रावा (श.ब्रा.११.५.९.७), यज्ञमुखं ग्रावाणः (मै.सं.४.५.२)] वे मरुद् वा छन्दादि रश्मियाँ वज्र रूप होकर यजन प्रक्रियाओं की ओर उन्मुख होती हुई विभिन्न कण आदि पदार्थों की ओर तीव्रता से गमन करने वाली होती हैं। ये रश्मियाँ अपने आकर्षण व प्रतिकर्षण आदि बल रूप हाथों के द्वारा तीव्रता से बाधक पदार्थों को नष्ट करने वाली होती हैं तथा संयोजी पदार्थों को शीघ्रता से आकृष्ट करने वाली होती हैं। इसके साथ ही वे इस प्रक्रिया में मन्द-मन्द ध्वनि तरंगों को भी उत्पन्न करती हैं। वस्तुतः वे मरुद् वा छन्दादि रश्मियाँ स्वयं वाक् रूप ही होती हैं, ऐसी मरुद् रश्मियाँ (अध्वरे, यज्ञेषु, देवम्, ईळते) 'यज्ञेषु देवमीळते याचन्ति स्तुवन्ति वर्धयन्ति पूजयन्तीति वा' हिंसारहित यज्ञ में अर्थात् ऐसी संयोग प्रक्रियाओं में, जिनके सभी बाधक पदार्थ नष्ट वा नियन्त्रित हो चुके हैं, प्राण तत्त्व रूपी देवों को अपनी ओर आकृष्ट करती हैं, उन्हें प्रकाशित, समृद्ध एवं अपने साथ विनियुक्त करके नाना प्रकार की यजन क्रियाओं को सम्पन्न करती हैं। यहाँ यह स्पष्ट होता है कि जब तक बाधक पदार्थों को नियन्त्रित वा नष्ट नहीं किया जाता, तब तक प्राण एवं मरुद् रश्मियों का मेल होकर किन्हीं कण आदि पदार्थों का संयोग नहीं हो सकता।

यहाँ ग्रन्थकार ने 'ईळते' पद से इस महान् विज्ञान के कई रहस्यों का उद्घाटन किया है, जिस पर हम क्रमशः विचार करते हैं—

१. याचन्ति — यह पद यह दर्शाता है कि मरुद् रश्मियाँ निरन्तर दूर-दूर से प्राण रश्मियों को अपने साथ संयुक्त करने की इच्छा करती रहती हैं। यहाँ प्रश्न यह उठ सकता है कि इच्छा करना जड़ रश्मियों में कैसे सम्भव है? इसका उत्तर यह है कि सृष्टि की प्रत्येक क्रिया ज्ञानपूर्वक ही हो रही है और ज्ञान भी चेतन का ही गुण होता है। ये रश्मियाँ अपने प्रयोजन को जानने और उसके अनुकूल अन्य रश्मि आदि पदार्थों को पहचानने का कार्य

'ओम्' रश्मियों के सहयोग से कर पाती हैं, क्योंकि 'ओम्' रश्मियाँ साक्षात् ईश्वर तत्त्व के द्वारा उत्पन्न होती हैं, इस कारण उनमें इच्छा और ज्ञान दोनों ही होते हैं। यदि ऐसा नहीं होता, तो यदृच्छया संयोग से सृष्टि की आयु के बराबर अवधि में भी विभिन्न रश्मियों के संयोग से एक कण का निर्माण भी नहीं हो पाता।

२. स्तुवन्ति — यह पद यह दर्शाता है कि मरुद् वा छन्द रश्मियाँ ही विभिन्न प्राण रश्मियों को प्रकाशित करके नाना प्रकार के देव पदार्थों को उत्पन्न करने हेतु प्रेरित करती हैं। यदि ये रश्मियाँ प्राण रश्मियों के साथ संयुक्त न होवें, तो प्राण रश्मियाँ सूक्ष्म असुर रश्मियों को जन्म देती हैं। इसके लिए 'वैदिक रश्मिविज्ञानम्' का 'वैदिक सृष्टि उत्पत्ति विज्ञान' नामक अध्याय पठनीय है।

३. वर्धयन्ति — इस पद से संकेत मिलता है कि मरुद् रश्मियाँ प्राण रश्मियों को समृद्ध भी करती हैं अर्थात् मरुद् रश्मियों की विद्यमानता में मनस्तत्त्व के अन्दर नाना प्रकार की प्राण रश्मियाँ उत्पन्न वा दूर-दूर से आकृष्ट होने लगती हैं।

४. पूजयन्ति — यह पद यह दर्शाता है कि मरुद् रश्मियाँ विभिन्न प्राण रश्मियों का उचित उपयोग करती हैं अर्थात् जिस प्राण रश्मि का जहाँ जो उपयोग हो सकता है, वे वैसा उपयोग करती हैं।

अब ग्रन्थकार आचार्य क्रौष्टुकि के मत को दर्शाते हुए लिखते हैं— 'तत्को द्रविणोदाः इन्द्र इति क्रौष्टुकिः स बलधनयोः दातृतमः तस्य च सर्वा बलकृतिः' अर्थात् द्रविणोदा किसको कहते हैं? इसका उत्तर देते हुए महर्षि क्रौष्टुकि कहते हैं कि जो पदार्थ बल एवं उनसे सम्पन्न विभिन्न कण आदि पदार्थों को देने वाले पदार्थों में श्रेष्ठतम होते हैं, वे द्रविणोदा कहलाते हैं। इनके मत में इन्द्र को द्रविणोदा कहते हैं, क्योंकि इस सृष्टि में जो बल होता है, वह सम्पूर्ण बल इन्द्र का ही है। इसके लिए यहाँ निम्नलिखित ऋचा का द्वितीय पाद उद्धृत करते हैं— 'ओजसो जातमुत मन्य एनम्'...(इन्द्र)।

इस मन्त्र का ऋषि गौरिवीति है। गौरिवीत के विषय में ऋषियों का कथन है— ब्रह्म यद्देवा व्यकुर्वत ततो यदत्यरिच्यत तद् गौरीवितमभवत् (तां.ब्रा.९.२.३), वाचो वै रसोऽत्यक्षरत् तद् गौरिवीतमभवत् (जै.ब्रा.३.१८)। इसका अर्थ यह है कि कुछ बड़ी छन्द रश्मियों में से कुछ भाग आकाश अथवा मनस्तत्त्व में रिसकर पृथक् हो जाता है, ऐसी लघु

रश्मियों को गौरिवीति कहते हैं। उपर्युक्त छन्द रश्मि की उत्पत्ति ऐसी ही किसी लघु छन्द रश्मि से होती है। इसका देवता इन्द्र और छन्द पाद निचृत् त्रिष्टुप् होने से इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से तीक्ष्ण रक्तवर्णीय तेजयुक्त विद्युत् क्षेत्र उत्पन्न होने लगते हैं। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(ओजसः, जातम्, इन्द्रः, एनम्, उत, मन्ये) 'ओजः' के विषय में कहा गया है— ओजसा बलेन ओज ओजतेर्वा उब्जतेर्वा (निरु.६.८), वज्रो वाऽओजः (श.ब्रा.८.४.१.२०)। इसका अर्थ यह है कि इन्द्र तत्त्व की उत्पत्ति बढ़ते हुए सम्पीडक अथवा वारक बलों से सम्पन्न रश्मियों के द्वारा होती है। इस कारण इन्द्र तत्त्व पदार्थ को नियन्त्रित व एकत्रित करने वाला एवं उनको सम्पीडित करने वाला होता है। इस कारण इन्द्र तत्त्व विभिन्न कण आदि पदार्थों और उनके बलरूप गुणों से समृद्ध होता है। मूल उपादान अवस्था से सृष्टि के प्रत्येक पदार्थ के निर्माण में सम्पीडक और वारक अर्थात् पदार्थ को एकत्र करने वाले बलों की विशेष भूमिका होती है। इसलिए इन्द्र तत्त्व को बल और धन के देने वालों में श्रेष्ठतम कहा है। ऐसे उस इन्द्र तत्त्व को मैं अर्थात् इस छन्द रश्मि की कारणभूत गौरिवीति नामक लघु छन्द रश्मियाँ निरन्तर प्रकाशित करती हैं अथवा उसे और अधिक तेजस्वी बनाती हैं।

इस विषय में पुनः इन्हीं ऋषि का कथन है कि अग्नि द्रविणोदा से उत्पन्न होता है और यह अग्नि इन्द्र से भी उत्पन्न होता है। इस प्रकार इन्द्र ही द्रविणोदा सिद्ध होता है। इसके लिए एक ऋचा नीचे प्रस्तुत की गई है—

यो अश्मनोरन्तरग्निं जजान। [ऋ.२.१२.३]
इत्यपि निगमो भवति। अथाप्यृतुयाजेषु द्राविणोदसाः प्रवादा भवन्ति।
तेषां पुनः पात्रस्येन्द्रपानमिति भवति।
अथाप्येनं सोमपानेन स्तौति। अथाप्याह-
द्रविणोदाः पिबतु द्राविणोदसः। [ऋ.२.३७.४] इति।
अयमेवाग्निर्द्रविणोदा इति शाकपूणिः।
आग्नेयेष्वेव हि सूक्तेषु द्राविणोदसाः प्रवादा भवन्ति।

इस मन्त्र का ऋषि गृत्समद है। इसका अर्थ यह है कि इस छन्द रश्मि की उत्पत्ति

प्राण एवं अपान के युग्म से होती है। इसका देवता इन्द्र और छन्द त्रिष्टुप् होने से इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से इन्द्र तत्त्व तीव्र रक्तवर्णीय तेज से युक्त होता है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(यः) जो द्रविणोदा संज्ञक इन्द्र तत्त्व (अश्मनोः, अन्तः) [अश्मनः = मेघनाम (निघं. १.१०)] दो विशाल मेघों के मध्य (अग्निम्, जजान) विद्युत् अग्नि को उत्पन्न करता है अर्थात् जब दो मेघों की टक्कर होती है, तब विद्युत् धारा की उत्पत्ति होती है। हमारी दृष्टि में यहाँ इन्द्र का अर्थ वायु भी है। इस विषय में महर्षि याज्ञवल्क्य का मत है— 'यो वै वायुः स इन्द्रो य इन्द्रः स वायुः' (श.ब्रा.४.१.३.१९)। यह वायु ही तीव्र बल के द्वारा दो विशाल मेघों की टक्कर कराता है और उस टक्कर से विद्युत् धारा की उत्पत्ति होती है अथवा मेघों के मध्य में स्थित हवा के अणुओं में भी विद्युत् आवेश उत्पन्न होकर प्रकाश की उत्पत्ति होती है। यहाँ भी द्रविणोदा का अर्थ इन्द्र ही सिद्ध होता है, क्योंकि अग्नि इन्द्र से उत्पन्न होता है।

अब पुनः महर्षि क्रौष्टुकि कहते हैं कि [ऋतुयाजः = ऋतवो वा ऋतुयाजाः (गो.उ.३.७), प्राणा वा ऋतुयाजाः (ऐ.ब्रा.२.२९, कौ.ब्रा.१३.९, गो.उ.३.७)] द्रविणोदा संज्ञक पदार्थ ऋतु एवं प्राण रश्मियों की बहुलता में प्रकृष्ट रूप से गति और तेज से युक्त होने लगते हैं। इस कारण सूर्यादि लोकों में जहाँ प्राण एवं ऋतु रश्मियों की बहुलता होती है, वहाँ इन्द्र तत्त्व भी प्रबल हुआ करता है। पुनः इसी बात को स्पष्ट करते हुए कहा है कि ऋतुयाजों अर्थात् ऋतु एवं प्राण रश्मियों के पात्र को इन्द्रपान कहा जाता है। इससे भी यह स्पष्ट होता है कि इन्द्र तत्त्व इन्द्रपान नामक पात्रों से अर्थात् ऋतु एवं प्राण रश्मियों के द्वारा ही सोमपान करता है। इसका अर्थ यह है कि इन्द्र तत्त्व प्राण एवं ऋतु रश्मियों के द्वारा विभिन्न मरुद् रश्मियों को अवशोषित करता रहता है। इस कारण भी आचार्य क्रौष्टुकि इन्द्र तत्त्व को द्रविणोदा सिद्ध करते हैं।

इसके अनन्तर उनका कथन है कि यह द्रविणोदा नामक पदार्थ सोम अर्थात् मरुद् रश्मियों के भक्षण से ही प्रकाशित और बलवान् होता है। इसके लिए वे एक ऋचा का अंश इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं— 'द्रविणोदाः पिबतु द्राविणोदसः'। इस छन्द रश्मि की उत्पत्ति भी प्राण एवं अपान के युग्म से होती है। इसका देवता द्रविणोदा तथा छन्द भुरिक् त्रिष्टुप् होने से इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से द्रविणोदा संज्ञक इन्द्र तत्त्व के बाहु रूप

बल तीव्र होते हैं तथा रक्तवर्णीय प्रकाश की उत्पत्ति वा समृद्धि होती है। इसका आधिदैविक अर्थ यह है—

(द्रविणोदाः, द्राविणोदसः) इन्द्र तत्त्व एवं उससे उत्पन्न अग्नि तत्त्व, दोनों ही प्रकार के पदार्थ (पिबतु) नाना प्रकार के रश्मि वा कण आदि पदार्थों का पान करते हैं। इसका अर्थ यह है कि तीव्र विद्युत् रूपी इन्द्र तथा ऊष्मा रूपी अग्नि, जो विद्युत् से ही उत्पन्न होता है, दोनों ही एकाकी अथवा मिलकर विभिन्न सूक्ष्म पदार्थों का अवशोषण व संरक्षण करते हैं। सूर्य्यादि लोकों के अन्दर ऐसा ही अनिवार्य रूप से होता है। यहाँ यह भी अर्थ प्रकट होता है कि द्रविणोदस संज्ञक अग्नि द्रविणोदा संज्ञक इन्द्र का पान वा संरक्षण करता है। इसका अर्थ यह है कि अति उच्च ताप वाले क्षेत्र में तीव्र विद्युत् धाराएँ समाहित होती हैं, ऐसा भी ब्रह्माण्ड में अनेकत्र देखा जा सकता है। यहाँ 'द्रविणोदाः' एवं 'द्राविणोदसः' दोनों ही पद एक साथ विद्यमान हैं। द्रविणोदस रूप अग्नि 'द्रविणोदाः' का अपत्य है, इस कारण आचार्य क्रौष्टुकि के इस तर्क से भी इन्द्र तत्त्व द्रविणोदाः सिद्ध होता है, क्योंकि यह सर्वविदित है कि विद्युत् से ही ऊष्मा की उत्पत्ति होती है।

इस प्रकार आचार्य क्रौष्टुकि के इन्द्र को द्रविणोदा बताने के तर्क यहाँ समाप्त हुए। अब महर्षि शाकपूणि का मत प्रस्तुत करते हुए ग्रन्थकार लिखते हैं— 'अयमेवाग्निर्द्रविणोदा इति शाकपूणिः आग्नेयेष्वेव हि सूक्तेषु द्राविणोदसाः प्रवादा भवन्ति' अर्थात् महर्षि शाकपूणि के मत में यह अग्नि अर्थात् ऊष्मा आदि पार्थिव अग्नि ही द्रविणोदा कहलाता है, क्योंकि आग्नेय सूक्तों में ही द्रविणोदा सम्बन्धी कथन भी वेद में देखे जाते हैं और इनमें ही द्रविणोदस अर्थात् अग्नि सम्बन्धी कथन भी देखे जाते हैं। इसके उदाहरण के रूप में महर्षि शाकपूणि एक निगम को प्रस्तुत करते हैं, जो नीचे दर्शाया गया है—

देवा अग्निं धारयन्द्रविणोदाम्। [ऋ.१.९६.१] इत्यपि निगमो भवति। यथो एतत्। स बलधनयोर्दातृतमः। इति। सर्वासु देवतास्वैश्वर्यं विद्यते। यथो एतत्।
ओजसो जातमुत मन्य एनम्। [ऋ.१०.७३.१०] इति चाहेति।
अयमप्यग्निरोजसा बलेन मथ्यमानो जायते। तस्मादेनमाह-
सहसस्पुत्रम्। [ऋ.२.७.६]

सहसः सूनुम्। [ऋ.८.७५.३]

सहसो यहुम्। [ऋ.१.७९.४]

उपर्युक्त कथन के उदाहरण के रूप में प्रस्तुत निगम इस प्रकार है— 'देवा अग्निं धारयन्द्रविणोदाम्'। इस मन्त्र का ऋषि कुत्स है अर्थात् इस छन्द रश्मि की उत्पत्ति वज्र रश्मियों से होती है। इसका देवता द्रविणोदाग्नि तथा छन्द त्रिष्टुप् होने से इसके दैवत व छान्दस प्रभाव से अग्नि तत्त्व तीव्र रक्तवर्णीय तेजयुक्त होता है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(देवा:) विभिन्न देव कण अर्थात् प्रकाशित कण आदि पदार्थ, जो आकर्षण आदि बलों से युक्त होते हैं, वे पदार्थ (द्रविणोदाम्, अग्निम्, धारयन्) विभिन्न प्रकार के कण वा विकिरण रूप पदार्थ को देने व लेने अथवा धारण करने में सक्षम अग्नि अर्थात् ऊष्मा को धारण किए रहते हैं। सभी तेजस्वी लोक इसी प्रकार से अग्नि से समृद्ध व परिपूर्ण रहते हैं। वे लोक न केवल ऐसे अग्नि को धारण किए रहते हैं, अपितु उस अग्नि को निरन्तर समृद्ध वा पुष्ट भी करते रहते हैं। यदि ऐसा नहीं होता, तो ये सभी लोक शीघ्र ही अपनी ऊष्मा को खोकर अप्रकाशित लोकों में परिवर्तित हो जाते, जैसा कि अत्यन्त तप्त लोक ग्रह आदि अप्रकाशित लोकों की उत्पत्ति में देखा जाता है।

तदनन्तर ग्रन्थकार महर्षि क्रौष्टुकि के तर्कों पर अपने विचार प्रस्तुत करते हुए लिखते हैं— 'यथो एतत् स बलधनयोर्दातृतमः इति सर्वासु देवतास्वैश्वर्यं विद्यते' अर्थात् महर्षि शाकपूणि कहते हैं कि इन्द्र तत्त्व बल एवं धन अर्थात् सूक्ष्म बल एवं सूक्ष्म कणों को देने, लेने वा धारण करने वाला होता है, परन्तु ऐसा ऐश्वर्य अर्थात् नियन्त्रण शक्ति तो अन्य देवों अर्थात् अग्नि आदि में भी देखी जाती है। इस कारण केवल इन्द्र तत्त्व ही द्रविणोदा नहीं कहा जा सकता। यहाँ ध्यातव्य है कि महर्षि शाकपूणि ने इन्द्र के द्रविणोदा होने का खण्डन नहीं किया है, बल्कि अन्य कुछ देवों को भी द्रविणोदा बताया है।

अब महर्षि क्रौष्टुकि के अगले तर्क के विषय में ग्रन्थकार लिखते हैं कि इस तर्क के अन्तर्गत पूर्व में एक निगम इस प्रकार प्रस्तुत किया गया था— 'ओजसो जातमुत मन्य एनम्'। इस निगम से महर्षि क्रौष्टुकि ने इन्द्र तत्त्व को द्रविणोदा सिद्ध किया था। इस विषय में महर्षि शाकपूणि कहते हैं— 'अयमप्यग्निरोजसा बलेन मथ्यमानो जायते' अर्थात्

यह अग्नि तत्त्व सम्पीडक बलों के द्वारा पदार्थ के मन्थन से उत्पन्न होता है अर्थात् जब कभी कोई पदार्थ प्रबल सम्पीडक बलों द्वारा सम्पीडित होने लगता है, तब ऊष्मा रूप अग्नि की उत्पत्ति होती है। इस कारण इस निगम से अग्नि भी द्रविणोदा सिद्ध होता है। यहाँ 'अपि' शब्द यह संकेत करता है कि महर्षि शाकपूणि ने इसका प्रयोग करके अग्नि को भी द्रविणोदा कहा है, इन्द्र को ही नहीं। इससे भी महर्षि कौष्टुकि का मत यहाँ खण्डित नहीं किया गया है, बल्कि दोनों ही पदार्थ द्रविणोदा सिद्ध हो रहे हैं। यहाँ महर्षि शाकपूणि निम्न तीन निगमों को अग्नि के द्रविणोदा होने में उदाहरण रूप में प्रस्तुत करते हैं, वे निगम इस प्रकार हैं— 'सहसस्पुत्रम्', 'सहसः सूनुम्', 'सहसो यहुम्' [यहुः = अपत्यनाम (निघं.२.२)]

यहाँ प्रथम निगम में अग्नि को बल का पुत्र कहा है। इसका अर्थ यह है कि विभिन्न सम्पीडक बलों के द्वारा पदार्थ के सम्पीडित होने पर ऊष्मा रूप अग्नि की उत्पत्ति होती है। यह ऊष्मा रूप अग्नि इन सम्पीड़क वा आकर्षक बलों का रक्षक भी होता है, क्योंकि उच्च तापमान पर विभिन्न असुरादि बाधक रश्मियाँ निष्प्रभावी हो जाती हैं, जिससे आकर्षक वा सम्पीडक बलों के कार्य में कोई अवरोध नहीं आने पाता। इसी कारण ऊष्मा रूप अग्नि को बल का पुत्र कहा गया है। अगले निगम में अग्नि को बलों का 'सूनु' कहा गया है। 'सूनुः' पद की व्युत्पत्ति करते हुए ऋषि दयानन्द ने उणादि-कोष की व्याख्या में लिखा है— 'सूयत उत्पद्यतेऽसौ सूनुः' (उ.को.३.३५)। इसका अर्थ यह है कि ऊष्मा रूप अग्नि उपर्युक्तानुसार बलों के द्वारा ही उत्पन्न होता है और बलों के द्वारा ही प्रेरित होता है। हम जानते हैं कि जब किसी पदार्थ के अणु जितनी-२ तीव्र गति से कम्पन करते हैं, तब उस पदार्थ की ऊष्मा उतनी-उतनी बढ़ती जाती है और उस बढ़ती हुई गति के पीछे विशेष प्रकार के बल भी कार्य कर रहे होते हैं। इस कारण इस दूसरे निगम में अग्नि को बलों का सूनु कहा गया है। तीसरे निगम में इस अग्नि को बलों का 'यहुः' कहा गया है। ग्रन्थकार ने अपत्य को यहु कहा है। इससे भी यही अर्थ निकलता है कि ऊष्मा रूप अग्नि सम्पीडक बलों के द्वारा उत्पन्न होता है।

इन तीनों ही निगमों से महर्षि शाकपूणि यह सिद्ध करना चाहते हैं कि ऊष्मा रूप अग्नि किसी पदार्थ के सम्पीडन से उत्पन्न होता है, इस कारण अग्नि भी द्रविणोदा कहलाता है।

यथो एतत्। अग्निं द्राविणोदसमाहेति। ऋत्विजोऽत्र द्राविणोदस उच्यन्ते। हविषो दातारः। ते चैनं जनयन्ति।
ऋषीणां पुत्रो अधिराज एषः। [तु.अथर्व.४.३९.९] [मै.सं.१.२.७]
इत्यपि निगमो भवति।
यथो एतत्। तेषां पुनः पात्रस्येन्द्रपानमिति भवतीति। भक्तिमात्रं तद्भवति। यथा वायव्यानीति सर्वेषां सोमपात्राणाम्।
यथो एतत्। सोमपानेनैनं स्तौति इति। अस्मिन्नप्येतदुपपद्यते।
सोमं पिब मन्दसानो गणश्रिभिः। [ऋ.५.६०.८] इत्यपि निगमो भवति।
यथो एतत्।
द्रविणोदाः पिबतु द्राविणोदसः॥ [ऋ.२.३७.४] इति।
अस्यैव तद्भवति॥ २॥

अब महर्षि क्रौष्टुकि के प्रथम तर्क पर विचार करने के पश्चात् द्वितीय तर्क पर विचार करते हुए लिखते हैं— 'यथो एतत् अग्निं द्राविणोदसमाहेति ऋत्विजोऽत्र द्राविणोदस उच्यन्ते हविषो दातारः ते चैनं जनयन्ति' अर्थात् जो यह कहा गया था कि अग्नि को द्रविणोदस कहा जाता है, इस कारण द्रविणोदा इन्द्र को कहते हैं, क्योंकि इन्द्र अर्थात् तीव्र विद्युत् से ही अग्नि अर्थात् ऊष्मा उत्पन्न होती है। इस पर महर्षि शाकपूणि लिखते हैं कि यहाँ अर्थात् निगम में ऋत्विज् को द्रविणोदा कहा जाता है, क्योंकि ऋत्विज् ही नाना प्रकार के हवि रूप पदार्थों को देते हैं अर्थात् उन पदार्थों की यजन क्रिया करके ऊष्मा रूप अग्नि को उत्पन्न करते हैं। ऋत्विज् के विषय में ऋषियों का कथन है— ऋतव ऋत्विजः (श.ब्रा.११.२.७.२), छन्दांऽसि वा ऋत्विजः (मै.सं.३.९.८, काठ.सं.२६.९)।

इन वचनों से स्पष्ट होता है कि महर्षि शाकपूणि छन्द एवं ऋतु रश्मियों को द्रविणोदा कहते हैं और ये रश्मियाँ ही अग्नि को उत्पन्न करती हैं। वैदिक रश्मि सिद्धान्त के अनुसार ऊष्मा रूप अग्नि की उत्पत्ति में नाना प्रकार की छन्द, प्राण एवं ऋतु आदि रश्मियों की अनिवार्य भूमिका होती है। इस कारण अग्नि को द्राविणोदस कहने से ये रश्मियाँ स्वयं ही द्रविणोदा कहलायेंगी, यही महर्षि शाकपूणि का मत है। ध्यातव्य है कि यहाँ भी इन्द्र के

द्रविणोदा होने का कोई खण्डन नहीं किया गया है, बल्कि विकल्प के रूप में उपर्युक्त रश्मियों को द्रविणोदा कहा गया है। पूर्व में खण्ड ३.१९ में ग्रन्थकार ने 'ऋत्विक्' पद का निर्वचन करते हुए लिखा है—'ऋत्विक् कस्मात् ईरणः ऋग्यष्टा भवतीति शाकपूणिः ऋतुयाजी भवतीति वा'। इसकी व्याख्या पाठक वहीं पढ़ें। विभिन्न ऋतु एवं छन्दादि रश्मियाँ भी इस निर्वचन के आधार पर ऋत्विक् सिद्ध होती हैं।

यहाँ एक निगम इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है— 'ऋषीणां पुत्रो अधिराज एषः'। यजुर्वेद ५.४ एवं अथर्ववेद ४.३९.९ में कुछ पाठभेद से यह निगम विद्यमान है और दोनों ही स्थानों पर इसका देवता अग्नि है। यहाँ छन्द एवं ऋतु रश्मियों को ही ऋषि कहा गया है। [ऋषिः = प्राणा वा ऋषयः (ऐ.ब्रा.२.२७), प्राणा ऋषयः (श.ब्रा.७.२.३.५)] ये छन्द एवं ऋतु रश्मियाँ प्राण रूप होने के कारण ही ऋषि कहलाती हैं और अधिराज अर्थात् सब पदार्थों को प्रकाशित करने वाला और उनका नियन्ता अग्नि इन ऋषि रश्मियों से ही अर्थात् छन्द एवं ऋतु आदि रश्मियों से ही उत्पन्न होता है। इस कारण इन्हें द्रविणोदा कहते हैं, ऐसा इस निगम से स्पष्ट है।

अब महर्षि शाकपूणि महर्षि कौष्टुकि के अगले कथन, जिसमें इन्द्र को द्रविणोदा कहा गया है, के विषय में लिखते हैं— 'यथो एतत् तेषां पुनः पात्रस्येन्द्रपानमिति भवतीति भक्तिमात्रं तद्भवति यथा वायव्यानीति सर्वेषां सोमपात्राणाम्' अर्थात् यहाँ महर्षि शाकपूणि कहना चाहते हैं कि जो महर्षि क्रौष्टुकि ने कहा है कि ऋतुयाजों के पात्र की इन्द्रपान संज्ञा होने से भी इन्द्र को द्रविणोदा कहते हैं, तो यह द्रविणोदा का एक विभाग मात्र है अर्थात् द्रविणोदा से जहाँ इन्द्र तत्त्व का ग्रहण हो सकता है, वहीं अन्य किसी पदार्थ का ग्रहण भी हो सकता है। इसका उदाहरण देते हुए लिखते हैं कि सभी सोमपात्रों को वायव्य कहा जाता है, इससे वायु तत्त्व भी द्रविणोदा सिद्ध होता है। यहाँ भी ग्रन्थकार ने महर्षि क्रौष्टुकि के मत का खण्डन न करके अपने पक्ष को प्रस्तुत किया है। वस्तुतः वायु एवं इन्द्र तत्त्व में बहुत अधिक भेद नहीं है, क्योंकि वायु तत्त्व से ही इन्द्र तत्त्व एवं अग्नि की उत्पत्ति होती है और इन्द्र तत्त्व स्वयं वायु तत्त्व एवं विद्युदग्नि का भी मिश्रित रूप है।

अब महर्षि शाकपूणि महर्षि क्रौष्टुकि के अगले तर्क पर टिप्पणी करते हुए लिखते हैं— 'यथो एतत् सोमपानेनैनं स्तौति इति अस्मिन्नप्येतदुपपद्यते' अर्थात् जो यह कहा गया है कि द्रविणोदा की सोमपान करने वाले के रूप में स्तुति की जाती है और इन्द्र को सोमपा

कहा जाता है, इस कारण इन्द्र को द्रविणोदा कहा जाता है। इस विषय में भी केवल इन्द्र तत्त्व ही द्रविणोदा सिद्ध नहीं होता, बल्कि यह अग्नि (पार्थिव अग्नि) भी सोमपान अर्थात् मरुद् रश्मियों से उत्पन्न होता है अर्थात् इसमें भी मरुत् रश्मियाँ विद्यमान होती हैं। इसके लिए महर्षि शाकपूणि एक निगम इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं— 'अग्ने मरुद्भिः.. सोमं पिब मन्दसानो गणश्रिभिः ...पावकेभिः'। इस निगम का देवता मरुत् वा अग्नि होने तथा छन्द जगती होने से इसके दैवत व छान्दस प्रभाव से अग्नि (ऊष्मा) व मरुत् रश्मियाँ दूर-दूर तक विस्तृत होती हैं तथा ब्रह्माण्ड में गौर वर्ण का प्रकाश उत्पन्न होने लगता है। इसका आधिदैविक अर्थ इस प्रकार है—

अग्नि तत्त्व पावक अर्थात् शुद्ध तेजयुक्त मरुद् रश्मियों, जो समूह के रूप में एक-दूसरे पर आश्रित रहती हुई गमन करने वाली होती हैं, के द्वारा किंवा उनके साथ-२ सोम अर्थात् ठंडी मरुद् रश्मियों को भी अवशोषित करता है। इस अवशोषण रूपी सोमपान के द्वारा मन्दसान अर्थात् चमकने वाला होता जाता है।

इस प्रकार सोमपा इन्द्र ही नहीं अग्नि भी है, इस कारण यह अग्नि भी द्रविणोदा कहा जाता है। यहाँ भी महर्षि क्रौष्टुकि के मत का खण्डन नहीं है, बल्कि अपना वैकल्पिक मत ही प्रस्तुत किया गया है। यहाँ महर्षि क्रौष्टुकि के अन्तिम तर्क पर टिप्पणी करते हुए लिखते हैं— 'यथो एतत् द्रविणोदाः पिबतु द्राविणोदसः अस्यैव तद्भवति' अर्थात् जो महर्षि क्रौष्टुकि ने यह कहा है कि द्राविणोदस अग्नि को कहते हैं और अग्नि द्रविणोदा का पान करता है अर्थात् उसे अवशोषित वा संरक्षित करता है, इस कारण इन्द्र तत्त्व को ही द्रविणोदा कहते हैं, क्योंकि अग्नि विद्युत् को ही अवशोषित वा संरक्षित करता है। इस विषय में यह भी सत्य है कि यहाँ द्रविणोदा से अग्नि का भी ग्रहण हो सकता है, क्योंकि द्राविणोदस का अर्थ ऋत्विक् अर्थात् छन्दादि रश्मियाँ भी होता है, यह तर्क हम पूर्व में लिख चुके हैं।

इस प्रकार महर्षि शाकपूणि ने महर्षि क्रौष्टुकि के किसी भी तर्क का खण्डन नहीं किया है, बल्कि उन्होंने विकल्प ही प्रस्तुत किए हैं। सभी भाष्यकारों ने जो खण्डन करने की बात सिद्ध की है, वह उनकी बहुत बड़ी भ्रान्ति ही है। ऋषि, जो कि मन्त्रद्रष्टा होते हैं, उनका ज्ञान भ्रान्तियुक्त नहीं होता, तब एक ऋषि दूसरे ऋषि का खण्डन क्यों करेगा? इसका अपवाद कहीं-२ ही सम्भव है, जीव के सर्वज्ञ न होने से, परन्तु इसका तात्पर्य यह

नहीं है कि एक ऋषि दूसरे ऋषि का इस प्रकार सर्वथा खण्डन करता ही जाये। इतनी बड़ी भ्रान्ति किसी ऋषि को होना सम्भव नहीं। हाँ, जो ऋषि कोटि का न हो, उसे ही इतनी भ्रान्ति सम्भव है। महर्षि शाकपूणि ऊष्मा रूप अग्नि को द्रविणोदा सिद्ध करने के लिए एक और निगम अगले खण्ड में उद्धृत करते हैं।

* * * * *

= तृतीयः खण्डः =

मेद्यन्तु ते वह्नयो येभिरीयसेऽरिषण्यन् वीळयस्वा वनस्पते।
आयूया धृष्णो अभिगूर्या त्वं नेष्ट्रात्सोमं द्रविणोदः पिब ऋतुभिः॥
[ऋ.२.३७.३]

मेद्यन्तु ते वह्नयः। वोढारः। यैर्यास्यरिष्यन्। दृढीभव। आयूय धृष्णो।
अभिगूर्य त्वं नेष्ट्रीयाद्धिष्ण्यात्। धिष्णो धिष्ण्यो धिषणाभवः।
धिषणा वाक्। धिषेर्दधात्यर्थे। धीसादिनीति वा। धीसानिनीति वा।
वनस्पते इति एनमाह। एष हि वनानां पाता वा पालयिता वा।
वनं वनोतेः। पिबर्तुभिः कालैः॥ ३॥

इस मन्त्र का ऋषि गृत्समद है अर्थात् इस छन्द रश्मि की उत्पत्ति प्राण और अपान के मेल से होती है। इसका देवता द्रविणोदा और छन्द विराड् जगती होने से इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से द्रविणोदा संज्ञक अग्नि विशेष रूप से गौर वर्ण में प्रकाशित होता हुआ दूर-दूर तक फैलने लगता है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(द्रविणोदः, ते, वह्नयः, मेद्यन्तु) 'मेद्यन्तु ते वह्नयः वोढारः' द्रविणोदा संज्ञक अग्नि के विकिरण अथवा ज्वालाएँ, जो नाना प्रकार के कण आदि पदार्थों को वहन करती हैं अर्थात् ढोकर ले जाती हैं, वे आकर्षण बलों से युक्त होती हैं। इसके साथ ही वे विकिरण अर्थात् प्रकाशाणु इस प्रकार के होते हैं कि वे किसी भी कण के साथ नहीं चिपकते हैं। इसका आशय यह है कि वे जिस सहजता से किसी कण के साथ संयुक्त होते हैं, वे उसी सहजता

से उत्सर्जित, परावर्तित वा अपवर्तित हो सकते हैं। जैसे कोई चिकना पदार्थ किसी अन्य पदार्थ के सम्पर्क में आने पर सहजता से पृथक् भी हो जाता है, वैसा ही व्यवहार प्रकाशाणुओं का भी होता है। जिस प्रकार चिकना पदार्थ अपनी चिकनाई का कुछ संस्कार अथवा भाग अन्य पदार्थ के ऊपर छोड़ देता है, वैसे ही प्रकाशाणु भी अपनी कुछ सूक्ष्म रश्मियों को अपने साथ संयुक्त होने वाले कण में स्थानान्तरित कर देते हैं। इसे वर्तमान भौतिकी में 'कॉम्पटन प्रभाव' कहते हैं। इसके विशेष परिज्ञान के लिए 'वेदविज्ञान-आलोकः' ग्रन्थ अथवा विशाल आर्य द्वारा लिखित 'परिचय वैदिक भौतिकी' पठनीय है।

(येभिः, ईयसे, अरिषण्यन्, वीळयस्व, वनस्पते) 'यैर्यास्यरिष्यन् दृढीभव वनस्पते इति एनमाह एष हि वनानां पाता वा पालयिता वा वनं वनोतेः' वह अग्नि 'वनम्' अर्थात् असंख्य विकिरणों का पालक और रक्षक होने के साथ-साथ कण आदि पदार्थ की हिंसा न करता हुआ अर्थात् उनको नष्ट न करता हुआ सम्पूर्ण जगत् में व्याप्त रहता है अर्थात् सम्पूर्ण जगत् में गमन करता रहता है। अग्नि के वे विकिरण गमन करते हुए दृढ़ बने रहते हैं अर्थात् जैसे वे कणों का नाश नहीं करते, वैसे ही कण वा असुरादि पदार्थ भी उनका नाश नहीं करते। हाँ, पदार्थ के रूपान्तरण की क्रियाएँ अवश्य होती रहती हैं। ध्यातव्य है कि ऊष्मा आदि विकिरणों से अणुओं का विखण्डन तो हो सकता है, परन्तु इलेक्ट्रॉन आदि सूक्ष्म कण, जो किसी प्रकाशाणु को अवशोषित करते हैं, उन्हें प्रकाशाणु नष्ट नहीं कर सकता और न वे कण ही प्रकाशाणु को नष्ट कर सकते हैं अर्थात् उनकी कुल ऊर्जा अवश्य संरक्षित रहती है। यहाँ अग्नि को वनस्पति इसलिए कहा है, क्योंकि ऊष्मा आदि अग्नि अनेक प्रकार की किरणों का पालक और संरक्षक होता है। इसके साथ ही किरणों को वन इसलिए कहा जाता है, क्योंकि ये किरणें अनेक प्रकार के अणुओं का विभाजन करतीं, सूक्ष्म ध्वनियाँ उत्पन्न करतीं और निरन्तर कणों के साथ नाना प्रकार से क्रियाएँ करके पदार्थान्तर को उत्पन्न करती रहती हैं।

(आयूया, धृष्णो, अभिगूर्या, त्वम्, नेष्ट्रात्) 'आयूय धृष्णो अभिगूर्य त्वं नेष्ट्रीयाद्धिष्ण्यात् धिष्णो धिष्ण्यो धिषणाभवः धिषणा [वाक्।] धिषेर्दधात्यर्थे धीसादिनीति वा धीसानिनीति वा' [नेष्ट्रम् = प्रापणम् (तु.म.द.भा.)। यहाँ स्वामी ब्रह्ममुनि परिव्राजक के निर्वचन भी पठनीय हैं, जो इस प्रकार हैं— ''धिष्ण्यः-धिषण्यः-धिषणायां भवः, धिषणा वाक् 'धिषणा वाक्' (निघं.१.११), धिषेर्धारणार्थात् क्यु-प्रत्ययः 'धृषेर्धिष च संज्ञायाम्' (उ.को.२.८३)

बाहुलकात्। अथवा धीसादिनी यद्वा धीसानिनी धिषणा। 'धी' उपपदात् 'सद गतौ' धातोः, यद्वा 'सन सम्भक्तौ 'धातोस्ताच्छील्यार्थेऽयुः प्रत्ययः-औणादिकः पूर्वपदस्य ह्रस्वत्वं च छान्दसं धिषणा।''] यहाँ वाक् तत्त्व को धारक कहा है, इसके साथ ही इसे 'धीः' में स्थित अथवा 'धीः' नामक पदार्थ का सेवनकर्त्ता कहा है। [धीः = प्रज्ञानाम (निघं.३.९), प्राणा धियः (श.ब्रा.६.३.१.१३), वाग्वै धीः (का.श.ब्रा.४.२.४.१३), कर्मनाम (निघं.२.१)] इसका अर्थ यह है कि वाक् रश्मियाँ प्राण रश्मियों एवं 'ओम्' संज्ञक सूक्ष्मतम वाक् रश्मियों को धारण करने वाली होती हैं। इसके साथ ही ये निरन्तर क्रियाशील एवं मनस्तत्त्व में स्थित व उसी का निरन्तर सेवन वा विभाजन करने वाली होती हैं। वस्तुतः वाक् रश्मियाँ मनस्तत्त्व में होने वाले स्पन्दनों वा लहरों का ही नाम है, इस कारण इन्हें धिषणा कहा गया है। ये कभी शान्त नहीं रहतीं और विभिन्न प्राण रश्मियों से संयोग करने की इच्छुक होने से भी इन्हें धिषणा कहा जाता है।

यहाँ अग्नि को वाक् रश्मियों में रहने वाला कहा है। यह सर्वविदित है कि अग्नि तत्त्व वायु तत्त्व से ही उत्पन्न होता है तथा उसी के अन्दर रहता है। इसका अर्थ यही है कि ऊष्मादि अग्नि सदैव वाक् रश्मियों में ही विद्यमान होता है। ऐसा वह अग्नि सब ओर से प्रयत्न करता हुआ अर्थात् वेगपूर्वक गमन करता हुआ सब पदार्थों के साथ मिश्रित होकर अपनी व्याप्ति से (ऋतुभिः, सोमम्, पिब) 'पिबर्तुभिः कालैः' विभिन्न ऋतुओं में अर्थात् एक निश्चित समयचक्र के साथ सोम रश्मियों का पान करता रहता है। यहाँ ऐसा संकेत मिलता है कि अग्नि तत्त्व तथा प्राण रश्मियों का विभिन्न मरुद् रश्मियों के साथ जो मेल होता है, वह एक व्यवस्थित समयचक्र के साथ भी होता है, न कि अव्यवस्थित अथवा सतत रूप से। यहाँ ऋतु शब्द से ऋतु रश्मियाँ भी ग्रहणीय हैं अर्थात् इस प्रक्रिया में ऋतु रश्मियों का भी योगदान रहता है। धनावेशित व ऋणावेशित कणों के संयोग की प्रक्रिया भी इसी प्रकार समझनी चाहिए।

इस मन्त्र को उद्धृत करके महर्षि शाकपूणि यह कहना चाहते हैं कि सोम रश्मियों का पान करने से यदि इन्द्र तत्त्व द्रविणोदा कहलाता है, तो सोम रश्मियों का पान करके अग्नि भी द्रविणोदा कहलाता है। इसमें भी महर्षि क्रौष्टुकि के मत का कहीं भी खण्डन नहीं है, बल्कि मात्र विकल्प है।

* ❋ ❋ ❋ *

= चतुर्थः खण्डः =

अथात आप्रियः। आप्रियः कस्मात्। आप्नोतेः। प्रीणातेर्वा। आप्रीभिराप्रीणाति [ऐ.ब्रा.२.४] इति च ब्राह्मणम्। तासामिध्मः प्रथमागामी भवति। इध्मः समिन्धनात्। तस्यैषा भवति॥ ४॥

जिस प्रकार पूर्व में द्रविणोदा संज्ञक पदार्थों की मीमांसा की गयी, उसी प्रकार अब आप्रिय देवताओं की चर्चा करते हुए कहते हैं कि आप्रिय उन पदार्थों को कहते हैं, जो विभिन्न तारे आदि लोकों को व्याप्त व तृप्त करते हैं।

ऐतरेय ब्राह्मण २.४ में ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के १८८वें सूक्त की सभी ग्यारह छन्द रश्मियों को 'आप्री' कहा है। ये छन्द रश्मियाँ नेब्यूला वा तारे आदि में व्याप्त होकर नाना प्रकार की सृजन क्रियाओं को सम्पादित वा तृप्त करती हैं। इस विषय में वेदविज्ञान-आलोकः २.४.१ पठनीय है, जहाँ तारों व नेब्यूला आदि के अन्दर नाना प्रकार की यजन क्रियाओं में इन आप्रीसंज्ञक छन्द रश्मियों की भूमिका दर्शायी है। पूर्व में जैसे 'द्रविणोदाः' पद से अनेक पदार्थों की व्याख्या की गई है, उसी प्रकार आप्रिय संज्ञक अनेक देवताओं की यहाँ क्रमशः चर्चा की जा रही है। उनमें से प्रथम पदार्थ को 'इध्मः' कहा गया है। इसकी व्याख्या में ग्रन्थकार लिखते हैं— 'इध्मः समिन्धनात्' अर्थात् जो पदार्थ सम्यक् रूप से चमकने वाले एवं अन्य पदार्थों को चमकाने वाले होते हैं, उन्हें इध्म कहते हैं। इसकी पुष्टि में अगले खण्ड में एक ऋचा प्रस्तुत की गई है।

* ❋ ❋ ❋ *

= पञ्चमः खण्डः =

समिद्धो अद्य मनुषो दुरोणे देवो देवान्यजसि जातवेदः।
आ च वह मित्रमहश्चिकित्वान् त्वं दूतः कविरसि प्रचेताः॥

[ऋ.१०.११०.१]

समिद्धोऽद्य मनुष्यस्य मनुष्यस्य गृहे देवो देवान्यजसि जातवेदः।
आ च वह मित्रमहः। चिकित्वाँश्चेतनावान्। त्वं दूतः कविरसि।
प्रचेताः प्रवृद्धचेताः। यज्ञेध्मः इति कात्थक्यः। अग्निः इति शाकपूणिः।
तनूनपात् आज्यमिति कात्थक्यः। नपादित्यनन्तरायाः
प्रजाया नामधेयम्। निर्णततमा भवति। गौरत्र तनूरुच्यते। तता अस्यां भोगाः।
तस्याः पयो जायते। पयस आज्यं जायते। अग्निरिति शाकपूणिः।
आपोऽत्र तन्व उच्यन्ते। तता अन्तरिक्षे। ताभ्यः ओषधिवनस्पतयो जायन्ते।
ओषधिवनस्पतिभ्य एष जायते। तस्यैषा भवति॥ ५॥

इस मन्त्र का ऋषि भार्गवजमदग्नि है। [जमत् = ज्वलतो नाम (निघं.१.१७)] इसका अर्थ यह है कि इस छन्द रश्मि की उत्पत्ति ज्वालायुक्त अग्नि में विद्यमान कुछ सूक्ष्म रश्मियों से होती है। इसका देवता आप्रियः तथा छन्द निचृत् त्रिष्टुप् होने से इसके दैवत व छान्दस प्रभाव से सभी आप्रिय संज्ञक पदार्थ तीक्ष्ण रक्तवर्णीय तेज से युक्त होते हैं। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(समिद्धः, अद्य, मनुषः, दुरोणे, देवः, देवान्, यजसि, जातवेदः) 'समिद्धोऽद्य मनुष्यस्य मनुष्यस्य गृहे देवो देवान्यजसि जातवेदः' [मनुष्यः = बहिः प्राणो वै मनुष्यः (तै.सं. ६.१.१.४)। अद्य = अस्मिन् द्यवि (निरु.१.६)। द्यवि = अहर्नाम (निघं.१.९)] उत्पन्न पदार्थ मात्र में विद्यमान जातवेदा अग्नि इन सूर्यादि लोकों में अच्छी प्रकार प्रदीप्त होता हुआ विभिन्न देव कणों का यजन करता है। इसका अर्थ यह है कि विभिन्न प्रकाशित लोकों के अन्दर सभी कण आदि पदार्थों में जो अग्नि तत्त्व विद्यमान होता है, वह विभिन्न कणों के मध्य संयोग आदि प्रक्रियाओं को सम्पादित करता है। [दुरोणे = गृहनाम (निघं.३.४)] यह सम्पूर्ण प्रक्रिया पदार्थ मात्र के बहिर्भाग में विद्यमान सूत्रात्मा वायु रश्मियों के आकर्षण

बलों के अन्तर्गत ही होती है। इस सृष्टि में कोई भी संयोग, बन्धन अथवा सम्पीडन इन्हीं रश्मियों के क्षेत्र में ही होते हैं और इन्हीं की मूल भूमिका के अन्तर्गत होते हैं। यहाँ 'दुरोणे' पद यह भी दर्शाता है कि जब दो कणों के मध्य कोई संयुक्त क्रिया हो रही होती है, उस समय उन दोनों ही कणों के बहिर्भाग में विद्यमान सूत्रात्मा वायु रश्मियों का आवरण एक ऐसे आवरण में परिवर्तित हो जाता है, जो दोनों ही कणों को एक साथ आवृत कर लेता है। दोनों कणों के आवरक प्राणों के मिलने के कारण ही यहाँ ग्रन्थकार ने 'मनुष्यस्य' पद का दो बार प्रयोग किया है।
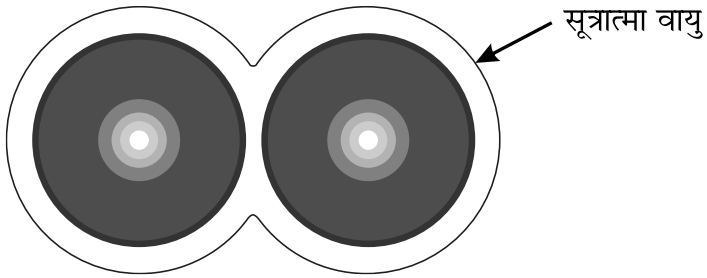
(आ, च, वह, मित्रमहः, चिकित्वान्, त्वम्, दूतः, कविः, असि, प्रचेताः) 'आ च वह मित्रमहः चिकित्वाँश्चेतनावान् त्वं दूतः कविरसि प्रचेताः प्रवृद्धचेताः' [महः = महन्नाम (निघं.३.३), प्राणो महः (श.ब्रा.१२.३.४.१०), त्रिष्टुबेव महः (गो.पू.५.१५), यजुर्वेदो महः (श.ब्रा.१२.३.४.९), पञ्चदश एव महः (गो.पू.५.१५), सुवर्गो वै लोको महः (तै.ब्रा.३.८.१८.५)। दूतः = जवतेर्वा द्रवतेर्वा वारयतेर्वा (निरु.५.१)] वह अच्छी प्रकार प्रकाशित व प्रकाशक जातवेदा अग्नि, जिसे यहाँ इध्म (आप्री) कहा है, चेतन तत्त्व के विज्ञानानुकूल प्रकाशित होता हुआ मित्ररूपी सूर्यलोक के अन्दर, विशेषरूपेण उसके केन्द्रीय भाग के अन्दर नाना प्राण रश्मियों, विशेषकर प्राणापानव्यान के त्रिक, आकाश तत्त्व की अवयवभूता विभिन्न यजुः रश्मियों, अति बलवती त्रिष्टुप् तथा पन्द्रह गायत्री रश्मि विशेष के समूहों के द्वारा प्रकाशित व सक्रिय होता है। वह सब ओर से बाहर की ओर प्रवाहित होता रहता है। ऐसा वह 'इध्म' संज्ञक आप्री पदार्थ दूत व कवि रूप होता है अर्थात् वह तेजी से बहिर्गमन करता हुआ, बाधक पदार्थ को रोकता वा हटाता हुआ तथा सम्पूर्ण पदार्थ के ऊपर फिसलता हुआ सा अति तीक्ष्ण प्रकाश से युक्त होता है। उसका प्रकाश देखने में असह्य होने के साथ-साथ नाना प्रकार के घोषों को उत्पन्न करता रहता है।

यह प्रकाश विभिन्न प्राणियों को जगाता हुआ किंवा सूर्य्यादि लोकों व अन्य दृश्य पदार्थों का बोधक होता है।

ध्यातव्य है कि सूर्य्यादि लोकों के अन्दर प्रकाश आदि की उत्पत्ति की प्रक्रिया अत्यन्त जटिल, परन्तु निश्चित विज्ञानपूर्वक होती है। इस मन्त्र में उसी का साररूप में संकेत है। बिना चेतन तत्त्व के सूर्य्यादि लोकों की ही नहीं, अपितु सृष्टि की कोई भी ऐसी क्रिया नहीं हो सकती, जो किसी प्रयोजन को सिद्ध कर सकती हो। इसीलिए यहाँ 'चिकित्वान्' व 'प्रचेताः' पदों का प्रयोग है।

यहाँ 'इध्म' पद के विषय में दो ऋषियों को उद्धृत करते हुए लिखते हैं— 'यज्ञेध्मः इति कात्थक्यः अग्निरिति शाकपूणिः' अर्थात् महर्षि कात्थक्य की दृष्टि में सभी प्रकार की यजन क्रियाएँ अथवा यजनशील कण आदि पदार्थ इध्म कहलाते हैं। इसका कारण यह है कि बिना यजन प्रक्रिया के कोई भी पदार्थ न तो दीप्तिमान् हो सकता है और न दूसरे पदार्थों को प्रदीप्त ही कर सकता है। इस कारण इनका कहना है कि यज्ञ ही आप्रिय देवता है, जो सम्पूर्ण सृष्टि को व्याप्त और तृप्त करता है।

उधर महर्षि शाकपूणि अग्नि को इध्म कहते हैं, क्योंकि अग्नि स्वयं दीप्तिमान् और अन्य पदार्थों को दीप्तियुक्त करता है। वस्तुतः यजन प्रक्रिया से जो भी पदार्थ दीप्तिमान् होते हैं, वे अग्नि के उत्पन्न होने पर ही दीप्तिमान् होते हैं।

भावार्थ— विभिन्न कणों में विद्यमान अग्नि उन कणों के मध्य होने वाली यजन प्रक्रियाओं का कारण होता है। इन सभी यजन वा सम्पीडन प्रक्रियाओं में सूत्रात्मा वायु रश्मियों की भूमिका अनिवार्य होती है। इनके अभाव में कहीं भी कोई यजन प्रक्रिया सम्भव नहीं होती। जब दो या दो से अधिक कण वा लोक परस्पर संयुक्त होते हैं, तब सभी कणों वा लोकों के बाहर सूत्रात्मा वायु रश्मियों का पृथक्-२ आवरण होने के साथ ही उस संयुक्त कण का भी एक आवरण होता है। विभिन्न पदार्थों के अन्दर विद्यमान अग्नि प्राणापान-व्यान के त्रिक, आकाश महाभूत और गायत्री, त्रिष्टुप् आदि रश्मियों के द्वारा ही प्रकाशित और प्रवाहित होता रहता है। उस अग्नि के कारण ही विभिन्न दृश्य पदार्थों का बोध होता है। ये सभी क्रियाएँ चेतन तत्त्व की उपस्थिति में ही सम्भव हो पाती हैं। बिना यजन प्रक्रिया के न कोई पदार्थ प्रकाशित हो सकता है और न वह किसी अन्य पदार्थ को ही प्रकाशित कर सकता है।

इध्म पद के निर्वचन के उपरान्त अगले आप्रिय संज्ञक पद 'तनूनपात्' के विषय में दो ऋषियों का मत प्रस्तुत करते हैं—

१. 'तनूनपात् आज्यमिति कात्थक्य: नपादित्यनन्तराया: प्रजाया नामधेयम् निर्णततमा भवति' अर्थात् आज्य को 'तनूनपात्' कहते हैं। आज्य के विषय में ऋषियों का कथन है— यजमानो वा आज्यम् (तै.ब्रा.३.३.४.४), वज्रो ह्याज्यम् (श.ब्रा.१.३.२.१७), वागेवाऽऽज्यम् (कौ.ब्रा.२.९), प्राणो वा आज्यम् (तै.ब्रा.३.८.१५.२, ३), छन्दाᳬंसि वा आज्यम् (तै.ब्रा. ३.३.५.३)। इन वचनों से यह सिद्ध होता है कि संयोज्य प्राण एवं छन्दादि रश्मियाँ तथा बाधक पदार्थ निवारक वज्र रश्मियाँ ही आज्य कहलाती हैं। अब इस आज्य को तनूनपात् क्यों कहते हैं, इस सम्बन्ध में चर्चा करने के प्रसंग में 'नपात्' पद के विषय में लिखते हैं कि बिना व्यवधान वाले उत्पन्न पदार्थ को नपात् कहते हैं। इसका आशय यह है कि किसी कारणरूप पदार्थ के रूपान्तरित होने पर जो भी पदार्थ उस शृंखला में बिना किसी बाधा के उत्पन्न होते हैं, उन पदार्थों को नपात् कहा जाता है। ये पदार्थ अपनी उत्पत्ति प्रक्रिया में क्रमिक रूप से ही उत्पन्न होते हैं। उस प्रक्रिया में कोई भी विचलन नहीं होता और यह प्रक्रिया शुद्ध रूप में ही होती है। यह प्रक्रिया उसी प्रकार होती है, जैसे माता-पिता से पुत्र-पौत्र एवं प्रपौत्र उत्पन्न होते हैं और इस प्रक्रिया में कोई विचलन वा अशुद्धता नहीं आ पाती, इसी कारण ग्रन्थकार ने निघण्टु २.२ में सन्तान को नपात् कहा है।

यहाँ नपात् को निर्णततमा कहा है। इसका अर्थ यह है कि नपात् संज्ञक पदार्थ अपने कारणरूप पदार्थ की ओर सबसे अधिक झुके हुए हैं। इसका आशय यह है कि गुणों की दृष्टि से कोई भी कार्यरूप पदार्थ अपने कारणरूप पदार्थ के साथ ही सर्वाधिक समानता रखता है, जैसे कोई भी सन्तान अपने शरीर एवं गुणों की दृष्टि से सर्वाधिक समानता अपने माता-पिता अथवा उनके पूर्वजों से ही रखती है, न कि किसी अन्य मनुष्य से। इसके साथ ही किसी भी उत्पन्न पदार्थ का सर्वाधिक झुकाव वा सम्बन्ध अन्य पदार्थों की अपेक्षा अपने कारणरूप पदार्थ से ही होता है। इस कारण किसी भी उत्पन्न पदार्थ का मेल भी अन्य पदार्थों की अपेक्षा सर्वाधिक व सर्वप्रथम अपने उत्पादक पदार्थ के साथ ही होगा। यह 'नपात्' पद की व्याख्या हुई।

अब 'तनू:' पद की व्याख्या करते हैं— 'गौरत्र तनूरुच्यते तता अस्यां भोगा: तस्या: पयो जायते पयस आज्यं जायते' अथर्थत् 'गौ:' को ही तनू कहते हैं अर्थात् यहाँ वाक्

रश्मियाँ ही तनू कहलाती हैं, क्योंकि सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में ये ही फैली हुई हैं अर्थात् सम्पूर्ण सृष्टि इन्हीं का विस्तार है। वाक् रश्मियों के विषय में ऋषियों का वचन है— 'तस्य (प्राणस्य) वाक् तन्तिः' (ऐ.आ.२.१.६), 'वाग्वै विश्वकर्मऽर्षिः वाचा हीदꣳ सर्वं कृतम्' (श.ब्रा.८.१.२.९), 'वाचा वै वेदाः संधीयन्ते वाचा छन्दांसि वाचा मित्राणि संदधति वाचा सर्वाणि भूतान्यथो वागेवेदं सर्वमिति' (ऐ.आ.३.१.६)। इन वचनों से ही वाक् रूपी गौ का सर्वत्र विस्तार सिद्ध होता है। इसके साथ ही इन्हीं वाक् रश्मियों के अन्दर जीवात्मा द्वारा उपयोग में लाए जाने वाले सभी पदार्थ फैले रहते हैं।

ध्यातव्य है कि इस सृष्टि में अणु से अणु और महान् से महान् सभी जड़ पदार्थ जीवात्मा के उपभोग के लिए ही बने हैं। इस कारण इन सब पदार्थों को यहाँ भोग कहा है। इनकी उत्पत्ति वाक् तत्त्व से और विस्तार भी वाक् तत्त्व में होता है। इस वाक् तत्त्व से ही पयः संज्ञक पदार्थ की उत्पत्ति होती है। 'पयः' के विषय में ऋषियों का कथन है— 'आपो हि पयः' (कौ.ब्रा.५.४, गो.उ.१.२२), 'ऐन्द्रं पयः' (गो.उ.१.२२), 'वैश्वदेवꣳ हि पयः' (मै.सं.४.३.२, काठ.सं.१२.७, गो.उ.१.१७)। इन वचनों से सिद्ध होता है कि सभी प्रकार के देव पदार्थ और प्राण रश्मियाँ वाक् तत्त्व से ही उत्पन्न होते हैं और प्राथमिक प्राण रश्मियों से अन्य प्राण एवं बड़ी छन्द रश्मि रूपी आज्य की उत्पत्ति होती है। इस कारण महर्षि कात्थक्य की दृष्टि में इसी आज्य को 'तनूनपात्' कहा जाता है।

२. अब ग्रन्थकार महर्षि शाकपूणि का 'तनूनपात्' के विषय में मत प्रस्तुत करते हुए लिखते हैं— 'अग्निरिति शाकपूणिः आपोऽत्र तन्व उच्यन्ते तता अन्तरिक्षे ताभ्यः ओषधिवनस्पतयो जायन्ते ओषधिवनस्पतिभ्य एष जायते तस्यैषा भवति' अर्थात् महर्षि शाकपूणि की दृष्टि में अग्नि को ही तनूनपात् कहा जाता है और विभिन्न आपः अर्थात् प्राण रश्मियाँ तनू कहलाती हैं, क्योंकि वे सम्पूर्ण आकाश तत्त्व में फैली हुई अर्थात् व्याप्त रहती हैं। उन प्राण रश्मियों से ओषधि एवं वनस्पति संज्ञक पदार्थ उत्पन्न होते हैं। ओषधि के विषय में महर्षि ऐतरेय महीदास ने लिखा है— 'औषधो वै सोमो राजा' (ऐ.ब्रा.३.४०)। इसका तात्पर्य है कि प्राण रश्मियों के कारण ही सोम तत्त्व तेजस्वी होता है तथा इन्हीं से विभिन्न किरणों का पालक सूर्यलोक उत्पन्न होता है। इसके पश्चात् तेजस्विनी सोम रश्मियाँ व सूर्यलोक से पार्थिव अग्नि उत्पन्न होता है। इस कारण पार्थिव अग्नि ही तनूनपात् कहलाता है। इस प्रकरण से यह संकेत भी मिलता है कि पार्थिव वनस्पति आदि पदार्थों के अन्दर सूर्य से प्राप्त होने

वाली ऊर्जा का जो भण्डारण होता है, उसमें सोम रश्मियों की भी अनिवार्य भूमिका होती है।

यहाँ 'आप:' का अर्थ विभिन्न प्रकार के आयन्स भी हो सकता है, जो सम्पूर्ण अन्तरिक्ष में व्याप्त रहते हैं। इन्हीं आयन्स से अनेक प्रक्रियाओं की सतत शृंखला के उपरान्त पार्थिव वनस्पति एवं ओषधियों की उत्पत्ति होती है और उनसे फिर पार्थिव अग्नि की उत्पत्ति होती है। इस कारण अग्नि को 'तनूनपात्' कहा गया है। इस पद के उदाहरण के रूप में एक ऋचा अगले खण्ड में उद्धृत करते हैं।

* * * * *

= षष्ठः खण्डः =

तनूनपात् पथ ऋतस्य यानान्मध्वा समञ्जन्त्स्वदया सुजिह्व।
मन्मानि धीभिरुत यज्ञमृन्धन्देवत्रा च कृणुह्यध्वरं नः॥

[ऋ.१०.११०.२]

तनूनपात्पथ ऋतस्य यानान्। यज्ञस्य यानान्।
मधुना समञ्जन्त्स्वदय कल्याणजिह्व। मननानि च नो धीभिर्यज्ञं च समर्धय।
देवान्नो यज्ञं गमय। नराशंसो यज्ञ इति कात्थक्यः।
नरा अस्मिन्नासीनाः शंसन्ति। अग्निरिति शाकपूणिः।
नरैः प्रशस्यो भवति। तस्यैषा भवति॥ ६॥

इस मन्त्र के ऋषि, देवता और छन्द पूर्व मन्त्र के समान समझें। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(सुजिह्व, तनूनपात्, पथः, ऋतस्य, यानान्) 'कल्याणजिह्व तनूनपात्पथ ऋतस्य यानान् यज्ञस्य यानान्' [जिह्वा = वाङ्नाम (निघं.१.११), 'काली कराली च मनोजवा च सुलोहिता या च सुधूम्रवर्णा स्फुलिंगिनी विश्वरूपी च देवी लेलायमाना इति सप्त जिह्वाः'] अनेक कमनीय वाक् रश्मि एवं काली, कराली आदि सात स्वरूपों वाली किरणों वा ज्वालाओं से

युक्त पूर्वोक्त तनूनपात् संज्ञक अग्नि नाना प्रकार की यजन क्रियाओं रूपी ऋत के मार्गों को अर्थात् व्यवस्थित क्रियाओं के मार्गों को प्राप्त कराने वाले नाना प्रकार के कण आदि पदार्थों को (मध्वा, समञ्जन्, स्वदय) 'मधुना समञ्जन्त्स्वदय' विभिन्न प्रकार की प्राण रश्मियों से संसिक्त करता हुआ उनके मिथुनों का निर्माण करता है। यहाँ प्राण को मधु कहा गया है, जैसा कि महर्षि याज्ञवल्क्य ने लिखा है— 'प्राणो वै मधु' (श.ब्रा.१४.१.३.३०)। उधर ऐतरेय आरण्यक १.३.४ में महर्षि ऐतरेय महीदास लिखते हैं— 'मिथुनं वै स्वादु'। हमने इन्हीं वचनों का ग्रहण करके उपर्युक्त अर्थ किया है। (मन्मानि, धीभिः, उत, यज्ञम्, ऋन्धन्) 'मननानि च नो धीभिर्यज्ञं च समर्धय' विज्ञानपूर्वक नाना प्रकार की यजन क्रियाओं को प्रकाशित और समृद्ध करते हुए (देवत्रा, च, कृणुहि, अध्वरम्, नः) 'देवान्नो यज्ञं गमय' विभिन्न देव पदार्थों को बाधक पदार्थों से रहित यजन कर्मों में वह ऊष्मा रूप अग्नि भी पहुँचाता रहता है। यहाँ 'नः' सर्वनाम पद ऋषि रूप प्राण रश्मियों के लिए प्रयुक्त है। देवों की किसी भी यजन प्रक्रिया में इन प्राण रश्मियों का भी यजन होता है, इस कारण यहाँ उन्हीं के यज्ञ का कथन है। इसका अर्थ यह है कि सृष्टि में ऊष्मा रूप अग्नि नाना प्रकार की प्राण रश्मियों से युक्त करके विभिन्न कणों को संयोगादि प्रक्रियाओं से युक्त करता है। उस समय विभिन्न उन लोकों में, जहाँ ये क्रियाएँ हो रही होती हैं, अग्नि की ज्वालाएँ उठने लगती हैं। ये लोक विभिन्न तारे भी हो सकते हैं और निर्माणाधीन ग्रह आदि लोक भी। हम इस पृथिवी पर पदार्थ के जलने की जो प्रक्रिया देखते हैं, उसकी भी इससे बहुत कुछ समानता है।

यह भाष्य महर्षि शाकपूणि के निर्वचन के अनुसार किया गया है। अब महर्षि कात्थक्य के निर्वचन के अनुसार भाष्य को प्रस्तुत करते हैं—

(सुजिह्व, तनूनपात्, पथः, ऋतस्य, यानान्, मध्वा, समञ्जन्, स्वदय) 'कल्याणजिह्व तनूनपात्पथ ऋतस्य यानान् यज्ञस्य यानान् मधुना समञ्जन्त्स्वदय' सुन्दर अर्थात् अनुकूल छन्द रश्मियों से युक्त नाना प्रकार की प्राण रश्मियाँ विभिन्न संयोज्य कण आदि पदार्थों के विज्ञानानुकूल मार्गों को प्राप्त कराने वाली विभिन्न रश्मियों वा तरंगों को मधुयुक्त [मधु = मधु धमतेर्विपरीतस्य (निरु.१०.३१), धमति गतिकर्मा (निघं.२.१४)] अर्थात् अनुकूल गतियुक्त करके इनके मिथुन बनने में सहयोग करती हैं अथवा उन कणों का आस्वादन करती हैं। इसका अर्थ यह है कि वे प्राणादि रश्मियाँ उन सभी कणों को अपने में समेट

लेती हैं, इस कारण उनकी यजन क्रियाएँ सम्यक् रूप से सम्पादित होने लगती हैं। काठक संहिता में मधु के विषय में लिखा है— सौम्यं वै मधु (काठ.सं.११.२)। उधर ऋषि दयानन्द ने ऋग्वेद ४.४५.३ के भाष्य में विज्ञात मार्ग को मधु कहा है। इन दोनों ही प्रमाणों से यह संकेत मिलता है कि प्राणादि रश्मियाँ विभिन्न कणों से सृजित होती हुई सोम अर्थात् मरुद् रश्मियों के मार्गों को पहचान कर उन कणों के मिथुन बनने में सहयोग करती हैं। कौनसा कण किस कण से संयोग करेगा, यह सब निश्चित नियमों के अनुसार ही होता है। (मन्मानि, धीभिः, उत, यज्ञम्, ऋन्धन्) 'मननानि च नो धीभिर्यज्ञं च समर्धय' वे प्राणादि रश्मियाँ विज्ञानपूर्वक नाना प्रकार की यजन क्रियाओं को प्रकाशित और समृद्ध करते हुए (देवत्रा, च, कृणुहि, अध्वरम्, नः) 'देवान्नो यज्ञं गमय' उन देव कणों अर्थात् संयोज्य कणों को ज्वालायुक्त अग्नि में धारण करके नाना प्रकार के संयोग आदि करने में प्रवृत्त करती हैं। इसका अर्थ यह है कि सभी प्रकार की यजन क्रियाओं में तनूनपात् संज्ञक आज्य अर्थात् प्राणादि रश्मियों की अनिवार्य भूमिका होती है।

भावार्थ— ऊष्मा की विद्यमानता में ही विभिन्न संयोग प्रक्रियाएँ सम्भव हो पाती हैं, ये सभी संयोग प्रक्रियाएँ परमेश्वर के विज्ञानपूर्वक ही होती हैं। इस अग्नि के कारण ही तारों एवं निर्माणाधीन ग्रहादि लोकों पर ऊँची-२ ज्वालाएँ उठती रहती हैं। पृथिवी पर जलने की क्रिया भी ऊष्मा की उपस्थिति में ही होती है। विभिन्न प्राण रश्मियाँ अनुकूल छन्द रश्मियों से युक्त होकर विभिन्न कणों को परस्पर संयुक्त करती हैं। ये सभी क्रियाएँ 'ओम्' रश्मियों के सहाय से निश्चित विज्ञान के अनुसार ही होती हैं। इस प्रकार सभी संयोग क्रियाओं में ऊष्मा एवं प्राण रश्मियों की अनिवार्य भूमिका होती है।

'तनूनपात्' पद के निर्वचन के पश्चात् 'नराशंसः' पद के विषय में महर्षि कात्थक्य का मत प्रस्तुत करते हुए लिखते हैं— 'नराशंसो यज्ञ इति कात्थक्यः नरा अस्मिन्नासीनाः शंसन्ति' अर्थात् यज्ञ को ही नराशंस कहते हैं। इसका अर्थ यह है कि इस सृष्टि में जो भी यजन क्रियाएँ हो रही हैं, उन्हें ही नराशंस कहा जाता है। [नरः = अश्वनाम (निघं.१.१४), प्रजा वै नरः (ऐ.ब्रा.२.४), नरो वै देवानां ग्रामः (तां.ब्रा.६.९.२)] इन यजन क्रियाओं को नराशंस क्यों कहते हैं, इसका उत्तर देते हुए लिखते हैं कि इन यजन क्रियाओं में विभिन्न प्रकार के देव कण एवं उनके समूह आशुगति से युक्त होकर तथा विभिन्न प्राणादि रश्मियों में प्रतिष्ठित होकर प्रकाशित होते हैं। इसका अर्थ यह है कि जब उनकी पारस्परिक

क्रियाएँ होती हैं, उस समय उनकी सक्रियता चरम पर होती है और उसके साथ ही उस समय उस क्षेत्र में कुछ विशेष छन्द रश्मियाँ भी प्रयोजनानुकूल प्रकट होती रहती हैं। इस कारण भी यहाँ 'शंसन्ति' क्रियापद का प्रयोग है।

महर्षि कात्थक्य के मत के पश्चात् नराशंस के विषय में महर्षि शाकपूणि का मत प्रस्तुत करते हुए लिखते हैं— 'अग्निरिति शाकपूणिः नरैः प्रशस्यो भवति' अर्थात् पूर्वोक्त अग्नि तत्त्व ही नराशंस कहा जाता है। इसका कारण बताते हुए लिखते हैं कि यह अग्नि नाना प्रकार के आशुगामी कणों वा रश्मियों व अनेक समूहों के द्वारा ही उत्पन्न व प्रकाशित होता है।

इस 'नराशंसः' पद की ऋचा को अगले खण्ड में प्रस्तुत किया गया है।

* * * * *

= सप्तमः खण्डः =

नराशंसस्य महिमानमेषामुप स्तोषाम यजतस्य यज्ञैः।
ये सुक्रतवः शुचयो धियंधाः स्वदन्ति देवा उभयानि हव्या॥

[ऋ.७.२.२]

नराशंसस्य महिमानमेषामुपस्तुमो यज्ञियस्य यज्ञैः।
ये सुकर्माणः शुचयो धियं धारयितारः। स्वदयन्तु देवा उभयानि हवींषि।
सोमं चेतराणि चेति वा। तान्त्राणि चावापिकानि चेति वा।
ईळः, ईट्टेः स्तुतिकर्मणः। इन्धतेर्वा। तस्यैषा भवति॥ ७॥

इस मन्त्र का ऋषि वसिष्ठ है अर्थात् इस छन्द रश्मि की उत्पत्ति प्राण नामक प्राण रश्मियों से होती है। इसका देवता आप्री तथा छन्द त्रिष्टुप् होने से सर्वत्र व्याप्त और सब पदार्थों को तृप्त करने वाले नराशंस संज्ञक पदार्थ रक्तवर्णीय तेज से युक्त होने लगते हैं। महर्षि कात्थक्य के मतानुसार इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(नराशंसस्य, महिमानम्, एषाम्, उप, स्तोषाम, यजतस्य, यज्ञैः) 'नराशंसस्य महिमानमे-

षामुपस्तुमो यज्ञियस्य यज्ञैः' इस सृष्टि में विभिन्न पदार्थों के मध्य होने वाली इन यजन क्रियाओं को प्राथमिक प्राण रश्मियाँ व्यापक रूप से प्रकाशित अर्थात् समृद्ध व सक्रिय करती हैं। वे रश्मियाँ नाना प्रकार के यज्ञों, जो विभिन्न छन्द व मरुद् आदि रश्मियों के साथ प्रयोजनानुसार होते रहते हैं, के द्वारा ही ऐसा करती हैं। इसका तात्पर्य यह है कि प्राण रश्मियों की यजन क्रियाओं के द्वारा अन्य स्थूल पदार्थों में यजन क्रियाएँ सम्पादित होती हैं। इस प्रकार सृष्टि की प्रत्येक स्थूल प्रक्रिया के पीछे अन्य सूक्ष्म पदार्थों की क्रियाएँ छिपी रहती हैं। (ये, सुक्रतवः, शुचयः, धियंधाः) 'ये सुकर्माणः शुचयो धियं धारयितारः' विभिन्न देव पदार्थ, जो नाना प्रकार की सुन्दर क्रियाओं से युक्त होते हैं, पवित्र वा शुद्ध तेज को धारण करने वाले होते हैं। इसके साथ ही वे 'ओम्' रश्मियों के द्वारा विज्ञानपूर्वक कर्मों को करने में समर्थ होते हैं।

(स्वदन्ति, देवाः, उभयानि, हव्या) 'स्वदयन्तु देवा उभयानि हवींषि सोमं चेतराणि चेति वा तान्त्राणि चावापिकानि चेति वा' विभिन्न देव पदार्थ अर्थात् प्राण व छन्दादि रश्मियाँ दोनों प्रकार के संगमनीय पदार्थों के परस्पर मिथुन बनाने का कार्य करती हैं। ये दो प्रकार के पदार्थ भी स्वयं दो प्रकार के होते हैं, जिनमें से प्रथम प्रकार की सोम रश्मियाँ तथा द्वितीय प्रकार की प्राण रश्मियाँ हो सकती हैं। अन्य विकल्प के रूप में तान्त्र और आवापिक को दर्शाया है। यहाँ इन दोनों के विषय में स्कन्दस्वामी ने लिखा है— 'तान्त्राण्यङ्गहवींषि आवापिकानि च प्रधानहवींषीत्यर्थः'। इसका अर्थ यह है कि उस समय सामान्य एवं विशेष हविरूप पदार्थों के मिथुनों का भी निर्माण होता है। इससे संकेत मिलता है कि विभिन्न यजन क्रियाओं के चलते जहाँ कण आदि पदार्थों के मिथुनों का निर्माण होता है, वहीं इनसे स्रवित होने वाली प्राण व मरुद् रश्मियों अथवा विभिन्न प्रकार की मास रश्मियों के युग्मों का भी निर्माण होता है।

महर्षि शाकपूणि के मतानुसार इसका आधिदैविक भाष्य भी लगभग समान ही है, भिन्नता केवल यह है कि यहाँ नराशंस का अर्थ यजन प्रक्रिया के स्थान पर अग्नि ग्रहणीय है। इसे पाठक स्वयं ही समझ सकते हैं।

'नराशंसः' के पश्चात् 'ईळ' पद का निर्वचन करते हुए ग्रन्थकार लिखते हैं— 'ईळः ईट्टेः स्तुतिकर्मणः इन्धतेर्वा' अर्थात् ईळ पद 'ईळ' धातु अथवा 'इन्धी' धातु से निष्पन्न होता है अर्थात् यह पदार्थ स्वयं प्रकाशित होने वाला एवं दूसरे पदार्थों को प्रकाशित

करने वाला होता है। इसके साथ ही इस पदार्थ को अन्य पदार्थ खोजते वा चाहते रहते हैं। अग्नि तत्त्व को भी ईळ कहते हैं। इसकी ऋचा अगले खण्ड में प्रस्तुत की गई है।

* * * * *

= अष्टमः खण्डः =

आजुह्वान ईड्यो वन्द्यश्चा याह्यग्ने वसुभिः सजोषाः।
त्वं देवानामसि यह्व होता स एनान्यक्षीषितो यजीयान्॥

[ऋ.१०.११०.३]

आहूयमान ईळितव्यो वन्दितव्यश्च। आयाह्यग्ने वसुभिः सहजोषणः।
त्वं देवानामसि यह्व होता। यह्वः इति महतो नामधेयम्। यातश्च हूतश्च भवति।
स एनान्यक्षीषितो यजीयान्। इषितः प्रेषितः इति वा। अधीष्टः इति वा।
यजीयान्यष्टृतरः। बर्हिः परिबर्हणात्। तस्यैषा भवति॥ ८॥

इसका ऋषि भार्गव जमदग्नि, देवता आप्री और छन्द आर्ची त्रिष्टुप् है। इनके विषय में पूर्ववत् समझ सकते हैं। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(अग्ने, आजुह्वानः, ईड्यः, वन्द्यः, च, आयाहि, वसुभिः, सजोषाः) 'आहूयमान ईळितव्यो वन्दितव्यश्च आयाह्यग्ने वसुभिः सहजोषणः' विभिन्न देवकणों द्वारा चाहा जाता हुआ, नाना प्रकार की छन्द रश्मियों द्वारा प्रकाशित होने वाला, जिसकी ओर नाना प्रकार के कण आदि पदार्थ निरन्तर गमन करते रहते हैं और जो अग्नि सबको बसाने वाले प्राण तत्त्व का निरन्तर सेवन करता रहता है अथवा जो प्राण तत्त्व को अपने साथ सदैव ही संयुक्त किए रहता है अथवा जिसका विभिन्न कण आदि पदार्थ प्राण तत्त्व के साथ-साथ सदैव ही सेवन करते रहते हैं, ऐसा वह अग्नि इस सृष्टि में सर्वत्र व्याप्त है। (त्वम्, देवानाम्, यह्व, होता, असि) 'त्वं देवानामसि यह्व होता यह्वः इति महतो नामधेयम् यातश्च हूतश्च भवति' ऐसा वह व्यापक अग्नि सभी देव कणों के अन्दर विद्यमान होता है एवं वह प्राण व छन्दादि रूपी देवों का कार्यरूप है अर्थात् उनसे उत्पन्न होता है। वह अग्नि इन देव कणों द्वारा आकर्षित किया

जाने वाला होता है।

(सः, एनानि, यक्षि, इषितः, यजीयान्) 'स एनान्यक्षीषितो यजीयान् इषितः प्रेषितः इति वा अधीष्टः इति वा यजीयान्यष्टृतरः' वह इन देव कण आदि पदार्थों का यजन करता है अर्थात् इसी के द्वारा अथवा इसी की विद्यमानता में कणों के नाना संयोग और वियोग होते वा हो सकते हैं। वह अग्नि विभिन्न प्राण व छन्दादि रश्मियों द्वारा निरन्तर प्रेरित होता हुआ यजनकारी पदार्थों में श्रेष्ठतर होता है। इससे सिद्ध है कि ऊष्मा के अभाव में कोई भी यजन क्रिया सम्भव नहीं हो सकती।

भावार्थ— सभी प्रकार के दृश्य पदार्थों में अग्नि अनिवार्य रूप से विद्यमान होता है और अग्नितत्त्व में प्राण रश्मियाँ अनिवार्य रूप से विद्यमान होती हैं। कोई भी पदार्थ जब अग्नि के साथ संयुक्त होता है, तब वह प्राण रश्मियों के साथ ही संयुक्त होता है। ऊष्मा के अभाव में कोई भी क्रिया नहीं हो सकती और प्राण के अभाव में ऊष्मा का अस्तित्व नहीं हो सकता।

'ईळः' पद के पश्चात् अगले पद 'बर्हिः' का निर्वचन करते हुए लिखते हैं— 'बर्हिः परिबर्हणात्' अर्थात् जो पदार्थ सब ओर से बढ़ा हुआ होता है, वह 'बर्हिः' कहाता है। ग्रन्थकार ने निघं.१.३ में इसे अन्तरिक्षवाची नामों में पढ़ा है। उधर महर्षि ऐतरेय महीदास ने ऐ.ब्रा.२.४ में 'पशवो वै बर्हिः' कहकर सभी प्रकार की प्राण व छन्दादि रश्मियों अथवा सूक्ष्म कणों को 'बर्हिः' कहा है।

इन सबका आशय है कि आकाश तत्त्व के साथ-साथ विभिन्न प्राण व छन्दादि रश्मियों के समूह एवं नाना प्रकार के सूक्ष्म कण सम्पूर्ण सृष्टि में सर्वत्र व्याप्त हैं, इस कारण इन सब पदार्थों को 'बर्हिः' कहा जाता है। इस पद के विषय में एक ऋचा अगले खण्ड में प्रस्तुत की गयी है।

* * * * *

नवमः खण्डः

प्राचीनं बर्हिः प्रदिशा पृथिव्या वस्तोरस्या वृज्यते अग्रे अह्नाम्।

व्यु प्रथते वितरं वरीयो देवेभ्यो अदितये स्योनम्॥ [ऋ.१०.११०.४]
प्राचीनं बर्हिः प्रदिशा पृथिव्या वसनाय।
अस्याः प्रवृज्यतेऽग्रेऽह्नां बर्हिः पूर्वाह्णे।
तद्विप्रथते। वितरं विकीर्णतरमिति वा। विस्तीर्णतरमिति वा। वरीयो वरतरम्। उरुतरं वा। देवेभ्यश्चादितये च स्योनम्। स्योनम् इति सुखनाम। स्यतेः। अवस्यन्ति एतत्। सेवितव्यं भवतीति वा।
द्वारो जवतेर्वा। द्रवतेर्वा। वारयतेर्वा। तासामेषा भवति॥ ९॥

इस मन्त्र के ऋषि और देवता पूर्ववत् तथा छन्द पाद निचृत् त्रिष्टुप् होने से इसका दैवत और छान्दस प्रभाव लगभग पूर्ववत् ही समझें। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(प्राचीनम्, बर्हिः, प्रदिशा, पृथिव्याः, वस्तोः, अस्याः, वृज्यते) 'प्राचीनं बर्हिः प्रदिशा पृथिव्या वसनाय अस्याः प्रवृज्यते' अत्यन्त तप्त विशाल कॉस्मिक पिण्ड जिससे किसी सौर मण्डल आदि का निर्माण हो रहा होता है, उस प्रक्रिया की यहाँ चर्चा की गई है। जब वह विशाल लोक अपने अक्ष पर तेजी से घूर्णन कर रहा होता है, उस समय वह अपने उत्तरी और दक्षिणी ध्रुव प्रदेशों में कुछ दबा हुआ अर्थात् चपटा हो जाता है और उसका आकार पूर्ण गोल नहीं रहता, बल्कि तस्तरीनुमा हो जाता है। उस समय उसकी प्राचीन अर्थात् पूर्व दिशा की ओर जो आकाश तत्त्व विद्यमान होता है और उस आकाश तत्त्व में जो विभिन्न छन्दादि रश्मियाँ और सूक्ष्म कण विद्यमान होते हैं, वे निश्चित दिशा व गति से और निश्चित व्यवस्था के अनुसार पृथक् होने लगते हैं। उनके पृथक् होने के साथ-२ पृथिव्यादि ग्रह लोक भी दूर हटने लगते हैं। उस समय वह पृथक् हुआ आकाश तत्त्व, उसके अन्दर विद्यमान छन्दादि रश्मियों का जाल एवं सूक्ष्म कणों का विशाल समूह, जो गैसीय रूप में विद्यमान होता है, पृथिव्यादि लोकों को आच्छादित करने वाला आवरण बन जाता है। यह आवरण ही पृथिवी की अपने अक्ष पर घूर्णन गति का कारण और नियन्त्रक होता है।

(अग्रे, अह्नाम्) 'अग्रेऽह्नां बर्हिः पूर्वाह्णे' लोकों के पृथक्करण की यह क्रिया कब घटती है, यहाँ इसका संकेत करते हुए कहा है [अहन् = अहरेव सविता (गो.पू.१.३३), अहर्वै स्वर्गो लोकः (ऐ.ब्रा.५.२४)] कि उस विशाल पिण्ड का वह विशाल भाग, जो ग्रह आदि

लोकों के दूर छिटकने के पश्चात् शेष रहता है, जब सूर्यलोक का रूप धारण नहीं कर लेता अर्थात् उसका केन्द्रीय भाग स्वर्ग लोक के रूप में स्थापित नहीं हो जाता। इसका अर्थ यह है कि उस विशाल लोक के केन्द्रीय भाग में अनवरत ऊर्जा उत्पादन हेतु नाभिकीय संलयन की प्रक्रिया प्रारम्भ नहीं हो जाती। स्मरणीय है कि जब तक किसी लोक में नाभिकीय संलयन की प्रक्रिया प्रारम्भ नहीं हो जाती, तब तक उसे सूर्य का रूप नहीं माना जा सकता। इस कारण यह भी कह सकते हैं कि ग्रहों के पृथक्करण की प्रक्रिया सूर्यलोक की उत्पत्ति से पूर्व ही होती है। यहाँ ग्रन्थकार का कथन है— 'बर्हिः पूर्वाह्णे' अर्थात् सूर्यलोक के पूर्वी भाग में आकाश तत्त्व एवं उसमें विद्यमान रश्मिजाल और कण आदि पदार्थों का समुदाय (व्यु, प्रथते) 'तद्विप्रथते' विशेष रूप से फैलाया हुआ होता है अर्थात् फैल रहा होता है। उल्लेखनीय है कि आकाश तत्त्व किसी बल के द्वारा, विशेषकर ग्रह और सूर्य को पृथक् करने वाले बलों के द्वारा काटा नहीं जा सकता, बल्कि उसके सघन और विरल होने को ही काटना अथवा जोड़ना माना जाता है। आकाश तत्त्व लोकों के चारों ओर अपेक्षाकृत सघन रूप में होता है।

(वितरम्, वरीयः, देवेभ्यः, अदितये, स्योनम्) 'वितरं विकीर्णतरमिति वा विस्तीर्णतरमिति वा वरीयो वरतरम् उरुतरं वा देवेभ्यश्चादितये च स्योनम् स्योनम् इति सुखनाम स्यतेः अवस्यन्ति एतत् सेवितव्यं भवतीति वा' वह विशेष रूप से फैलाया हुआ एवं सघन करके पृथक् किया हुआ आकाश तत्त्व एवं उसमें विद्यमान सूक्ष्म पदार्थ विभिन्न देव कणों के गमन करने के लिए तथा अदितिरूप [अदितिः = अदितिः द्यौः माता अदितिः (ऋ.१.८९.१०)। माता = इयं वै माता (श.ब्रा.१३.१.६.१)] सूर्यलोक एवं पृथिव्यादि लोकों के लिए सुख रूप होता है। इसका आशय यह है कि उस आकाश तत्त्व में ये सभी लोक तथा उनसे निकलने वाले विभिन्न कण वा विकिरण सहजतापूर्वक अपनी गमनादि एवं धारण आदि क्रियाओं को सम्यक् रूप से सम्पादित करते रह सकते हैं। इसके साथ ही आकाश तत्त्व इन पदार्थों के गमन करने के लिए श्रेष्ठ व विस्तृततम माध्यम होता है। ध्यान रहे कि किसी भी पदार्थ को बनाने, उसको आकार देने, उसके अन्दर संचालित होने वाली विभिन्न क्रियाओं के सम्पादित होने और उसके घूर्णन एवं परिक्रमण आदि कर्मों में आकाश तत्त्व की महत्त्वपूर्ण व अनिवार्य भूमिका होती है। इसके लिए ये पदार्थ आकाश तत्त्व एवं उसमें विद्यमान नाना प्रकार की रश्मियों का सेवन अर्थात् उपयोग करते रहते हैं।

भावार्थ— सौरमण्डल के निर्माण के पूर्व विशाल खगोलीय पिण्ड तेजी से अपने अक्ष पर घूर्णन कर रहा होता है। इस घूर्णन गति के कारण उसके उत्तरी और दक्षिणी दोनों ध्रुव कुछ दबे हुए होते हैं। इस प्रकार वह पिण्ड कुछ चपटे आकार का हो जाता है। घूमते हुए उस पिण्ड के पूर्वी भाग से निश्चित गति और दिशा व व्यवस्था के अनुसार पदार्थ पृथक् होने लगता है। वे पदार्थ आकाशतत्त्व एवं विभिन्न छन्दादि रश्मियों से आच्छादित होकर पृथिवी आदि लोकों का रूप धारण करते हैं। शेष बचा हुआ केन्द्रीय विशाल भाग उस समय सूर्य का रूप धारण कर लेता है, जिस समय उसमें संलयन की प्रक्रिया प्रारम्भ हो जाती है। लोकों के निकट परिधि भाग में आकाशतत्त्व अपेक्षाकृत सघन रूप में विद्यमान होता है। आकाशतत्त्व में सभी लोक वा कण सहजतापूर्वक गमन करते हैं। विभिन्न पदार्थों के गमनागमन, घूर्णन, निर्माण, संपीडन व संयोजन आदि क्रियाओं में आकाशतत्त्व की अनिवार्य भूमिका होती है।

'बर्हिः' पद के निर्वचन के पश्चात् आप्री संज्ञक 'द्वारः' पद का निर्वचन करते हुए लिखते हैं— 'द्वारो जवतेर्वा द्रवतेर्वा वारयतेर्वा'। इस पद की व्युत्पत्ति 'जुङ् गतौ', 'द्रु गतौ' अथवा 'वृञ् वरणे' धातुओं से होती है, ऐसा ग्रन्थकार का कथन है। इसका अर्थ यह है कि जो पदार्थ तीव्रता से गमन करने वाला होता है अथवा किसी का अनुगमन करता हुआ होता है अथवा किसी को आच्छादित व संरक्षित करने वाला होता है, उसे द्वार कहते हैं। इसकी ऋचा अगले खण्ड में प्रस्तुत की गई है।

* * * * *

दशमः खण्डः

व्यचस्वतीरुर्विया वि श्रयन्तां पतिभ्यो न जनयः शुम्भमानाः।
देवीर्द्वारो बृहतीर्विश्वमिन्वा देवेभ्यो भवत सुप्रायणाः॥

[ऋ.१०.११०.५]

व्यञ्चनवत्य उरुत्वेन विश्रयन्ताम्। पतिभ्य इव जायाः। ऊरू मैथुने धर्मे। शुशोभिषमाणाः। वरतममङ्गमूरू। देव्यो द्वारः। बृहत्यो महत्यः।

विश्वमिन्वा विश्वमाभिरेति यज्ञे। गृहद्वार इति कात्थक्यः। अग्निरिति शाकपूणिः। उषासानक्ता। उषाः च नक्ता च। उषाः व्याख्याता। नक्ता इति रात्रिनाम। अनक्ति भूतान्यवश्यायेन। अपि वा नक्ताव्यक्तवर्णा। तयोरेषा भवति॥ १०॥

इस मन्त्र के ऋषि और देवता पूर्ववत् तथा छन्द निचृत् त्रिष्टुप् होने इसका से प्रभाव पूर्ववत् समझें। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(व्यचस्वती, उर्विया, वि, श्रयन्ताम्, देवीः, द्वारः) 'व्यञ्चनवत्य उरुत्वेन विश्रयन्ताम् ऊरू मैथुने धर्मे वरतममङ्गमूरू देव्यो द्वारः' [देवीः = देव्यः (निरु.१२.४५), प्राणो वा अपानो व्यानस्तिस्रो देव्यः (ऐ.ब्रा.२.४), छन्दांसि देव्यः (श.ब्रा.९.५.१.३९), अन्तरिक्षं देवी (जै.उ.३.४.८)] पूर्वोक्त प्रकरण को आगे बढ़ाते हुए यहाँ चर्चा की गई है कि लोकों के पृथक्करण के समय विभिन्न छन्द एवं प्राणादि रश्मियाँ तेजी से एक-दूसरे पर फिसलते हुए और तेजी से आगे बढ़ते हुए लोकों को आच्छादित करती हैं। इसी प्रकार आकाश तत्त्व भी अति शीघ्रता से फैलता और लोकों के निकट सिकुड़ता हुआ उन्हें शीघ्रतापूर्वक आच्छादित करता है। उस समय ये पदार्थ विशेष रूप से लोकों को चारों ओर से व्याप्त करने वाले होते हैं। [उरु = बहुनाम (निघं.३.१), बह्वाच्छादनं स्वीकरणं वा (म.द.य.भा.४.२७)] इस प्रक्रिया में जो ऊरू की चर्चा की गई है, उसके विषय में हमें ऊरू के पर्यायवाची सक्थि पद पर भी यहाँ विचार कर लेना चाहिए। सक्थि के विषय में महर्षि याज्ञवल्क्य का कथन है— 'सक्थ्यावनुष्टुभः' (श.ब्रा.८.६.२.९)। सभी पदार्थ अर्थात् विभिन्न छन्द रश्मियाँ, आकाश तत्त्व आदि उस क्षेत्र में विद्यमान वा उत्पन्न हो रही अनुष्टुप् छन्द रश्मियों के व्यापक आच्छादन का आश्रय लेने लगते हैं। अनुष्टुप् छन्द रश्मियों के आश्रय के बिना इन क्रियाओं का होना सम्भव नहीं है। 'अनुष्टुप्' के विषय में ऋषियों का कथन है— पादावनुष्टुप् (ष.ब्रा.२.३), अनुष्टुबनुस्तोभनात् (दे.ब्रा.३.७), अनुष्टुप् छन्दसां प्रतिष्ठा (तै.सं.२.५.१०.३)। इन वचनों से सिद्ध होता है कि अनुष्टुप् छन्द रश्मियाँ अन्य छन्द रश्मियों को थामकर उन्हें आधार और सम्यक् गति प्रदान करती हैं अर्थात् इनके आश्रय से अन्य रश्मियों की गति अनुकूल और सन्तुलित होने लगती है। महर्षि याज्ञवल्क्य के उपर्युक्त वचन में अनुष्टुप् को सक्थि (जंघा) कहा है एवं षड्विंश ब्राह्मण के उपर्युक्त वचन में अनुष्टुप् को पाद कहा है। इससे भी अनुष्टुप् के ऊरू होने की बात प्रमाणित हो

रही है। ये अनुष्टुप् छन्द रश्मियाँ दो रश्मियों वा कण आदि पदार्थों के मिथुन बनने की प्रक्रिया में सर्वश्रेष्ठ भागीदार मानी गयी हैं, क्योंकि ये उन सबका आधार होती हैं।

(पतिभ्यः, न, जनयः, शुम्भमानाः) 'पतिभ्य इव जायाः शुशोभिषमाणाः' [जाया = जाया गार्हपत्यः (ऐ.ब्रा.८.२४)। गार्हपत्यः = गृहा वै गार्हपत्यः (श.ब्रा.१.१.१.१९)। पतिः = पालकः सूत्रात्मा (तु.म.द.ऋ.भा.५.४६.३)] रश्मि आदि पदार्थों का यह संयोग उसी भाँति होता है अथवा उस स्तर का ही होता है, जैसे सभी प्रकार के आकर्षण बलों में सूत्रात्मा वायु रश्मियाँ सक्रियता एवं सुन्दरता के साथ प्रविष्ट होती हैं और सभी बल रश्मियाँ उन सूत्रात्मा वायु रश्मियों को आधार प्रदान करती हैं। इसके साथ ही यह भी ध्यातव्य है कि आधिदैविक भाष्य में उपमा की विशेष उपयोगिता नहीं होती, तब इससे यह भी अर्थ निकलता है कि जब अनुष्टुप् रश्मियाँ अन्य छन्द रश्मियों को आधार प्रदान करती हैं, उस समय विभिन्न बल रश्मियाँ अर्थात् प्राण व मरुदादि रश्मियाँ भी सूत्रात्मा वायु रश्मियों को अपने साथ संयुक्त कर रही होती हैं और उस समय सूत्रात्मा वायु रश्मियाँ विशेष सक्रिय होती हैं, जो सुन्दर रूप से प्राणादि रश्मियों के साथ संयुक्त होकर संयोग क्रियाओं को सम्यक् रूप से सम्पादित करती हैं।

(बृहतीः, विश्वम्, इन्वा, देवेभ्यः भवत, सुप्रायणाः) 'बृहत्यो महत्यः विश्वमिन्वा विश्वमाभिरेति यज्ञे गृहद्वार इति कात्थक्यः अग्निरिति शाकपूणिः' [इन्वा = इन्वति गतिकर्मा (निघं.२.१४), व्याप्तिकर्मा (निघं.२.१८)] वे तीव्र गतिशील देवी संज्ञक छन्द व प्राणादि रश्मियाँ संयोज्य कण आदि पदार्थों के बाहरी विशाल क्षेत्र में स्थित सभी सूक्ष्म पदार्थों को व्याप्त करते हुए उपर्युक्त क्रियाओं को भी व्याप्त करती हैं अर्थात् उस समय उन कण आदि पदार्थों के बाहर विद्यमान क्षेत्र में भारी हलचल होने लगती है और ये रश्मियाँ उन कम्पन करते हुए संयोज्य कणों के मार्गों को भी व्याप्त कर लेती हैं। इस प्रकार श्रेष्ठ गमन शक्ति से सम्पन्न वे छन्दादि रश्मियाँ उन देव कणों की संयोगादि प्रक्रियाओं को सम्पादित करने में समर्थ होती हैं।

यहाँ महर्षि कात्थक्य की दृष्टि में 'द्वारः' पद गृहद्वारवाची है और हमने यह भाष्य इन्हीं के मत को दृष्टिगत रखते हुए ही किया है, क्योंकि वे छन्दादि रश्मियाँ विभिन्न गृह अर्थात् बलों का द्वार रूप ही होती हैं। उधर महर्षि शाकपूणि के अनुसार 'द्वारः' पद अग्निवाची है और अग्नि भी शीघ्रतापूर्वक गमन करने वाला और असुरादि बाधक पदार्थों

को रोकने वाला होता है। इस कारण इसे भी द्वार कहते हैं। महर्षि शाकपूणि के मतानुसार भी इसी उपर्युक्त ऋचा का भाष्य उपर्युक्तानुसार विज्ञ पाठक स्वयं ही कर सकते हैं, फिर भी हम इसका सामान्य अर्थ यहाँ लिख रहे हैं—

किसी भी संयोगादि प्रक्रिया में विद्युत् रूप अग्नि संयोज्य कण आदि पदार्थों को अपनी व्याप्ति से विशेष रूप से व्याप्त करके उन्हें विशेष रूप से आश्रय देती हैं अर्थात् वे कण आदि पदार्थ विद्युत् बलों से क्रियाशील हो उठते हैं और यह क्रिया उस समय उसी प्रकार होती है, जब और जिस प्रकार विभिन्न प्राण व मरुदादि रश्मियाँ सूत्रात्मा वायु के प्रभाव क्षेत्र में और उसकी व्याप्ति के द्वारा सक्रिय हो उठती हैं। उस समय विद्युत् रूपी अग्नि वर्धमान होता हुआ संयोज्य कणों के चारों ओर सम्पूर्ण क्षेत्र को व्याप्त करके उन कणों को संयुक्त करने के लिए श्रेष्ठ साधन रूप होता है।

भावार्थ— जब विशाल खगोलीय पिण्ड में विस्फोट होता है, तब विभिन्न छन्दादि रश्मियाँ और आकाशतत्त्व तेजी से पृथक् हुए पिण्डों को अति शीघ्रता से आच्छादित करने लगते हैं। इन आच्छादन क्रियाओं में अनुष्टुप् छन्द रश्मियाँ विभिन्न छन्द रश्मियों को अनुकूल सन्तुलन प्रदान करते हुए आधारभूत भूमिका निभाती हैं, किन्तु इनकी भी आधार सूत्रात्मा वायु रश्मियाँ होती हैं। इन रश्मियों की सघनता वा विरलता लोकों की सघनता पर निर्भर करती है। उस समय उन सभी लोकों के बाहरी क्षेत्रों में भारी हलचल होने लगती है। विभिन्न कणों के संयोग की प्रक्रिया में भी इसी प्रकार की हलचल हुआ करती है।

'द्वारः' पद के निर्वचन के पश्चात् 'उषासानक्ता' का निर्वचन करते हुए लिखते हैं— 'उषाः च नक्ता च उषाः व्याख्याता नक्ता इति रात्रिनाम अनक्ति भूतान्यवश्यायेन अपि वा नक्ताव्यक्तवर्णा'। 'उषाः' पद की व्याख्या पूर्व में खण्ड २.१८ में की गई है और नक्ता पद रात्रिवाची है। रात्रि को नक्ता इसलिए कहा गया है, क्योंकि यह सभी पदार्थों को अवश्याय अर्थात् ओस से गीला करती है अथवा रात्रि में किसी भी पदार्थ के रूप एवं रंग स्पष्ट दिखाई नहीं देते हैं। 'रात्रिः' पद के विषय में ऋषियों का कथन है— 'सोमो रात्रिः' (श.ब्रा. ३.४.४.१५), 'अन्धो रात्रिः' (तां.ब्रा.९.१.७)। आधिदैविक पक्ष में ये वचन अधिक सार्थक हैं, क्योंकि सोम पदार्थ जब तक सन्दीप्त नहीं हुआ होता है, तब तक वह शीतल भी होता है और अन्धकारमय भी। इसकी रश्मियों की गति मन्द होती है और ये विभिन्न उत्पन्न पदार्थों को निरन्तर सींचती रहती हैं, अतः इन्हें अवश्याय भी कह सकते हैं।

'उषासानक्ता' पद की ऋचा को अगले खण्ड में उद्धृत किया गया है।

* * * * *

= एकादशः खण्डः =

आ सुष्वयन्ती यजते उपाके उषासानक्ता सदतां नि योनौ।
दिव्ये योषणे बृहती सुरुक्मे अधि श्रियं शुक्रपिशं दधाने॥

[ऋ.१०.११०.६]

सेष्मीयमाणे इति वा। सुष्वापयन्त्याविति वा। सीदतामिति वा।
न्यासीदतामिति वा। यज्ञिये। उपक्रान्ते। दिव्ये योषणे। बृहत्यौ महत्यौ।
सुरुक्मे सुरोचने। अधिदधाने शुक्रपेशसं श्रियम्।
शुक्रं शोचतेर्ज्वलतिकर्मणः। पेशः इति रूपनाम। पिंशतेः। विपिशितं भवति।
दैव्या होतारा। दैव्यौ होतारौ। अयं चाग्निरसौ च मध्यमः।
तयोरेषा भवति॥ ११॥

इस मन्त्र के ऋषि और देवता पूर्ववत् तथा छन्द त्रिष्टुप् होने से सभी प्रभाव लगभग पूर्ववत् ही होते हैं। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(आ, सुष्वयन्ती, उषासानक्ता) 'सेष्मीयमाणे इति वा सुष्वापयन्त्याविति वा' [उषाः = उषा वष्टेः कान्तिकर्मणः उच्छतेरितरा माध्यमिका (निरु.१२.५)] उषा एवं रात्रि रूप अर्थात् इस सृष्टि में विद्यमान लालिमायुक्त सूक्ष्म पदार्थ एवं अन्धकारयुक्त सोम पदार्थ अथवा अग्नि एवं सोम पदार्थ दोनों ही सहजतापूर्वक क्रियाएँ करते हुए तथा एक-दूसरे को आश्रय देते हुए अथवा प्राण एवं अपान रश्मियों की प्रधानता वाले पदार्थ सहजतापूर्वक गमन करते हुए और एक-दूसरे का आश्रय बनते हुए (यजते, उपाके, सदताम्, नि, योनौ) 'सीदतामिति वा न्यासीदतामिति वा यज्ञिये उपक्रान्ते' वे उपर्युक्त दोनों पदार्थ परस्पर यजनशील होकर एक-दूसरे के निकट आते रहते हैं और विभिन्न यजन कर्मों के स्थान में अर्थात् जिस क्षेत्र में यजन क्रियाएँ चल रही होती हैं, उसी क्षेत्र में ये दोनों प्रकार के पदार्थ अपने इन गुणों के

साथ एकत्र होते हैं। इसका अर्थ यह है कि इस ब्रह्माण्ड में जहाँ भी विभिन्न पदार्थों का निर्माण हो रहा होता है और उस निर्माण के लिए बाहरी क्षेत्र से पदार्थ आ रहा होता है, ये सभी पदार्थ उसी का अंग होते हैं। इस प्रकार स्पष्ट है कि विभिन्न कणों वा लोकों के निर्माण में प्राण एवं अपान रश्मियों, अग्नि एवं सोम पदार्थ अथवा प्राण एवं मरुद् रश्मियों एवं सन्दीप्त सोम एवं ठण्डे सोम पदार्थ आदि के युग्म निर्माण क्षेत्र में अति निकटता से एकत्र होने लगते हैं। बिना युग्म के कोई भी पदार्थ, भले ही वह कितनी ही मात्रा में विद्यमान क्यों न हो, किसी अन्य पदार्थ का निर्माण नहीं कर सकता।

(दिव्ये, योषणे, बृहती, सुरुक्मे) 'दिव्ये योषणे बृहत्यौ महत्यौ सुरुक्मे सुरोचने' ये दोनों ही प्रकार के पदार्थ दिव्य अर्थात् वाक् तत्त्व एवं मनस्तत्त्व से उत्पन्न होने वाले और उन्हीं में रहने वाले होते हैं। इस कारण वे दोनों ही सूक्ष्म बलों से सम्पन्न होकर एक-दूसरे को नियन्त्रित करने की इच्छा वाले होते हुए परस्पर मिश्रित होकर गमन करने की प्रवृत्ति वाले होते हैं। सृष्टि में ये व्यापक रूप से वर्तमान रहते हुए सुन्दर दीप्ति को उत्पन्न करते हैं। यहाँ जिस रात्रि नामक पदार्थ को अन्धकार रूप कहा है, उसमें भी एक अव्यक्त एवं सूक्ष्म दीप्ति अवश्य विद्यमान होती है। (अधि, दधाने, श्रियम्, शुक्रपिशम्) 'अधिदधाने शुक्रपेशसं श्रियम् शुक्रं शोचतेर्ज्वलतिकर्मणः पेशः इति रूपनाम पिंशतेः विपिशितं भवति' उस समय ये तीनों प्रकार के पदार्थ अर्थात् संदीप्त सोम एवं शीतलता व प्रकाशरहित सोम, अग्नि एवं सोम पदार्थ तथा प्राण व अपान रश्मि आदि पदार्थों के मिथुन जब उपर्युक्त प्रकार से क्रियाएँ करने लगते हैं, उस समय वे शुक्र रूप अर्थात् सुन्दर व शुद्ध प्रकाश को धारण करने वाले होते हैं। इसका अर्थ यह है कि जब उपर्युक्त युग्म प्रकट होने लगते हैं, उस समय ब्रह्माण्ड में शुद्ध श्वेत वर्ण का प्रकाश उत्पन्न होने लगता है। यहाँ 'पेशः' पद रूपवाची है, जो विशेष रूप से दीप्त हुआ होता है।

भावार्थ— इस सृष्टि में प्रकाशयुक्त एवं प्रकाशरहित अथवा अग्नि एवं सोम आदि पदार्थ अथवा प्राण एवं अपान प्रधान पदार्थ सहजतापूर्वक क्रियाएँ करते हुए एक-दूसरे का आश्रय लेते हुए नाना प्रकार के यजन कर्म करते हैं। इस ब्रह्माण्ड में जहाँ भी कुछ क्रियाएँ हो रही हैं, वहाँ इसी प्रकार के युग्मों की भूमिका होती है। बिना युग्मों के निर्मित हुए किसी पदार्थ की उत्पत्ति सम्भव नहीं है। जिन पदार्थों को प्रकाशरहित कहा जाता है, उसे केवल सापेक्ष ही मानना चाहिए, क्योंकि इस सृष्टि में सर्वथा प्रकाशरहित पदार्थ केवल प्रकृति को ही

कहा जा सकता है। इन सभी युग्मों के पीछे मूल युग्म वाक् तत्त्व एवं मनस्तत्त्व का होता है। इस सृष्टि की उत्पत्ति प्रक्रिया में सर्वप्रथम श्वेत वर्ण उत्पन्न होता है, परन्तु वह भी अव्यक्त अवस्था में होता है।

'उषासानक्ता' पद के निर्वचन के पश्चात् 'दैव्या होतारा' पद का निर्वचन करते हुए लिखते हैं— 'दैव्या होतारा दैव्यौ होतारौ अयं चाग्निरसौ च मध्यम:' अर्थात् 'दैव्या होतारा' दो दिव्य होताओं का नाम है, जिसमें से एक पार्थिव अग्नि है और दूसरा मध्यमस्थानी पदार्थ अन्तरिक्ष वा आकाश तत्त्व में स्थित वायु है। इन दोनों ही पदार्थों के लिए ऋचा अगले खण्ड में प्रस्तुत की गई है।

* * * * *

= द्वादश: खण्ड: =

दैव्या होतारा प्रथमा सुवाचा मिमाना यज्ञं मनुषो यजध्यै।
प्रचोदयन्ता विदथेषु कारू प्राचीनं ज्योति: प्रदिशा दिशन्ता॥

[ऋ.१०.११०.७]

दैव्यौ होतारौ प्रथमौ सुवाचौ निर्मिमानौ यज्ञं मनुष्यस्य मनुष्यस्य यजनाय।
प्रचोदयमानौ यज्ञेषु कर्त्तारौ पूर्वस्यां दिशि यष्टव्यमिति प्रदिशन्तौ।
तिस्रो देवी:। तिस्रो देव्य:। तासामेषा भवति॥ १२॥

इसके ऋषि, देवता और छन्द पूर्ववत् होने से प्रभाव पूर्ववत् ही समझें। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(दैव्या, होतारा) 'दैव्यौ होतारौ' [देव: = तस्मात् प्राणा देवा: (श.ब्रा.७.५.१.२१), प्राणा देवा: (श.ब्रा.६.३.१.१५), वाक् च वै मनश्च देवानां मिथुनम् (ऐ.ब्रा.५.२३), वागेव देवा: (श.ब्रा.१४.४.३.१३), वाग्देव: (गो.पू.२.११)] मनस्तत्त्व एवं वाक् रश्मियों अथवा विभिन्न प्राण रश्मियों से उत्पन्न और उन्हीं में स्थित अग्नि एवं वायु तत्त्व (प्रथमा, सुवाचा, मिमाना) 'प्रथमौ सुवाचौ निर्मिमानौ' सृष्टि निर्माण की प्रक्रिया में आकाश तत्त्व के पश्चात्

अन्य महाभूतों से प्रथम उत्पन्न होते हैं। [प्रथमः = यह पद 'प्रथ प्रख्याने' धातु से व्युत्पन्न होता है। इस धातु का वेद में अर्थ विस्तार होना वा करना है। (सं.धा.को.)] इसके साथ ही ये दोनों पदार्थ उत्पन्न होकर सर्वत्र फैल जाते हैं अथवा सर्वत्र ही उत्पन्न होते हैं। ये पदार्थ नाना प्रकार की सुन्दर छन्द रश्मियों से युक्त होते हैं और सम्पूर्ण सृष्टि का निर्माण करने वाले ये ही होते हैं अर्थात् इस सृष्टि में जो भी पदार्थ वर्तमान विज्ञान के द्वारा जानने योग्य हैं, वे सभी पदार्थ इन अग्नि और वायु तत्त्वों से ही उत्पन्न होते हैं।

(यज्ञम्, मनुषः, यजध्यै) 'यज्ञं मनुष्यस्य मनुष्यस्य यजनाय' वे अग्नि एवं वायु तत्त्व दोनों ही [मनुष्यः = तस्य विवस्वत आदित्यस्य वा इयं प्रजा यन्मनुष्याः (तै.सं.६.५.६.२), विश्वे हीदं देवाः स्मो यन्मनुष्याः (मै.सं.३.२.२)] सूर्यादि लोकों के प्रजारूप विकिरणों अथवा पृथिव्यादि लोकों के अन्दर अथवा उनके अन्दर होने वाली यजन प्रक्रियाओं को अथवा यजनशील पदार्थों को यजन हेतु (प्रचोदयन्ता) 'प्रचोदयमानौ' निरन्तर प्रबल प्रेरणा देने वाले होते हैं। इसका अर्थ यह है कि सृष्टि में जो भी संयोगादि क्रियाएँ होती हैं, उनमें ऊष्मा, विद्युत् एवं वैक्यूम एनर्जी की अनिवार्य भूमिका होती है। (विदथेषु, कारू) 'यज्ञेषु कर्त्तारौ' वे अग्नि और वायु तत्त्व इस सृष्टि में होने वाली विभिन्न यजन क्रियाओं को उत्पन्न करने वाले एवं धारण वा संचालित करने वाले भी होते हैं। इसका अर्थ यह है कि जब दो पदार्थों का परस्पर संयोग होता है, तब न केवल संयोग के समय ही अग्नि एवं वायु तत्त्वों की अनिवार्य भूमिका होती है, अपितु उस उत्पन्न संयुक्त पदार्थ के अस्तित्व को धारण करने अर्थात् बनाए रखने में भी इनकी सतत एवं अनिवार्य भूमिका होती है। इससे स्पष्ट होता है कि प्रत्येक परमाणु (एटम), आयन एवं अणु (मोलिक्यूल) की उत्पत्ति के पश्चात् उनके अवयवरूप कणों को परस्पर बाँधे रखने में भी अग्नि और वायु तत्त्व की सतत एवं अनिवार्य भूमिका होती है।

(प्राचीनम्, ज्योतिः, प्रदिशा, दिशन्ता) 'पूर्वस्यां दिशि यष्टव्यमिति प्रदिशन्तौ' ये दोनों पदार्थ खण्ड ८.९ में उद्धृत ऋग्वेद १०.११०.४ में वर्णित प्राचीन प्रदिशा [ज्योतिः = इदमेवान्तरिक्षं ज्योतिः (जै.ब्रा.२.१६६)] अर्थात् विशाल तेजस्वी लोक, जिससे सूर्य एवं ग्रह आदि लोकों की उत्पत्ति होती है और जिसे हम पूर्व खण्ड ८.९ में दर्शा चुके हैं, की पूर्व दिशा में विद्यमान आकाश तत्त्व को एक व्यवस्थित ढंग से ये ही फैलाते हैं। इसका अर्थ यह है कि लोकों के पृथक्करण की पूर्वोक्त क्रिया के समय जब आकाश तत्त्व को

फैलाकर ग्रह आदि लोकों को पृथक् किया जाता है, तब वह सम्पूर्ण प्रक्रिया अग्नि एवं वायु तत्त्व के नियन्त्रण वा प्रेरणा से ही होती है। ग्रन्थकार की दृष्टि में उस समय वायु तत्त्व में एक लघु छन्द रश्मि की असंख्य आवृत्तियाँ होने लगती हैं, वह छन्द रश्मि है— 'पूर्वस्यां दिशि यष्टव्यम्'। इसका छन्द प्राजापत्या गायत्री एवं याजुषी गायत्री होने से यह दोनों ही रूपों में उत्पन्न हो सकती है, ऐसा हमारा मत है। प्राजापत्या गायत्री छन्द रश्मि लोकों के निर्माण में सहायक होगी एवं याजुषी गायत्री लोकों के चारों ओर व्यवस्थित होते हुए आकाश तत्त्व को नियन्त्रित करने में भूमिका निभाएगी।

भावार्थ— आकाशतत्त्व की उत्पत्ति के पश्चात् मनस्तत्त्व एवं वाक् रश्मियों से वायु एवं अग्नि महाभूत की उत्पत्ति होती है। उत्पन्न होते ही ये दोनों पदार्थ सम्पूर्ण आकाशतत्त्व में फैल जाते हैं अथवा सम्पूर्ण आकाशतत्त्व में ही ये उत्पन्न होते हैं। ये पदार्थ ही फिर पृथिवी और आप: महाभूतों का निर्माण करते हैं। ये अग्नि और वायु तत्त्व ही विभिन्न लोकों को एवं जल तथा पृथिवी महाभूतों को निरन्तर धारण व संचालित करते हैं। इसके साथ ही इन्हें निरन्तर बल भी प्रदान करते हैं। विभिन्न लोकों के पृथक्करण की प्रक्रिया भी इन दोनों ही पदार्थों के कारण होती है।

'दैव्या होतारा' के निर्वचन के पश्चात् 'तिस्रो देवी:' का निर्वचन करते हुए लिखते हैं— 'तिस्रो देवी: तिस्रो देव्य:' अर्थात् तीन दिव्य शक्तियों को ही 'तिस्रो देवी:' कहा गया है। इसकी ऋचा को अगले खण्ड में प्रस्तुत किया गया है।

* * * * *

= त्रयोदश: खण्ड: =

आ नो यज्ञं भारती तूयमेत्विळा मनुष्वदिह चेतयन्ती।
तिस्रो देवीर्बर्हिरिदं स्योनं सरस्वती स्वपस: सदन्तु॥ [ऋ.१०.११०.८]
एतु नो यज्ञं भारती क्षिप्रम्। भरत: आदित्य:। तस्य भा:। इळा च।
मनुष्यवदिह चेतयमाना।

तिस्रो देव्यो बर्हिरिदं सुखं सरस्वती च सुकर्माण आसीदन्तु। त्वष्टा तूर्णमश्नुत इति नैरुक्ताः। त्विषेर्वा स्याद् दीप्तिकर्मणः। त्वक्षतेर्वा स्यात्करोतिकर्मणः। तस्यैषा भवति॥ १३॥

इस मन्त्र के ऋषि और देवता पूर्ववत् और छन्द पाद निचृत् त्रिष्टुप् है। इन सबका प्रभाव पूर्ववत् समझें। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(नः, यज्ञम्, भारती, तूयम्, एतु) 'एतु नो यज्ञं भारती क्षिप्रम् भरतः आदित्यः तस्य भाः' अग्नि की ज्वालाओं से उत्पन्न विभिन्न रश्मियों के नाना प्रकार के यजन कर्मों में आदित्य की किरणें अति तीव्र गति से सर्वत्र व्याप्त होने लगती हैं। यहाँ ऐसा प्रतीत होता है कि सूर्यादि लोकों के बाहरी तल पर जो अग्नि की ऊँची ज्वालाएँ उठती हैं और उनके अन्दर विभिन्न प्रकार की छन्द व प्राण आदि रश्मियाँ व्याप्त होती हैं और वहाँ उनकी परस्पर यजन क्रियाएँ होती हैं, सूर्यलोक के आभ्यन्तर भाग से आने वाली विकिरणें जब इस क्षेत्र में से गुजरती हैं, तब उनमें से अनेक विकिरण शीघ्रतापूर्वक उन ज्वालाओं में ही व्याप्त हो जाती हैं।

(इळा, मनुष्यवत्, इह, चेतयन्ती) 'इळा च मनुष्यवदिह चेतयमाना' इस प्रक्रिया को विभिन्न वाक् रश्मियाँ [इळा = वाङ्नाम (निघं.१.११), अन्ननाम (निघं.२.७)] निरन्तर प्रेरित व सक्रिय करती रहती हैं। [मनुष्यः = बहिः प्राणो वै मनुष्यः (तै.सं. ६.१.१.४)] उन वाक् रश्मियों की प्रेरणा इसी प्रकार होती है, जिस प्रकार विभिन्न पदार्थों के परिधि भाग में विद्यमान सूत्रात्मा वायु रश्मियाँ किसी भी संयोग प्रक्रिया को प्रेरित करती हैं। यदि उपमा अलंकार की उपेक्षा करें, तो यहाँ मन्त्र यह संकेत देता है कि वे वाक् रश्मियाँ उपर्युक्त विभिन्न प्रक्रियाओं एवं पदार्थों को उसी समय प्रेरित करती हैं अथवा उसी स्तर पर प्रेरित करती हैं, जब अथवा जिस स्तर पर सूत्रात्मा वायु रश्मियाँ उन वाक् रश्मियों को प्रेरित करती हैं।

(तिस्रः, देवीः) 'तिस्रो देव्यः' [तिस्रो देवीः = प्राणो वा अपानो व्यानस्तिस्रो देव्यः (ऐ.ब्रा. २.४), वाग्वै तिस्रो देवीः (मै.सं.१.१०.९, काठ.सं.३६.३)] तीनों प्रमुख दिव्य पदार्थ (बर्हिः, इदम्, स्योनम्, सरस्वती, सु, अपसः, आ, सदन्तु) 'बर्हिरिदं सुखं सरस्वती च सुकर्माण आसीदन्तु' अर्थात् प्राणापान-व्यान एवं गायत्री, त्रिष्टुप् एवं जगती तीनों छन्द

रश्मियाँ, जो प्रकाश एवं आकर्षण आदि गुणों से युक्त होने के कारण देवी कहलाती हैं, उस क्षेत्र में व्याप्त आकाश तत्त्व के अन्दर सब ओर से प्रतिष्ठित होती हैं। इसका अर्थ यह है कि जब उपर्युक्त क्रियाएँ हो रही होती हैं, उस समय ये प्राण एवं छन्द रश्मियाँ वहाँ अवश्य ही विद्यमान वा उत्पन्न होनी चाहिए, अन्यथा सूर्य की ज्वालाओं में विकिरणों की व्याप्ति सम्भव नहीं है। इसके साथ ही ये प्राण व छन्द रश्मियाँ उस आकाश तत्त्व में सुखपूर्वक अर्थात् सहजता से व्याप्त होती हैं। [सरस्वती = सर: वाङ्नाम (निघं.१.११), वागेव सरस्वती (ऐ.ब्रा.२.२४), वाक् सरस्वती (श.ब्रा.७.५.१.३१), वाग्वै सरस्वती (कौ.ब्रा.५.२, तां.ब्रा.६.७.७)] उन प्राण व छन्द रश्मियों रूपी देवियों को यहाँ सरस्वती कहा गया है। इसका अर्थ यह है कि इन तीनों प्राण रश्मियों एवं गायत्री आदि तीनों छन्द रश्मियों के उत्पन्न होने पर अन्य प्रकार की वाक् रश्मियाँ भी वहाँ उत्पन्न होने लगती हैं। इस कारण इन रश्मियों को 'स्वपस:' भी कहा गया है। इसका अर्थ यह है कि इन सब कारणों से तीनों देवी रूप रश्मियाँ [अप: = कर्मनाम (निघं.२.१), प्रजननकर्म (निरु.११.३१)] नाना प्रकार के कर्मों को सहजता से सम्पादित करने में सहयोग करती हैं और इन कर्मों में विभिन्न प्रकार के पदार्थों की उत्पत्ति, ऊर्जा का अन्तरिक्ष में उत्सर्जन तथा उस क्षेत्र में बहुत अधिक तापमान को उत्पन्न करना सम्मिलित है। यहाँ ऐसा प्रतीत होता है कि सूर्य के अन्दर यही क्षेत्र कोरोना नाम से जाना जाता है और यह क्षेत्र इन तीन देवीरूप रश्मियों के कारण ही अत्यधिक गर्म होता है, क्योंकि यहाँ विद्यमान विभिन्न रश्मियाँ केन्द्र से आने वाले विकिरणों के कुछ भाग को अवशोषित करती रहती हैं और एक तापमान की विशेष सीमा के पश्चात् ही विकिरणों का बाहर उत्सर्जन होता है।

भावार्थ— सूर्यादि प्रकाशित लोकों के ऊपरी भाग में अग्नि की विशाल ज्वालाएँ निरन्तर उठती रहती हैं। इन ज्वालाओं के अन्दर विभिन्न रश्मियों की नाना प्रकार की यजन क्रियाएँ होती रहती हैं। इन रश्मियों को सूत्रात्मा वायु निरन्तर प्रेरित करता रहता है। इन ज्वालाओं में प्राण, अपान एवं व्यान तथा गायत्री, त्रिष्टुप् एवं जगती इन त्रिकों की विशेष भूमिका होती है। इन त्रिकों के उत्पन्न होने पर अन्य रश्मियाँ भी उत्पन्न हो उठती हैं और प्रकाश के उत्सर्जन की प्रक्रिया तेजी से होने लगती है। सूर्य के बाहरी भाग में स्थित कोरोना नामक क्षेत्र इन त्रिकों के कारण ही अपेक्षाकृत बहुत अधिक गर्म होता है।

'तिस्रो देवी:' इस आप्री संज्ञक पद के पश्चात् अगले आप्री संज्ञक 'त्वष्टा' पद का

निर्वचन करते हुए लिखते हैं— 'त्वष्टा तूर्णमश्नुत इति नैरुक्ताः त्विषेर्वा स्याद् दीप्तिकर्मणः त्वक्षतेर्वा स्यात्करोतिकर्मणः'। इसका अर्थ यह है कि नैरुक्त आचार्य त्वष्टा नामक पदार्थ को शीघ्रता से व्याप्त करने वाला मानते हैं अथवा शीघ्रता से व्याप्त होने वाला पदार्थ 'त्वष्टा' कहलाता है। यह पद दीप्तिकर्मा 'त्विष्' धातु से अथवा करने अर्थ में 'त्वक्षू' धातु से व्युत्पन्न होता है। यद्यपि 'त्वक्षू' धातु छीलने एवं तीक्ष्ण करने अर्थ में प्रयुक्त होती है, परन्तु यहाँ इस धातु को क्रिया सामान्यवाची माना है। इस प्रकार त्वष्टा संज्ञक पदार्थ शीघ्रता से फैलने वाले अथवा किसी अन्य पदार्थ को फैलाने वाले, स्वयं प्रकाशित होने वाले अथवा दूसरे पदार्थों को प्रकाशित करने वाले और इनके साथ ही विभिन्न पदार्थों की क्रियाशीलता को बढ़ाने वाले होते हैं।

[त्वष्टा = संवत्सरो वै त्वष्टा (मै.सं.४.४.७), वाग्वै त्वष्टा (ऐ.ब्रा.२.४), इन्द्रो वै त्वष्टा (ऐ.ब्रा.६.१०), त्वष्टा वै पशूनां रूपाणां विकर्त्ता (तां.ब्रा.९.१०.३)] इन वचनों का तात्पर्य है कि वाक् रश्मियों व इन्द्र तत्त्व से निर्मित संवत्सररूपी विशाल कॉस्मिक मेघ ही त्वष्टा कहाता है, क्योंकि इसके अन्दर विभिन्न छन्द व प्राण रश्मियों एवं कणों के अन्दर नाना विकार उत्पन्न होकर अन्य अनेक प्रकार के पदार्थों की उत्पत्ति होने लगती है। इस पद की ऋचा अगले खण्ड में प्रस्तुत की गई है।

* * * * *

= चतुर्दशः खण्डः =

य इमे द्यावापृथिवी जनित्री रूपैरपिंशद्भुवनानि विश्वा।
तमद्य होतरिषितो यजीयान्देवं त्वष्टारमिह यक्षि विद्वान्॥

[ऋ.१०.११०.९]

य इमे द्यावापृथिव्यौ जनयित्र्यौ रूपैरकरोत्। भूतानि च सर्वाणि।
तमद्य होतरिषितो यजीयान्देवं त्वष्टारमिह यज विद्वान्।
माध्यमिकस्त्वष्टेत्याहुः। मध्यमे च स्थाने समाम्नातः। अग्निरिति शाकपूणिः।
तस्यैषापरा भवति॥ १४॥

इस मन्त्र के ऋषि और देवता पूर्ववत् और छन्द त्रिष्टुप् होने से प्रभाव पूर्ववत् ही समझें। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(यः, इमे, द्यावापृथिवी, जनित्री, रूपैः, अपिंशत्, विश्वा, भुवनानि) 'य इमे द्यावापृथिव्यौ जनयित्र्यौ रूपैरकरोत् भूतानि च सर्वाणि' जो त्वष्टासंज्ञक विशाल कॉस्मिक मेघ है, वह द्युलोक व पृथिवीलोकों को नाना रूपों वाला बनाता है। इसका अर्थ यह है कि इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में ही नहीं, अपितु एक गैलेक्सी में भी तारों व उनके ग्रह व उपग्रहादि लोकों के नाना रूप होते हैं। इसके साथ ही एक सौरमण्डल के सभी ग्रहों व उपग्रहों में भी भिन्नता होती है। इसके साथ ही सौर मण्डलों अथवा ग्रहों को थामने वाले द्युलोकों के स्वरूप में भी भारी भेद होता है। यहाँ 'जनित्री' पद द्युलोक व पृथिवीलोक के लिए आया है, क्योंकि ये दोनों लोक अर्थात् तारे व ग्रह वा उपग्रहादि लोक नाना प्रकार के पदार्थों को तथा विविध प्रकार के प्राणियों के शरीरों व वनस्पतियों को उत्पन्न करते हैं किंवा इनमें ही इन पदार्थों की उत्पत्ति होती है। 'पिशि' धातु, जो अवयव करने अर्थात् पीसने वा खण्ड-२ करने अर्थ में सर्वविदित है, यहाँ करने अर्थ में प्रयुक्त है। यहाँ पृथिवी पद का अर्थ अन्तरिक्ष भी हो सकता है, क्योंकि निघण्टु १.३ में इसे अन्तरिक्ष नाम में पढ़ा है, तब इस ऋचा के पूर्वार्ध का अर्थ इस प्रकार होगा—

वह वाक् तत्त्व अनेक लोकों को उत्पन्न करने वाले द्युलोकों अर्थात् विशाल कॉस्मिक मेघ अथवा विद्युत् एवं आकाश तत्त्व को नाना रूपों में विकृत करता रहता है। इसका अर्थ यह है कि इस सृष्टि में विभिन्न लोकों वा कणों के विद्युत् चुम्बकीय क्षेत्र और उनके निकटवर्ती क्षेत्र में आकाश तत्त्व की सघनता और विरलता पृथक्-पृथक् होती है, जो लोकों के विद्युत् चुम्बकीय क्षेत्र तथा द्रव्यमान के ऊपर निर्भर रहती है। इसके साथ ही किसी भी कॉस्मिक मेघ से तारे एवं ग्रह, उपग्रह आदि लोकों के निर्माण में विद्युत् एवं आकाश तत्त्व की अनिवार्य भूमिका होती है।

(अद्य, होतः, इषितः, यजीयान्) 'अद्य होतरिषितो यजीयान्' [अद्य = अस्मिन् द्यवि (निरु.१.६)] इन उत्पन्न हुए द्युलोकों में होता रूप प्राण तत्त्व, जिसे त्वष्टा रूप वाक् तत्त्व निरन्तर आकर्षित करता है, अनेक प्रकार की यजन क्रियाएँ करने वाला होता है अर्थात् सम्पूर्ण सृष्टि वाक् एवं प्राण तत्त्व की नानाविध यजन प्रक्रियाओं से ही उत्पन्न होती है। इसी कारण वाक् एवं प्राण तत्त्व का सम्बन्ध दर्शाते हुए ऋषियों ने कहा है— वाग्वाऽइदं

कर्म प्राणो वाचस्पतिः (श.ब्रा.६.३.१.१९), वाक् च वै मनश्च देवानां मिथुनम् (ऐ.ब्रा. ५.२३), तस्मात् सर्वे प्राणा वाचि प्रतिष्ठिताः (श.ब्रा.१२.८.२.२५), तस्याः (वाचः) उ प्राण एव रसः (जै.उ.१.१.७)। इन प्रमाणों से यह स्वतः सिद्ध होता है कि सृष्टि में कोई भी पदार्थ वाक् एवं प्राण रश्मियों से मिलकर ही बनता है, किसी अपवाद को छोड़कर। (तम्, देवम्, त्वष्टारम्, इह, यक्षि, विद्वान्) 'तं देवं त्वष्टारमिह यज विद्वान्' [विद्वान् = विद्वांसो हि देवाः (श.ब्रा.३.७.३.१०)] इस कारण इस सृष्टि में विभिन्न देव पदार्थ अर्थात् विभिन्न लोक वा कण आदि पदार्थ निरन्तर विद्युत् एवं अन्तरिक्ष तथा वाक् रश्मियों का यजन करते रहते हैं, क्योंकि इनके यजन के बिना उन पदार्थों का अस्तित्व ही समाप्त हो जाएगा।

भावार्थ— विभिन्न खगोलीय विशाल मेघों से नाना प्रकार के तारे एवं ग्रहादि लोक उत्पन्न होते हैं। न केवल ब्रह्माण्ड में, अपितु किसी गेलेक्सी में भी सभी तारे एवं ग्रह आदि लोक समान नहीं होते। एक सौरमण्डल में विद्यमान सभी ग्रह वा उपग्रह आदि लोक भी परस्पर पूर्णतः समान नहीं होते। इस सृष्टि में सभी लोकों वा कणों के विभिन्न गुणों में भेद विभिन्न प्रकार की वाक् रश्मियों के कारण ही होता है। विभिन्न लोक वा कण आदि पदार्थ निरन्तर विद्युत्, आकाश तथा वाक् रश्मियों का यजन करते रहते हैं। इस यजन के अभाव में कोई भी कार्य सम्भव नहीं है।

तदनन्तर 'त्वष्टा' के विषय में ही पुनः लिखते हैं— 'माध्यमिकस्त्वष्टेत्याहुः मध्यमे च स्थाने समाम्नातः अग्निरिति शाकपूणिः' अर्थात् त्वष्टा माध्यमिक देव है, क्योंकि इसे मध्यमस्थानी देवों में पढ़ा गया है। महर्षि शाकपूणि के अनुसार त्वष्टा अग्नि को कहते हैं। इसकी एक अन्य ऋचा अगले खण्ड में प्रस्तुत की गई है।

* * * * *

= पञ्चदशः खण्डः =

आविष्ट्यो वर्धते चारुरासु जिह्मानामूर्ध्वः स्वयशा उपस्थे।
उभे त्वष्टुर्बिभ्यतुर्जायमानात् प्रतीची सिंहं प्रति जोषयेते॥

[ऋ.१.९५.५]

आविरावेदनात्। तत्त्यो वर्धते चारुरासु। चारु चरतेः। जिह्मं जिहीतेः। ऊर्ध्वमुद्धृतं भवति। [**ऊर्ध्व उच्छ्रितो भवति** —स्कन्दस्वामी भाष्य में यह पाठ है।] **स्वयशा आत्मयशाः। उपस्थ उपस्थाने। उभे त्वष्टुर्बिभ्यतुर्जायमानात्। प्रतीची सिंहं प्रति जोषयेते। द्यावापृथिव्याविति वा। अहोरात्रे इति वा। अरणी इति वा। प्रत्यक्ते। सिंहं सहनम्। प्रत्यासेवेते॥ १५॥**

इस मन्त्र का ऋषि आङ्गिरस कुत्स है। इसका तात्पर्य है कि इस छन्द रश्मि की उत्पत्ति अग्नि की ज्वालाओं से उत्पन्न कुछ तीक्ष्ण वज्र रश्मियों से होती है। इसका देवता अग्नि और छन्द निचृत् त्रिष्टुप् होने से इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से अग्नि तत्त्व तीक्ष्ण रक्तवर्णीय तेज से युक्त होने लगता है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(आविः+त्यः, वर्धते, चारुः, आसु) 'आविरावेदनात् तत्त्यो वर्धते चारुरासु चारु चरतेः' त्वष्टा संज्ञक अग्नि तत्त्व सब पदार्थों को प्रसिद्ध वा प्रकाशित करने वाला और उस प्रकाश का विस्तार करने वाला होता है। अग्नि तत्त्व निरन्तर बढ़ता हुआ और नाना प्रकार की क्रियाओं को संचालित करने वाला अथवा नाना प्रकार की क्रियाओं में संचरित होने वाला होता है। इसका आशय यह है कि अग्नि तत्त्व के अभाव में संसार के पदार्थ न तो प्रकट हो सकते हैं अर्थात् न तो दिखाई ही दे सकते हैं और न अपनी क्रियाओं एवं प्रभाव क्षेत्र को बढ़ा ही सकते हैं। वस्तुतः वे पदार्थ अग्नि के अभाव में उत्पन्न भी नहीं हो सकते हैं और न कोई क्रिया ही कर सकते हैं। (जिह्मानाम्, ऊर्ध्वः, स्वयशाः, उपस्थे) 'जिह्मं जिहीतेः ऊर्ध्वमुद्धृतं भवति स्वयशा आत्मयशाः उपस्थ उपस्थाने' [यशः = यशो वै हिरण्यम् (ऐ.ब्रा.७.१८), आदित्य एव यशः (गो.पू.५.१५)] वह अग्नि तिर्यक् गमन करने वालों में ऊर्ध्वगमन ही करता है। इसका अर्थ यह है कि यह अपने उत्पत्ति स्रोत से पृथक् होकर सदैव दूर एवं सरल रेखा में ही गमन करता है।

अब प्रश्न यह है कि तिर्यक् गमन करने वाला पदार्थ क्या है ? इसके उत्तर के लिए हम कुछ ऋषियों के वचन यहाँ प्रस्तुत कर रहे हैं— 'तिर्यङ् वायुः पवते' (तां.ब्रा.१०.५.२, काठ.सं.२९.७), 'अयं वायुरन्तरिक्षस्य पृष्ठम्' (जै.ब्रा.३.२५२)। इसका अर्थ यह है कि वायु रश्मियाँ सदैव तिरछी गमन करती हैं। अग्नि की उत्पत्ति वायु तत्त्व से ही होती है और

यह वायु से ही उत्पन्न होकर अपने उत्पत्ति स्रोत से ऊपर उठकर तिरछी गमन करने वाली रश्मियों में से सीधा ही गमन करता है। यहाँ वायु रश्मियों को ही अग्नि का उपस्थान कहा गया है। यह अग्नि तत्त्व तिरछी वायु रश्मियों से उत्पन्न होकर और ऐसी वायु रश्मियों में से गमन करते हुए सरल रेखा में गमन कैसे करता है? इसके उत्तर में कहा गया है कि यशोरूप अर्थात् अग्नि तेजोमय विकिरणों के रूप में होने से ही सरल रेखा में गमन करता है। हमारे मत में यहाँ 'यशः' पद का अर्थ प्राण भी है, जैसा कि महर्षि याज्ञवल्क्य ने कहा है— 'प्राणा वै यशः' (श.ब्रा.१४.५.२.५)। यहाँ प्राण शब्द से धनञ्जय प्राण रश्मि का ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि धनञ्जय रश्मियाँ ही अग्नि के परमाणुओं को खींचती हुई अति तीव्र वेग से सरल रेखा में ले जाती हैं।

(उभे, त्वष्टुः बिभ्यतुः, जायमानात्) 'उभे त्वष्टुर्बिभ्यतुर्जायमानात्' वायु तत्त्व से उत्पन्न हुए अग्नि तत्त्व के कारण द्यु एवं पृथिवीलोक निरन्तर कम्पन करते रहते हैं। इसका अर्थ यह है कि सूर्यादि लोक और पृथिवी आदि ऊष्मा व प्रकाश आदि विकिरणों अथवा विद्युत् अग्नि के कारण कम्पन करते हुए ही गमन करते हैं। यद्यपि उनके कम्पन करने के पीछे अन्य भी कारण हैं, परन्तु कम्पन कराने वाले जो भी पदार्थ हों, वे सभी अग्नि के ही पृथक्-पृथक् रूप हो सकते हैं। यहाँ द्युलोक का अर्थ विद्युत् और पृथिवी का अर्थ आकाश तत्त्व भी ग्रहण किया जा सकता है। तब यह अर्थ प्रकाशित होता है कि जब अग्नि के विकिरण गमन कर रहे होते हैं, तब आकाश तत्त्व की इकाईयों एवं उस अग्नि के विकिरण के क्षेत्र में विद्यमान विद्युत् चुम्बकीय क्षेत्रों में भी कम्पन होने लगता है।

(प्रतीची, सिंहम्, प्रति, जोषयेते) 'प्रतीची सिंहं प्रति जोषयेते' पूर्वोक्त द्युलोक व पृथिवीलोक अग्नि रूप त्वष्टा के गमन के विपरीत दिशा में सहन रूपी बल अर्थात् प्रतिरोधी बल का सेवन करते हैं अर्थात् उनके अन्दर एक विपरीत घर्षण बल उत्पन्न होता है और अग्नि की दिशा उससे विपरीत होती है। यहाँ ग्रन्थकार ने 'सिंहम्' पद का अर्थ 'सहनम्' किया है, इसी को हमने यहाँ प्रतिरोधी बल माना है। यहाँ द्युलोक, पृथिवी एवं अग्नि लोक के वही अर्थ ग्रहण करने चाहिए, जो हमने इस मन्त्र के भाष्य में दर्शाए हैं। यहाँ ग्रन्थकार ने 'उभे' पद से द्यावापृथिवी के अतिरिक्त अहोरात्र एवं अरणी का भी ग्रहण किया है। हम पहले अहोरात्र अर्थ को लेकर विचार करते हैं—

[अहोरात्रे = अहोरात्रे वा उषासानक्ता (ऐ.ब्रा.२.४)। अरणी = देवरथो वा अरणी

(कौ.ब्रा.२.६)] द्यावापृथिवी की भाँति उषा एवं नक्ता, जिनकी चर्चा हम खण्ड ८.१० में कर चुके हैं, ये दोनों पदार्थ भी अग्नि के गमन करने पर इसी प्रकार का प्रतिरोधी बल अनुभव करते हैं। इसका अर्थ यह है कि लालिमायुक्त मेघरूप पदार्थों अथवा संदीप्त सोम पदार्थ एवं शीतल सोम पदार्थ दोनों के अन्दर से जब अग्नि के परमाणु गुजरते हैं, तब अग्नि के परमाणुओं एवं इन दोनों पदार्थों के मध्य भी उपर्युक्तानुसार ही बल अनुभव होता है।

यहाँ अरणी के प्रसंग में यह ज्ञातव्य है कि अग्नि के गमन करते समय अथवा उत्सर्जन के समय अरणी अर्थात् देवरथ भी इसी प्रकार का बल अनुभव करते हैं। यहाँ द्युलोक और पृथिवीलोक दोनों के लिए रथ अर्थात् वाहन पृथक्-पृथक् समझने चाहिए। सूर्यादि लोकों को उनकी कक्षाओं में गमन कराने वाली एवं पृथिवी आदि लोकों को उनकी कक्षाओं में गमन कराने वाली प्राण एवं छन्दादि रश्मियाँ देवरथ अर्थात् अरणी रूप होती हैं। जब उन रश्मियों में से अग्नि की तरंगों का पारगमन होता है, तब उनके मध्य भी उपर्युक्तानुसार बल कार्य करता है।

इन तीनों ही प्रसंगों में यह तथ्य ज्ञातव्य है कि ये उपर्युक्त दोनों प्रकार के पदार्थ अग्नि तत्त्व का सेवन ही करते हैं। इसका अर्थ यह है कि ये दोनों ही प्रकार के पदार्थ अग्नि के पारगमन के समय अपने प्रतिरोधक बलों के द्वारा अग्नि को गमन करने में सहयोग ही करते हैं, विरोध नहीं। जैसे गाड़ी के पहिये को सड़क का घर्षण प्रतिक्रियात्मक बल प्रदान करके गमन में सहयोग ही करता है।

भावार्थ— अग्नि के कारण ही हम सृष्टि के सभी पदार्थों को देख पाते हैं। अग्नि विभिन्न क्रियाओं को संचालित करता है और सबमें संचरित भी होता है। अग्नि अपने उत्पत्ति स्रोत से सदैव दूर एवं सरल रेखा में गमन करता है। वायु की रश्मियाँ सदैव तिरछी गमन करती हैं। उनसे सरल रेखा में गमन करने वाले अग्नि की उत्पत्ति होती है। धनञ्जय रश्मियाँ अग्नितत्त्व को तीव्र गति से खींचकर सरल रेखा में गमन कराती हैं। अग्नि के कारण विभिन्न लोक व कण निरन्तर कम्पन करते रहते हैं। जब अग्नि के विकिरण गमन कर रहे होते हैं, तब आकाशतत्त्व में भी कम्पन होने लगता है। विभिन्न पदार्थ अग्नि के गमन की दिशा के विपरीत प्रतिरोधी बलों का अनुभव करते हैं। जब खगोलीय मेघों से अग्नि के विकिरण गुजर रहे होते हैं या गमन कर रहे होते हैं, तब वहाँ पर भी प्रतिरोधी बल का

अनुभव होता है। विभिन्न प्राणादि रश्मियाँ भी इसी प्रकार का अनुभव करती हैं। यह प्रतिरोधी बल प्रतिक्रियात्मक बल उत्पन्न करके अग्नि के परमाणुओं को आगे बढ़ाने में सहायक होता है।

* * * * *

= षोडशः खण्डः =

वनस्पतिः व्याख्यातः। तस्यैषा भवति॥ १६॥

'वनस्पतिः' पद की व्याख्या पूर्व में खण्ड ८.३ में की जा चुकी है। इसकी ऋचा को अगले खण्ड में उद्धृत किया गया है।

* * * * *

= सप्तदशः खण्डः =

उपावसृज त्मन्या समञ्जन्देवानां पाथ ऋतुथा हवींषि।
वनस्पतिः शमिता देवो अग्निः स्वदन्तु हव्यं मधुना घृतेन॥
[ऋ.१०.११०.१०]

उपावसृजात्मनात्मानं समञ्जन् देवानामन्नमृतावृतौ हवींषि काले काले।
वनस्पतिः शमिता देवो अग्निरित्येते त्रयः स्वदयन्तु हव्यं मधुना च घृतेन च।
तत्को वनस्पतिः। यूप इति कात्थक्यः। अग्निरिति शाकपूणिः।
तस्यैषापरा भवति॥ १७॥

इस मन्त्र के ऋषि और देवता खण्ड ८.१४ तक वर्णित इसी सूक्त के अन्य मन्त्रों के समान समझें। इसका छन्द निचृत् त्रिष्टुप् होने से छान्दस प्रभाव भी पूर्ववत् समझें। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(उपावसृज, त्मन्या, समञ्जन्, देवानाम्, पाथ, ऋतुथा, हवींषि) 'उपावसृजात्मनात्मानं समञ्जन् देवानामन्नमृतावृतौ हवींषि काले काले' पूर्वोक्त वनस्पति संज्ञक अग्नि तत्त्व सूर्यादि लोकों के अन्दर विभिन्न देव कणों के निकट स्वयं ही प्रकट होकर समय-समय पर इन देव कणों को अन्नरूप हवियाँ निकटता से प्रदान करता रहता है। [आत्मा = आत्मा वै बृहती (ऐ.ब्रा.६.२८, गो.उ.६.८), आत्मा त्रिष्टुप् (श.ब्रा.६.२.१.२४, ६.६.२.७)] यहाँ 'आत्मा' का अर्थ 'स्वयम्' ग्रहण न करके बृहती और त्रिष्टुप् छन्द रश्मियाँ ग्रहण करना अधिक उपयुक्त है। इस प्रकार यहाँ इस पूर्वार्ध का अर्थ है कि वनस्पति संज्ञक अग्नि तत्त्व विभिन्न देव कणों अर्थात् संयोज्य कणों के निकट बृहती एवं त्रिष्टुप् छन्द रश्मियों के द्वारा अथवा उनके सहयोग से अनेक संयोज्य छन्द वा मास आदि रश्मियों को समय-समय पर उत्पन्न करता रहता है। इसका आशय यह है कि सूर्यलोक में नाभिकीय संलयन की प्रक्रिया प्रारम्भ होने से पूर्व तारे के पदार्थ के संकुचन से उत्पन्न ऊष्मा में ये प्रक्रियाएँ प्रारम्भ होती हैं। उसके पश्चात् ही नाभिकीय संलयन की प्रक्रिया प्रारम्भ हो पाती है। इस प्रक्रिया को विस्तार से जानने के लिए 'वेदविज्ञान-आलोकः' ग्रन्थ का ३३वाँ अध्याय पठनीय है।

(वनस्पतिः, शमिता, देवः, अग्निः, स्वदन्तु, हव्यम्, मधुना, घृतेन) 'वनस्पतिः शमिता देवो अग्निरित्येते त्रयः स्वदयन्तु हव्यं मधुना च घृतेन च' [मधु = प्राणो वै मधु (श.ब्रा. १४.१.३.३०), सौम्यं वै मधु (काठ.सं.११.२)। घृतम् = वज्रो घृतम् (काठ.सं.२०.५), घृतमन्तरिक्षस्य (रूपम्) (श.ब्रा.७.५.१.३), स घृङ्ङकरोत् तद् घृतस्य घृतत्वम् (काठ.सं. २४.७)] इस सृष्टि में अथवा इन सूर्यादि लोकों में सभी प्रकार की क्रियाओं को नियन्त्रित करने वाला वनस्पति संज्ञक देव अर्थात् नाना प्रकार के विकिरणों को उत्पन्न करने वाला दीप्तिमान् अग्नि, जो शमिता अर्थात् वज्र रूप होकर बाधक असुरादि पदार्थों को नष्ट करता है, विभिन्न संयोजी कणों को घृत और मधु अर्थात् प्राण एवं मरुद् रश्मियों के साथ-साथ 'घृम्' एवं आकाश रश्मियों से संसिक्त करता है। ऐसा करने से वे देव कण परस्पर मिथुन बनाकर नाना प्रकार के कणों वा विकिरणों को उत्पन्न करने लगते हैं। सूर्यादि लोकों के अन्दर, विशेषकर उनके केन्द्रीय भाग में इस प्रकार की क्रियाएँ व्यापक रूप से होती हैं।

भावार्थ— जब विशाल खगोलीय मेघ के सम्पीडन की प्रक्रिया प्रारम्भ होती है, तब उसमें उत्पन्न ऊष्मा विभिन्न छन्द और मास रश्मियों को उत्पन्न कर देती है, जिससे विभिन्न बाधक असुरादि पदार्थ नष्ट होने लगते हैं और विभिन्न कण परस्पर संलयित होकर नवीन

अग्नि को उत्पन्न करते हैं।

यहाँ ग्रन्थकार 'वनस्पतिः' के विषय में दो ऋषियों का मत प्रस्तुत करते हुए लिखते हैं— 'तत्को वनस्पतिः यूप इति कात्थक्यः अग्निरिति शाकपूणिः' अर्थात् महर्षि कात्थक्य के मत में [यूपः = वज्रो यूपः (श.ब्रा.३.६.४.१९), वज्रो वा एष यद् यूपः (कौ.ब्रा.१०.१, ऐ.ब्रा.२.१), एष वै यजमानो यद् यूपः (तै.ब्रा.१.३.७.३)] वज्र रश्मियों एवं संयोजी छन्दादि रश्मियों की मिश्रित धाराओं को यूप कहते हैं और यूप को ही वनस्पति कहा गया है। उधर महर्षि शाकपूणि अग्नि को ही वनस्पति कहते हैं। अग्नि के उदाहरण के रूप में हम उपर्युक्त ऋचा की व्याख्या कर चुके हैं। वनस्पति के इन दोनों अर्थों को दर्शाने वाली ऋचा अगले खण्ड में प्रस्तुत की गई है।

* * * * *

= अष्टादशः खण्डः =

अञ्जन्ति त्वामध्वरे देवयन्तो वनस्पते मधुना दैव्येन।
यदूर्ध्वस्तिष्ठा द्रविणेह धत्ताद्यद्वा क्षयो मातुरस्या उपस्थे॥

[ऋ.३.८.१]

अञ्जन्ति त्वामध्वरे देवान् कामयमाना वनस्पते मधुना दैव्येन च घृतेन च।
यदूर्ध्वः स्थास्यसि। द्रविणानि च नो दास्यसि।
यद्वा ते कृतः क्षयो मातुरस्या उपस्थ उपस्थाने।
अग्निरिति शाकपूणिः। तस्यैषापरा भवति॥ १८॥

इस मन्त्र का ऋषि विश्वामित्र है। [विश्वामित्रः = वाग्वै विश्वामित्रः (कौ.ब्रा.१०.५)। वाक् = वागनुष्टुप् (कौ.ब्रा.५.६, श.ब्रा.१०.३.१.१), वाग्वा अनुष्टुप् (ऐ.ब्रा.१.२८, श.ब्रा. १.३.२.१६, गो.उ.६.१६)] इसका अर्थ यह है कि यह छन्द रश्मि कुछ अनुष्टुप् छन्द रश्मियों से उत्पन्न होती है अथवा तारों के केन्द्रीय भाग में विद्यमान रोहित संज्ञक पंक्ति छन्द रश्मियों से उत्पन्न होती है। इसके लिए वेदविज्ञान-आलोकः

७.१६.१ पठनीय है। इसका देवता विश्वेदेवा और छन्द निचृत् त्रिष्टुप् होने से सभी देवकण, विशेषकर वनस्पति संज्ञक अग्नि तत्त्व तीक्ष्ण रक्तवर्णीय तेज से युक्त होने लगता है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(अञ्जन्ति, त्वाम्, अध्वरे, देवयन्तः, वनस्पते, मधुना, दैव्येन) 'अञ्जन्ति त्वामध्वरे देवान् कामयमाना वनस्पते मधुना दैव्येन च घृतेन च' तारे आदि लोकों के अन्दर और विभिन्न देव कणों के अन्दर तेज एवं आकर्षण आदि बलों को समृद्ध करने के लिए और उनके मध्य यजन प्रक्रिया को प्रारम्भ वा संचालित करने के लिए अग्नि तत्त्व को विशेष सक्रिय वा प्रकाशित प्राण रश्मियों एवं पूर्वोक्त घृत संज्ञक पदार्थ से युक्त वा संसिक्त किया जाता है। इसका अर्थ यह है कि तारों के अन्दर नाभिकीय संलयन की प्रक्रिया प्रारम्भ होने से पूर्व विद्यमान अग्नि में प्राण 'घृम्' रश्मियों की प्रचुरता होती है। ऐसा नहीं होने पर नाभिकीय संलयन की क्रिया का आरम्भ वा संचालित होना सम्भव नहीं हो सकता। यहाँ 'मधुना' पद के साथ 'दैव्येन' विशेषण का होना इस बात का सूचक है कि प्राण रश्मियाँ सदैव ही समान बल और तेज से युक्त नहीं रहतीं। वे आवश्यकतानुसार न्यून वा अधिक बल और तेज से युक्त होती रहती हैं। इस समय उनकी विशेष सक्रियता के कारण ही इस विशेषण का प्रयोग हुआ है। यह भी उल्लेखनीय है कि सूर्यादि तेजस्वी लोक विशेष सक्रिय प्राण व छन्द रश्मियों के भण्डार होते हैं।

(यत्, ऊर्ध्वः, तिष्ठाः, द्रविणा, इह, धत्तात्) 'यदूर्ध्वः स्थास्यसि द्रविणानि च नो दास्यसि' 'द्रविणम्' पद के विषय में हम पूर्व में खण्ड ८.१ में लिख चुके हैं। जब यह वनस्पति संज्ञक अग्नि उत्कृष्ट रूप से ऊर्ध्वगामी होने लगता है, तब वह यहाँ अर्थात् पृथिवी आदि लोकों को भी असंख्य मात्रा में कणों एवं विकिरणों को देने लगता है। इसका अर्थ यह है कि जब सूर्यादि लोकों के अन्दर ऊर्जा का सतत उत्पादन होने लगता है, तब ऊर्जा की तरंगें और उनके साथ विभिन्न सूक्ष्म कणों की धाराएँ भी अन्तरिक्ष में उत्सर्जित होने लगती हैं, जो सुदूर यात्रा करके पृथिवी आदि लोकों को भी प्राप्त होती हैं।

(यत्, वा, क्षयः, मातुः, अस्याः, उपस्थे) 'यद्वा ते कृतः क्षयो मातुरस्या उपस्थ उपस्थाने' [माता = माता अन्तरिक्षम् निर्मीयन्तेऽस्मिन् भूतानि (निरु.२.८)] जो उस वनस्पति संज्ञक अग्नि का निवास है अथवा उस अग्नि के विशाल भण्डार विभिन्न तारों का जो निवास है, वह सबके निवास व उत्पत्ति स्थान अन्तरिक्ष में ही होता है। इसके अतिरिक्त यह भी

ज्ञातव्य है कि सूर्यादि लोकों से आने वाले अग्नि तत्त्व का स्थिर निवास पृथिवी आदि लोकों में ही होता है। अन्तरिक्ष में तो अग्नि निरन्तर गमन करता है। इसी कारण पृथिवी को माता कहा गया है। [इयं वै माता (तै.ब्रा.३.८.९.१, श.ब्रा.१३.१.६.१), नमो मात्रे पृथिव्यै रथन्तर मा मा हिंसी: (जै.ब्रा.१.१२९)]। यह भाष्य महर्षि शाकपूणि के मतानुसार किया गया है, जो अग्नि को वनस्पति कहते हैं। अब हम महर्षि कात्थक्य, जो वनस्पति का अर्थ यूप करते हैं, के अनुसार इस मन्त्र की व्याख्या करते हैं—

ऋचा के पूर्वार्ध का भाष्य समान है, भेद केवल इतना है कि यहाँ वनस्पति का अर्थ यूपरूप पदार्थ ग्रहण करने योग्य है। यूप के विषय में पूर्व में भी लिखा है और 'वेदविज्ञान-आलोक:' के षष्ठ अध्याय में इनका विस्तार से वर्णन किया गया है। इनके बिना भी तारे की उत्पत्ति नहीं हो सकती अथवा कोई भी विशाल लोक इनके बिना अपने तारों के स्वरूप को प्राप्त नहीं कर सकता।

इस ऋचा के तृतीय पाद में 'इह' का अर्थ सूर्यादि लोक करना चाहिए, क्योंकि यूपरूप पदार्थ ही तारों के निर्माण के लिए बाहर से पदार्थ को केन्द्रीय भाग की ओर भेजते हैं। इसके चतुर्थ पाद में 'माता' का अर्थ अन्तरिक्ष करना उचित है, क्योंकि यूपरूप छन्द-प्राण रश्मियों के विशाल भण्डार अन्तरिक्ष में ही होते हैं और ये यूप रूप पदार्थ अन्तरिक्षस्थ पदार्थ को सूर्यादि लोकों के निर्माण हेतु निरन्तर प्रदान करते रहते हैं, वे सूर्यादि लोक भी अन्तरिक्ष में ही विद्यमान होते हैं।

भावार्थ— सम्पीडित खगोलीय मेघ के अन्दर जब तक 'घृम्' रश्मियाँ उत्पन्न नहीं होतीं, तब तक नाभिकीय संलयन की क्रिया भी प्रारम्भ नहीं होती। विभिन्न प्राण रश्मियाँ सदैव समान बल से युक्त नहीं होतीं अर्थात् परिस्थितियों और प्रयोजन के अनुकूल उनका सामर्थ्य भिन्न-२ होता है। जब सूर्य के केन्द्रीय भाग में विकिरणों की मात्रा एक सीमा को पार कर जाती है, तब विकिरण सूर्यलोक से बाहर अन्तरिक्ष में उत्सर्जित होने लगते हैं। अन्तरिक्ष में गमन करते हुए विकिरण पृथिवी आदि लोकों को प्राप्त होकर उन्हीं में व्याप्त हो जाते हैं। निर्माणाधीन तारे के बाहरी क्षेत्र में कुछ ऐसी संयोजक व विभाजक रश्मियाँ विद्यमान होती हैं, जो बाहरी पदार्थ को उस विशाल मेघ में प्रविष्ट कराती रहती हैं।

यह महर्षि कात्थक्य के अनुसार इस मन्त्र की व्याख्या है। अब महर्षि शाकपूणि के

अग्नि अर्थ को दर्शाने वाली ऋचा को अगले खण्ड में प्रस्तुत किया गया है।

* * * * *

= एकोनविंशः खण्डः =

देवेभ्यो वनस्पते हवीꣳषि हिरण्यपर्ण प्रदिवस्ते अर्थम्।
प्रदक्षिणिद्रशनया नियूय ऋतस्य वक्षि पथिभी रजिष्ठैः॥

[मै.सं.४.१३.७]

देवेभ्यो वनस्पते हवींषि। हिरण्यपर्ण ऋतपर्ण। अपि वा- उपमार्थे स्यात्। हिरण्यवर्णपर्णेति। प्रदिवस्ते अर्थम्। पुराणस्ते सोऽर्थो यं ते प्रब्रूमः। यज्ञस्य वह पथिभिः। रजिष्ठैर्ऋजुतमैः। रजस्वलतमैः। तपिष्ठतमैरिति वा [कहीं-२ प्रपिष्ठतमैः पाठ है]। **तस्यैषापरा भवति॥ १९॥**

इस मन्त्र का देवता वनस्पति अग्नि और छन्द निचृत् त्रिष्टुप् होने से इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से सूर्यादि लोकों में तीक्ष्ण रक्तवर्णीय तेज की उत्पत्ति होने लगती है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(वनस्पते, देवेभ्यः, हवींषि, हिरण्यपर्णः, प्रदिवः, ते, अर्थम्) 'देवेभ्यो वनस्पते हवींषि हिरण्यपर्ण ऋतपर्ण अपि वा उपमार्थे स्यात् हिरण्यवर्णपर्णेति प्रदिवस्ते अर्थम् पुराणस्ते सोऽर्थो यं ते प्रब्रूमः' यहाँ अग्नि को हिरण्यपर्ण कहा है, जिसके ग्रन्थकार ने स्वयं दो अर्थ किए हैं। इसमें प्रथम अर्थ के अनुसार वह अग्नि सुवर्ण रंग के पर्णों से युक्त होता है। [पर्णम् = गायत्रो वै पर्णः (तै.ब्रा.३.२.१.१), सोमो वै पर्णः (श.ब्रा.६.५.१.१)] यहाँ हमें इसका अर्थ यह प्रतीत होता है कि सूर्य का रंग कुछ गायत्री छन्द रश्मियों से मिश्रित सोम रश्मियों के विशेष योग से सुनहरा होता है। यद्यपि महर्षि पिंगल ने गायत्री छन्द रश्मियों का रंग श्वेत माना है, परन्तु यहाँ सोम रश्मियों के विशेष योग के कारण सुनहरा हो जाता है, ऐसा हमारा मत है। पर्ण को गायत्र और सोम इस कारण कहा गया प्रतीत होता है, क्योंकि जब अग्नि के परमाणु अर्थात् विकिरण गमन कर रहे होते हैं, तब उनकी गति के

लिए धनञ्जय रश्मियों के अतिरिक्त गायत्री छन्द रश्मियाँ एवं मरुद् रश्मियाँ भी उत्तरदायिनी होती हैं। यहाँ यह भी सम्भव प्रतीत होता है कि धनञ्जय रश्मि किसी दैवी छन्द रश्मि का ही रूप हो।

ग्रन्थकार ने हिरण्यपर्ण का दूसरा अर्थ ऋतपर्ण किया है और पूर्व में खण्ड ६.२२ में 'ऋत' को 'यज्ञ' कहा गया है। इससे यह सिद्ध होता है कि गमन करते हुए अग्नि तत्त्व का निरन्तर यजनशील रहना भी एक पक्ष है अथवा वह अपने इस स्वभाव के कारण भी निरन्तर गमनशील रहता है। यहाँ यह प्रश्न उठता है कि निरन्तर यजनशील पदार्थ कैसे निरन्तर गमन कर सकता है, जबकि उसकी गति तो किसी एक पदार्थ के साथ संयुक्त होते ही रुक जाएगी? सामान्यतः यह प्रश्न उचित प्रतीत होता है, परन्तु पूर्व में अग्नि को निरन्तर गमन करने वाला भी बताया है। इस कारण अग्नि के परमाणुओं का स्वभाव जहाँ यजनशील होता है, वहाँ गमनशील भी होता है। ध्यातव्य है कि 'ऋतम्' पद 'ऋ गतौ' धातु से व्युत्पन्न होता है, इस कारण 'ऋतम्' पद का प्रयोग अग्नि को गमनशील भी बतलाता है। इस प्रक्रिया को हम इस प्रकार समझ सकते हैं कि किसी भी प्रकाशाणु के अग्रभाग में प्राण एवं अपान रश्मियाँ निरन्तर स्पन्दित होती रहती हैं। उधर किसी भी कण एवं आकाश तत्त्व की इकाई के बहिर्भागों में भी ऐसा ही स्पन्दन होता रहता है अथवा कुछ कणों में मरुद् रश्मियों का स्पन्दन प्रधान रूप से होता है। इस कारण प्रकाशाणु की प्राण रश्मियाँ किसी कण अथवा आकाश तत्त्व की इकाई की अपान रश्मियों के प्रति स्वाभाविक रूप से आकर्षित होती हैं।

इसी प्रकार मरुद् रश्मि प्रधान कणों की मरुद् रश्मियाँ भी प्रकाशाणु की प्राण रश्मियों को आकर्षित करती हैं। इसके साथ ही प्रकाशाणु को आगे खींचकर ले जाती हुई धनञ्जय रश्मियाँ आकाश तत्त्व अथवा विभिन्न कणों के साथ अधिक देर तक संयुक्त नहीं रहने देतीं। उधर प्रकाशाणु तथा अन्य कणों अथवा आकाश तत्त्व की समान वर्ग की रश्मियों में निरन्तर प्रतिकर्षण भी होता है। इस कारण प्रकाशादि के अवशोषण के अपवादों के अतिरिक्त भी प्रकाशाणु निरन्तर गमन ही करता रहता है। इन अपवादों के लिए कुछ अन्य छन्द व प्राण रश्मियाँ उत्तरदायिनी होती हैं। इतना अवश्य है कि प्रकाशाणुओं के उत्सर्जन और अवशोषण के पीछे कुछ विशेष छन्द रश्मियाँ भी उत्तरदायिनी होती हैं, जिनके बारे में 'वेदविज्ञान-आलोकः' पठनीय है। यहाँ ग्रन्थकार कहते हैं कि हिरण्यपर्ण

का यह अर्थ प्राचीन आचार्य लोग भी ऐसा ही करते आए हैं। इसका दूसरा अर्थ यह है कि अग्नि के निरन्तर गमन का प्रयोजन और प्रक्रिया सनातनी है।

(प्रदक्षिणित्, रशनया, नियूय, ऋतस्य, वक्षि, पथिभी, रजिष्ठैः) 'यज्ञस्य वह पथिभिः रजिष्ठैर्ऋजुतमैः रजस्वलतमैः तपिष्ठतमैरिति वा' [रजः = रात्रिनाम (निघं.१.७), रजसः अन्तरिक्षलोकस्य (निरु.१२.७)। प्रदक्षिणित् = यः प्रदक्षिणामेति सः (म.द.ऋ.भा.२.४३.१), यः प्रदक्षिणां नयति (म.द.ऋ.भा.५.६०.१)] विभिन्न संयोज्य पदार्थों को विभिन्न छन्दादि रश्मियों से बाँधकर वह अग्नि तत्त्व उन कणों की प्रदक्षिणा करता है अर्थात् वह उन कणों के चारों ओर दक्षिणावर्त परिक्रमा करता है। ऐसा करते हुए वे अग्नि के परमाणु सरलतम मार्गों से संयोज्य कणों का वहन करते हैं। ये मार्ग दो प्रकार के होते हैं। प्रथम प्रकार के मार्ग वे हैं, जो अंधकारयुक्त इन पृथिव्यादि लोकों में विद्यमान होते हैं अथवा विशाल अन्तरिक्ष में भी विद्यमान हो सकते हैं। दूसरे मार्ग अत्यन्त तप्त सूर्यादि लोकों में विद्यमान होते हैं। इसका अर्थ यह है कि अग्नि इन तीनों ही लोकों में नाना प्रकार के कण आदि पदार्थों के मध्य संगमन क्रियाओं का संचालन करता है।

भावार्थ— सूर्यलोक के अन्दर विद्यमान गायत्री छन्द रश्मियाँ सोम रश्मियों के साथ मिलकर स्वर्णिम प्रकाश को उत्पन्न करती हैं। अग्नि के विकिरण जब गमन कर रहे होते हैं, तब उनकी गति के लिए केवल धनञ्जय रश्मियाँ ही उत्तरदायिनी नहीं होतीं, अपितु कुछ गायत्री एवं मरुद् रश्मियाँ भी उत्तरदायिनी होती हैं। गमन करते हुए भी अग्नि के परमाणु सदैव संयोजी स्वभाव के ही होते हैं। अग्नि के परमाणु आकाश की इकाईयों के प्रति आकर्षण और प्रतिकर्षण दोनों ही भाव रखते हैं। इस कारण विभिन्न विकिरण आकाश में अविराम गति कर पाते हैं। कहीं-२ ये परमाणु विभिन्न कणों द्वारा अवशोषित भी कर लिये जाते हैं, परन्तु कोई-२ कण अग्नि के उन परमाणुओं को तत्काल उत्सर्जित भी कर देता है। अग्नि तीनों लोकों में नाना प्रकार के कण आदि पदार्थों के मध्य संगमन आदि क्रियाओं का संचालन करता है।

इसी वनस्पति नामक अग्नि की एक और ऋचा को अगले खण्ड में प्रस्तुत किया गया है।

* * * * *

= विंशः खण्डः =

वनस्पते रशनया नियूय पिष्टतमया वयुनानि विद्वान्।
वहा देवत्रा दिधिषो हवीꣳषि प्र च दातारममृतेषु वोचः॥

[मै.सं.४.१३.७]

वनस्पते रशनया नियूय। सुरूपतमया। वयुनानि विद्वान्। प्रज्ञानानि प्रजानन्।
वह देवान् यज्ञे दातुर्हवींषि। प्रब्रूहि च दातारममृतेषु देवेषु।
स्वाहाकृतयः। स्वाहा इत्येतत्सु आहेति वा। स्वा वागाहेति वा।
स्वं प्राहेति वा। स्वाहुतं हविर्जुहोतीति वा। तासामेषा भवति॥ २०॥

इस ऋचा का देवता भी वनस्पति अग्नि एवं छन्द त्रिष्टुप् होने से अग्नि तत्त्व तीव्र रक्तवर्णीय तेज से युक्त होता है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(वनस्पते, रशनया, नियूय, पिष्टतमया, वयुनानि, विद्वान्) 'वनस्पते रशनया नियूय सुरूपतमया वयुनानि विद्वान् प्रज्ञानानि प्रजानन्' [वयुनम् = वयुनं वेतेः कान्तिर्वा प्रज्ञा वा (निरु. ५.१४)] वह वनस्पति संज्ञक अग्नि तत्त्व नाना प्रकार की रश्मियों के सुन्दरतम एवं अनुकूलतम मिश्रण के द्वारा विभिन्न प्रकार के बलों एवं प्रकाश को प्राप्त करता हुआ संयोज्य कणों को अपने रश्मिजाल के द्वारा बाँध लेता है। इसका अर्थ यह है कि जब दो अथवा दो से अधिक कणों का संयोग होता है, तब अग्नि के परमाणु विभिन्न रश्मियों के उपयुक्ततम सम्मिश्रण से उत्पन्न बलों के द्वारा सयोज्य कणों को बाँध लेते हैं। इस प्रक्रिया में अनेक प्रकार के सूक्ष्म एवं मौलिक बलों की उत्पत्ति होती है, जो इस प्रक्रिया को सम्पादित करते हैं। यहाँ 'प्रज्ञानम्' पद इस बात का भी संकेत करता है कि ये सभी संयोगादि क्रियाएँ सर्वोच्च बुद्धिमती चेतन सत्ता के द्वारा की गई प्रेरणा और प्रयोजन के अनुसार ही सम्पादित हुआ करती हैं।

(वह, देवत्रा, दिधिषः, हवींषि, च, दातारम्, अमृतेषु, प्र, वोचः) 'वह देवान् यज्ञे दातुर्हवींषि प्रब्रूहि च दातारममृतेषु देवेषु' वह अग्नि सृजन प्रक्रियाओं में नाना प्रकार की हवियों को देने वाले देव पदार्थों को वहन करता है अर्थात् उन्हें इतस्ततः ढोता रहता है। इसके साथ ही वह अग्नि उन देव पदार्थों को नाना प्रकार के अमृत देवरूप प्राण रश्मियों में

निरन्तर प्रकाशित वा सक्रिय करता रहता है। यहाँ 'प्रवोचः' पद इस बात का भी सूचक प्रतीत होता है कि इस प्रक्रिया में अग्नि तत्त्व अनेक प्रकार की छन्द रश्मियों को भी उत्पन्न करता है। वे छन्द रश्मियाँ एवं प्राण रश्मियाँ मिलकर अग्नि के नानाविध कार्यों को सम्पादित करती हैं। यहाँ 'अमृतम्' पद प्राणवाची समझना चाहिए।

इस प्रकार इन उपर्युक्त चार मन्त्रों में वनस्पति नामक अग्नि की ही विवेचना की गई है। यद्यपि यह अग्नि आप्री संज्ञक पृथिवीस्थानी देवताओं में वर्णित है, परन्तु हमने इसमें सूर्यादि लोकों की भी चर्चा की है, इस कारण पाठकों को सन्देह हो सकता है। इस विषय में हमारा मत यह है कि जो ऊष्मा, विद्युत् आदि अग्नि पृथिवी आदि लोकों में विद्यमान है, वही सूर्यादि लोकों में विद्यमान है। इस अग्नि के अभाव में सूर्य अपने सूर्यत्व को प्राप्त कर ही नहीं सकता। सूर्यादि लोकों के अन्दर नाभिकीय संलयन से उत्पन्न अग्नि इस अग्नि से पृथक् होती है।

भावार्थ— जब दो या दो से अधिक कण परस्पर संयुक्त होते हैं, तब अग्नि के परमाणु उपयुक्त विभिन्न रश्मियों के जाल से उन कणों को बाँध लेते हैं। अग्नि ही उन कणों का निरन्तर वहन करता रहता है। इन सब कार्यों के लिए वह विभिन्न प्रकार की छन्दादि रश्मियों को भी उत्पन्न करता रहता है। ये रश्मियाँ अग्नितत्त्व के विभिन्न कार्यों को सम्पादित करने में सहयोग करती हैं। खगोलीय मेघ के सम्पीडन से उत्पन्न अग्नि कालान्तर में होने वाले नाभिकीय संलयन से उत्पन्न अग्नि से भिन्न होता है।

वनस्पति अग्नि की चर्चा के उपरान्त 'स्वाहाकृतयः' पद का निर्वचन करते हुए लिखते हैं— 'स्वाहाकृतयः स्वाहा इत्येतत्सु आहेति वा स्वा वागाहेति वा स्वं प्राहेति वा स्वाहुतं हविर्जुहोतीति वा' यहाँ 'स्वाहा' पद का चार प्रकार से निर्वचन किया गया है—

१. सु आह इति स्वाहा — आधिभौतिक अर्थ में सुन्दर अर्थात् हितकारी वचन बोलने, वैसा ही मन वा आत्मा से विचारने और तदनुकूल ही व्यवहार करने को 'स्वाहा' कहा गया है। ध्यातव्य है कि यहाँ हित शब्द अपने लिए ही नहीं, बल्कि सर्वहित के लिए है। इसके साथ ही यह भी सत्य है कि सर्वहित के विरुद्ध कोई भी वचन, विचार वा कर्म अपने लिए भी हितकारी नहीं हो सकता।

आधिदैविक अर्थ में 'स्वाहा' पद विभिन्न कण आदि पदार्थों को अच्छी प्रकार

प्रेरित, सक्रिय वा प्रकाशित करने अर्थ में समझना चाहिए। इसी कारण महर्षि याज्ञवल्क्य ने सूर्यलोक को स्वाहाकार कहा है—

'एष वै स्वाहाकारो यऽएष (सूर्यः) तपति' (श.ब्रा.१४.१.३.२६)।

२. स्वा वाक् आह इति स्वाहा — इसका आधिभौतिक अर्थ यह है कि प्रत्येक मनुष्य को अपनी वाणी से ही बोलना चाहिए। इसका अर्थ यह है कि हमें आत्मा, मन एवं वाणी में पूर्ण सामंजस्य रखना चाहिए अर्थात् बनावटी वाणी आदि व्यवहार नहीं करने चाहिए। इसे ही पातञ्जल योगदर्शन के व्यास-भाष्य में सत्य कहा गया है। इस कारण सत्य ही बोलना, करना व जानना चाहिए।

आधिदैविक अर्थ में विभिन्न देव कणों वा सूर्यादि लोकों की वाक् अर्थात् छन्दादि रश्मियों को प्रकाशित करने की क्रिया 'स्वाहा' कहलाती है। 'स्वः' के विषय में ऋषियों का कथन है— असौ (द्यु) लोकः स्वः (ऐ.ब्रा.६.७), देवा वै स्वः (श.ब्रा.१.९.३.१४)। इन वचनों में 'स्वः' पद का प्रयोग है, यही यहाँ स्त्रीवाची अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। इसके अतिरिक्त महर्षि याज्ञवल्क्य ने यह भी कहा है— यज्ञो वै स्वः (श.ब्रा.१.१.२.२१)। इसका अर्थ है कि नाना प्रकार की यजन क्रियाओं में प्रयुक्त छन्द रश्मियों के विशेष प्रकाशित वा सक्रिय होने की प्रक्रिया को भी स्वाहा कहते हैं। इसी कारण ऋषि दयानन्द ने 'स्वाहा' पद का अर्थ अनेकत्र 'सत्क्रिया' किया है।

३. स्वम् प्राह इति स्वाहा — आधिभौतिक पक्ष में इसका अर्थ यह है कि प्रत्येक मनुष्य को अपनी ही वस्तु को अपना कहना और मानना चाहिए, पराई किसी भी वस्तु का मन से भी लोभ नहीं करना चाहिए। इसका अर्थ यह है कि 'अस्तेय' का पूर्ण पालन करना ही 'स्वाहा' कहलाता है।

उधर आधिदैविक पक्ष में आदित्य आदि लोकों के प्रकृष्ट रूप से चमकने वा सक्रिय होने की क्रिया को भी स्वाहा कहते हैं और ऐसा तब होता है, जब इन लोकों में नाना प्रकार की छन्दादि रश्मियाँ अनुकूलतापूर्वक उत्पन्न व प्रकाशित हो जायें।

४. सु आहुतम् हविः जुहोति इति — आधिभौतिक पक्ष में इसका अर्थ यह है कि जिसमें हितकारी पदार्थों का ही यजन किया जाए और हितकारी पदार्थों का ही दान किया जाए, उस क्रिया को 'स्वाहा' कहते हैं। इससे स्पष्ट होता है कि यज्ञ में उन पदार्थों की ही

आहुति देनी चाहिए और किसी को दान अथवा भिक्षा भी ऐसे पदार्थों की ही देनी चाहिए, जिन्हें हम स्वयं भी उपयोग कर सकते हों अर्थात् वे पदार्थ उसके लिए हितकारी होवें।

आधिदैविक पक्ष में इसका अर्थ यह है कि इस सृष्टि में ऐसी यजन क्रियाएँ, जिनमें सभी पदार्थ अनुकूलता एवं उत्कृष्टता के साथ पारस्परिक यजन करके नानाविध पदार्थों का निरापद रूप से निर्माण करते हैं, वे क्रियाएँ 'स्वाहा' कहलाती हैं।

इस पद के लिए एक ऋचा अगले खण्ड में उद्धृत की गई है।

* * * * *

= एकविंशः खण्डः =

सद्यो जातो व्यमिमीत यज्ञमग्निर्देवानामभवत्पुरोगाः।
अस्य होतुः प्रदिश्यृतस्य वाचि स्वाहाकृतं हविरदन्तु देवाः॥

[ऋ.१०.११०.११]

सद्यो जायमानो निरमिमीत यज्ञम्। अग्निर्देवानामभवत् पुरोगामी। अस्य होतुः प्रदिशि ऋतस्य वाचि आस्ये स्वाहाकृतं हविरदन्तु देवाः, इति यजन्ति।
इतीमा आप्रीदेवता अनुक्रान्ताः।
अथ किं देवताः प्रयाजानुयाजाः। आग्नेया इत्येके॥ २१॥

इस ऋचा के ऋषि व देवता पूर्ववत् तथा छन्द निचृत् त्रिष्टुप् होने से इसका प्रभाव पूर्ववत् समझें। इसका आधिदैविक भाष्य निम्नानुसार है—

(सद्यः, जातः, वि, अमिमीत, यज्ञम्, अग्निः) 'सद्यो जायमानो निरमिमीत यज्ञम् अग्निः' तत्काल उत्पन्न हुआ अग्नि यज्ञ का निर्माण करता है। इसका अर्थ यह है कि अग्नि तत्त्व जैसे ही उत्पन्न होता है, वैसे ही वह यजन क्रिया प्रारम्भ कर देता है। यह उल्लेखनीय है कि अग्नि के कई रूप होते हैं और वे पृथक्-पृथक् काल और परिस्थिति में उत्पन्न होते हैं। जो अग्नि जब और जहाँ उत्पन्न होता है, वह तब और वहीं अपना यजन कार्य प्रारम्भ कर देता है, फिर चाहे वह स्वयं किसी से संयुक्त होवे अथवा कण आदि पदार्थों को

परस्पर संयुक्त करने की प्रक्रिया प्रारम्भ करे। अग्नि कभी शान्त नहीं रहता, इसी कारण यहाँ कहा गया है कि अग्नि उत्पन्न होते ही यजन कर्मों को प्रारम्भ कर देता है। (देवानाम्, अभवत्, पुरोगाः) 'देवानामभवत् पुरोगामी' वह अग्नि तत्त्व देव पदार्थों में अग्रगामी होता है। यहाँ प्रश्न यह उठता है कि ये देव पदार्थ कौन हैं? हमारी दृष्टि में सभी प्रकाशित एवं आकर्षण आदि बलों से युक्त कणों को यहाँ देव पदार्थ कह सकते हैं। उधर प्रत्येक यजन प्रक्रिया में भाग लेने वाले पदार्थों को भी देव पदार्थ कहा जाता है। इसी कारण ग्रन्थकार ने पूर्व खण्ड ७.१४ में लिखा है— 'अग्रं यज्ञेषु प्रणीयते'। यहाँ भी मन्त्र में यही दर्शाया है कि प्रत्येक यजन कार्य एवं यजनशील कणों की उत्पत्ति से पूर्व अग्नि तत्त्व की उत्पत्ति हो चुकी होती है। इसके साथ ही यजन प्रक्रिया के समय और यजनशील कणों के गमन करते समय भी अग्नि तत्त्व उनका अग्रगामी रहता है।

(अस्य, होतुः, प्रदिशि, ऋतस्य, वाची, स्वाहाकृतम्, हविः, अदन्तु, देवाः) 'अस्य होतुः प्रदिशि ऋतस्य वाचि आस्ये स्वाहाकृतं हविरदन्तु देवाः इति यजन्ति' [ऋतम् = ऋतमित्येष (सूर्यः) वै सत्यम् (ऐ.ब्रा.४.२०)। वाक् = अथ यत् स्फूर्जयन् वाचमिव वदन् दहति तदस्य (अग्नेः) सारस्वतं रूपम् (ऐ.ब्रा.३.४), वागेव सरस्वती (ऐ.ब्रा.२.२४)] निर्माणाधीन सूर्य लोक के पूर्वी भाग से जब ग्रह आदि लोकों का पृथक्करण होता है, उस समय उस पूर्वी भाग में तीव्र व गम्भीर गर्जना से युक्त ज्वालायुक्त अग्नि का विकराल रूप होता है, उस ऐसे होता रूप अग्नि की ज्वालाओं में 'स्वाहाकृतं हविरदन्तु देवाः' इस प्रकार की अन्य एक याजुषी त्रिष्टुप् छन्द रश्मि पृथक् से उत्पन्न होकर उस पूर्वी भाग में विभिन्न देव पदार्थों का संगमन वा अवशोषण करने लगती है। यहाँ ग्रन्थकार ने 'इति यजन्ति' पदों का प्रयोग किया है। इससे भी यह संकेत मिलता है कि उपर्युक्त याजुषी त्रिष्टुप् छन्द रश्मि पृथक् से उत्पन्न होती ही है।

भावार्थ— अग्नि के परमाणु अपनी उत्पत्ति प्रक्रिया के साथ ही यजन क्रिया प्रारम्भ कर देते हैं। देश, क्रिया और काल के अनुसार अग्नि का स्वरूप भिन्न-२ होता है। प्रकाशाणु सदैव ही अन्य सूक्ष्म कणों से अधिक तीव्रगामी होते हैं। अग्नि की उत्पत्ति से पूर्व कोई भी यजन क्रिया प्रारम्भ नहीं हो पाती है। जिस समय विशाल खगोलीय मेघ से विभिन्न लोकों के पृथक्करण की प्रक्रिया प्रारम्भ होती है, उस समय उस विशाल मेघ के पूर्वी भाग में तीव्र व गम्भीर गर्जना से युक्त ज्वालायुक्त अग्नि विकराल रूप में प्रकट होता है और उसी

स्थान पर अन्तरिक्ष से विभिन्न सूक्ष्म पदार्थ आकर एकत्रित होने लगते हैं।

इस प्रकार खण्ड ८.४ से लेकर अब तक क्रमपूर्वक आप्री संज्ञक देव पदार्थों की व्याख्या की गई। ध्यातव्य है कि ऋग्वेद के १०.११० सूक्त के सभी मन्त्र आप्री देवताक हैं। इसका कारण हमने प्रभाव पूर्ववत् कहकर प्रत्येक मन्त्र की व्याख्या में नहीं दर्शाया। आप्री संज्ञक देवताओं में भी जो देवता कहा गया है, पाठकों को तदनुसार ही उसका दैवत प्रभाव जान लेना चाहिए। वेद संहिता में आप्री देवताओं के पृथक्-२ नाम नहीं दर्शाए हैं। इस कारण ही हमने दैवत प्रभाव पृथक्-२ नहीं दर्शाए हैं।

आप्री संज्ञक देवताओं के पश्चात् ग्रन्थकार लिखते हैं—

'अथ किं देवताः प्रयाजानुयाजाः आग्नेया इत्येके'

अर्थात् प्रयाज एवं अनुयाज देवता किस देवता के वाचक हैं? इसके उत्तर में कुछ ऋषि अग्नि देवता वालों को प्रयाज और अनुयाज देवता वाला मानते हैं। इसकी चर्चा अगले खण्ड में की गयी है।

* * * * *

= द्वाविंशः खण्डः =

प्रयाजान्मे अनुयाजाँश्च केवलानूर्जस्वन्तं हविषो दत्त भागम्।
घृतं चापां पुरुषं चौषधीनामग्नेश्च दीर्घमायुरस्तु देवाः॥

[ऋ.१०.५१.८]

तव प्रयाजा अनुयाजाश्च केवल ऊर्जस्वन्तो हविषः सन्तु भागाः।
तवाग्ने यज्ञोऽयमस्तु सर्वस्तुभ्यं नमन्तां प्रदिशश्चतस्त्रः॥

[ऋ.१०.५१.९]

आग्नेया वै प्रयाजा आग्नेया अनुयाजाः। इति च ब्राह्मणम्।
छन्दोदेवता इत्यपरम्। छन्दाँसि वै प्रयाजाश्छन्दाँस्यनुयाजाः।

इति च ब्राह्मणम्।
ऋतुदेवता इत्यपरम्। ऋतवो वै प्रयाजा ऋतवोऽनुयाजाः। इति च ब्राह्मणम्।
पशुदेवता इत्यपरम्। पशवो वै प्रयाजाः पशवोऽनुयाजाः। इति च ब्राह्मणम्।
प्राणदेवता इत्यपरम्। प्राणा वै प्रयाजाः प्राणा वा अनुयाजाः।
इति च ब्राह्मणम्। आत्मदेवता इत्यपरम्।
आत्मा वै प्रयाजा आत्मा वा अनुयाजाः। इति च ब्राह्मणम्।
आग्नेया इति तु स्थितिः। भक्तिमात्रमितरत्। किमर्थं पुनरिदमुच्यते।
यस्यै देवतायै हविर्गृहीतं स्यात्तां मनसा ध्यायेद्वषट्करिष्यन्। [ऐ.ब्रा.३.८]
इति ह विज्ञायते। तान्येतान्येकादशाप्रीसूक्तानि तेषां।
वासिष्ठम् आत्रेयं वाध्र्यश्वं गार्त्समदम् इति नाराशंसवन्ति।
मैधातिथं दैर्घतमसं प्रैषिकम् इत्युभयवन्ति।
अतोऽन्यानि तनूनपात्वन्ति तनूनपात्वन्ति॥ २२॥

इस मन्त्र का ऋषि सौचीकोऽग्नि है। [सूचीकाः = सूचीप्रातिपदिकात् इवार्थे कन् (वै.को.), सूची = सूची सीव्यतेः (निरु.११.३१)] इसका अर्थ यह है कि इस छन्द रश्मि की उत्पत्ति उस समय होती है, जब अग्नि तत्त्व नाना प्रकार के कणों के मध्य बन्धक बल उत्पन्न करने लगता है। इसका देवता देवाः तथा छन्द भुरिक् त्रिष्टुप् होने से इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से विभिन्न यजनशील देवकण अपने बाहुरूप बलों के द्वारा एक-दूसरे को बाँधने लगते हैं तथा उस क्षेत्र में रक्तवर्णीय तेज उत्पन्न होने लगता है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(प्रयाजान्, मे, अनुयाजान्, च, केवलान्, ऊर्जस्वन्तम्, हविषः, दत्त, भागम्, देवाः) वे देव पदार्थ अर्थात् यजनशील कण विभिन्न प्रयाज एवं अनुयाज संज्ञक रश्मियाँ, जो सम्पूर्ण रूप से ऊर्जायुक्त होती हैं अर्थात् जिन पर किसी भी असुरादि बाधक पदार्थ का प्रभाव नहीं होता, वे ऐसी तेजस्विनी प्रयाजा और अनुयाजा रश्मियाँ सेवन करने योग्य रूप में बन्धन बलयुक्त अग्नि को प्राप्त होती हैं। इसका अर्थ यह है कि उन यजनशील कणों के यजन के समय प्रयाज और अनुयाज संज्ञक पदार्थों की हवि से बन्धन ऊर्जा और अधिक प्रबल होने लगती है।

(घृतम्, च, अपाम्, पुरुषम्, च, ओषधीनाम्) [पुरुषः = पालकः (म.द.य.भा.३१.४), परिपूर्णः (म.द.य.भा.३१.२), आनुष्टुभः पुरुषः (मै.सं.४.७.५)। ओषधिः = ओषधयो बर्हिः (मै.सं.१.८.७, ऐ.ब्रा.५.२८), ओषधयः पशवः (क.सं.३८.५), ओषधयः खलु वै वाजः (तै.ब्रा.१.३.७.१)] उसी समय 'अपः' अर्थात् विभिन्न प्राण रश्मियों में से 'घृङ्' रश्मि, जो तेज उत्पत्ति में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती है। इसके साथ ही आकाश तत्त्व में विद्यमान विभिन्न छन्द रश्मियों में से विभिन्न छन्द रश्मियाँ, विशेषकर अनुष्टुप् छन्द रश्मियाँ उस अग्नि तत्त्व को समृद्ध करती हैं वा करने लगती हैं। इसका अर्थ यह है कि जब विभिन्न कणों का परस्पर संयोग होता है, उस समय इसमें जो अग्नि तत्त्व अपनी भूमिका निभाता है, उसमें 'घृङ्' रश्मियों एवं अनुष्टुप् छन्द रश्मियों की अपेक्षाकृत विशेष भूमिका होती है। इनमें से अनुष्टुप् छन्द रश्मियाँ अन्य छन्द रश्मियों को विशेष प्रेरित करके सक्रिय करती हैं और 'घृम्' रश्मियों के प्रभाव से प्रकाश की मात्रा बढ़ती है। (अग्नेः, च, दीर्घम्, आयुः, अस्तु) इस प्रक्रिया से अग्नि का उत्पादन दीर्घकाल तक होता रहता है।

तदनन्तर अगली ऋचा को यहाँ प्रस्तुत किया गया है—

तव प्रयाजा अनुयाजाश्च केवल ऊर्जस्वन्तो हविषः सन्तु भागाः।
तवाग्ने यज्ञोऽयमस्तु सर्वस्तुभ्यं नमन्तां प्रदिशश्चतस्रः॥ (ऋ.१०.५१.९)

इसका ऋषि देवाः तथा देवता सौचीक अग्नि एवं छन्द भुरिक् त्रिष्टुप् है। पूर्व मन्त्र से यहाँ देवता और ऋषि का पारस्परिक विपरीत क्रम है। इस कारण पाठक इसका प्रभाव स्वयं समझ सकते हैं। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(तव, प्रयाजाः, अनुयाजाः, च, केवले, ऊर्जस्वन्तः, हविषः, सन्तु, भागाः) उपर्युक्त अग्नि में विद्यमान प्रयाज एवं अनुयाज संज्ञक रश्मि आदि पदार्थ उस अग्नि को असहाय अर्थात् बिना किसी अन्य अपेक्षा के पूर्ण बल प्रदान करने लगते हैं और निरन्तर अपनी आहुतियाँ उस अग्नि में देने लगते हैं। (तव, अग्ने, यज्ञः, अयम्, अस्तु, सर्वः, तुभ्यम्, नमन्ताम्, प्रदिशः, चतस्रः) देव पदार्थों की उपर्युक्त सभी प्रकार की यजन क्रियाएँ अग्नि के उत्पादन और उसके संवर्धन के लिए ही होती हैं। इन प्रक्रियाओं के समय चारों दिशाओं और प्रदिशाओं से विभिन्न देव पदार्थ अग्नि की ओर झुकते हुए चले आते हैं। इसके साथ ही उस क्षेत्र के चारों ओर विद्यमान विभिन्न संयोज्य पदार्थ एक सर्वोच्च चेतन सत्ता के नियन्त्रण में और उसकी सर्वोच्च बुद्धिमत्ता के निर्देश से निर्देशित होते हुए सभी यजनशील

पदार्थ अग्नि उत्पादन के क्षेत्र की ओर झुकते हुए चले आते हैं।

ग्रन्थकार ने निघण्टु में 'नमः' पद को कई पदार्थों के वाचक के रूप में पढ़ा है, उदाहरणतः 'अन्ननाम' (निघं.२.७), 'वज्रनाम' (निघं.२.२०)। महर्षि याज्ञवल्क्य ने भी इस पद के विषय में कहा है— यज्ञो वै नमः (श.ब्रा.२.४.२.२४) अन्नं नमः (श.ब्रा.६.३. १.१७)। ग्रन्थकार ने निघण्टु १.१२ में इसे उदकनामों में भी पढ़ा है। इस कारण यहाँ 'नमन्ताम्' पद यह भी संकेत देता है कि अग्नि उत्पादन की क्रिया, विशेषकर तारों के अन्दर होने वाली नाभिकीय संलयन की प्रक्रिया के समय जो भी कण संलयन हेतु तारों के केन्द्रीय भाग की ओर आ रहे होते हैं, वे वज्र रश्मियों से युक्त होते हैं। इस कारण उन पर किसी बाधक पदार्थ का प्रभाव नहीं हो पाता। उधर उदक नामवाची होने से यह भी संकेत मिलता है कि वे सभी यजनशील कण जलों की भाँति तारों के केन्द्रीय भाग के बाहरी भाग को सींचते हुए केन्द्रीय भाग की परिधि में जमा होते जाते हैं।

इन दोनों ही ऋचाओं में अग्नि के उत्पादन का विज्ञान समझाया गया है। इस वैज्ञानिक प्रक्रिया में प्रयाज एवं अनुयाज इन दो पदार्थों की महत्ता प्रतिपादित की गई है। इनमें से प्रयाज संज्ञक पदार्थ वे हैं, जो यजन प्रक्रिया को प्रखर बनाते हैं और अनुयाज संज्ञक पदार्थ वे हैं, जो अन्य क्रियाओं का अनुगमन करते हुए यजन प्रक्रियाओं को अनुकूल बनाते हैं। अब प्रश्न यह उठता है कि प्रयाज और अनुयाज संज्ञक पदार्थ किसे कहते हैं? इस विषय में ग्रन्थकार ने किसी अथवा किन्हीं अज्ञात ब्राह्मण ग्रन्थों के वचनों को उद्धृत किया है, वे इस प्रकार हैं— 'आग्नेया वै प्रयाजा आग्नेया अनुयाजाः' अर्थात् सभी प्रयाज एवं अनुयाज संज्ञक पदार्थ आग्नेय होते हैं। इस कारण वे अग्नि तत्त्व को उत्पन्न वा समृद्ध करते हैं, परन्तु वे पदार्थ होते क्या हैं, यह यहाँ स्पष्ट नहीं है। इस विषय में अन्य आचार्य कहते हैं— 'छन्दोदेवता इत्यपरम् छन्दाँसि वै प्रयाजाश्छन्दाँस्यनुयाजाः' अर्थात् छन्द रश्मि रूप देव पदार्थ ही प्रयाज और अनुयाज कहलाते हैं। हम जानते हैं कि प्रायः सभी प्रकार की छन्द रश्मियाँ प्रकाश और ऊष्मा को उत्पन्न करने वाली होती हैं। इस कारण ही प्रयाज और अनुयाज को आग्नेय कहा गया है।

अन्य आचार्य ऋतुसंज्ञक रश्मियों को प्रयाज और अनुयाज कहते हैं— 'ऋतुदेवता इत्यपरम् ऋतवो वै प्रयाजाः ऋतवोऽनुयाजाः'। इसका अर्थ यह है कि विभिन्न यजन क्रियाओं और उनसे अग्नि के उत्पादन की क्रिया में विभिन्न ऋतु रश्मियों की भी भूमिका

होती है और इस कारण भी प्रयाज और अनुयाज आग्नेय कहलाते हैं। इस विषय में महर्षि याज्ञवल्क्य का भी कथन है— 'अग्नयो वाऽऋतवः' (श.ब्रा.६.२.१.३६)।

तदनन्तर अन्य आचार्यों का मत प्रस्तुत करते हुए लिखते हैं— 'पशुदेवता इत्यपरम् पशवो वै प्रयाजाः पशवोऽनुयाजाः' अर्थात् पशु संज्ञक देव पदार्थ भी प्रयाज और अनुयाज कहलाते हैं। पशु संज्ञक पदार्थ के विषय में ऋषियों का कथन है— दृश्यः, द्रष्टव्यः (म.द.य.भा.२३.१७), प्रजा वै पशवः (तै.सं.२.६.४.३), पशवो वै मरुतः (ऐ.ब्रा.३.१९), यजमानः पशुः (तै.ब्रा.२.१.५.२), अन्नं पशवः (श.ब्रा.६.२.१.१५), वज्रो वै पशवः (श.ब्रा.६.४.४.६)। इसका अर्थ यह है कि विभिन्न मरुद् रश्मियाँ, वज्र रश्मियाँ एवं मानव तकनीक के द्वारा द्रष्टव्य यजनशील कण, इन सभी पदार्थों को पशु कहते हैं और ये सभी पदार्थ यजन क्रियाओं के लिए अनिवार्य होने से प्रयाज और अनुयाज कहलाते हैं और आग्नेय भी।

अब अन्य आचार्यों का कथन है— 'प्राणदेवता इत्यपरम् प्राणा वै प्रयाजाः प्राणा वा अनुयाजाः' अर्थात् विभिन्न प्राण रश्मियाँ भी प्रयाज और अनुयाज कहलाती हैं और यह सर्वविदित भी है कि प्राण रश्मियाँ अग्नि को उत्पन्न करती हैं। इसलिए महर्षि ऐतरेय महीदास ने कहा है— 'प्राणा वै समिधः' (ऐ.ब्रा.२.४)। अब अन्त में कुछ अन्य आचार्यों का कथन प्रस्तुत करते हुए लिखा है— 'आत्मदेवता इत्यपरम् आत्मा वै प्रयाजा आत्मा वा अनुयाजाः'। यहाँ आधिदैविक पक्ष में 'आत्मा' पद का अर्थ सूत्रात्मा वायु समझना चाहिए। यद्यपि ब्राह्मण ग्रन्थों में इसके अनेक अर्थ हैं, परन्तु यहाँ सबसे उपयुक्त अर्थ यही है। इस प्रकार इन आचार्यों का कथन है कि सूत्रात्मा वायु रश्मियाँ भी प्रयाज और अनुयाज संज्ञक होती हैं, क्योंकि इनके बिना कोई भी यजन कार्य एवं अग्नि का उत्पादन सम्भव नहीं है।

निष्कर्ष यह है कि ये सभी पदार्थ प्रयाज और अनुयाज होकर आग्नेय स्थिति को भी उत्पन्न करने वाले होते हैं। ब्राह्मण ग्रन्थकार ऋषियों ने जो पृथक्-२ पदार्थों को प्रयाज और अनुयाज कहा है, वह एक विभाग मात्र है, न कि आचार्यों में परस्पर कोई मतभेद है। अब ग्रन्थकार लिखते हैं कि जब ऐसा है, तो महर्षि ऐतरेय महीदास ने यह क्यों लिखा है— 'यस्यै देवायै हविर्गृहीतं स्यात्तां मनसा ध्यायेद्वषट्करिष्यन्' (ऐ.ब्रा.३.८) अर्थात् जिस किसी पदार्थ के निर्माण के लिए विभिन्न रश्मिरूप हवियों को आकर्षित किया जाता है, उस-२ पदार्थ वा उसके निर्माण में सक्रिय कणों को लक्ष्य करके पूर्वोक्त वषट् क्रियाएँ

होती हैं। इसके कारण वह संयोग क्रिया तृप्त वा परिपूर्ण व निर्बाध होती है। इस प्रक्रिया से सभी संयोज्य कणों के आकर्षण बल पूर्ण सक्रिय व तेजस्वी होते हैं, जिससे यजन क्रिया सम्पन्न होती है।

यह वषट्कार क्या है, यह बताते हुए स्वयं महर्षि ऐतरेय महीदास लिखते हैं— 'वज्रो वै वषट्कारः' (ऐ.ब्रा.३.८)। उपर्युक्त प्रश्न का उत्तर ग्रन्थकार ने नहीं दिया है, परन्तु महर्षि ऐतरेय महीदास के कथन में ही इसका उत्तर छिपा हुआ है, पुनरपि हम कुछ प्रमाण और प्रस्तुत करते हैं— 'अग्निर्वै देवानां वसिष्ठः' (ऐ.ब्रा.१.२८), 'अग्निर्वै सर्वा देवताः' (ऐ.ब्रा.२.३), 'अग्निर्वै सर्वेषां देवानामात्मा' (श.ब्रा.१४.३.२.५), 'अग्निर्वै देवतानां मुखं प्रजनयिता स प्रजापतिः' (श.ब्रा.३.९.१.६)। इन सबका भाव यह है कि सभी दिव्य पदार्थों में अग्नि तत्त्व की एक विशेष प्रधानता होती है और अग्नि तत्त्व की उत्पत्ति में भी आकाश एवं वायु आदि अनेक देव पदार्थों की भूमिका होती है। इतना ही नहीं, अग्नि तत्त्व के उत्पन्न होने के पश्चात् जल एवं पृथिवी तत्त्व आदि पदार्थों से भी अग्नि की उत्पत्ति होती है। इस कारण सभी प्रयाज और अनुयाज संज्ञक पदार्थ आग्नेय कहलाते हैं, ऐसा विज्ञान से जाना जाता है।

अन्त में ग्रन्थकार लिखते हैं— 'तान्येतान्येकादशाप्रीसूक्तानि तेषां वासिष्ठम् आत्रेयं वाध्र्यश्वं गार्त्समदम् इति नाराशंसवन्ति मैधातिथं दैर्घतमसं प्रैषिकम् इत्युभयवन्ति अतोऽन्यानि तनूनपात्वन्ति तनूनपात्वन्ति'। यह कथन सामान्य है। इस कारण इसका अनुवाद एवं सम्पूर्ण खण्ड का भाष्य, जो नाममात्र का ही है, हम पण्डित भगवद्दत्त रिसर्च स्कॉलर का ही प्रस्तुत कर रहे हैं—

''तो ये एकादश आप्री सूक्त हैं। तेषाम् = उनमें से वासिष्ठम् = वसिष्ठ का (७.१.३), आत्रेयम् = अत्रि का (५.१.५), वाध्र्यश्वम् = वध्र्यश्व का (१०.६.२) और गार्त्समदम् = गृत्समद का (२.१.३), ये नराशंस देवता वाले हैं। मेधातिथि का (१.४.२), दीर्घतमा का (१.२१.३) और प्रैषों का (मै.सं.३.११.१) में कहा, ये दोनों देवता [=नराशंस और तनूनपात्] वाले हैं। इनसे भिन्न [अर्थात् अगस्त्य वा अङ्गिरा का १.२४.९, विश्वामित्र का ३.१.४, कश्यप का ९.१.५, जमदग्नि का १०.९.११] तनूनपात् वाले हैं।

सौचीक अग्निः और विश्वेदेवाः आधिदैविक वा आधिभौतिक हैं। अपां घृतम्, संसार में स्नेहांश आपः का ही एक रूप है। अन्तरिक्ष और द्यौ में यह कैसे बनता है, यह

जानना चाहिए। आप्री देवता में नराशंस और तनूनपात् देवता का विकल्प माना गया है। अतः वेद में आप्री सूक्तों में भी कहीं नराशंस, कहीं तनूनपात् और कहीं दोनों ही देवता हैं।''

यहाँ 'तनूनपात्वन्ति' का दो बार प्रयोग अध्याय की समाप्ति का सूचक है।

* * * * *

इति ऐतरेयब्राह्मणस्य वैज्ञानिकभाष्यकारेण आचार्याग्निव्रतनैष्ठिकेन
यास्कीयनिरुक्तस्य वैज्ञानिक-व्याख्यानस्य (वेदार्थ-विज्ञानस्य)
अष्टमोऽध्यायः समाप्यते।

अथ नवमोऽध्याय:

= प्रथमः खण्डः =

अथ यानि पृथिव्यायतनानि सत्त्वानि स्तुतिं लभन्ते तान्यतोऽनुक्रमिष्यामः। तेषामश्वः प्रथमागामी भवति। अश्वो व्याख्यातः। तस्यैषा भवति॥ १॥

इस खण्ड का अर्थ व भाष्य हम पण्डित भगवद्दत्त रिसर्च स्कॉलर का ही प्रस्तुत करना उचित समझते हैं, जो इस प्रकार है—

"अब जो पृथिवी मण्डल के आश्रय वाले सत्त्वानि=पदार्थ स्तुति को प्राप्त करते हैं, उन्हें यहाँ से आगे क्रम से कहेंगे।

१. अश्वः। उनमें से अश्व प्रथमागामी (निघं.५.३.१) होता है। अश्व व्याख्यात हो चुका है (निरु.२.२७) उनकी यह (ऋक्) होती है।

भाष्य— अब निघण्टु के पाँचवें अध्याय के तीसरे खण्ड से यास्क का भाष्य आरम्भ होता है। निघण्टु का पाँचवाँ अध्याय दैवत प्रकरण का है। उसका आरम्भ अग्निः देव से हुआ है। अग्निः पृथिवी स्थानी है। अब इस दैवत प्रकरण में उन दिव्य पदार्थों की व्याख्या है, जिनका आयतन पृथिवी मण्डल तक है। वेद में अश्वः, शकुनिः, मण्डूकाः आदि ऐसे अनेक पद हैं, जो दिव्य पदार्थों के द्योतक है। उनकी गणना दैवत प्रकरण में ही ठीक थी।

उन पदार्थों का आयतन पृथिवी तक है। पृथिवी के प्रसङ्ग में उनकी स्तुति देवतावत् नहीं, प्रत्युत साधारण पदार्थवत् होती है। उनकी स्तुति प्रयुक्त नहीं हुई, पर उनको स्तुति प्राप्त हो गई है। अतः यास्क ने स्पष्ट लिखा कि—

यानि पृथिव्यायतनानि सत्त्वानि स्तुतिं लभन्ते। इस पृथिव्यायतनानि पद की व्याख्या शौनक ने बृहद्देवता में की है। यथा—

यद्यत्र पृथिवीस्थानं पार्थिवं चाग्निमाश्रितम्। १.१०५॥

इन पदार्थों की पहुँच पृथिवी तक इसलिए है कि वे पार्थिव अग्नि का आश्रय भी लिए हुए हैं। इसी अभिप्राय से द्यावापृथिवी भी पार्थिव अग्निः के आश्रय को लेते हैं। अन्यथा द्यौ का पृथिवी आयतन हो ही नहीं सकता। पार्थिव अग्नि के आश्रय पर होने से ही ये ३६ पदार्थ जिनमें द्यावापृथिवी आदि भी हैं, निघण्टु के इस ५.३ खण्ड में पढ़े गए हैं। हाँ, इतना ठीक है कि इनमें से कई एक पदों से पार्थिव पदार्थों के नाम भी सर्गारम्भ में रखे

गए थे। इस विषय पर विचार करते समय पूर्व में निरुक्त २.२४ का हमारा भाष्य भी देखना चाहिए।

इन सब पदों का दिव्य अर्थ वेदविद्या की सूक्ष्मता पर आश्रित है। जब इन्द्र दिव्य है, तो उसका धनुः, ज्या और इषुः भी दिव्य हैं। वे दिव्य होते हुए भी देवता नहीं हैं। इसीलिए निरुक्त ७.४ में कहा—अपि ह्यदेवता देवतावत् स्तूयन्ते।

यथा— अश्वप्रभृतीन्योषधिपर्यन्तानि। ... इतरेतरजन्मानो भवन्ति।

अर्थात्— यथा सूर्य के अश्व और रथ सूर्य से उत्पन्न हुए हैं, वैसे इन्द्र के धनु आदि भी इन्द्र से ही उत्पन्न हुए हैं। पर यह धनुः पृथिवी और पार्थिव अग्निः पर आश्रित है। अतः देवता न होने पर भी पृथिवी अग्निः पर आश्रित पदार्थों ने भी स्तुति प्राप्त की है।''

'अश्व' पद की व्याख्या को समझने के लिए पाठक पूर्व में खण्ड २.२७ को पढ़ें। यहाँ प्रश्न यह उठ सकता है कि ऐसी अश्व नामक तरंगें कैसे पृथिवी-आयतन वाली कही गई हैं। इस विषय में पण्डित भगवद्दत्त रिसर्च स्कॉलर का यह कथन— ''इन पदार्थों की पहुँच पृथ्वी तक है।'' सत्य ही है। संयोग-वियोग की विभिन्न क्रियाएँ पृथिव्यादि लोकों में भी होती हैं, न कि केवल अन्तरिक्ष और सूर्यादि लोकों में। इनको पृथिवी आयतन वाला इस कारण भी कहा है कि इस सृष्टि में संयोग-वियोग की अधिकांश क्रियाएँ अप्रकाशित कणों के मध्य ही होती हैं, वे कण चाहे वर्तमान में मूलकण माने जाने वाले हों अथवा परमाणु (एटम) वा अणु (मोलिक्यूल्स)। इनमें भी सृष्टि के सभी स्थूल पदार्थों का निर्माण अन्ततः अणुओं के सहयोग से ही होता है और अणु ही पृथिवी के परमाणु कहे जाते हैं। संयोग की प्रक्रिया का अन्त भी अणुओं पर ही होता है। इसी कारण तरंगों को पृथिवी आयतन वाली कहा है।

इसकी ऋचा को अगले खण्ड में प्रस्तुत किया गया है।

* * * * *

= द्वितीयः खण्डः =

अश्वो वोळहा सुखं रथं हसनामुपमन्त्रिणः।
शेपो रोमण्वन्तौ भेदौ वारिन्मण्डूक इच्छतीन्द्रायेन्दो परि स्रव॥

[ऋ.९.११२.४]

अश्वो वोढा। सुखं वोढा रथं वोढा। सुखमिति कल्याणनाम। कल्याणं पुण्यम्। सुहितं भवति। सुहितं गम्यतीति वा। हसैता वा। पाता वा पालयिता वा। शेपमृच्छतीति। वारि वारयति। मा नो व्याख्यातः। तस्यैषा भवति॥ २॥

इस मन्त्र का ऋषि शिशु है। [शिशुः = शिशुः शंसनीयो भवति शिशीतेर्वा स्याद् दानकर्मणः चिरलब्धो गर्भो भवति (निरु.१०.३९), अयं वाव शिशुर्योऽयं मध्यमः प्राणः (श.ब्रा.१४.५.२.२)। मध्यम् = त्रिष्टुप्छन्दऽइन्द्रो देवता मध्यम् (श.ब्रा.१०.३.२.५)] इसका अर्थ यह है कि इस छन्द रश्मि की उत्पत्ति तीक्ष्ण तेज वाली त्रिष्टुप् छन्द रश्मियों के क्षेत्र में होती है। ये त्रिष्टुप् छन्द रश्मियाँ ही गर्भरूप होती हैं, जो सूर्यादि लोकों को अच्छी प्रकार प्रकाशित करने में अहम भूमिका निभाती हैं। इसलिए महर्षि याज्ञवल्क्य का कथन है— गर्भः समित् (श.ब्रा.६.६.२.१५) और ये छन्द रश्मियाँ सुदीर्घ काल में सूर्यादि लोकों का निर्माण करने में अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं। इसी कारण सूर्य को भी गर्भ कहा गया है— 'एष वै गर्भो देवानां य एष (सूर्यः) तपत्येष हीदं सर्वं गृभ्णात्येतेनेदं सर्वं गृभीतम्' (श.ब्रा. १४.१.४.२)। इसका देवता पवमान सोम तथा छन्द निचृत् पंक्ति होने से इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से सोम रश्मियाँ तीक्ष्णतापूर्वक फैलने लगती हैं।

पण्डित भगवद्दत्त रिसर्च स्कॉलर ने बृहद् देवता के अनुसार इसका देवता इन्द्र भी माना है। इस कारण इसके दैवत व छान्दस प्रभाव से इन्द्रतत्त्व भी परिपक्व और विस्तृत होने लगता है। इसके साथ ही ये संयोग आदि क्रियाओं को विस्तृत एवं परिपक्व करने लगती हैं। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(अश्वः, वोळहा, सुखम्, रथम्, हसनाम्, उपमन्त्रिणः) 'अश्वो वोढा सुखं वोढा रथं वोढा सुखमिति कल्याणनाम कल्याणं पुण्यम् सुहितं भवति सुहितं गम्यतीति वा हसैता वा पाता

वा पालयिता वा' अश्व नामक तरंगें वा रश्मियाँ विभिन्न कण आदि पदार्थों को वहन करने वाली होती हैं। रथ के विषय में ऋषियों का कथन है— वज्रो वै रथः (तै.सं.५.४.११.२, श.ब्रा. ५.१.४.३, काठ.सं.२१.१२)। इससे स्पष्ट होता है कि बाधक असुर आदि रश्मियों को नष्ट वा नियन्त्रित करने वाली वज्र रश्मियाँ ही रथ कहलाती हैं और उन वज्ररूप रश्मियों को ये अश्वरूप रश्मियाँ वहन करती हैं। ये रश्मियाँ कणों वा वज्र रश्मियों को अच्छी प्रकार आकर्षित व धारण करते हुए गमन करती हैं। इनके द्वारा उन कणों का धारण इस प्रकार होता है कि वे कण शुद्ध रूप को धारण करके परस्पर संगमन करने योग्य होने लगते हैं। इसी कारण यहाँ ग्रन्थकार ने सुखम् का अर्थ 'पुण्यम्' किया है। यहाँ प्रश्न यह उठता है कि कणों का शुद्ध रूप क्या होता है? हमारी दृष्टि में इस सृष्टि में सर्वत्र रश्मियों का जाल फैला हुआ रहता है। इनमें से कुछ रश्मियाँ ऐसी भी होती हैं, जो संगमन प्रक्रिया में बाधा पहुँचाती हैं। स्वतन्त्र रूप में विचरण कर रहे अथवा संयोगार्थ गमन कर रहे कणों के चारों ओर भी ये रश्मियाँ विद्यमान होती हैं। अश्व नामक तरंगें वा रश्मियाँ वज्ररूप रश्मियों के द्वारा उन बाधक रश्मियों को नष्ट करके अथवा दूर हटाकर कणों को बाधक रश्मियों से मुक्त कर देती हैं, इन्हें ही कणों का शुद्ध होना कहा जाता है। ऐसे होने के पश्चात् वे कण सहजता से संगमन करने योग्य हो जाते हैं।

यहाँ 'हसैता' पद 'हासयिता' का रूप प्रतीत होता है। [मन्त्रः = ब्रह्म वै मन्त्रः (श.ब्रा.७.१.१.५), वाग्वै मन्त्रः (श.ब्रा.६.४.१.७)] इन उपर्युक्त क्रियाओं में विभिन्न वाक् एवं प्राण रश्मियों के साथ निकटता से विद्यमान अश्व नामक तरंगें वा रश्मियाँ सहजता से संगमन कर्मों का पालन और रक्षण करने में समर्थ होती हैं। इसके साथ ही इन सबके मेल से नाना प्रकार के कण यजन प्रक्रियाओं के समय एक-दूसरे के निकट निर्बाध गति से आगे बढ़ते हैं। (शेपः, रोमण्वन्तौ, भेदौ) 'शेपमृच्छतीति' ['रोम' = यह पद लोम का वाचक है, जहाँ लत्व को रेफ हुआ है। लोम = छन्दांसि वै लोमानि (श.ब्रा.६.४.१.६), पशवो वै लोम (तां.ब्रा.१३.११.११)] इन संयोग प्रक्रियाओं में यहाँ शेप संज्ञक रश्मियों की भूमिका भी रेखांकित की है। हमारे मत में शेप संज्ञक रश्मियाँ वे ही हैं, जिन्हें ऋग्वेद १.२४ सूक्त में शुनःशेप ऋषि के रूप में दर्शाया है। 'वेदविज्ञान-आलोकः' ७.१५.३ एवं ७.१६.१-२ में इनकी चर्चा की गई है। वहाँ शुनःशेप रश्मियों के विषय में कहा गया है—

''ये रश्मियाँ मध्यम बल व विस्तार से युक्त होती हैं। ये रश्मियाँ प्रजनन-उत्पादन

क्षमता से विशेष सम्पन्न होती हैं। ये रश्मियाँ जब किसी अन्य रश्मि आदि पदार्थ से संयुक्त होती हैं, उस समय अपना तेज व बल उस रश्मि को प्रदान करके स्वयं शान्त जैसी हो जाती हैं। ये रश्मियाँ अन्य रश्मि से संयुक्त होते समय उन्हें स्पर्श करके उनमें अपना बल संचरित कर देती हैं।''

ऐसी शुन:शेप नाम की रश्मियाँ विभिन्न प्रकार की यजन क्रियाओं के समय प्रकट होती रहती हैं और ये शुन:शेप रश्मियाँ अनेक छन्द रश्मियों को उत्पन्न करने वाली होती हैं। यहाँ 'रोमण्वन्तौ' एवं 'भेदौ' का द्विवचनान्त प्रयोग है और 'शेप' नामक पदार्थ को रोमण्वन्तौ भेदौ को चाहने वाला बताया है। इसका अर्थ समझने के लिए पाठकों को वेदविज्ञान-आलोक: ७.१६.२-३ का पढ़ना आवश्यक है। वहाँ शुन:शेप नामक ऋषि रश्मियों से त्रिष्टुप् एवं गायत्री दो प्रकार की छन्द रश्मियों के उत्पन्न होने की चर्चा की गई है। इन दोनों ही छन्द रश्मियों के विषय में कहा गया है— 'एते वाव छन्दसां वीर्यवत्तमे यद् गायत्री च त्रिष्टुप् च' (तां.ब्रा.२०.१६.८)।

इन छन्द रश्मियों के पृथक्-२ समूहों के लिए ही 'रोमण्वन्तौ भेदौ' यह द्विवचनान्त प्रयोग हुआ है। इसका अर्थ यह है कि इस सृष्टि में विभिन्न प्रकार की यजन क्रियाओं के समय शुन:शेप नामक ऋषि रश्मियाँ प्रकट होकर इन दोनों ही छन्द रश्मि समूहों को उत्पन्न करने लगती हैं, जिससे नाना प्रकार के संयोजक बल समृद्ध होने लगते हैं।

(वारिन्, मण्डूक:, इच्छति, इन्द्राय, इन्दो, परि, स्रव) 'वारि वारयति' [मण्डूक: = मण्डूका मज्जूका मज्जनात् मदतेर्वा मोदतिकर्मण: मन्दतेर्वा तृप्तिकर्मण: मण्डयतेरिति वैयाकरणा: मण्ड एषामोक इति वा मण्डो मदेर्वा (निरु.९.५)। मज्जा = मज्जा यजु: (श.ब्रा.८.१.४.५), मज्जानो ज्योतिस्तद्धि यजुष्मतीनां रूपम् (श.ब्रा.१०.२.६.१८)] इन्हीं प्रक्रियाओं के मध्य कुछ अन्य गम्भीर क्रियाएँ भी होने लगती हैं। यहाँ जिस मण्डूक की चर्चा की गई है, वह मेंढक नामक प्राणी नहीं है, क्योंकि मण्डूक के विषय में महर्षि याज्ञवल्क्य का कथन है— एतद्वै यत्रैतं प्राणा ऋषयोऽग्रेऽग्निꣳ समस्कुर्वंस्तमद्भिरवोक्षंस्ता आप: समस्कन्दंस्ते मण्डूका अभवन् (श.ब्रा.९.१.२.२१)। इससे स्पष्ट है कि कुछ 'आप:' अर्थात् प्राण रश्मियाँ ही मण्डूक नामक पदार्थ के रूप में परिवर्तित हो जाती हैं। अब विचार करते हैं कि यह पदार्थ कैसा होता है? यह पदार्थ यजु: रश्मियों, जिनसे आकाशतत्त्व का निर्माण होता है, से सम्पृक्त होकर विद्युत् प्रभाव को अधिक प्रभावी बनाता है। यह पदार्थ विभिन्न बल रश्मियों

वा कणों को तृप्त करता तथा मण्ड नामक पदार्थ में निवास करता है। इसका अर्थ यह है कि यह 'मण्ड्' संज्ञक पदार्थ मण्डूक नामक पदार्थ को सक्रिय वा अन्य पदार्थों के साथ मिश्रित रहने हेतु प्रेरित करता है। यहाँ 'मुद संसर्गे' धातु का प्रयोग है।

इस प्रकार मण्डूक नामक पदार्थ विभिन्न प्राण रश्मियों का वह सम्मिश्रण है, जो आकाशतत्त्व से विशेष आवेष्टित होकर संयोज्य कणों के मध्य कार्यरत विभिन्न मध्यस्थ कणों (मिडियेटर पार्टिकल्स) को विशेष सक्रिय करने में सहायक होता है। इस कारण से कणों की संयोजनशीलता बढ़ने लगती है। इन मण्डूक संज्ञक रश्मि समूहों का निवास, जो मण्ड नामक पदार्थ बताया है, उसका अर्थ यही है कि ये मण्डूक संज्ञक पदार्थ संयोजी क्रियाओं में ही प्रकट होते हैं। ये मण्डूक संज्ञक पदार्थ या रश्मि समूह 'वारि' को चाहते हैं। इसका अर्थ यह है कि ये पदार्थ उस क्षेत्र में ऐसी रश्मियों को निरन्तर आकर्षित करते रहते हैं, जो बाधक रश्मियों का निवारण करती हैं अथवा जो उस सम्पूर्ण क्षेत्र को आच्छादित करके बन्धनों को दृढ़ बनाती हैं। हमारी दृष्टि में ऐसी सूक्ष्म रश्मियाँ प्राण एवं अपान का युग्म अथवा सूत्रात्मा वायु हैं। प्राणापान रश्मियाँ सूक्ष्म स्तर पर जाकर सूक्ष्म असुरादि रश्मियों को नष्ट वा नियन्त्रित करती हैं और सूत्रात्मा वायु रश्मियाँ संयोज्य कणों को एक साथ आच्छादित करने लगती हैं। उसी समय इन्द्र अर्थात् विद्युत् बलों को समृद्ध करने के लिए सोम रश्मियाँ भी सब ओर उस क्षेत्र में प्रवाहित होने लगती हैं।

भावार्थ— इस सृष्टि में सर्वत्र विभिन्न प्रकार की रश्मियों का जाल फैला रहता है। इनमें से कुछ रश्मियाँ ऐसी भी होती हैं, जो आकाश में गमन कर रहे कणों वा विकिरणों के मार्गों अथवा नाना प्रकार की संगमन क्रियाओं में बाधा पहुँचाती हैं। उधर गमन कर रहे कणों वा विकिरणों के चारों ओर भी कुछ ऐसी आच्छादक रश्मियाँ होती हैं अथवा उत्पन्न होती हैं, जो बाधक रश्मियों को दूर करके उन कणों वा उनके मार्गों को शुद्ध अथवा निर्बाध बनाती हैं। सूर्यादि लोकों के केन्द्रीय भाग में कुछ विशेष प्रकार की रश्मियाँ उत्पन्न होती हैं, जो अन्य अनेक छन्द रश्मियों को उत्पन्न करती हैं, विशेषकर त्रिष्टुप् व गायत्री छन्द रश्मियों को। इनके कारण विभिन्न संयोजक बल तीव्र होकर यजन प्रक्रियाओं को निर्बाध व सहज बनाते हैं। विभिन्न कणों के संयोग के समय कुछ ऐसी विशेष प्रकार की रश्मियाँ भी उत्पन्न होने लगती हैं, जो बल उत्पन्न करने वाले मध्यस्थ कणों को विशेष सक्रिय करने में सहायक होती हैं। वस्तुतः ये रश्मियाँ नहीं, बल्कि रश्मियों का मिश्रण

होता है, जो अन्यत्र कहीं उत्पन्न नहीं होता है।

यहाँ 'मा नो' पद को जो व्याख्यात कहा गया है, वह उचित नहीं है, क्योंकि 'मा नो' पद पूर्व में आया ही नहीं है। पुनरपि स्कन्दस्वामी ने भी इसे अपने पाठ में उद्धृत किया है। आचार्य भगीरथ शास्त्री और पण्डित चन्द्रमणि विद्यालंकार ने इसे उद्धृत नहीं किया है। पण्डित भगवद्दत रिसर्च स्कॉलर के पाठ में तो यह है ही। उधर स्वामी ब्रह्ममुनि परिव्राजक ने इस पाठ को कोष्ठक में उद्धृत किया है। हमारे विचार में यह पाठ असंगत है। इसी कारण सभी भाष्यकारों ने इस पर कुछ नहीं लिखा है। उधर उपर्युक्त मन्त्र को भी अनेक भाष्यकारों ने यास्कीय निरुक्त का अंग नहीं माना है और कई भाष्यकारों ने उसका भाष्य भी नहीं किया है और जिन्होंने भाष्य किया है, उस पर हम टिप्पणी नहीं करना चाहते, पाठक स्वयं ये भाष्य देख सकते हैं।

जो महानुभाव यह तर्क प्रस्तुत करें कि यह तो आधिदैविक भाष्य कर दिया, परन्तु अपने दावे के अनुसार अधिभौतिक भाष्य करें, तब वह भाष्य ऐसा अश्लील ही होगा, जैसा अन्यों ने किया है। उनकी सन्तुष्टि के लिए मैं अन्य दोनों प्रकार का भाष्य भी आपके समक्ष प्रस्तुत करता हूँ—

आधिभौतिक भाष्य— (अश्वः, वोळहा, सुखम्, रथम्, हसनाम्, उपमन्त्रिणः) इन्द्र अर्थात् ऐश्वर्यवान् राजा अपने राष्ट्र में सबके गमनागमन के लिए ऐसे वाहनों को चाहता है अर्थात् निर्माण कराता है, जो सुखद व सुरक्षित यात्रा के लिए उपयुक्त हो सकें। वे वाहन पूर्णतः प्रदूषणरहित ही होवें। उनके अश्व (विशेष प्रकार के विद्युत्-यन्त्र) उन वाहनों को सहजतया ले जाने में सक्षम होवें अर्थात् उसमें ऐसे निरापद विद्युत् यन्त्र लगे हों, जो वाहनों को तीव्रगति व भारी भारवहन क्षमता से युक्त कर सकें। [अश्वः = असौ वा आदित्य एषोऽश्वः (श.ब्रा.७.३.२.१०)] वे विद्युत्-यन्त्र आदित्य रश्मियों से संचालित होवें। यहाँ 'अश्व' का अर्थ विद्युत् व सूर्य दोनों ग्रहण करना चाहिए। यहाँ 'रथ' का अर्थ वज्र ग्रहण करने से ऐसे युद्धक विमानों का भी ग्रहण होता है, जो शत्रु सेना के लिए वज्ररूप होकर राष्ट्र के नागरिकों के लिए सुखकारी होवें। यहाँ 'वोढा अश्व' से घोड़ा वा बैल भी ग्रहणीय है, क्योंकि मांसपेशियों की ऊर्जा सबसे अधिक निरापद होती है। इसलिए यजुर्वेद २२.२२ में कहा है— 'वोढा अनड्वान्'।

परामर्शदाता राजा के निकटस्थ मन्त्रीगण 'हसना' अर्थात् ऐसे राजा को चाहते हैं, जो प्रजा को प्रसन्न रख सके, उसका सर्वविध पालन व संरक्षण कर सके। महाभारत में पितामह भीष्म ने 'राजा' पद का निर्वचन करते हुए लिखा है— 'राजा रञ्जनात्' अर्थात् राजा वह है, जो अपनी प्रजा को आनन्दित कर सके। जिस राजा के राज्य में प्रजा सुखी, स्वस्थ व सुरक्षित नहीं है और स्वार्थी, विलासी, क्रूर वा प्रमादी राजा, ये दोनों ही राष्ट्र के लिए शत्रुवत् घातक होते हैं। यहाँ राजा के गुण कहने के साथ-२ मन्त्रियों के गुण स्वयं ही स्पष्ट कर दिये कि वे प्रजापालक राजा को ही चाहें और प्रजा का ध्यान न रखने वाले राजा को पद से च्युत कर दें। राजा के साथ मन्त्रियों का भी योग्य व प्रजावल्लभ होना अनिवार्य है, अन्यथा अच्छा राजा भी प्रजा का कल्याण नहीं कर पायेगा।

(शेपः, रोमण्वन्तौ, भेदौ) [यहाँ रोम पद 'लोम' का रूप है, जहाँ लत्व का रेफ निपातित है। 'लोम' पद का निर्वचन करते हुए ग्रन्थकार का कथन है— 'लुनातेर्वा लीयतेर्वा (निरु.३.५), शेपः = शपतेः स्पृशतिकर्मणः (निरु.३.२१), शप आक्रोशे] यहाँ 'शेपः' पद का अर्थ भी राजा है, जो अपने स्नेह बन्धन से सम्पूर्ण प्रजा को अपने साथ बाँधे रखने तथा अराजक तत्त्वों वा शत्रुओं को अपने कोप से वश में करने में सक्षम होता है। यहाँ 'लोम' पद के दो अर्थ हैं, जिनमें से प्रथम है— दुष्टों का छेदन करना एवं सज्जनों को अपने साथ स्नेहसूत्र में बाँधे रखना अथवा तीक्ष्ण व मधुर वचन बोलना। ऐसा वह राजा अपने दो प्रकार के व्यवहार अर्थात् कठोर व मृदु व्यवहारों वाला होकर सबके साथ यथायोग्य वर्तता हुआ राष्ट्र को सुखी करता है। केवल मृदु व्यवहार से अर्थात् बिना दण्ड व्यवस्था के अथवा केवल कठोरता से अर्थात् शुष्क व क्रूर व्यवहार से युक्त राजा राष्ट्र के लिए कभी हितकारी नहीं हो सकता।

(वारिन्, मण्डूकः, इच्छति, इन्द्राय, इन्दो, परि, स्रव) ध्यातव्य है कि यहाँ 'मण्डूक' पद भी राजा के लिए ही प्रयुक्त है और इसका अर्थ आधिदैविक भाष्य में किए निर्वचन के सन्दर्भ में ही करणीय है। इस प्रकार राजा में निम्न गुण होने चाहिए—

१. राजा योगी होना चाहिए, जो नित्य योग के द्वारा परमानन्द में निमग्न रहने का अभ्यासी हो। इस कारण वह सम्पूर्ण प्रजा को प्रभु की सन्तान समझेगा।
२. वह राजा प्रजा के आनन्द में ही अपना आनन्द मानेगा।
३. वह प्रजा को नाना हितकारी पदार्थों की उपलब्धता कराके उनकी तृप्ति से ही स्वयं की

तृप्ति मानेगा। जिस प्रकार माता-पिता अपनी सन्तान को सुखों से तृप्त करके स्वयं प्रसन्न व तृप्त होते हैं, वैसा ही व्यवहार राजा का प्रजा के प्रति होना चाहिए।

४. वह राजा दरबार में वस्त्राभूषणों व युद्ध में अस्त्र-शस्त्र व कवच आदि से सुसज्जित होना चाहिए।

५. उस राजा का निवास मण्ड में होना चाहिए अर्थात् वह सदैव प्रसन्नवदन ही होना वा दिखाई देना चाहिए, क्योंकि यदि राजा अथवा राजपरिवार के किसी सदस्य के मुखमण्डल पर चिन्ता, दर्द वा भय की रेखा दिखाई देगी, तो उस राष्ट्र की सम्पूर्ण प्रजा चिन्ता, भय व विषाद में डूब जायेगी। राजा का एक अश्रुकण प्रजा में करोड़ों अश्रुकण बहा देगा। इसीलिए राजा को सदैव प्रसन्न ही दिखाई देना चाहिए। वह अपनी चिन्ताओं का प्रजा को भान तक न होने दे, बल्कि केवल मन्त्रियों तक ही विचार-विमर्श हेतु सीमित रखे।

इन पाँच गुणों से युक्त मण्डूक संज्ञक इन्द्र अर्थात् राजा वारि को चाहता है अर्थात् प्रजा के प्रत्येक दु:ख का निवारण करने की इच्छा रखता है। जिस प्रकार वारि अर्थात् जल ग्रीष्म वा तृषा से आहत व्याक्ति को शान्ति प्रदान करता है, उसी प्रकार राजा का संरक्षण प्रजा के त्रिविध तापों का निवारण करके सुख और शान्ति प्रदान करता है। ऐसे इन्द्र राजा के लिए सबको शान्ति प्रदान करने वाला सोम परमात्मा सब ओर से ज्ञान, आनन्द व शान्ति की वृष्टि करता है। इसका अर्थ यह है कि प्रजापालक धर्मात्मा राजा की ईश्वर भी सर्वविध रक्षा करता है और उसे राज्य-पालन हेतु अनुकूल शक्ति भी देता है।

आध्यात्मिक भाष्य— (अश्वः, वोळहा, सुखम्, रथम्) [अश्वः = यजमानो वा अश्वः (तै.ब्रा.३.९.१७.५), इन्द्रो वा अश्वः (कौ.ब्रा.१५.४)। रथम् = रमणीयो व्यवहारः (म.द. ऋ.भा.६.४९.५), विद्याप्रकाशम् (म.द.य.भा.८.३३)] ब्रह्मयज्ञ का यजमान योगनिष्ठ पुरुष सदैव परमात्मा के ऐश्वर्यशाली साम्राज्य में रमण करता है अर्थात् वह स्वयं को सर्वोपरि सम्राट् परब्रह्म परमात्मा की प्रजा मानता है। ऐसा पुरुष संसार में आने वाली सभी समस्याओं को सहजता से वहन करने हेतु सुखद रथ की कामना करता है और उसे प्राप्त करने में समर्थ भी होता है। यहाँ सुखद रथ का तात्पर्य उसका परमानन्द में प्राप्त विद्या का प्रकाश और उस पावन प्रकाश में सभी के साथ रमणीय अर्थात् मधुर व्यवहार ही है। इस विवेक, विद्या वा मधुर व्यवहार के द्वारा वह समाज की सभी समस्याओं को दूर करने का

उपदेश करता है और स्वयं को उन समस्याओं से दूर रखते हुए आनन्दित रहता है। वह स्वयं को कभी दु:ख, अपमान आदि से आहत अनुभव नहीं करता, बल्कि सदैव ब्रह्मानन्द में लीन रहता है। (हसनाम्, उपमन्त्रिण:) उस योगी को मन्त्रणा देने वाले उसके मार्गदर्शक गुरु आदि उसे अपने योगपथ पर सहजतया प्रसन्नतापूर्वक चलने एवं योगमार्ग में आने वाले सभी विघ्नों से उसकी रक्षा करने वाले होते हैं। प्रारम्भिक योगाभ्यासी को तो ऐसे मार्गदर्शक गुरु की अति आवश्यकता होती है।

(शेप:, रोमण्वन्तौ, भेदौ) [लोम = छन्दांसि वै लोमानि (श.ब्रा.६.४.१.६)] यहाँ परमात्मा की कृपा व ज्ञान को निकटता से स्पर्श करने वाले वा उससे संसिक्त योगी को ही शेप कहा गया है। ऐसा शेपरूप योगी दैवी व आसुरी दोनों ही प्रकार की ऋचाओं को देखने की इच्छा करता और देखता भी है। उसे सभी छन्द समूहों का प्रत्यक्ष ज्ञान होने लगता है और उनके इस सृष्टि में होते प्रभाव को भी वह प्रत्यक्ष करने में समर्थ होता है। (वारिन्, मण्डूक:, इच्छति) उस योगी को ही यहाँ मण्डूक कहा गया है, जिसमें निम्नानुसार गुण होते हैं—

१. नित्य परमानन्द में निमग्न रहने का अभ्यासी।
२. उस ब्रह्मानन्द को ही सर्वोच्च आनन्द मानने वाला।
३. उसी परमानन्द से तृप्त तथा किसी भी सांसारिक वस्तु में आसक्ति न रखने वाला। इसके साथ ही अपने पुरुषार्थ व प्रारब्ध से जो भी सांसारिक वस्तुएँ प्राप्त हैं, उनसे ही तृप्त रहने वाला।
४. सदैव प्रसन्नवदन स्थितप्रज्ञ।
५. सत्य, करुणा, प्रेम, अस्तेय, ब्रह्मचर्य आदि सद्गुणों से सदैव समलङ्कृत।

ऐसा योगी सदैव सब दु:खों का निवारण करने वाले परब्रह्म परमात्मा के साक्षात्कार की ही कामना करता है। उसे सांसारिक वस्तुओं का कोई आकर्षण कभी नहीं होता।

(इन्द्राय, इन्दो, परिस्रव) ऐसा योगी इन्द्र परमेश्वर की उपासना से स्वयं भी इन्द्रवत् यशस्वी, दुर्गुणों व दु:खों का नाशक हो जाता है। ऐसे योगी के लिए शान्तिविधायक परमात्मा सब ओर से शान्ति व आनन्द प्रवाहित करता है। जब व्यक्ति पवित्र भाव से अपने

कर्त्तव्यों का ईश्वर-प्रणिधानपूर्वक पालन करता हुआ, सब जीवों के कल्याण की कामना करता हुआ, अष्टाङ्ग-योग द्वारा परमेश्वर की उपासना करता है, तब परमात्मा भी उस पर अपने आनन्द की वृष्टि करता है।

अब अश्व पद की ही एक ऋचा को अगले खण्ड में उद्धृत किया गया है।

* * * * *

= तृतीयः खण्डः =

मा नो मित्रो वरुणो अर्यमायुरिन्द्र ऋभुक्षा मरुतः परि ख्यन्।
यद्वाजिनो देवजातस्य सप्तेः प्रवक्ष्यामो विदथे वीर्याणि॥

[ऋ.१.१६२.१]

यद्वाजिनो देवैर्जातस्य सप्तेः सरणस्य प्रवक्ष्यामो यज्ञे विदथे वीर्याणि। मा नस्त्वं मित्रश्च वरुणश्चार्यमा चायुश्च वायुः। अयनः। इन्द्रश्चोरुक्षयणः। ऋभूणां राजेति वा। मरुतश्च परिख्यन्। शकुनिः। शक्नोत्युन्नेतुमात्मानम्। शक्नोति नदितुमिति वा। शक्नोति तकितुमिति वा। सर्वतः शङ्करोऽस्त्विति वा। शक्नोतेर्वा। तस्यैषा भवति॥ ३॥

इस ऋचा का ऋषि दीर्घतमा है, जिसके बारे में पूर्ववत् समझें। इसके देवता मित्रादि तथा छन्द निचृत् त्रिष्टुप् होने से मित्रादि पदार्थ तीक्ष्ण रक्तवर्णीय तेज को उत्पन्न करने लगते हैं। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(यत्, वाजिनः, देवजातस्य, सप्तेः, प्रवक्ष्यामः, विदथे, वीर्याणि) 'यद्वाजिनो देवैर्जातस्य सप्तेः सरणस्य प्रवक्ष्यामो यज्ञे विदथे वीर्याणि' [विदथानि वेदनानि (निरु.६.७), सप्तिः = अश्वनाम (निघं.१.१४), वायुः सप्तिः (तै.ब्रा.१.३.६.४), वाजी वेजनवान् (निरु.२.२८), इन्द्रो वै वाजी (ऐ.ब्रा.३.१८), छन्दांसि वै वाजिनः (गो.उ.१.२०, तै.ब्रा.१.६.३.९)] जिस समय विभिन्न प्राण रश्मियों रूपी देवों से उत्पन्न वेगवान् एवं बलवान् पूर्वोक्त अश्व संज्ञक

तरंगों को इस छन्द रश्मि की कारण रूप दीर्घतमा ऋषि संज्ञक रश्मियाँ विभिन्न यजन क्रियाओं के चलते प्रकाशित करती और सबल बनाती हैं। इसका अर्थ यह है कि पूर्व में विभिन्न कणों के यजन की जो प्रक्रिया दर्शायी है, उसी प्रक्रिया में भाग ले रहे विभिन्न कण आदि पदार्थों को दीर्घतमा ऋषि रश्मियाँ बल एवं प्रेरणा प्रदान करती हैं। यहाँ 'विदथ' पद से यह भी संकेत मिलता है कि सभी यजन क्रियाएँ सुनिश्चित विज्ञान के आधार पर होती हैं और ऐसा करने के लिए चेतनवत् व्यवहार करने वाली 'ओम्' रश्मियों अर्थात् काल रश्मियों की अनिवार्य भूमिका होती है। यहाँ 'सप्तिः' पद, जो कि 'सृ गतौ' धातु से व्युत्पन्न है, यह संकेत देता है कि इस श्रेणी की अश्व रश्मि वा तरंगें सर्पिलाकार गति करती हैं।

(मा, नः, मित्रः, वरुणः, अर्यमा, आयुः, इन्द्रः, ऋभुक्षाः, मरुतः, परि, ख्यन्) 'मा नस्त्वं मित्रश्च वरुणश्चार्यमा चायुश्च वायुः अयनः इन्द्रश्चोरुक्षयणः ऋभूणां राजेति वा मरुतश्च परिख्यन्' उस समय विभिन्न सूक्ष्म पदार्थ इस प्रक्रिया को बाधित न करके प्रेरित व अधिक सक्रिय ही करते हैं। वे पदार्थ कौन-२ से हैं, उनकी यहाँ चर्चा की गई है। वे पदार्थ इस प्रकार हैं—

१. मित्रः — इसके विषय में ऋषियों का कथन है— मेदयतेर्वा (निरु.१०.२१), प्राणो वै मित्रः (श.ब्रा.६.५.१.५), प्राणो मित्रम् (जै.उ.३.३.६)। इन वचनों का तात्पर्य यह है कि संयोगादि क्रियाओं में आकर्षण गुण की प्रधानता वाली रश्मियाँ अर्थात् प्राण रश्मियाँ विभिन्न संयोगादि क्रियाओं को सम्पादित करने में सहयोग करती हैं। यहाँ जो यह कहा गया है कि ये पदार्थ बाधक नहीं बनते, इस विषय में प्रश्न यह उठ सकता है कि आकर्षण बलयुक्त रश्मियाँ संयोज्य कण आदि पदार्थों के संयोग में बाधा डाल भी कैसे सकती हैं? इसका उत्तर यह है कि आकर्षण बल भी एक सीमा से आगे जाकर पदार्थ को विकृत ही करेगा, परन्तु यहाँ उस सीमा का उल्लंघन नहीं होता है, क्योंकि अन्य अपान आदि रश्मियाँ उसे ऐसा करने नहीं देंगी।

२. वरुणः — इसके विषय में कहा गया है— व्यानो वरुणः (श.ब्रा.१२.९.१.१६), अपानो वरुणः (श.ब्रा.८.४.२.६)। इसका अर्थ है कि अपान एवं व्यान रश्मियों का योग प्राण रश्मियों को अत्यधिक आकर्षण से रोकता है, क्योंकि अपान रश्मियाँ प्रतिकर्षण बल प्रधान होती हैं। इसके साथ ही व्यान रश्मियाँ प्राण एवं अपान रश्मियों को परस्पर बाँधते

हुए भी उनके बीच उचित अवकाश व सन्तुलन बनाए रखती हैं। इन दोनों रश्मियों का प्राण के साथ योग होकर विभिन्न यजन क्रियाओं में कण आदि पदार्थों की यजनशीलता को समृद्ध ही किया जाता है, बाधित नहीं।

३. अर्यमा — ऋषि दयानन्द ने यजुर्वेद ३४.५७ के भाष्य में सूत्रात्मा वायु को अर्यमा कहा है, क्योंकि यह अन्य रश्मियों को नियन्त्रित करके विभिन्न यजन क्रियाओं को सम्पादित करने में अनिवार्य भूमिका निभाता है। यह कभी भी यजन क्रियाओं में बाधक बन ही नहीं सकता।

४. आयुः — यहाँ स्वयं ग्रन्थकार ने वायुतत्त्व को आयु कहा है, क्योंकि यह निरन्तर गमनशील होता है। यद्यपि प्राणापान आदि रश्मियाँ वायु का ही भाग होती हैं, ऐसी स्थिति में ग्रन्थकार ने वायु को पृथक् से क्यों लिखा? इस विषय में हमें ऋषियों के निम्न वचनों पर विचार करना होगा— त्रैष्टुभो हि वायुः (श.ब्रा.८.७.३.१२), वायुर्वा अन्तरिक्षस्याध्यक्षः (तै.ब्रा.३.२.१.३), वायुरेव यजुः (श.ब्रा.१०.३.५.१), वाग्वै वायुः (तै.ब्रा.१.८.८.१)। इन वचनों से यह संकेत मिलता है कि यहाँ वायुतत्त्व को वायु नहीं कहा है, बल्कि आकाशतत्त्व की अवयवरूप याजुषी त्रिष्टुप् छन्द रश्मियों को ही वायु कहा गया है। उपर्युक्त वचनों में से महर्षि तित्तिर का यह कथन कि वायु अन्तरिक्ष का अध्यक्ष है, इस बात का संकेत करता है कि याजुषी त्रिष्टुप् छन्द रश्मियाँ आकाशतत्त्व का आधार रूप होती हैं। ग्रन्थकार ने वायु को अयन भी कहा है। उधर ऋषि दयानन्द ने अपने ऋग्वेद भाष्य ३.३३.७ तथा यजुर्वेद भाष्य १३.५३ में अयन को भूमि कहा है। इससे भी हमारे कथन की पुष्टि होती है, क्योंकि भूमि हमारा आधार होती है। यह आधार रूप वायु भी संयोज्य पदार्थों की यजन प्रक्रिया में बाधक नहीं, बल्कि उन कणों, मध्यस्थ कणों एवं रश्मियों के गमन में साधक ही बनता है।

५. ऋभुक्ष इन्द्रः — अनेक रश्मियों से उत्पन्न विद्युत् एवं वायु का विशेष संयोग रूपी इन्द्रतत्त्व भी यजन क्रियाओं को बाधित नहीं करता, बल्कि उनके सम्पादन में ही अपना योगदान देता है। इस सृष्टि के विभिन्न चरणों वा क्रियाओं में विद्युत् का स्तर पृथक्-२ होता है। जहाँ जितनी तीव्रता आवश्यक होती है, उतनी ही तीव्रता के बल उत्पन्न होते हैं। यह सब कार्य सर्वोच्च बुद्धिमती चेतना के प्रेरण व संरक्षण में ही सम्पन्न होते हैं।

यहाँ ग्रन्थकार ने ऋभुक्षा का अर्थ व्यापक अन्तरिक्ष में रहने वाला एवं ऋभुओं का

राजा कहा है। [ऋभुः = मेधाविनाम (निघं.३.१५), ऋभव उरु भान्तीति वा ऋतेन भान्तीति वा ऋतेन भवन्तीति वा (निरु.११.१६), आदित्यरश्मयोऽप्यृभव उच्यन्ते (निरु.११.१७)] इसका अर्थ यह है कि इन्द्रतत्त्व विभिन्न रश्मियों से युक्त आकाशतत्त्व में निवास करता तथा विभिन्न तरंगों का नियन्त्रक व प्रकाशक होता है।

६. मरुतः — विभिन्न यजन क्रियाओं में नाना प्रकार की मरुत् रश्मियाँ भी अपनी अनिवार्य भूमिका निभाती हैं। इनके बिना कोई भी बल कार्य नहीं कर सकता। इन्द्रतत्त्व भी मरुद् रश्मियों का भक्षण करके ही बलवत्तर होता है। नाना प्रकार की यजन क्रियाओं के क्षेत्र में अनेक मरुद् रश्मियाँ विद्यमान होती हैं, किन्तु वे किसी भी यजन प्रक्रिया में बाधक नहीं बनती, बल्कि विज्ञानपूर्ण प्रयोजनानुसार जिन-२ मरुद् रश्मियों की आवश्यकता होती है, वे-वे मरुद् रश्मियाँ यजन क्रियाओं में भाग लेती रहती हैं।

भावार्थ— विभिन्न संयोजक रश्मियाँ 'ओम्' रश्मियों के कारण अपने सम्पूर्ण व्यवहार निश्चित विज्ञानानुसार ही करती हैं। कोई भी क्रिया यदृच्छया वा अनिश्चित नहीं होती, भले ही हम उसके नियमों को न जान पायें। इन सभी क्रियाओं को कुछ पदार्थ निरन्तर प्रेरित और सक्रिय करते रहते हैं। इन पदार्थों में प्राण, अपान, व्यान, सूत्रात्मा वायु एवं याजुषी त्रिष्टुप् छन्द रश्मियाँ और विद्युत् मुख्य हैं। विभिन्न क्रियाओं में आकर्षण, प्रतिकर्षण, धारण आदि बलों का पूर्ण सन्तुलन अनिवार्य है। असंतुलित बल कभी भी सृजन कार्य नहीं कर सकते।

'अश्व' पद के निर्वचन के पश्चात् अगले पद 'शकुनि' का निर्वचन करते हुए लिखते हैं— 'शकुनिः शक्नोत्युन्नेतुमात्मानम् शक्नोति नदितुमिति वा शक्नोति तकितुमिति वा सर्वतः शङ्करोऽस्त्विति वा शक्नोतेर्वा'। अर्थात्—

१. शकुनि उस पदार्थ को कहते हैं, जो स्वयं को ऊपर उठाने में समर्थ होता है। यहाँ ऊपर उठाने से तात्पर्य यह है कि वह पदार्थ अपने आधार के आकर्षण बल के विरुद्ध प्रतिकर्षण का सामर्थ्य उत्पन्न करके उस आधार से दूर जाने की क्षमता रखता है।

२. वह पदार्थ गमन करते हुए अव्यक्त ध्वनियाँ उत्पन्न करने में समर्थ रहता है।

३. यहाँ 'तक्' धातु हँसने अर्थ में नहीं, बल्कि गति अर्थ में प्रयुक्त है, जैसा कि ग्रन्थकार ने निघं.२.१४ में इसे गतिकर्मा कहा है। इस कारण शकुनि वह पदार्थ है, जो तीव्रता से गति

करने में समर्थ होवे।

४. यह पदार्थ विभिन्न क्रियाओं को सहजता एवं नियन्त्रण वा सन्तुलन के साथ करने में समर्थ होता है।

५. यह पदार्थ सामर्थ्यवान् होने के कारण भी शकुनि कहलाता है।

हमारी दृष्टि में यह इन्द्रतत्त्व का ही एक विशेष रूप है। इस पद की ऋचा को अगले खण्ड में उद्धृत किया गया है।

* * * * *

चतुर्थः खण्डः

कनिक्रदज्जनुषं प्रब्रुवाण इयर्ति वाचमरितेव नावम्।
सुमङ्गलश्च शकुने भवासि मा त्वा का चिदभिभा विश्व्या विदत्॥
[ऋ.२.४२.१]

न्यक्रन्दीज्जन्म प्रब्रुवाणः। यथास्य शब्दस्तथा नाम। ईरयति वाचम्।
ईरयितेव नावम्। सुमङ्गलश्च शकुने भव। कल्याणमङ्गलः।
मङ्गलं गिरतेर्गृणात्यर्थे। गिरत्यनर्थानिति वा। अङ्गलमङ्गवत्।
मज्जयति पापकमिति नैरुक्ताः। मां गच्छत्विति वा। मा च त्वा काचित्।
अभिभूतिः सर्वतो विदत्।
गृत्समदमर्थमभ्युत्थितं कपिञ्जलोऽभिववाशे। तदभिवादिन्येषर्ग्भवति॥ ४॥

इस मन्त्र का ऋषि गृत्समद है अर्थात् इस छन्द रश्मि की उत्पत्ति प्राण एवं अपान रश्मियों के युग्म से होती है। इसका देवता कपिञ्जलवत् इन्द्र तथा छन्द त्रिष्टुप् है। इस कारण इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से कपिञ्जल पक्षी (चातक) के समान गमन करने वाला इन्द्रतत्त्व तीव्र रक्तवर्णीय तेज से युक्त होने लगता है। कपिञ्जल के विषय में महर्षि याज्ञवल्क्य लिखते हैं— स यत्सोमपानम् (विश्वरूपस्य मुखम्) आस ततः कपिञ्जलः

समभवत् (श.ब्रा.१.६.३.३, ५.५.४.४)। इस वचन से यह प्रतीत होता है कि जब इन्द्रतत्त्व सोम रश्मियों का अवशोषण कर लेता है, तब उसकी गति में कुछ अन्तर आ जाता है और उसकी गति ही चातक पक्षी के समान बताई है। हम जानते हैं कि इन्द्रतत्त्व कुछ छन्दादि रश्मियों का एक विशेष संयोग है। सोम रश्मियों का पान करके उसकी गति में क्या अन्तर आता है और इसके पूर्व भी उसकी गति कैसी होती है, इसे कोई महर्षि ही अपने योगबल से जान सकता है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(कनिक्रदत्, जनुषम्, प्रब्रुवाण, इयर्ति, वाचम्, अरिता, इव, नावम्) 'न्यक्रन्दीज्जन्म प्रब्रुवाणः यथास्य शब्दस्तथा नाम ईरयति वाचम् ईरयितेव नावम्' [नौः = वाङ्नाम (निघं.१.११)] पूर्वोक्त शकुनि रूप तत्त्व विशेष अपने जन्म से ही अव्यक्त ध्वनियों को उत्पन्न करता हुआ [वाक् = वागेव सरस्वती (ऐ.ब्रा.२.२४), अथ यत् स्फूर्जयन् वाचमिव वदन् दहति तदस्य (अग्नेः) सारस्वतं रूपम् (ऐ.ब्रा.३.४)] तीव्र गड़गड़ाहट से अग्नि की ज्वालाओं को प्रकृष्ट रूप से इस प्रकार प्रकाशित और प्रेरित करने लगता है, जैसे कोई नाविक नाव को प्रेरित करता है। इसका अर्थ यह है कि वह इन्द्रतत्त्व विशेष इन ज्वालाओं का नायक रूप होता है अर्थात् इसके अभाव में गड़गड़ाहट युक्त अग्नि की ज्वालाएँ उत्पन्न नहीं हो सकतीं अथवा उत्पन्न होकर अधिक समय तक जलती नहीं रह सकतीं। आधिदैविक पक्ष में उपमा का विशेष महत्त्व नहीं होता। इस कारण 'अरिता इव नावम्' का अर्थ यह है कि जैसे ही अथवा जिस स्तर पर विभिन्न छन्द रश्मियों को प्रेरित करने वाली प्राण रश्मियाँ उन्हें प्रेरित करती हैं अथवा उन्हें तारती हैं अर्थात् उन्हें नाना प्रकार की क्रियाओं को कराने में समर्थ बनाती हैं, वैसे ही उसी स्तर पर यह इन्द्रतत्त्व विशेष अग्नि की ज्वालाओं को प्रेरित करता है।

(सुमङ्गलः, च, शकुने, भवासि, मा, त्वा, काचित्, अभिभा, विश्व्याः, विदत्) 'सुमङ्गलश्च शकुने भव कल्याणमङ्ग मङ्गलं गिरतेर्गृणात्यर्थे गिरत्यनर्थानिति वा अङ्गलमङ्गवत् मज्जयति पापकमिति नैरुक्ताः मां गच्छत्विति वा मा च त्वा काचित् अभिभूतिः सर्वतो विदत्' [कल्याणम् = कल्याणं कमनीयं भवति (निरु.२.३)] यहाँ उस शकुनि रूप इन्द्रतत्त्व विशेष के विषय में कहा गया है कि वह तत्त्व सुमङ्गल रूप होता है। यहाँ ग्रन्थकार ने 'मङ्गलः' पद का निर्वचन भी किया है। उसका तात्पर्य यह है कि वह शकुनि रूप इन्द्रतत्त्व कमनीय अर्थात् आकर्षण गुण से अच्छी प्रकार युक्त होता है और वह अन्य पदार्थों को भी

अपने इस गुण से युक्त करता है। 'मङ्गलम्' पद का अगला अर्थ यह बतलाता है कि वह इन्द्रतत्त्व विभिन्न पदार्थों को प्रकाशित अर्थात् तेजस्वी बनाता है और इसके लिए कुछ वाक् रश्मियों को भी उत्पन्न करता है। पुनः 'मङ्गल' पद यह भी संकेत देता है कि वह इन्द्रतत्त्व नाना यजन क्रियाओं के मार्ग में आए हुए असुरादि अनर्थ अर्थात् अनुपयोगी अथवा बाधक पदार्थों को निगल कर नष्ट कर देता है।

अगला निर्वचन यह संकेत देता है कि वह इन्द्रतत्त्व संयोज्य कण आदि पदार्थों का अङ्गलरूप होता है अर्थात् वह उन कणों वा क्रियाओं का अङ्गरूप बन जाता है अर्थात् उनमें प्रत्यक्ष भाग लेता है। ग्रन्थकार ने 'अङ्गलम्' के विषय में लिखा है— अङ्गेति क्षिप्रनाम अञ्चितमेवाङ्कितं भवति (निरु.५.१७), अङ्गनादञ्चनाद्वा (निरु.४.३)। इसका अर्थ यह है कि वह इन्द्रतत्त्व उन यजन क्रियाओं में अतिवेगपूर्वक भाग लेता है और इस तीव्र वेग के कारण ही उन कणों व क्रियाओं पर अपनी छाप छोड़ता है।

अब 'मङ्गलम्' पद का अगला निर्वचन, जिसे ग्रन्थकार ने पूर्व नैरुक्तों का मत कहा है, दर्शाता है कि यह इन्द्रतत्त्व पापरूप पदार्थों अर्थात् जो संयोज्य कणों को यजन प्रक्रिया के समय बार-२ मार्ग और दिशा से पतित करने का प्रयास करते हैं, उन्हें छिन्न-भिन्न करके आकाशतत्त्व में डुबो देता अर्थात् मिला देता है। यहाँ ग्रन्थकार की अद्भुत निर्वचन क्षमता के दर्शन होते हैं। इस प्रकार ऐसे मंगलरूप गुणों से अच्छी प्रकार समृद्ध वह इन्द्रतत्त्व इस छन्द रश्मि की कारणरूप प्राण-अपान रश्मि युग्म को प्राप्त होता है। यह अर्थ भी अन्तिम निर्वचन 'मां गच्छत्विति वा' से प्राप्त होता है।

उस ऐसे सुमङ्गल शकुनिरूप इन्द्रतत्त्व को कोई भी पदार्थ पराभूत नहीं कर सकता है अर्थात् जब यजन प्रक्रियाएँ तेजी से चल रही होती हैं, यह इन्द्रतत्त्व उन प्रक्रियाओं में सक्रिय भाग ले रहा होता है, उस समय उस क्षेत्र में कुछ बाधक पदार्थ भी विद्यमान होते हैं, किन्तु उनमें से कोई भी बाधक पदार्थ उस इन्द्रतत्त्व को पराभूत करने में समर्थ नहीं होता है।

भावार्थ— तीव्र विद्युत् तरंगें जब प्रभूत मात्रा में मरुद् रश्मियों को अवशोषित कर लेती हैं, तब वे चातक पक्षी के समान गमन करने लगती हैं। वे तरंगें अव्यक्त ध्वनियाँ उत्पन्न करती हुई अग्नि की ज्वालाओं को उत्पन्न, प्रकाशित व प्रेरित करने लगती हैं। ये तरंगें कुछ बाधक पदार्थों को निगलकर नष्ट भी कर देती हैं और कुछ पदार्थों को छिन्न-भिन्न

करके आकाशतत्त्व में मिला देती हैं।

मन्त्र के व्याख्यान के पश्चात् ग्रन्थकार शकुनि के विषय में ही पुनः लिखते हैं— 'गृत्समदमर्थमभ्युत्थितं कपिञ्जलोऽभिववाशे'। जब गृत्समद संज्ञक ऋषि रश्मियाँ पूर्वोक्त छन्द रश्मि को उत्पन्न करने के लिए सक्रिय होती हैं, उस समय पूर्वोक्त कपिञ्जल इन्द्र अर्थात् शकुनि रूप इन्द्र, जो उस समय वहाँ विद्यमान होता है, सब ओर से अव्यक्त ध्वनियाँ उत्पन्न करने लगता है। उस समय अगले खण्ड में प्रस्तुत एक छन्द रश्मि गृत्समद ऋषि रश्मियों के द्वारा उत्पन्न होने लगती है। यहाँ प्रायः सभी भाष्यकारों ने उस ऋचा को कपिञ्जल के द्वारा कहा गया बताया है, इसका कारण यहाँ 'गृत्समदम्' इस द्वितीयान्त प्रयोग को समझा गया है, परन्तु अगले खण्ड में प्रस्तुत ऋचा के भाष्य में सभी भाष्यकार गृत्समद ऋषि द्वारा कपिञ्जल पक्षी को दिया हुआ उपदेश मानते हैं। ऐसी स्थिति में इस ऋचा को कपिञ्जल द्वारा बोला हुआ कैसे मान सकते हैं? भाष्यकारों द्वारा पक्षी और ऋषि के कल्पित संवाद के विषय में तो हम इतना ही कहना चाहेंगे कि कोई भी भाष्यकार निरुक्त के रहस्य को समझने में समर्थ नहीं हो सका है, भले ही उसने व्याकरणादि ग्रन्थों का भरपूर प्रयोग किया हो।

अब हम अगले खण्ड में उस ऋचा पर विचार करेंगे।

* * * * *

पञ्चमः खण्डः

भद्रं वद दक्षिणतो भद्रमुत्तरतो वद।

भद्रं पुरस्तान्नो वद भद्रं पश्चात्कपिञ्जलः॥ [खिल सू.३.१]

इति सा निगदव्याख्याता। गृत्समदो गृत्समदनः। गृत्स इति मेधाविनाम। गृणातेः स्तुतिकर्मणः। मण्डूका मज्जूका मज्जनात्। मदतेर्वा मोदतिकर्मणः। मन्दतेर्वा तृप्तिकर्मणः। मण्डयतेरिति वैयाकरणाः। मण्ड एषामोक इति वा। मण्डो मदेर्वा। मुदेर्वा। तेषामेषा भवति॥ ५॥

इस मन्त्र के विषय में पण्डित चन्द्रमणि विद्यालंकार अपने निरुक्त-भाष्य में लिखते हैं—

"ऋग्वेद २.४२, ४३ सूक्तों के अनन्तर कई शाखाओं में व्याख्यारूप में पाँच ऋचाओं का एक और सूक्त पढ़ा हुआ है, जिसका 'भद्रं वद दक्षिणतः' आदि पहला मन्त्र है।"

इस कारण स्कन्दस्वामी आदि सभी भाष्यकारों ने इस मन्त्र को खिलपाठ का अंश बताया है। यह मन्त्र ग्रन्थकार ने उद्धृत किया है, इसलिए इसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। ऐसे मन्त्रों के विषय में हमारा मत सदैव ही यह रहा है कि ये मन्त्र मूल संहिताओं में न होते हुए भी इस सृष्टि में अवश्य विद्यमान होते हैं। इस कारण सृष्टि प्रक्रिया में ये मन्त्र भी उतने ही महत्त्वपूर्ण हैं, जितने कि अन्य मन्त्र।

इस मन्त्र का ऋषि गृत्समद है, जिसके विषय में ग्रन्थकार ने लिखा है— 'गृत्समदो गृत्समदनः गृत्स इति मेधाविनाम गृणातेः स्तुतिकर्मणः'। इस वचन से बुद्धि अर्थात् महत्तत्त्व से विशेष सक्रिय सूत्रात्मा वायु रश्मियों को ही गृत्समद ऋषि मानना चाहिए। उधर महर्षि ऐतरेय महीदास का कथन है— 'स यत्प्राणो गृत्सोऽपानो मदस्तस्माद् गृत्समदः' अर्थात् प्राण एवं अपान रश्मियों का युग्म ही गृत्समद कहा जाता है और हमने पूर्व में सर्वत्र इसी अर्थ को ग्रहण किया है, परन्तु यहाँ ग्रन्थकार ने ऋचा की व्याख्या न करके और न ही ऋचा के किसी पद का निर्वचन करके, इस ऋषिवाची पद का निर्वचन किया है। तब इस निर्वचन की उपेक्षा नहीं की जा सकती।

इस निर्वचन से यह स्पष्ट होता है कि इस छन्द रश्मि की उत्पत्ति विशेष सक्रिय सूत्रात्मा वायु रश्मियों से ही होती है। इसका देवता कपिञ्जल-इन्द्र तथा छन्द अनुष्टुप् होने से इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से कपिञ्जल-इन्द्रतत्त्व, जिसके विषय में पूर्व खण्ड में लिख चुके हैं, लाल मिश्रित भूरे रंग के तेज से युक्त होने लगता है। इसका भाष्य ग्रन्थकार ने नहीं किया है, किन्तु हम इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार कर रहे हैं—

(कपिञ्जलः, भद्रम्, वद, दक्षिणतः, भद्रम्, उत्तरतः, वद) कपिञ्जल वा शकुनि रूपी इन्द्र विभिन्न यजन प्रक्रियाओं में भाग लेता हुआ संयोजी कणों के उत्तरी और दक्षिणी दोनों ही दिशाओं में अनुकूलतापूर्वक कार्य करता है। (भद्रम्, पुरस्तात्, नः, वद, भद्रम्, पश्चात्)

इसी प्रकार वह इन्द्रतत्त्व उन कणों के पूर्वी और पश्चिमी दिशाओं में हो रही क्रियाओं को भी सहज बनाता है। सारांशतः यह इन्द्रतत्त्व यजन प्रक्रियाओं में जो भी सूक्ष्म वा स्थूल क्रियाएँ होती हैं, उन्हें सहजता प्रदान करता है।

'शकुनि' पद की व्याख्या के उपरान्त ग्रन्थकार 'मण्डूकाः' पद का निर्वचन करते हुए लिखते हैं— 'मण्डूका मज्जूका मज्जनात् मदतेर्वा मोदतिकर्मणः मन्दतेर्वा तृप्तिकर्मणः मण्डयतेरिति वैयाकरणाः मण्ड एषामोक इति वा मण्डो मदेर्वा मुदेर्वा' इस निर्वचन की व्याख्या हम खण्ड ९.२ में कर चुके हैं। इस पद की ऋचा को अगले खण्ड में प्रस्तुत किया गया है।

* * * * *

= षष्ठः खण्डः =

संवत्सरं शशयाना ब्राह्मणा व्रतचारिणः।
वाचं पर्जन्यजिन्वितां प्र मण्डूका अवादिषुः॥ [ऋ.७.१०३.१]
संवत्सरं शिश्याना ब्राह्मणा व्रतचारिणोऽब्रुवाणाः। अपि वोपमार्थे स्यात्।
ब्राह्मणा इव व्रतचारिण इति। वाचं पर्जन्यप्रीतां प्रावादिषुर्मण्डूकाः।
वसिष्ठो वर्षकामः पर्जन्यं तुष्टाव। तं मण्डूका अन्वमोदन्त।
स मण्डूकाननुमोदमानान् दृष्ट्वा तुष्टाव। तदभिवादिन्येषगर्भवति॥ ६॥

इस मन्त्र का ऋषि वसिष्ठ है अर्थात् इस छन्द रश्मि की उत्पत्ति अग्नि के अन्दर विद्यमान प्राण रश्मियों से होती है। इसका देवता मण्डूक तथा छन्द अनुष्टुप् होने से इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से प्राक् वर्णित मण्डूक संज्ञक रश्मि आदि पदार्थ लाल मिश्रित भूरे रंग को उत्पन्न करने लगते हैं और नाना प्रकार की संयोजन क्रियाएँ अनुकूलतापूर्वक होने लगती हैं। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(संवत्सरम्, शशयानाः, ब्राह्मणाः, व्रतचारिणः) 'संवत्सरं शिश्याना ब्राह्मणा व्रतचारिणोऽ-ब्रुवाणाः अपि वोपमार्थे स्यात् ब्राह्मणा इव व्रतचारिण इति' [संवत्सरः = अग्निः संवत्सरः

(तां.ब्रा.१७.१३.१७), संवत्सरोऽग्नि: (श.ब्रा.६.३.१.२५), स यः स संवत्सरोऽसौ स आदित्य: (श.ब्रा.१०.२.४.३), मध्ये ह संवत्सरस्य स्वर्गो लोक: (श.ब्रा.६.७.४.११), संवत्सर: स्वर्गो लोक: (तै.ब्रा.२.२.३.६, श.ब्रा.८.४.१.२४, तां.ब्रा.१८.२.४)। ब्राह्मण: = गायत्रो वै ब्राह्मण: (ऐ.ब्रा.१.२८), ब्राह्मणो हि रक्षसामपहन्ता (श.ब्रा.१.१.४.६), आग्नेयो हि ब्राह्मण: (काठ.सं.२९.१०)। व्रतम् = व्रतमिति कर्मनाम...वृणोतीति सत: (निरु.२.१३), अन्नं वै व्रतम् (श.ब्रा.७.५.१.२५, तां.ब्रा.२२.४.५), वीर्यं वै व्रतम् (श.ब्रा.१३.४.१.१५)] सूर्यादि तेजस्वी लोकों, विशेषकर उनके केन्द्रीय भाग के अन्दर सर्वत्र ही ब्राह्मण संज्ञक रश्मि आदि पदार्थ सोये रहते हैं अर्थात् व्याप्त रहते हैं। इस कारण वहाँ अग्नितत्त्व की विशेष प्रबलता होती है। इसके साथ ही गायत्री छन्द रश्मियों की भी प्रचुरता होती है। ब्राह्मण संज्ञक पदार्थ के विषय में 'वेदविज्ञान-आलोक:' ग्रन्थ का ३४वाँ अध्याय अवश्य पठनीय है। ध्यातव्य है कि ब्राह्मण एवं क्षत्रिय सापेक्ष होते हैं और पृथक्-२ क्रियाओं वा चरणों में ये भी पृथक्-२ ही होते हैं। इन सूर्यादि लोकों में विभिन्न चरणों में ब्राह्मण संज्ञक पदार्थ की भूमिका निभाने वाले सभी पदार्थ सर्वत्र विद्यमान रहते हैं। ये पदार्थ तेजस्वी तथा संयोजक बलों से युक्त होने के कारण नाना प्रकार के कण आदि पदार्थों को उत्पन्न करने में बीज की भूमिका निभाते हैं। ये निरन्तर सक्रिय रहते हैं, इन कारणों से इन्हें व्रतचारी कहा है। यहाँ 'शशयाना:' का अर्थ सोये हुए नहीं, बल्कि व्याप्त हुए मानना चाहिए।

(वाचम्, पर्जन्यजिन्विताम्, मण्डूका:, प्र, अवादिषु:) 'वाचं पर्जन्यप्रीतां प्रावादिषुर्मण्डूका:' [पर्जन्य: = पर्जन्यस्तृपेराद्यन्तविपरीतस्य तर्पयिता जन्य: परो जेता वा परो जनयिता वा प्रार्जयिता वा रसानाम् (निरु.१०.१०), पर्जन्यो वा अग्नि: (श.ब्रा.१४.९.१.१३)] मण्डूक संज्ञक पूर्वोक्त रश्मियाँ सौर मेघों, जो नाना प्रकार के रसरूप किंवा संयोज्य कण आदि पदार्थों से भरे होते हैं, को आकर्षित करने वाली छन्द रश्मियों को उत्पन्न वा आकर्षित करने लगती हैं। इसका अर्थ है कि मण्डूक संज्ञक रश्मियों की सहायता से सूर्य के तल पर विद्यमान आग्नेय मेघों से विभिन्न प्रकार के आयन्स को आकर्षित करके आभ्यन्तर भागों की ओर ले जाती हैं। यहाँ 'वद' धातु का अर्थ गति करना व प्रकाशित करना भी ग्राह्य है। ऐसी स्थिति में ज्ञात होगा कि मण्डूक संज्ञक रश्मियाँ विभिन्न छन्द रश्मियों को प्रकाशित व गतिशील अर्थात् विशेष सक्रिय करती हैं। यहाँ 'पर्जन्य:' शब्द यह संकेत देता है कि ये सौर मेघ अपने आस-पास के क्षेत्रों से विभिन्न कणों को आकर्षित व नियन्त्रित करते रहते

हैं। इस कारण वे उन कणों का अर्जन व विसर्जन निरन्तर करते रहते हैं। इस प्रकार सूर्य्यादि तेजस्वी लोकों में मण्डूक संज्ञक रश्मियों की महती भूमिका होती है।

भावार्थ— तारों के केन्द्रीय भाग में बलों के उत्पादक पदार्थ प्रधानता से विद्यमान होते हैं, जिसके कारण विभिन्न यजन क्रियाएँ तीव्र होकर ऊष्मा को प्रभूत मात्रा में उत्पन्न करती हैं। बलों के उत्पादक विभिन्न मध्यस्थ कणों को प्रेरित व सक्रिय करने वाली विशेष प्रकार की रश्मियाँ सौर मेघों के अन्दर भी विद्यमान होती हैं, जिससे वे नाना प्रकार के कणों के बीच यजन प्रक्रिया को समृद्ध करती हैं।

ऋचा के व्याख्यान के पश्चात् लिखते हैं— 'वसिष्ठो वर्षकामः पर्जन्यं तुष्टाव तं मण्डूका अन्वमोदन्त स मण्डूकाननुमोदमानान् दृष्ट्वा तुष्टाव तदभिवादिन्येषर्ग्भवति' अर्थात् सूर्य्यादि लोकों के अन्दर विद्यमान वसिष्ठ अर्थात् अग्नि सौर मेघों से विभिन्न कणों की वृष्टि की कामना से उन्हें प्रकाशित करता है। इसका भाव यही है कि जब वे मेघ अधिक तपने लगते हैं, तभी उनमें से आयन्स का आभ्यन्तर भाग की ओर प्रवहन हो पाता है। इसी समय मण्डूक संज्ञक रश्मियाँ भी मेघों के ताप के बढ़ने के साथ-२ विशेष सक्रिय होने लगती हैं। मण्डूक रश्मियों के कार्य के विषय में हम पूर्व में लिख चुके हैं। उन मण्डूक रश्मियों के सक्रिय होने पर प्राण नामक वसिष्ठ ऋषि रश्मियों से एक ऋचा उत्पन्न होती है, जिसे अगले खण्ड में प्रस्तुत किया गया है।

इस खण्ड का भाष्य पण्डित भगवद्दत्त रिसर्च स्कॉलर का भी पठनीय है, जिसे हम यहाँ उद्धृत कर रहे हैं—

''संवत्सर पद का उपचार मात्र है। अधिक से अधिक मण्डूक दस मास लेटे रहते हैं। ये मण्डूक मध्यम स्थान के दैवी ब्राह्मण हैं। वे ही सोमिनः है। इसीलिए इस सूक्त की आठवीं ऋक् में कहा है—

ब्राह्मणासः सोमिनो वाचमक्रत ब्रह्म कृण्वन्तः परिवत्सरीणम्।
अध्वर्यवो घर्मिणः सिष्विदाना आविर्भवन्ति गुह्या न के चित्॥

अर्थात्— ब्राह्मणों ने सोम वालों ने [वेद] वाक् को किया। ब्रह्म = वेद को करते हुए वार्षिक को। अध्वर्यु तपे हुए, स्वेद वाले होते हुए प्रकट होते हैं, गुह्य नहीं कोई भी।

इस सरल पर अत्यन्त गूढ रहस्य वाले मन्त्र का एच. डी. वेलङ्करजी ने निम्न उद्धृत अनुवाद अंग्रेजी में किया है—

"These Soma-offering priests have raised their voice, reciting their annual prayer. These perspiring priests surrounded by heat, all come out, none lies concealed."

यहाँ ब्राह्मणासः और अध्वर्यवः इन दो भिन्न पदों का एक ही अर्थ priests उचित नहीं ठहरता और ब्रह्म पद का अर्थ भी ठीक नहीं किया गया। यदि वेलङ्करजी को वेद ज्ञान का मूलतत्त्व ज्ञात होता और वे मन्त्रों की उत्पत्ति का दिव्य क्रम ध्यान में किए होते, तो ऐसा भद्दा अर्थ न करते। मण्डूकों को केवल पार्थिव मण्डूक समझना ही इस भूल का कारण है।

मैकडानल ने ब्राह्मणासः और अध्वर्यवः पदों का अर्थ नहीं किया। यह अच्छा किया। पर ब्रह्म का prayer अर्थ उसने भी युक्त नहीं किया। यहाँ ब्रह्म पद मन्त्र के लिए और वाचम् पद मन्त्रों अथवा वाणी के लिए ही है। यह भाव समझते ही वेद का दैवी स्वरूप सामने आ जाता है। मैकडानल और वेलङ्कर ने वाचमकृत का भ्रष्ट अनुवाद किया— 'raised their voice.'

इसके साथ तुलना कीजिए द्वितीय, सप्तम और दशम मण्डल के अगले मन्त्रों की—

१. उस्रा इव सूर्यो ज्योतिषा महो विश्वेषामिज्जनिता ब्रह्मणामसि। (२.२३.२)
२. ब्रह्म स्तोमं गृत्समदासो अक्रन्। (२.३९.८)
३. ये च पूर्व ऋषयो ये च नूत्ना इन्द्र ब्रह्माणि जनयन्त विप्राः। (७.२२.९)
४. प्र ब्रह्मैतु सदनादृतस्य। (७.३६.१)
५. ब्रह्म कृण्वन्तो हरिवो वसिष्ठाः। (७.३७.४)
६. न्युप्ताश्च बभ्रवो वाचमक्रतँ। (१०.३४.५)
७. वसिष्ठासो पितृवद् वाचमक्रत। (१०.६६.१४)
८. सुपर्णा वाचमक्रत। (१०.९४.५)

जो मण्डूक दिव्य वाक् के करने वाले हैं, वे वेतस आदि के साथी भौतिक परमाणुओं के संघात अन्तरिक्षस्थ हैं। उन्हीं के कुछ गुणों के आधार पर पृथिवी पर के

मण्डूकों का नामकरण हुआ है। इनका आश्रय पार्थिव अग्निः पर है। अतः मण्डूक सूक्त में पार्थिव मण्डूकों का अंशतः ग्रहण है, पर सर्वत्र आकर्षण नहीं हो सकता। यास्क की महती सूक्ष्मेक्षिका है। अतः उसने पार्थिव अंश के जानने के लिए प्रस्तुत मन्त्र का एक दूसरा अर्थ भी बता दिया। वह है— ब्राह्मणा इव व्रतचारिण इति। ब्राह्मणों के समान व्रत का आचरण करने वाले। इस उपमा से मन्त्र में पार्थिव मण्डूकों का कुछ आभास मिल जाता है। आधिभौतिक मण्डूकों का वर्णन शतपथ ९.१.२.२१ में है। यथा—

एतद्वै यत्रैतं प्राणा ऽऋषयोऽग्रेऽग्निं समस्कुर्वंस्तमद्भिरवोक्षंस्ता ऽआपः
समस्कन्दंस्ते मण्डूका ऽअभवन्।

मन्त्र में ब्राह्मण के व्रत की महती प्रशंसा है। इस मन्त्रगत ब्राह्मण पद के निर्वचन का उद्धरण देते हुए भट्ट कुमारिल ने— ब्राह्मणो ... ब्रवणात् इति, पाठ निरुक्त से उद्धृत किया है। इस पर कुमारिल ने व्यंग्य से उपहास भी किया है। यह बात सरूप जी के संस्करण के पृष्ठ १६० के १६ टिप्पण में व्यक्त की गई है। वह टिप्पण मेरे द्वारा लिखाया गया था। निरुक्त के उपलब्ध पाठों में यह निर्वचन बदल कर और अब्रुवाणाः निर्वचन दिखाकर, उसका व्रतचारिणः पद से सम्बन्ध जोड़ा गया है। सम्भवतः कुमारिल की चोट से भयभीत होकर यह पाठ बदला गया है। पर कुछ हस्तलेखों से उस पुराने पाठ का अस्तित्व अब भी ज्ञात हो जाता है।

यहाँ पूरे प्रसङ्ग में वसिष्ठ और मण्डूक दोनों दिव्य हैं।''

* * * * *

सप्तमः खण्डः

उप प्र वद मण्डूकि वर्षमा वद तादुरि।
मध्ये ह्रदस्य प्लवस्व विगृह्य चतुरः पदः ॥ [अथर्व.४.१५.१४]
इति सा निगदव्याख्याता।
अक्षाः। अश्नुवत एनानिति वा। अभ्यश्नुवत एभिरिति वा।

तेषामेषा भवति॥ ७॥

इस मन्त्र का ऋषि अथर्वा है। [अथर्वा = प्राणो वाऽअथर्वा (श.ब्रा.६.४.२.१), अथर्वा त्वा प्रथमो निरमन्थदग्ने (मै.सं.२.७.३)] इसका तात्पर्य यह है कि इस छन्द रश्मि की उत्पत्ति अग्नि के मन्थन से निःसृत प्राण रश्मियों से होती है। इसका देवता पर्जन्य तथा छन्द अनुष्टुप् होने से इसके दैवत व छान्दस प्रभाव से सौर मेघों में विद्यमान नाना प्रकार की छन्द रश्मियाँ अनुकूलतापूर्वक सक्रिय होती हैं एवं लाल मिश्रित भूरे रंग का तेज उत्पन्न होने लगता है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(मण्डूकि, उप, प्र, वद, तादुरि) पूर्वोक्त मण्डूक संज्ञक छन्द रश्मियाँ सौर मेघों के निकट उत्पन्न होकर प्रकृष्टतया स्पन्दित होकर उन मेघों को तेजोमय बनाने लगती हैं। वे [तादुरि = तरणशीले (स्कन्दस्वामी भाष्य)] मण्डूक रश्मियाँ तरणशील होती हैं। इसका अर्थ यह है कि ये रश्मियाँ अन्य दुर्बल रश्मियों को अपने साथ वहन करके उन्हें सबल बनाकर नाना क्रियाओं को सम्पन्न करने में समर्थ बनाती हैं। (वर्षम्, आ, वद) इससे उन सौर मेघों से नाना प्रकार के संयोज्य कणों की सूर्य के केन्द्रीय भाग की ओर सब ओर से अर्थात् सभी मेघों से वर्षा होने लगती है।

(मध्ये, ह्रदस्य, प्लवस्व, विगृह्य, चतुरः, पदः) 'ह्रदः' पद के विषय में हम पूर्व में खण्ड १.१० में लिख चुके हैं, पाठक उस स्थल को अवश्य पढ़ें, तभी यह प्रकरण बुद्धिगत हो सकेगा। वे मण्डूक संज्ञक रश्मियाँ इन ह्रद नामक कणों, जो सौर मेघों से ही निःसृत हो रहे होते हैं, के अन्दर उछलती-कूदती हुई सी गमन करती हैं। [पादः = दिशः पादाः (तै.सं.७.५.२५.१)] वे चारों दिशाओं में झूमते चलते हुए ह्रद नामक कणों को आकृष्ट करती हुई गमन करती हैं। यहाँ ऐसा प्रतीत होता है कि ये ह्रद नामक कण ही आयन्स हैं और ये मण्डूक रश्मियाँ ही उन आयन्स को सूर्य के केन्द्रीय भाग की ओर ले जाने में सहायक होती हैं। पूर्व में खण्ड १.१० में 'ह्रद' नामक कणों को शीतीभाव वाला भी कहा है। इससे हमें ऐसा प्रतीत होता है कि ये कण सुस्त अर्थात् मन्द गति से गमन करने वाले होते हैं, परन्तु मण्डूक रश्मियाँ उन्हें पकड़ कर केन्द्र की ओर लाती हैं। यहाँ 'वद' यह मध्यम पुरुष का प्रयोग यह बतलाता है कि मण्डूक रश्मियों को ऐसा करने के लिए इस मन्त्र की ऋषि अर्थात् प्राण रश्मियाँ ही प्रेरित करती हैं।

भावार्थ— बलों को उत्पन्न करने वाले मध्यस्थ कण सौर मेघों के निकट उत्पन्न होकर विद्युत् चुम्बकीय बलों की सक्रियता को बढ़ाते हुए मेघों को तेजोमय बनाने लगते हैं। इन बल कणों को सक्रिय करने वाली रश्मियाँ अन्य दुर्बल बलों को सबल बनाकर सौर मेघों से नाना प्रकार के कणों की वृष्टि कराने लगती हैं। वे रश्मियाँ विभिन्न आयन्स को सूर्य के केन्द्रीय भाग की ओर ले जाने में सहायक होती हैं। ये रश्मियाँ उन कणों की ऊर्जा को बढ़ाती हुई उन्हें वहन करती हैं।

'मण्डूक' पद के पश्चात् ग्रन्थकार अगले पद 'अक्षाः' का निर्वचन करते हुए लिखते हैं— 'अक्षाः अश्नुवत एनानिति वा अभ्यश्नुवत एभिरिति वा' अर्थात् अक्ष उन पदार्थों का नाम है, जो सम्पूर्ण सृष्टि में व्याप्त रहते हैं अथवा इन पदार्थों की व्याप्ति में नाना प्रकार की यजन प्रक्रियाओं को प्राप्त किया जाता है। हमारी दृष्टि में इस पद के अनेक अर्थ आधिदैविक पक्ष में भी हो सकते हैं। ये पदार्थ सभी स्थूल पदार्थों में व्याप्त भी रहते हैं और इनके संघात से स्थूल पदार्थों का निर्माण भी होता है। हम प्रकरण के अनुसार भी इस पद का अर्थ यथाप्रसंग करेंगे। इसकी ऋचा अगले खण्ड में प्रस्तुत की गई है।

* * * * *

≡ अष्टमः खण्डः ≡

प्रावेपा मा बृहतो मादयन्ति प्रवातेजा इरिणे वर्वृतानाः।
सोमस्येव मौजवतस्य भक्षो विभीदको जागृविर्मह्यमच्छान्॥

[ऋ.१०.३४.१]

प्रवेपिणो मा महतो विभीदकस्य फलानि मादयन्ति। प्रवातेजाः प्रवतेजाः।
इरिणे वर्तमानाः। इरिणं निर्ऋणम्। ऋणातेः। अपार्णं भवति।
अपरता अस्मादोषधय इति वा। सोमस्येव मौजवतस्य भक्षः।
मौजवतो मूजवति जातः। मूजवान् पर्वतः। मुञ्जवान्।
मुञ्जो विमुच्यत इषीकया। इषीका ईषतेर्गतिकर्मणः।

इयमपीतरेषीका एतस्मादेव। विभीदको विभेदनात्। जागृविर्जागरणात्। मह्यमचच्छदत्। प्रशंसत्येनान्प्रथमया। निन्दत्युत्तराभिः। ऋषेरक्षपरिद्यूनस्यैतदार्षं वेदयन्ते। ग्रावाणो हन्तेर्वा। गृणातेर्वा। गृह्णातेर्वा। तेषामेषा भवति॥ ८॥

इस मन्त्र का ऋषि कवष ऐलूषोऽक्षो है। इसका अर्थ यह है कि इस छन्द रश्मि की उत्पत्ति कवष ऐलूषोऽक्ष नामक ऋषि रश्मियों से होती है। इन रश्मियों के विषय में वेदविज्ञान-आलोकः २.१९ में लिखा है—

''यह पदार्थ ध्वनि उत्पन्न करता हुआ प्रक्षेपक और प्रेरक गुणयुक्त होता है। यह दासी पुत्र अर्थात् ऐसे बलों का उत्पादक होता है, जो केवल प्रक्षेपण वा प्रतिकर्षण गुणों से युक्त होते हैं।''

इस प्रकार यह छन्द रश्मि उपर्युक्त ऋषि रश्मियों से उत्पन्न होती है। यहाँ इस मन्त्र का ऋषि अक्ष को भी बताया गया है। इससे यह प्रतीत होता है कि ये छन्द रश्मियाँ सभी पदार्थों की आधाररूप अथवा सबमें व्यापक प्राण वा मरुद् रश्मियों से उत्पन्न होती हैं। इसके अतिरिक्त इसकी उत्पत्ति मुञ्जवान् पदार्थ, जिसके विषय में हम इस ऋचा के भाष्य में लिखेंगे, से होती है। इसका देवता अक्ष प्रशंसा एवं छन्द त्रिष्टुप् होने से इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से अक्ष संज्ञक प्राण और मरुद् रश्मियाँ प्रकृष्ट व तीव्र रक्तवर्णीय तेज को उत्पन्न करने लगती हैं। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(प्रावेपाः, मा, बृहतः, मादयन्ति, प्रवातेजा, इरिणे, वर्वृतानाः) 'प्रवेपिणो मा महतो विभीदकस्य फलानि मादयन्ति प्रवातेजाः प्रवतेजाः इरिणे वर्तमानाः इरिणं निर्ऋणम् ऋणातेः अपार्णं भवति अपरता अस्मादोषधय इति वा' [विभीदकः = विभित्त्यै वैभीदक इध्मः (मै.सं.२.१.६), वैभीदक इध्मो भिनत्त्येवैनम् (तै.सं.२.१.५.७-८)। फलम् = अन्नं वै फलम् (मै.सं.३.१.२)] वेदविज्ञान-आलोकः २.१९ में वर्णित सरस्वती नामक पदार्थ [सरस्वती = अथ यत्स्फूर्जयन् वाचमिव वदन् दहति तदस्य (अग्नेः) सारस्वतं रूपम् (ऐ.ब्रा.३.४)] अर्थात् तीव्र घोष उत्पन्न करते हुए श्वेतवर्णीय अग्नि के क्षेत्र में भेदन व प्रक्षेपण क्षमता से सम्पन्न कवष ऐलूष नामक पदार्थ रूपी व्यापक विभीदक रश्मियों से पन्द्रह त्रिष्टुप् छन्द रश्मियाँ (ऋ.१०.३०) उत्पन्न होती हैं। ये रश्मियाँ विभीदक कवष

ऐलूष रश्मियों की फल रूप हैं। इन फल रूप त्रिष्टुप् रश्मियों के गुणों की विवेचना करते हुए ग्रन्थकार लिखते हैं—

१. ये रश्मियाँ विभिन्न कणादि पदार्थों को प्रकृष्ट रूप से कँपाती हैं।
२. ये रश्मियाँ तीक्ष्ण बलयुक्त होने के कारण ही विभिन्न कणादि पदार्थों को कँपाती हैं। 'प्र' उपसर्ग के विषय में ऋषियों का कथन है— अन्तरिक्षं वै प्र (ऐ.ब्रा.२.४१), प्राणो वै प्र (ऐ.ब्रा.२.४०)। इससे यह संकेत मिलता है कि ये रश्मियाँ विभिन्न कणों को कँपाने के लिए आकाशतत्त्व एवं प्राण रश्मियों में कम्पन उत्पन्न करती हैं और इनके कम्पित होने पर सम्पूर्ण पदार्थ कम्पित होने लगता है।
३. ये रश्मियाँ कवष ऐलूष रश्मियों से उस समय व उस स्थान पर उत्पन्न होती हैं, जब व जहाँ वायुतत्त्व में विद्यमान अन्य रश्मियों के द्वारा विभाजन-विखण्डन आदि की क्रियाएँ तीव्र रूप से चल रही हों। हम इस तथ्य से अवगत हैं कि विभीदक कवष ऐलूष नामक रश्मियाँ भी विखण्डन व प्रक्षेपण आदि गुणों से सम्पन्न होती हैं और इन्हीं से उपर्युक्त त्रिष्टुप् रश्मियाँ उत्पन्न होती हैं।
४. ये रश्मियाँ 'इरिणम्' अर्थात् कम्पायमान होते हुए पदार्थ के अन्दर उत्पन्न होती हैं और यह कम्पायमान होता हुआ पदार्थ इन छन्द रश्मियों के उत्पत्ति क्षेत्र को पूर्ण रूप से व्याप्त करता है अर्थात् ये रश्मियाँ जहाँ-२ भी उत्पन्न होती हैं, वहाँ-२ यह पदार्थ भी व्याप्त होता है, इसलिए इस पदार्थ को 'निर्ऋणम्' कहते हैं। इसे ग्रन्थकार ने अपार्ण भी कहा है। इसका अर्थ है कि जिस क्षेत्र में ये रश्मियाँ उत्पन्न होती हैं, वहाँ उनके उत्पन्न होने से पूर्व उस क्षेत्र में संयोज्य कण बहुत कम संख्या में विद्यमान होते हैं किंवा वे कण वहाँ से कहीं अन्यत्र प्रवाहित हो रहे होते हैं अथवा हो चुके होते हैं।

(सोमस्य, इव, मौजवतस्य, भक्षः) 'सोमस्येव मौजवतस्य भक्षः मौजवतो मूजवति जातः मूजवान् पर्वतः मुञ्जवान् मुञ्जो विमुच्यत इषीकया इषीका ईषतेर्गतिकर्मणः इयमपीतरेषीका एतस्मादेव' [इषीका = अमृतं वा इषीकाः (तै.ब्रा.३.८.४.३)। मुञ्जः = यज्ञिया हि मुञ्जाः (श.ब्रा.१२.८.३.६), योनिरेषाग्नेर्यन्मुञ्जः (श.ब्रा.६.६.१.२३)] पर्वत के विषय में ग्रन्थकार लिखते हैं— पर्वतं मेघम् (निरु.१०.९), पर्वतः मेघनाम (निघं.१.१०)। अमृत के विषय में ऋषियों का कथन है— अमृतं वै प्राणाः (तै.सं.२.६.८.७, गो.उ.१.३)। यहाँ सदैव गमन करने वाली होने के कारण प्राण रश्मियों को इषीका कहते हैं। ये प्राण रश्मियाँ विभिन्न

संयोज्य कणों में से निरन्तर निकलती रहती हैं। इस कारण भी इषीका कहलाती हैं। लोक में मुञ्ज नामक वनस्पति के अन्दर से निकलने के कारण शलाका अथवा सरकण्डे को भी इषीका कहते हैं। संगमनीय कणों से सम्पन्न कॉस्मिक मेघ, जो ऊष्मा आदि की दृष्टि से भी सम्पन्न होता है, उसमें विद्यमान सोम रश्मियों के द्वारा भक्ष्यरूप प्राण रश्मियों के समान अथवा उस मेघ में विद्यमान धनायनों के द्वारा अवशोष्य ऋणायनों के समान। यहाँ आधिदैविक पक्ष में इस अवशोषण की प्रक्रिया के चलते (विभीदकः, जागृविः, मह्यम्, अच्छान्) 'विभीदको विभेदनात् जागृविर्जागरणात् मह्यमचच्छदत्' पूर्वोक्त विभीदक संज्ञक कवष ऐलूष रश्मियाँ वा तरंगें अपने तीक्ष्ण बलों के कारण सम्पूर्ण पदार्थ को जगाने अर्थात् सक्रिय करने वाली होती हैं। [अक्षः = अक्षाः परिधयः (मै.सं.४.५.९)। परिधिः = परिधीन् परिदधाति रक्षसामपहत्यै (तै.सं.२.६.६.२), परिधयो रश्मयः (मै.सं.४.५.५)] ऐसी वे तरंगें अक्ष अर्थात् विभिन्न कणों की सुरक्षा चक्र रूप रश्मियों को आच्छादित करके नाना प्रकार की संयोगादि क्रियाओं को प्रेरित करती हैं। ये अक्ष रूप रश्मियाँ इस छन्द रश्मि की देवता रूप भी कही गई हैं, इस कारण दैवत प्रभाव से भी ये सक्रिय एवं सबल होती हैं।

भावार्थ— सूर्यादि तेजस्वी लोकों के ऊपरी क्षेत्र में विद्युत् आवेशित कणों के विशाल एवं अतितप्त मेघ विद्यमान होते हैं। इन मेघों में तीव्र ध्वनि तरंगों के साथ अग्नि की ऊँची-२ ज्वालाएँ निरन्तर उठती रहती हैं और मेघों के अन्दर अथवा उनसे कुछ दूरी पर पन्द्रह प्रकार की त्रिष्टुप् छन्द रश्मियाँ उत्पन्न होती रहती हैं। इनके उत्पन्न होने से पूर्व ही सौर मेघस्थ पदार्थ तीव्र कम्पन करता है। पन्द्रह प्रकार की त्रिष्टुप् छन्द रश्मियाँ उत्पन्न होने के पश्चात् वह पदार्थ और भी अधिक सक्रिय होने लगता है। इन त्रिष्टुप् छन्द रश्मियों के उत्पन्न होने से पूर्व उन सौर मेघों के अन्दर आयन्स की संख्या अपेक्षाकृत कम होती है। इसका तात्पर्य यह है कि उस समय परमाणु एवं अणु भी पर्याप्त मात्रा में विद्यमान होते हैं, जो त्रिष्टुप् छन्द रश्मियों के उत्पन्न होने पर विखण्डित होकर आयन्स में परिवर्तित हो जाते हैं। इन सौर मेघों में प्राण एवं मरुद् रश्मियों का भी विशाल भण्डार होता है। कवष ऐलूष नामक तरंगें वा रश्मियाँ जब विभिन्न संयोज्य कणों पर प्रहार करती हैं, तब वे उन कणों के बाहरी भाग में स्थित बृहती छन्दादि रश्मियों को आच्छादित करके उन्हें अधिक सक्रिय करने लगती हैं। तदुपरान्त उन कणों के अन्दर प्राण एवं मरुदादि रश्मियों की सक्रियता

बढ़ने लगती है और इस प्रकार कणों के संयोजन व वियोजन की प्रक्रिया होने लगती है। यद्यपि नाभिकीय संलयन की प्रक्रिया तारों के केन्द्रीय भाग में होती है, परन्तु हमारे मत में सौर मेघों के अन्दर विभिन्न प्रकार के कणों के मध्य पारस्परिक संयोजन और वियोजन की असंख्य क्रियाएँ होती रहती हैं।

यहाँ सभी भाष्यकारों ने 'अक्ष' का तात्पर्य 'द्यूतक्रिया के पाशे' किया है और इस मन्त्र में उन पाशों की प्रशंसा की गई बताई है, परन्तु ऐसा करना वेद के यथार्थ स्वरूप के प्रति अनभिज्ञता का प्रतीक है। यहाँ अक्ष का अर्थ जूए के पाशे नहीं, बल्कि विभिन्न कणों के परिधि भाग में स्थित विभिन्न छन्दादि रश्मियाँ है।

मन्त्र के व्याख्यान के पश्चात् ग्रन्थकार लिखते हैं— 'प्रशंसत्येनान्प्रथमया निन्दत्युत्त-राभिः ऋषेरक्षपरिद्यूनस्यैतदार्षं वेदयन्ते' अर्थात् इस सूक्त की इस प्रथम ऋचा के द्वारा इसकी कारण रूप कवष ऐलूष रश्मियाँ वा तरंगें अक्ष रूप रश्मियों को प्रकृष्ट रूप से प्रकाशित वा सक्रिय करती हैं। इसके पश्चात् इसी सूक्त की अन्य रश्मियाँ परिधि रूप रश्मियों को वज्र के समान तीक्ष्ण बनाती हैं, जिससे वे यजनशील कण किसी बाधक असुरादि पदार्थ के द्वारा बाधित वा पतित नहीं होते। यहाँ इन ऋचाओं की कारणरूप रश्मियाँ विभिन्न कणों की परिधि रूप रश्मियों को सब ओर से प्रकाशित करते हुए इन छन्द रश्मियों को उत्पन्न करती हैं।

अन्त में 'अक्षाः' पद के निर्वचन के उपरान्त अगले पद 'ग्रावाणः' का निर्वचन करते हुए लिखते हैं— 'ग्रावाणो हन्तेर्वा गृणातेर्वा गृह्णातेर्वा'। ग्रावा के विषय में ऋषियों का मत यह भी है— ग्रावा मेघनाम (निघं.१.१०), यज्ञमुखं ग्रावाणः (मै.सं.४.५.२)। इस प्रकार ग्रावाणः उन कॉस्मिक मेघों का नाम है, जो एक-दूसरे की ओर गमन करते व टकराते हुए आपस में मिल जाते हैं और वे मिलकर प्रकाशित भी हो उठते हैं। इसके साथ ही वे मेघ अपने चारों ओर विद्यमान पदार्थ को आकृष्ट करके अपना आकार बढ़ाने में सक्षम होते हैं। इस विषय में एक ऋचा को अगले खण्ड में प्रस्तुत किया गया है।

* * * * *

= नवमः खण्डः =

प्रैते वदन्तु प्र वयं वदाम ग्रावभ्यो वाचं वदता वदद्भ्यः।
यदद्रयः पर्वताः साकमाशवः श्लोकं घोषं भरथेन्द्राय सोमिनः॥

[ऋ.१०.९४.१]

प्रवदन्त्वेते। प्रवदाम वयम्। ग्रावभ्यो वाचं वदत वदद्भ्यः। यदद्रयः पर्वताः। अदरणीयाः। सह सोमम्। आशवः क्षिप्रकारिणः। श्लोकः शृणोतेः। घोषो घुष्यतेः। सोमिनो यूयं स्थेति वा। सोमिनो गृहेष्विति वा। येन नराः प्रशस्यन्ते स नाराशंसः मन्त्रः। तस्यैषा भवति॥ ९॥

इस मन्त्र का ऋषि 'काद्रवेयोऽर्बुदः सर्पः' है अर्थात् इस छन्द रश्मि की उत्पत्ति [कद्रूः = इयं वै कद्रूः (तै.सं.६.१.६.१, मै.सं.३.७.३), अर्बुदम् = वाग्वा अर्बुदम् (तै.ब्रा. ३.८.१६.३)] पार्थिव परमाणुओं से उत्सर्जित होने वाली एवं सर्पिलाकार मार्गों पर गमन करने वाली कुछ विशेष रश्मियों से होती है अथवा यह छन्द रश्मि उन कणों से ही उत्सर्जित होती है। सर्प के विषय में महर्षि तित्तिर का कथन है— 'देवा वै सर्पाः तेषामियं राज्ञी' (तै.ब्रा.२.२.६.२)। इस वचन से भी हमारे उपर्युक्त मत की पुष्टि होती है। इसका देवता ग्रावा तथा छन्द विराट् जगती होने से इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से कॉस्मिक मेघों के अन्दर ऊर्जा के अवशोषण व उत्सर्जन की प्रक्रिया दूर-२ तक होने लगती है तथा गौर वर्ण का प्रकाश भी उत्पन्न होने लगता है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(प्र, एते, वदन्तु, प्र, वयम्, वदाम) 'प्रवदन्त्वेते प्रवदाम वयम्' ये ग्रावा अर्थात् कॉस्मिक मेघ तीव्र वेग से आकाश में गमन करते हैं। उनमें विद्यमान विभिन्न कणों, विशेषकर पार्थिव अणुओं से उत्सर्जित होने वाली इस छन्द रश्मि की उपादान कारणभूत ऋषि रश्मियाँ विशेष सक्रिय होकर सम्पूर्ण पदार्थ में सक्रियता को भी बढ़ाने लगती हैं। इस कारण से सम्पूर्ण आकाशतत्त्व भी कम्पित होने लगता है। यहाँ 'वयम्' पद का अर्थ ऋषि रश्मियाँ ही मानना चाहिए। (ग्रावभ्यः, वाचम्, वदत, वदद्भ्यः) 'ग्रावभ्यो वाचं वदत वदद्भ्यः' गमन करते हुए उन मेघों के लिए अर्थात् उनको गति व प्रकाश प्रदान करने के लिए नाना प्रकार की वाक् रश्मियाँ उत्पन्न होती हैं। इसके साथ ही गमन करते हुए उन मेघों में अनेक प्रकार की

ध्वनियाँ उत्पन्न होती रहती हैं। यहाँ 'वदत' के स्थान पर 'वदता' का छान्दस प्रयोग है।

(यत्, अद्रयः, पर्वताः, साकम्, आशवः) 'यदद्रयः पर्वताः अदरणीयाः सह सोमम् आशवः क्षिप्रकारिणः' जब वे विखण्डित न होने योग्य आशुगामी कॉस्मिक मेघ सोम पदार्थ के साथ अर्थात् सोमतत्त्व से समृद्ध होकर (श्लोकम्, घोषम्, भरथ, इन्द्राय, सोमिनः) 'श्लोकः शृणोतेः घोषो घुष्यतेः सोमिनो यूयं स्थेति वा सोमिनो गृहेष्विति वा' विभिन्न सोम रश्मियों अर्थात् मरुत् रश्मियों से सम्पन्न अन्य मेघादि पदार्थों के आकर्षण क्षेत्र की ओर बढ़ते हुए अथवा आकाश में भरे हुए सोमतत्त्व में स्थित होकर इन्द्रतत्त्व को उत्पन्न करने के लिए नाना प्रकार की छन्द रश्मियों एवं विविध प्रकार के घोषों को अपने अन्दर धारण करते हैं। इसका अर्थ यह है कि जब वे कॉस्मिक मेघ तीव्र वेग से आकाश में गमन कर रहे होते हैं, तब वे अपने चारों ओर से नाना प्रकार की मरुद् रश्मियों से घिरे रहते हैं। उन कॉस्मिक मेघों में विभिन्न छन्द रश्मियों के विचित्र मिश्रण से और मेघस्थ पदार्थों से परस्पर टकराने से भिन्न-२ प्रकार की उच्च ध्वनियाँ उत्पन्न होती रहती हैं। ऐसी स्थिति में उन मेघों के अन्दर तीक्ष्ण विद्युत् धाराएँ उत्पन्न होकर गड़गड़ाहट की ध्वनियाँ उत्पन्न करती हैं।

भावार्थ— विभिन्न खगोलीय मेघ आकाश में तेजी से गमन करते हैं, जिसके कारण सम्पूर्ण आकाशतत्त्व में कम्पन होने लगता है। उन मेघों में नाना प्रकार की गम्भीर ध्वनियाँ भी होती रहती हैं। जब वे मेघ आकाश में गमन कर रहे होते हैं, तब वे विभिन्न प्रकार की मरुद् रश्मियों से घिरे रहते हैं। उन मेघों में तीक्ष्ण विद्युत् धाराएँ प्रवहित होती रहती हैं।

'ग्रावा' पद के पश्चात् अगले पद 'नाराशंसः' का निर्वचन करते हुए लिखते हैं— 'येन नराः प्रशस्यन्ते स नाराशंसः मन्त्रः' अर्थात् जिस छन्द रश्मि के द्वारा [नरः = अश्वनाम (निघं.१.१४), प्रजा वै नरः (ऐ.ब्रा.२.४), नरो देवानां ग्रामः (तां.ब्रा.६.९.२)] विभिन्न आशुगामी पदार्थों को प्रकाशित वा सक्रिय किया जाता है, ऐसी छन्द रश्मियों को नाराशंस कहते हैं।

इसकी ऋचा को अगले खण्ड में प्रस्तुत किया गया है।

* * * * *

दशमः खण्डः

अमन्दान्त्स्तोमान्प्र भरे मनीषा सिन्धावधि क्षियतो भाव्यस्य।
यो मे सहस्रममिमीत सवानतूर्तो राजा श्रव इच्छमानः।

[ऋ.१.१२६.१]

अमन्दान्त्स्तोमान्। अबालिशाननल्पान्वा। बालो बलवर्ती भर्तव्यो भवति।
अम्बाऽस्मा अलं भवतीति वा। अम्बास्मै बलं भवतीति वा।
बलो वा प्रतिषेधव्यवहितः। प्रभरे। मनीषया मनस ईषया।
स्तुत्या प्रज्ञया वा। सिन्धावधि निवसतो भावयव्यस्य राज्ञः।
यो मे सहस्त्रं निरमिमीत सवान्। अतूर्त्तो राजा। अतूर्ण इति वा।
अत्वरमाण इति वा। प्रशंसामिच्छमानः॥ १०॥

इस मन्त्र का ऋषि कक्षीवान् है, जिसके विषय में पूर्व खण्ड २.२ एवं ६.१० पठनीय हैं। इसका देवता विद्वान् तथा छन्द निचृत् त्रिष्टुप् होने से इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से विभिन्न देवकण तीक्ष्ण रक्तवर्णीय तेज से युक्त होने लगते हैं। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(अमन्दान्, स्तोमान्, प्र, भरे) 'अमन्दान्त्स्तोमान् अबालिशाननल्पान्वा बालो बलवर्ती भर्तव्यो भवति अम्बाऽस्मा अलं भवतीति वा अम्बास्मै बलं भवतीति वा बलो वा प्रतिषेध-व्यवहितः प्रभरे' कक्षीवान् सूर्यलोक जिन स्तोमों अर्थात् रश्मि समूहों को अपने अन्दर प्रकृष्ट रूप से धारण किए रहता है, वे रश्मि समूह मन्द अर्थात् दुर्बल नहीं होते। इसका तात्पर्य यह है कि सूर्यादि तेजस्वी लोकों के अन्दर विद्यमान रश्मियाँ वा तरंगें वा कण आदि सभी पदार्थ प्रखर बलों से युक्त होने के कारण विक्षुब्ध अवस्था में रहते हैं। यहाँ ग्रन्थकार ने 'अमन्दान्' पद का अनेक प्रकार से विस्तार से निर्वचन किया है। वे लिखते हैं कि वे छन्द रश्मि समूह बच्चे की भाँति अविकसित बलों वाले नहीं होते और न ही मात्रा की दृष्टि से अल्प ही होते। 'बालः' पद का निर्वचन करते हुए लिखा है कि जो पदार्थ किसी अन्य पदार्थ के बल का अनुगमन करते हुए अपने व्यवहार करता है अर्थात् वह किसी के द्वारा नियन्त्रित हो रहा होता है एवं वह पदार्थ किसी अन्य पदार्थ के द्वारा धारण

और पोषण प्राप्त करता रहता है, वह पदार्थ बाल कहलाता है। [अम्बा = अम्ब्+घञ्+टाप्, यहाँ अम्ब् का तात्पर्य 'अबि गतौ' व 'अबि शब्दे' से है।] यहाँ 'अम्बा' पद 'अम्बि' का समानार्थक प्रतीत होता है, जिसके लिए कहा गया है— 'आपो वा अम्बयः' (कौ.ब्रा.१२.२)। इसका अर्थ यह है कि बाल संज्ञक दुर्बल पदार्थों के लिए आपः अर्थात् विभिन्न प्रकार की प्राण रश्मियाँ ही बल प्रदान करने में समर्थ होती हैं अथवा वे प्राण रश्मियाँ ही उन दुर्बल पदार्थों के लिए बल रूप होती हैं। बालः पद का अन्तिम निर्वचन करते हुए लिखा है— 'बलो वा प्रतिषेधव्यवहितः'। इसका अर्थ है कि बलहीन अर्थात् अबल का 'अ' मध्य में आकर ब+अ+ल = बाल शब्द सिद्ध होता है। 'बालः' पद के इतने विस्तृत निर्वचन का प्रयोजन यही है कि ऐसे बलहीन रश्मि समूह सूर्यादि तेजस्वी लोकों में विद्यमान नहीं होते, बल्कि सभी रश्मि समूह तीव्र बलों से युक्त एवं अत्यन्त सक्रिय ही होते हैं अर्थात् वह लोक ऐसे ही रश्मि समूहों का भण्डार होता है।

(मनीषा, सिन्धौ, अधि, क्षियतः, भाव्यस्य) 'मनीषया मनस ईषया स्तुत्या प्रज्ञया वा सिन्धावधि निवसतो भावयव्यस्य राज्ञः' उन सूर्यादि लोकों में वे रश्मि समूह किस प्रकार धारण किए होते हैं, इसे यहाँ स्पष्ट किया गया है कि वे पदार्थ मनस्तत्त्व की शक्ति और गति के द्वारा धारण किए जाते हैं। यह मनस्तत्त्व सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में एकरस व्याप्त रहता है और यही सभी प्रकार की प्राण एवं छन्द रश्मियों को धारण करता है। इसी कारण यहाँ स्तोम रूप रश्मि समूहों को मनीषा द्वारा धारण किया गया बताया है। यहाँ ईष धातु गति अर्थ में प्रयुक्त है। [सिन्धु = सिन्धूनाम् स्यन्दमानानाम् (निरु.१०.५), तद् यदेतैरिदं सर्वं सितं तस्मात् सिन्धवः (जै.उ.१.२९.९)] 'भावयव्यः' पद के विषय में स्वामी ब्रह्ममुनि परिव्राजक लिखते हैं—

"'भावयव्यः' एव भाव्यः, यो हि भावान् विविधान् पदार्थानिच्छति भावयुर्भूत्वा भावं सत्तां प्रशासनमर्हति-इति भावयव्यो भाव्यो भवति। न हि शासनं साधनैर्विना भवति, पूर्वमिच्छत्यर्थे क्यच्-भावयुः, पश्चात् स्वार्थे छन्दसि यत्। 'ओर्गुणः' (अष्टा.६.४.१४६) गुणे कृते-ओकारस्य 'वान्तो यि प्रत्यये' (अष्टा.६.१.७६) 'अव्' यकारे संहितः।"

रश्मि समूहों को धारण करने की प्रक्रिया के अन्तर्गत सबको अपने साथ बाँधने वाली सूत्रात्मा वायु रश्मियों के ऊपरी भागों में निवास करने वाली अनेक उत्पन्न सूक्ष्म रश्मियों अथवा उनमें प्रकट होने तथा अन्य सूक्ष्म पदार्थों को नियन्त्रित करने वाली

प्राणापान आदि रश्मियों की प्रेरणा से ही उपर्युक्त कार्य होते हैं। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि सूत्रात्मा वायु रश्मियों के द्वारा आकर्षण व बन्धन की प्रक्रिया के समय प्राणापान आदि रश्मियाँ भी उत्पन्न होकर संयोग प्रक्रिया को नियन्त्रित करने में सहायक होती हैं। यहाँ दूसरा अर्थ यह प्रतीत होता है कि सूर्यादि लोकों के अन्दर जो विशाल सौर नदियाँ बहती रहती हैं, उनके किनारों पर नाना प्रकार की छन्दादि रश्मियाँ उत्पन्न होकर सभी रश्मि समूहों को नियन्त्रित करती रहती हैं। ध्यातव्य है कि यहाँ ग्रन्थकार ने 'ईषया' का अर्थ 'स्तुत्या प्रज्ञया वा' भी किया है। इसका अर्थ है कि इन लोकों में मनस्तत्त्व स्वयं भी अनेक छन्दादि रश्मियों को उत्पन्न करता रहता है, जिससे भी इन लोकों की विभिन्न क्रियाएँ सन्तुलित बनी रहती हैं।

(यः, मे, सहस्रम्, अमिमीत, सवान्, अतूर्तः, राजा, श्रवः, इच्छमानः) 'यो मे सहस्रं निरमिमीत सवान् अतूर्त्तो राजा अतूर्ण इति वा अत्वरमाण इति वा प्रशंसामिच्छमानः' [श्रवः = अन्ननाम (निघं.२.७), धननाम (निघं.२.१०)] यहाँ 'मे' सर्वनाम पद कक्षीवान् सूर्य के लिए प्रयुक्त है और 'राजा' पद सूर्य के नाभिक के लिए प्रयुक्त है, क्योंकि यही भाग सम्पूर्ण सूर्य को प्रकाशित व नियन्त्रित करता है। वह केन्द्रीय भाग सूर्यलोक के अन्दर अनेक प्रकार के केन्द्रों को उत्पन्न करता है। विशाल सूर्यलोक में ऐसे अनेक स्थल होते हैं, जहाँ नाना प्रकार की यजन क्रियाएँ सम्पादित होती रहती हैं। यद्यपि सम्पूर्ण सूर्यलोक में ऐसी क्रियाएँ होती हैं, परन्तु कुछ भागों में ये क्रियाएँ अधिक मात्रा में होती हैं। ऐसे केन्द्रों के निर्माण में सूर्य के नाभिक की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। यहाँ इस कथन से यह भी संकेत प्राप्त होता प्रतीत होता है कि सूर्य के नाभिक के बाहरी भाग में भी ऐसे अनेक केन्द्र हों, जिनमें संगमन क्रियाएँ अधिक तीव्र गति से होती हैं। यहाँ नाभिकीय भाग के विषय में कहा है कि वह भाग अतूर्त व अतूर्ण होता है। इसका अर्थ यह है कि [अतूर्तः = न ह्येतं रक्षांसि तरन्ति तस्मादाहातूर्त्तो होतेति (श.ब्रा.१.४.२.१२)] इस भाग में बाधक व हिंसक राक्षस संज्ञक असुर रश्मियाँ प्रवेश नहीं कर सकती, जिसके कारण नाभिकीय संलयन की क्रियाएँ निर्बाध रूप से चलती रहती हैं। उधर अतूर्ण शब्द यह बतलाता है कि सूर्य का नाभिकीय भाग अति तीव्र गति से घूर्णन करने वाला नहीं होता है अर्थात् उसकी घूर्णन गति सम्पूर्ण सूर्य के सापेक्ष न्यून होती है। सूर्य के नाभिकीय भाग का अन्तिम गुण यह बतलाया कि वह निरन्तर संयोज्य कणों को आकर्षित करता हुआ तेजस्विता को चाहता रहता है

अर्थात् वह तेज को उत्पन्न करता रहता है और इसी तेज से सम्पूर्ण सूर्यलोक प्रकाशित होता रहता है।

भावार्थ— सूर्यादि तारों में जो भी रश्मि व कण आदि पदार्थ विद्यमान होते हैं, लघु अथवा विशाल मेघ विद्यमान होते हैं, वे दुर्बल बलों से युक्त होकर तीव्र बल और गतियों से युक्त होते हैं। इन रश्मियों, कणों वा विकिरणों को विभिन्न प्राण और छन्दादि रश्मियाँ सूत्रात्मा वायु रश्मियों के साथ मिलकर बल भी प्रदान करती हैं और उन्हें नियन्त्रित भी करती हैं, परन्तु इन सबका भी धारणकर्त्ता मनस्तत्त्व होता है। वह मनस्तत्त्व प्रयोजनानुसार नाना प्रकार की रश्मियों को समय-२ पर उत्पन्न करता रहता है। सूर्यादि प्रकाशित लोकों के अन्दर उसके केन्द्रीय भाग के अतिरिक्त भी ऐसे अनेक केन्द्र होते हैं, जिनमें नाना प्रकार की क्रियाएँ भिन्न-२ क्षेत्रों के अनुसार होती रहती हैं, परन्तु इन सभी क्षेत्रों को केन्द्रीय भाग ही नियन्त्रित अथवा सन्तुलित रखता है। सूर्य के केन्द्रीय भाग में कोई भी बाधक असुरादि पदार्थ कभी प्रवेश नहीं कर सकता।

ऋषि दयानन्द ने इस मन्त्र का आधिभौतिक भाष्य किया है, जिसे हम यहाँ उद्धृत कर रहे हैं—

‘‘**पदार्थः** — (अमन्दान्) मन्दभावरहितान् तीव्रान् (स्तोमान्) स्तोतुमर्हान् विद्याविशेषान् (प्र) (भरे) धरे (मनीषा) बुद्ध्या (सिन्धौ) नद्याः समीपे (अधि) स्वीयचित्ते (क्षियतः) निवसतः (भाव्यस्य) भवितुं योग्यस्य (यः) (मे) मम (सहस्रम्) (अमिमीत) निमिमीते (सवान्) ऐश्वर्ययोग्यान् (अतूर्त्तः) अहिंसितः (राजा) (श्रवः) श्रवणम् (इच्छमानः) व्यत्ययेनात्रात्मनेपदम्।

भावार्थः — यावदाप्तस्य विदुष आज्ञया पुरुषार्थी विद्वान् नरो न भवेत्तावत्तस्य राज्याधिकारे स्थापनं न कुर्यात्।

पदार्थ— (यः) जो (अतूर्त्तः) हिंसा आदि के दुःख को न प्राप्त और (श्रवः) उत्तम उपदेश सुनने की (इच्छमानः) इच्छा करता हुआ (राजा) प्रकाशमान सभाध्यक्ष (सिन्धौ) नदी के समीप (क्षियतः) निरन्तर वसते हुए (भाव्यस्य) प्रसिद्ध होने योग्य (मे) मेरे निकट (सहस्रम्) हजारों (सवान्) ऐश्वर्य योग्य (अमन्दान्) मन्दपनरहित तीव्र और (स्तोमान्) प्रशंसा करने योग्य विद्यासम्बन्धी विशेष ज्ञानों का (मनीषा) बुद्धि से

(अमिमीत) निरन्तर मान करता उसको मैं (अधि) अपने मन के बीच (प्र, भरे) अच्छी प्रकार धारण करूं।

भावार्थ— जब तक सकल शास्त्र जानने हारे विद्वान् की आज्ञा से पुरुषार्थी विद्वान् न हो, तब तक उसका राज्य के अधिकार में स्थापन न करे।''

* * * * *

एकादशः खण्डः

यज्ञसंयोगाद्राजा स्तुतिं लभेत। राजसंयोगाद् युद्धोपकरणानि। तेषां रथः प्रथमागामी भवति। रथः रंहतेर्गतिकर्मणः। स्थिरतेर्वा स्याद्विपरीतस्य। रममाणोऽस्मिंस्तिष्ठतीति वा। रपतेर्वा। रसतेर्वा। तस्यैषा भवति॥ ११॥

सूर्य का केन्द्रीय भाग, जिसे पूर्व खण्ड में राजा कहा गया है, जब नाना प्रकार की यजन क्रियाओं से समृद्ध होने लगता है, उस समय वह अधिक ज्योतियुक्त होने लगता है। इसके साथ ही उसके अन्दर छन्द रश्मियों की उत्पत्ति भी अधिक मात्रा में होने लगती है। उस केन्द्रीय भाग के अन्दर जब यजन क्रियाओं का आरम्भ होने लगता है, तब उस केन्द्रीय भाग के बाहरी क्षेत्र में देव पदार्थों का अन्य असुरादि पदार्थों के साथ संघर्षण होने लगता है अथवा हो रहा होता है। इसी को यहाँ युद्ध कहा गया है। उस युद्ध में अनेक साधन रूप पदार्थ विद्यमान होते हैं अथवा उत्पन्न होते हैं, उन साधनों में से प्रथम साधन रथ कहलाता है। इसके विषय में लिखा है—

यह पदार्थ ध्वनि उत्पन्न करता हुआ तेजी से गमन करता है। यह पद 'रहि गतौ', 'रस शब्दे' एवं 'रप व्यक्तायां वाचि' इन तीन धातुओं से व्युत्पन्न होता है। इसी कारण उपर्युक्त अर्थ प्रकट होता है। यह पद 'स्थिर' का उल्टा होकर 'रस्थि' और पुनः रथ सिद्ध होता है। इससे रथ उन रश्मियों को कहते हैं, जो विभिन्न कणों के वाहक का कार्य करती हैं और कणों के वहन करते समय कण उन रश्मियों के साथ स्थिरता और सहजतापूर्वक

उन रश्मियों की गति से भी गमन करते हैं। यहाँ स्थिरता का तात्पर्य उनका निरपेक्ष रूप से विराम अवस्था में होना नहीं है, बल्कि उन रथ रूप रश्मियों के सापेक्ष गतिहीन होना मात्र है। जिस प्रकार धनञ्जय रश्मियों के द्वारा वहन किए जा रहे प्रकाशाणुओं की गति धनञ्जय रश्मियों के सापेक्ष एक-चौथाई होती है, वैसा यहाँ नहीं है, बल्कि यहाँ दोनों की गति समान रहती है। यहाँ 'रममाणः' पद के प्रयोग से यह संकेत भी मिलता है कि विभिन्न देव कण रथ रूप रश्मियों के साथ गमन करते हुए सर्वथा स्थिर नहीं रहते, बल्कि वे उन रथ रूप रश्मियों के साथ गमन करते हुए भी उसी प्रकार क्रीड़ा करते रहते हैं, जैसे कोई बालक चलती हुई रेलगाड़ी में यात्रा करते समय खेलता रहे। इससे उस यात्री की रेलगाड़ी की दिशा में गति गाड़ी के समान ही होगी अर्थात् उसके सापेक्ष वह स्थिर ही होगा, परन्तु वह अपने स्थान पर क्रीड़ा भी कर रहा होगा।
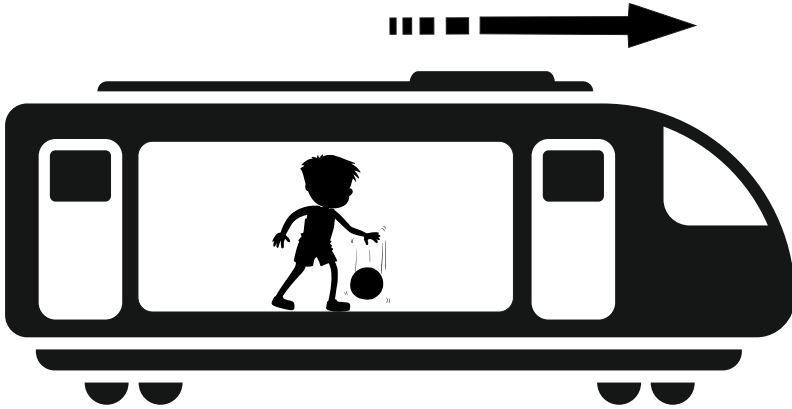
महर्षि तित्तिर ने इस विषय में कहा है— 'वज्रो वै रथः' (तै.सं.५.४.११.२, काठ.सं.२१.१२)। इससे यह भी संकेत मिलता है कि रथ रूप रश्मियाँ वज्र का भी कार्य करती हैं अर्थात् ये संयोज्य कणों को अपने साथ गमन कराते हुए बाधक पदार्थों को दूर भी हटाती रहती हैं। महर्षि ऐतरेय महीदास ने ऐतरेय ब्राह्मण ७.१९ में क्षत्रिय के पाँच युद्ध उपकरणों की चर्चा की है। इसकी आधिदैविक व्याख्या 'वेदविज्ञान-आलोकः' ७.१९.१ में पठनीय है।

इसकी ऋचा को अगले खण्ड में प्रस्तुत किया गया है।

❋ ❋ ❋ ❋ ❋

= द्वादशः खण्डः =

वनस्पते वीड्वङ्गो हि भूया अस्मत्सखा प्रतरणः सुवीरः।
गोभिः सन्नद्धो असि वीळयस्वाऽऽस्थाता ते जयतु जेत्वानि।

[ऋ.६.४७.२६]

वनस्पते दृढाङ्गो हि भव। अस्मत्सखा प्रतरणः। सुवीरः कल्याणवीरः।
गोभिः सन्नद्धो असि। वीळयस्वेति संस्तम्भस्व।
आस्थाता ते जयतु जेतव्यानि।
दुन्दुभिः, इति शब्दानुकरणम्। द्रुमो भिन्न इति वा।
दुन्दुभ्यतेर्वा स्याच्छब्दकर्मणः। तस्यैषा भवति॥ १२॥

इस मन्त्र का ऋषि गर्ग है। [गर्गः = गृणात्युपदिशतीति गर्गः (उ.को.१.१२८)] इसका अर्थ यह है कि इस छन्द रश्मि की उत्पत्ति एक ऐसी ऋषि रश्मि, जो निरन्तर छन्द रश्मियों को उत्पन्न करती हुई उन्हें निरन्तर प्रेरित भी करती रहती है, से होती है। इसका देवता रथ और छन्द स्वराट् त्रिष्टुप् होने से इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से रथ रूप पूर्वोक्त रश्मियाँ एवं उनके साथ गमन कर रहे पदार्थ रक्तवर्णीय तीव्र तेज से युक्त होने लगते हैं। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(वनस्पते, वीडु, अङ्गः, हि, भूयाः, अस्मत्, सखा, प्रतरणः, सुवीरः) 'वनस्पते दृढाङ्गो हि भव अस्मत्सखा प्रतरणः सुवीरः कल्याणवीरः' [वीडु = बलनाम (निघं.२.९)] नाना प्रकार की किरणों के पालक और संरक्षक सूर्यलोक के अन्दर नाना प्रकार के भाग वा क्षेत्र होते हैं। यों तो सम्पूर्ण सूर्यलोक में असंख्य सौर नदियाँ, सौर कूप, सौर मेघ आदि होते हैं, परन्तु मुख्य रूप से तीन भाग होते हैं, जो केन्द्रीय भाग, सन्धि भाग एवं शेष विशाल भाग के रूप में जाने जाते हैं। इसके अतिरिक्त सूर्यलोक का बाहरी भाग, जो अत्यन्त गर्म ज्वालाओं से युक्त होता है और जिसे वर्तमान वैज्ञानिक कोरोना नाम से जानते हैं, भी एक महत्त्वपूर्ण भाग है। यह भाग सम्पूर्ण सूर्यलोक की अपेक्षा आकार की दृष्टि से मात्र एक आवरण ही होता है। 'वेदविज्ञान-आलोकः' में तारों के पाँच-२ भाग पृथक्-२ दृष्टि से दर्शाए गए हैं, जिन्हें श्री विशाल आर्य ने 'परिचय वैदिक भौतिकी' नामक पुस्तक के १७वें

अध्याय में सरल रूप में दर्शाया है।
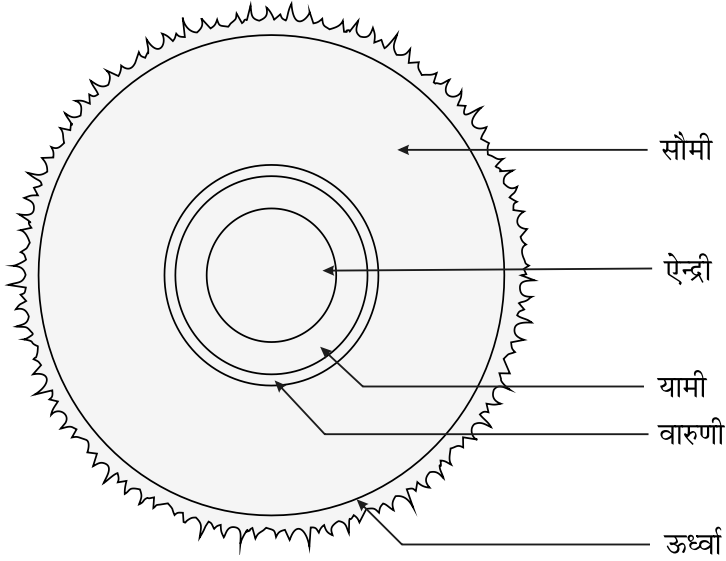
इस प्रकार ये सभी भाग सूर्य के अङ्गों के समान ही होते हैं। ये सभी भाग पृथक्-२ होते हुए भी परस्पर दृढ़ता से बँधे रहते हैं। यदि ऐसा नहीं होता, तो अपनी कक्षा में सात लाख कि.मी. प्रति घण्टे की गति से आकाशगंगा के केन्द्र की परिक्रमा करता हुआ अपना सूर्य बिखर कर नष्ट हो गया होता। इसके लिए इस छन्द रश्मि की कारणभूत गर्ग ऋषि रश्मियों के साथ व उनके समान ही प्रकाशित व सक्रिय अन्य ऋषि रश्मियाँ विभिन्न दुर्बल हो चुकी छन्द रश्मियों को प्रकृष्टता से तारने वाली होती हैं। इस कारण नाना प्रकार के पदार्थों की धाराएँ सूर्य के विभिन्न क्षेत्रों में इधर से उधर निर्बाध रूप से गमन करती रहती हैं। पदार्थों व बलों का यह आवागमन ही सम्पूर्ण लोक को एक साथ बाँधे रखता है। इसके साथ ही तारक रश्मियाँ सम्पूर्ण बाधक असुर पदार्थ को अच्छी प्रकार से कँपाती और नष्ट वा नियन्त्रित करती रहती हैं। जहाँ ये रश्मियाँ असुर पदार्थ को नष्ट वा नियन्त्रित करती रहती हैं, वहीं देव पदार्थ को भी कमनीय गति प्रदान करने में सहायक होती हैं। 'वीरः' पद के विषय में हम पूर्व में खण्ड १.७ में लिख चुके हैं।

(गोभिः, सन्नद्धः, असि, वीळयस्व, आस्थाता, ते, जयतु, जेत्वानि) 'गोभिः सन्नद्धो असि वीळयस्वेति संस्तम्भस्व आस्थाता ते जयतु जेतव्यानि' वे रथ रूप रश्मियाँ विभिन्न छन्द रश्मियों के साथ बँधी हुई होने से बलवती होती हैं। इसका अर्थ यह है कि विभिन्न कणों

की वाहक रूप रश्मियाँ, जो वज्र का भी कार्य करती हैं, वे त्रिष्टुप्, अनुष्टुप् आदि छन्द रश्मियों के साथ मिश्रित होकर तीक्ष्ण बलों से युक्त हो जाती हैं। इस कारण से इन रश्मियों के द्वारा वहन किया जा रहा पदार्थ अर्थात् उनमें स्थित पदार्थ सदैव ही नियन्त्रित वा नष्ट करने योग्य असुरादि पदार्थों को नष्ट वा नियन्त्रित कर लेता है। यहाँ ग्रन्थकार ने 'वीळयस्व' का अर्थ 'संस्तम्भस्व' किया है। इसका अर्थ यह है कि वे रथ रूप रश्मियाँ अपने साथ ले जाए जा रहे कणों को अच्छी प्रकार थामकर रखती हैं अर्थात् वे कण लक्ष्य तक पहुँचने तक उनसे पृथक् नहीं हो पाते।

भावार्थ— सूर्य के अन्दर विभिन्न सौर नदियाँ अर्थात् पदार्थ की विशाल धाराएँ, नाना प्रकार के कूपनुमा क्षेत्र एवं सौर मेघ विद्यमान होते हैं, पुनरपि सूर्य के मुख्य तीन भाग होते हैं, वे हैं— केन्द्रीय भाग, सन्धि भाग एवं अन्य विशाल भाग। ऋषियों ने प्रसङ्गानुसार कहीं-२ सूर्य के पाँच भाग, तो ऐतरेय ब्राह्मण ३१.१ में २६ भाग बताये हैं। इन सभी भागों में अपनी-२ विशेषताएँ होती हैं, पुनरपि ये सभी भाग सूत्रात्मा वायु रश्मियों के माध्यम से एक-दूसरे से बँधे रहते हैं। यदि ऐसा नहीं होता, तो सूर्य बिखरकर नष्ट हो गया होता। कुछ विशेष प्रकार की अनुष्टुप् और त्रिष्टुप् छन्द रश्मियाँ परस्पर मिश्रित होकर तीक्ष्ण बलों को उत्पन्न करती हुई विभिन्न पदार्थों को नियन्त्रित रखती हैं।

ऋषि दयानन्द ने इस मन्त्र का आधिभौतिक अर्थ किया है, जिसे हम यहाँ उद्धृत कर रहे हैं—

''**पदार्थः** — (वनस्पते) वनानां किरणानां पालकः सूर्य इव (वीड्वङ्गः) वीळूनि बलिष्ठान्यङ्गानि यस्य सः (हि) यतः (भूयाः) (अस्मत्सखा) अस्माकं मित्रम् (प्रतरणः) प्रतारकः (सुवीरः) सुष्ठु वीरयुक्तः (गोभिः) सुशिक्षिताभिर्वाग्भिः (सन्नद्धः) सम्यक् सज्जः (असि) (वीळयस्व) दृढान् कारय (आस्थाता) आस्थायुक्तः (ते) तव (जयतु) (जेत्वानि) जेतुं योग्यानि शत्रुसैन्यानि।

भावार्थः — मनुष्यैर्धार्मिकेन बलवता मित्रता कार्या येन सर्वदा विजयः स्यात्।

पदार्थ— हे (वनस्पते) किरणों के पालन करने वाले सूर्य्य के समान वर्त्तमान (हि) जिससे (वीड्वङ्गः) बलिष्ठ अङ्ग जिनके वह (प्रतरणः) पार करने वाले (सुवीरः) अच्छे प्रकार वीरों से युक्त (गोभिः) उत्तम प्रकार शिक्षित वाणियों के साथ (सन्नद्धः) अच्छे

प्रकार तैयार हुए आप (असि) हो इससे (अस्मत्सखा) हम लोगों के मित्र (भूयाः) हूजिये और (आस्थाता) स्थिति से युक्त हुए हम लोगों को (वीळयस्व) दृढ़ कराइये (ते) आपकी सेना (जेत्वानि) जीतने योग्य शत्रुओं की सेनाओं को (जयतु) जीते।

भावार्थ— मनुष्यों को चाहिये कि धार्मिक बलवान् के साथ मित्रता करें, जिससे सर्वदा विजय हो।''

'रथः' पद के पश्चात् अगले युद्ध-उपकरण 'दुन्दुभिः' का निर्वचन करते हुए लिखते हैं— 'दुन्दुभिः इति शब्दानुकरणम् द्रुमो भिन्न इति वा दुन्दुभ्यतेर्वा स्याच्छब्दकर्मणः' अर्थात् दुम्-दुम् शब्द को बार-२ उत्पन्न करने के कारण इस पदार्थ को दुन्दुभि कहते हैं। खण्डित द्रुम को भी यहाँ दुन्दुभि कहा जाता है। 'द्रुमः' के विषय में ऋषि दयानन्द का कथन है— ''यं द्रवन्ति कार्यार्थं प्राणिनः प्राप्नुवन्तीति स द्रुः वृक्षः शाखा वा। द्रुवः शाखा अस्मिन् सन्तीति द्रुमः वृक्षः। द्युद्रुभ्यां मः (५.२.१०८) इति सूत्रेण मत्वर्थीयो मः प्रत्ययः।'' (उ.को.१.३५) [द्रु = वनस्पतयो वै द्रु (तै.ब्रा.१.३.९.१), अथो सर्वऽएते वनस्पतयो यदुदुम्बरः (श.ब्रा. ७.५.१.१५)] यहाँ ग्रन्थकार ने विदीर्ण द्रुम को दुन्दुभि कहा है। इसका अर्थ यह है कि उदुम्बर नामक ऊर्जा के एक रूप को ही दुन्दुभि कहा गया है। इस ऊर्जा के विषय में 'वेदविज्ञान-आलोकः' ग्रन्थ ७.१५.१ में कहा गया है—

''उदुम्बर एक प्रकार की ऐसी ऊर्जा का रूप है, जो संयोजक गुणों से युक्त होती है। ... जब इन्द्रतत्त्व मन एवं वाक् तत्त्व के तीव्र व सम्पीडक बल के साथ ऊर्ध्वगमन करता है, उस समय इन्द्रतत्त्व के साथ विद्यमान मास रश्मियाँ एक विशेष प्रकार की ऊर्जा को उत्पन्न करती हैं। यह क्रिया उस समय विशेष रूप से होती है, जब विभिन्न देव परमाणुओं के मध्य ऊर्जा का विभाजन हो रहा होता है। ...''

इस ऊर्जा के एक भाग विशेष वा मात्रा विशेष को ही दुन्दुभि कहते हैं। इस ऊर्जा के साथ ध्वनि तरंगें भी विद्यमान होती हैं अर्थात् तारों के गर्भ में नाभिकीय संलयन की प्रक्रिया में निरन्तर ध्वनियाँ उत्पन्न होती रहती हैं। 'वेदविज्ञान-आलोकः' ग्रन्थ का तैंतीसवाँ अध्याय तारों में नाभिकीय संलयन की प्रक्रिया की व्यापक व्याख्या करता है। 'दुन्दुभिः' पद के विषय में ऋचा अगले खण्ड में प्रस्तुत की गयी है।

* * * * *

= त्रयोदशः खण्डः =

उप श्वासय पृथिवीमुत द्यां पुरुत्रा ते मनुतां विष्ठितं जगत्।
स दुन्दुभे सजूरिन्द्रेण देवैर्दूराद्दवीयो अप सेध शत्रून्॥ [ऋ.६.४७.२९]
उपश्वासय पृथिवीं च दिवं च।
बहुधा ते घोषं मन्यतां विष्ठितं स्थावरं जङ्गमं च यत्।
स दुन्दुभे सहजोषण इन्द्रेण च देवैश्च। दूराद् दूरतरमपसेध शत्रून्।
इषुधिः, इषूणां निधानम्। तस्यैषा भवति॥ १३॥

इस मन्त्र का ऋषि पूर्वोक्त है। इसका देवता दुन्दुभि तथा छन्द भुरिक् त्रिष्टुप् होने से इसके दैवत व छान्दस प्रभाव से दुन्दुभि संज्ञक ऊर्जा वारक वा बन्धक बलों से युक्त होकर तीव्र रक्तवर्णीय तेज को उत्पन्न करती है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(उप, श्वासय, पृथिवीम्, उत, द्याम्) 'उपश्वासय पृथिवीं च दिवं च' दुन्दुभि संज्ञक उपर्युक्त ऊर्जा विभिन्न कणों के संयोजन और विभाजन की प्रक्रिया में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती है। इस कारण वह न केवल सूर्यलोकों के अन्दर, अपितु पृथिवी आदि लोकों के अन्दर होने वाली विभिन्न क्रियाओं में भी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती है। इसी कारण यहाँ कहा गया है कि दुन्दुभि नामक ऊर्जा द्यु एवं पृथिवी दोनों ही लोकों को अनुप्राणित कर रही है।

(पुरुत्रा, ते, मनुताम्, विष्ठितम्, जगत्) 'बहुधा ते घोषं मन्यतां विष्ठितं स्थावरं जङ्गमं च यत्' दुन्दुभि संज्ञक रश्मियों से चर एवं अचर सभी पदार्थ प्रभावित होते हैं। इन रश्मियों से उत्पन्न गम्भीर घोष सूर्यादि लोकों के अन्दर सम्पूर्ण पदार्थ को प्रकाशित करने में भी अपनी परोक्ष भूमिका निभाते हैं। यद्यपि सम्पूर्ण सृष्टि में पूर्णतः गतिहीन पदार्थ कोई भी नहीं है, पुनरपि यहाँ स्थावर पद का प्रयोग क्यों किया गया है? यह विचारणीय है कि हमारे मत में प्राक् वर्णित रथरूप रश्मियाँ एवं उनके समान गुणों वाली रश्मियाँ ही जङ्गम कहलाती हैं और वे रथ रूप रश्मियाँ जिन कण आदि पदार्थों को वहन करती हैं, वे पदार्थ स्थावर कहलाते हैं, क्योंकि वे अपनी वाहक रश्मियों के सापेक्ष स्थिर ही होते हैं। इसके अतिरिक्त लोकों में दो प्रकार के पदार्थ विद्यमान होते हैं। उनमें से एक वे हैं, जो अति तीव्ररूप से गतिशील होते हैं और दूसरे वे पदार्थ हैं, जो मन्दगामी होते हैं। इन्हें परस्पर एक-दूसरे के

सापेक्ष जङ्गम और स्थावर कह सकते हैं।

यहाँ दूसरा अर्थ यह भी निकलता है कि दुन्दुभि संज्ञक रश्मियों से उत्पन्न श्रव्य वा अश्रव्य ध्वनि तरंगें जड़ एवं हम चेतन प्राणी, दोनों को ही प्रभावित करती हैं। यहाँ 'पुरुत्रा' पद का अर्थ बहुधा किया गया है। इसका अर्थ यह है कि ये दुन्दुभि रश्मियाँ और उनसे उत्पन्न घोष सृष्टि के पदार्थों को बहुत प्रकार से प्रभावित करते हैं। इससे यह संकेत मिलता है कि विभिन्न लोकों में उत्पन्न विभिन्न प्रकार की ध्वनियाँ, जो हमें सुनाई भी नहीं देती हैं, न केवल उन लोकों में विद्यमान जड़ पदार्थों को प्रभावित करती हैं, अपितु निकटस्थ एवं दूरस्थ प्राणियों और वनस्पतियों को भी प्रभावित करती हैं, परन्तु हम इस प्रभाव को जान ही नहीं पाते और किसी भी तकनीक से इस प्रभाव को जानना अति दुष्कर है, क्योंकि हम ऐसी परिस्थिति उत्पन्न नहीं कर सकते, जो इन ध्वनियों के प्रभाव से हमें पृथक् कर सके और हमारी दोनों ही स्थितियों की तुलना की जा सके।

(सः, दुन्दुभे, सजूः, इन्द्रेण, देवैः, दूरात्, दवीयः, अपसेध, शत्रून्) 'स दुन्दुभे सहजोषण इन्द्रेण च देवैश्च दूराद् दूरतरमपसेध शत्रून्' वे दुन्दुभि संज्ञक रश्मियाँ व ध्वनियाँ इन्द्र तत्त्व एवं विभिन्न प्राण व छन्द रश्मियों के साथ संयुक्त होकर दूर-२ तक विद्यमान असुरादि बाधक व राक्षस आदि हिंसक पदार्थों को दूर हटा देती हैं। इसका अर्थ यह है कि दुन्दुभि नामक पदार्थों का सूर्यादि लोकों में दूर-२ तक व्यापक प्रभाव होता है। यह पदार्थ इन्द्र तत्त्व, प्राण तत्त्व एवं वाक् रश्मियों के साथ मिलकर तीक्ष्ण हो जाता है अथवा इन तीनों का प्रभाव दुन्दुभि नामक पदार्थ के साथ मिलकर तीक्ष्णतर हो जाता है।

भावार्थ— विभिन्न प्रकाशित और अप्रकाशित लोकों को वायु एवं अग्नि तत्त्वों के रूप में विद्यमान ऊर्जा अनुप्राणित कर रही है। इस सृष्टि में कुछ पदार्थ अत्यन्त तीव्रगामी होने के कारण जंगम कहलाते हैं और कुछ पदार्थ अपेक्षाकृत मन्द गति वाले होने के कारण स्थावर कहलाते हैं। ये दोनों ही पद सापेक्ष होते हैं। इस सृष्टि में उत्पन्न विभिन्न श्रव्य और अश्रव्य ध्वनि तरंगें चेतन और जड़ दोनों ही प्रकार के पदार्थों को प्रभावित करती हैं, भले ही उस प्रभाव को हम नहीं जान सकें। इन लोकों में विद्यमान कुछ तीक्ष्ण रश्मियाँ बाधक असुरादि पदार्थों को नष्ट करने का निरन्तर उद्योग करती रहती हैं।

'दुन्दुभिः' पद के पश्चात् अगले युद्ध-उपकरण वाची पद 'इषुधिः' का निर्वचन

करते हुए लिखते हैं— 'इषुधिः, इषूणां निधानम्' अर्थात् इषु नामक पदार्थ को धारण करने वाला पदार्थ इषुधि कहलाता है। [इषुः = ईषतेर्गतिकर्मणो वधकर्मणो वा (निरु.९.१८), वीर्यं वाऽइषुः (श.ब्रा.६.५.२.१०)] इस प्रकार हिंसक तीक्ष्ण शक्ति व गति से युक्त पदार्थ इषु कहलाता है और ऐसे पदार्थों को धारण करने वाला पदार्थ इषुधि कहलाता है। इसकी ऋचा को अगले खण्ड में प्रस्तुत किया गया है।

* * * * *

= चतुर्दशः खण्डः =

बह्वीनां पिता बहुरस्य पुत्रश्चिश्चा कृणोति समनावगत्य।
इषुधिः सङ्काः पृतनाश्च सर्वाः पृष्ठे निनद्धो जयति प्रसूतः॥

[ऋ.६.७५.५]

बहूनां पिता। बहुरस्य पुत्रः। इतीषूनभिप्रेत्य। प्रस्मयत इवापाव्रियमाणः।
शब्दानुकरणं वा। सङ्काः सचतेः। संपूर्वाद्वा किरतेः।
पृष्ठे निनद्धो जयति प्रसूतः। इति व्याख्यातम्।
हस्तघ्नः हस्ते हन्यते। तस्यैषा भवति॥ १४॥

इस मन्त्र का ऋषि भारद्वाज वायु है अर्थात् इस छन्द रश्मि की उत्पत्ति विभिन्न बलों के धारक और रक्षक प्राण नामक प्राण रश्मियों से होती है। इसके विषय में महर्षि ऐतरेय महीदास का कथन है—

"एष उ एव बिभ्रद्वाजः प्रजा वै वाजस्ता एष बिभर्ति यद् बिभर्ति तस्माद् भरद्वाजस् तस्माद् भरद्वाज इत्याचक्षत एतम् (प्राणाम्) एव सन्तम् (ऐ.आ.२.२.२)"

उधर ग्रन्थकार ने 'वाजः' पद को बल एवं अन्नवाची नामों के अन्तर्गत भी पढ़ा है। इससे प्रकट होता है कि ये बल संयोजक ही होते हैं। इसका देवता इषुधि तथा छन्द त्रिष्टुप् होने से पूर्वोक्त इषुधि नामक पदार्थ तीव्र रक्तवर्णीय तेज व बल से युक्त होते हैं। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(बह्वीनाम्, पिता, बहुः, अस्य, पुत्रः, चिश्चा, कृणोति, समना, अवगत्य) 'बहूनां पिता बहुरस्य पुत्रः इतीषूनभिप्रेत्य प्रस्मयत इवापाव्रियमाणः शब्दानुकरणं वा' इषुधि शब्द पर विचार करने से यह प्रतीत होता है कि इन्द्रतत्त्व ही इषुधि कहलाता है, जो इसका एक विशेष रूप है। यह इन्द्रतत्त्व तीक्ष्ण बल, गति व तेज से युक्त होने के कारण इषुधि कहलाता है और वज्र रश्मियाँ भी इषु का ही एक रूप हैं। इस कारण भी इन्द्र को इषुधि कह सकते हैं। यह इषुधि संज्ञक इन्द्र अनेक इषु संज्ञक वज्र रश्मियों का पालक वा धारक होने से उनका पिता कहलाता है। यहाँ 'बहु' पद इस बात का सूचक है कि इन्द्रतत्त्व अनेक रश्मियों का मिश्रित रूप है और अनेक वज्र रश्मियों को उत्पन्न करने वाला है। इस प्रकार अनेक वज्र रश्मियाँ इसकी पुत्र रूप होती हैं। इन्द्र के अभाव में वज्र रश्मियों की तुलना नहीं की जा सकती। जिस प्रकार पिता के अभाव में सन्तान की कल्पना नहीं की जा सकती। जब इषुधि संज्ञक इन्द्रतत्त्व [समना = समनं संग्रामनाम (निघं.२.१७)] असुरादि पदार्थों के साथ संग्राम को प्राप्त करता है अर्थात् जब वह उन पर प्रहार करने वाला होता है, उस समय इन्द्रतत्त्व जिन रश्मियों से मिलकर बना होता है, वे रश्मि समूह मानो हँसने वा खुलने वा फैलने लगते हैं। इस प्रक्रिया से वज्ररूपी इषु रश्मियाँ उत्पन्न होने लगती हैं। इस समय चीं-चीं की तीव्र ध्वनियाँ भी उत्पन्न होने लगती हैं।

(इषुधिः, सङ्काः, पृतनाः, च, सर्वाः, पृष्ठे, निनद्धः जयति, प्रसूतः) 'सङ्काः सचतेः संपूर्वाद्वा किरतेः पृष्ठे निनद्धो जयति प्रसूतः इति व्याख्यातम्' इषुधि संज्ञक वह इन्द्र तत्त्व वज्र आदि सभी रश्मियों को अपने पृष्ठभाग के साथ बाँधकर [सङ्का = संग्रामनाम (निघं.२.१७)। पृतना = मनुष्यनाम (निघं.२.३), संग्रामनाम (निघं.२.१७), युद्धो वै पृतनाः (श.ब्रा. ५.२.४.१६)] बाधक व हिंसक असुरादि रश्मियों की सेना को नष्ट वा नियन्त्रित करता है। यहाँ 'सङ्का' पद का निर्वचन इस प्रकार किया गया है— 'सङ्काः सचतेः संपूर्वाद्वा किरतेः'। इसका अर्थ यह है कि इन्द्रतत्त्व अपने पृष्ठभाग में विद्यमान वज्र रश्मियों रूपी इषुओं से असुरादि पदार्थों पर तीव्रता से आक्रमण करता है, उस समय वे वज्र रश्मियाँ असुरादि रश्मियों को अपने संसर्ग में लेकर दूर-२ तक अच्छी प्रकार से बिखेर देती हैं, जिससे वे पुनः यजन प्रक्रिया में बाधा न डाल सकें। यहाँ 'प्रसूतः' पद इषुधि रूपी इन्द्र का विशेषण है, जो यह बतलाता है कि वह इन्द्र वज्र रश्मियों को निरन्तर उत्पन्न करके बाणों की भाँति फेंकता रहता है। इस प्रकार इस मन्त्र की आधिदैविक व्याख्या पूर्ण होती है।

भावार्थ— इस सृष्टि में बाधक असुरादि पदार्थों को नष्ट करने के लिए जो तीक्ष्ण विद्युत् तरंगें उत्पन्न होती हैं, वे अन्य अनेक सूक्ष्म रश्मियों का मिश्रण रूप होती हैं। उन तीक्ष्ण तरंगों से सूक्ष्म, परन्तु तीक्ष्ण रश्मियाँ उत्पन्न होकर असुरादि पदार्थों पर बाणों के समान प्रहार करती हैं। उस समय उनसे 'चीं-चीं' शब्द की तीव्र ध्वनियाँ भी उत्पन्न होती हैं। ये रश्मियाँ असुर पदार्थ को खण्ड-२ करके आकाशतत्त्व में मिला देती हैं।

ऋषि दयानन्द ने इसका आधिभौतिक भाष्य किया है, जो इस प्रकार है—

"**पदार्थः** — (बह्वीनाम्) इषूणाम् (पिता) पितेव (बहुः) (अस्य) (पुत्रः) पुत्र इवेषवः (चिश्चा) चिश्चेति शब्दानुकरणम् (कृणोति) करोति (समना) सङ्ग्रामान् (अवगत्य) प्राप्य (इषुधिः) इषवो धीयन्ते यस्मिन् (सङ्काः) सङ्ग्रामान्। सङ्का इति सङ्ग्रामनाम। निघं.२.१७ (पृतनाः) शत्रुसेनाः (च) (सर्वाः) (पृष्ठे) (निनद्धः) नित्यं बद्धः (जयति) (प्रसूतः) उत्पन्नः सन्।

भावार्थः — अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः। हे वीरपुरुषा यदीषुधिं यूयं धरेत तर्हि शत्रून्विदार्य्य पुत्रान्प्रति पितर इव प्रजाः सम्पाल्य सर्वाः शत्रुसेना जेतुं शक्नुयुः।

पदार्थ— हे मनुष्यो! (बह्वीनाम्) बहुत बाणों की (पिता) पालना करने वाले के समान (अस्य) इसके (बहुः) बहुत (पुत्रः) पुत्र के समान बाण (समना) सङ्ग्रामों को (अवगत्य) प्राप्त होकर (इषुधिः) धनुष (चिश्चा) चीं-चीं शब्द (कृणोति) करता है तथा (पृष्ठे) पीठ पर (निनद्धः) नित्य बँधा और (प्रसूतः) उत्पन्न होता हुआ (सर्वाः) समस्त (संकाः) संग्रामस्थ वैरियों की टोली (पृतनाः, च) और सेनाओं को (जयति) जीतता है वह तुम लोगों को यथावत् बना कर धारण करना चाहिये।

भावार्थ— इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालङ्कार है। हे वीरपुरुषो! यदि धनुष को तुम धारण करो तो शत्रुओं को विदीर्ण करके पुत्रों के प्रति पिता जैसे वैसे प्रजा पालन करके समस्त शत्रुसेनाओं को जीत सको।"

'इषुधिः' के पश्चात् अगले आधिदैविक युद्ध-उपकरण 'हस्तघ्नः' पद का निर्वचन करते हुए लिखते हैं— 'हस्तघ्नः हस्ते हन्यते' [हस्तः = हस्तो हन्तेः प्राशुर्हनने (निरु. १.७)] इन्द्रतत्त्व अपने प्रतिकर्षण व प्रक्षेपण अथवा आकर्षण और प्रतिकर्षण बलों के द्वारा एवं इनके कारणरूप प्राण और अपान रश्मियों के द्वारा अथवा तीव्र बल और आशुगति के

द्वारा असुरादि पदार्थों पर तीव्रता व शीघ्रतापूर्वक आक्रमण करता है और इसी तीव्रता और शीघ्रता से वज्र रश्मियों को प्राप्त अर्थात् उत्पन्न व प्रक्षिप्त करता है, इस कारण इन्द्र को ही हस्तघ्न कहते हैं। यहाँ प्राण एवं अपान, गति एवं बल तथा प्रतिकर्षण व प्रक्षेपण वा आकर्षण बलों को ही इन्द्रतत्त्व के हस्त अर्थात् हाथ मानना चाहिए। इसकी ऋचा को अगले खण्ड में प्रस्तुत किया गया है।

* * * * *

= पञ्चदशः खण्डः =

अहिरिव भोगैः पर्येति बाहुं ज्याया हेतिं परिबाधमानः।
हस्तघ्नो विश्वा वयुनानि विद्वान्पुमान्पुमांसं परि पातु विश्वतः॥

[ऋ.६.७५.१४]

अहिरिव भोगैः परिवेष्टयति बाहुम्। ज्याया वधात्परित्रायमाणः।
हस्तघ्नः सर्वाणि प्रज्ञानानि प्रजानन्। पुमान्पुरुमना भवति। पुंसतेर्वा।
अभीशवो व्याख्याताः। तेषामेषा भवति॥ १५॥

इसका ऋषि पूर्वोक्त तथा देवता हस्तघ्न और छन्द त्रिष्टुप् होने से इन्द्र तत्त्व की मारक क्षमता तीव्र होती है एवं रक्तवर्णीय तेज की उत्पत्ति वा समृद्धि भी होने लगती है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(अहिः, इव, भोगैः, परि, एति, बाहुम्) 'अहिरिव भोगैः परिवेष्टयति बाहुम्' [अहिः = अयनात् एति अन्तरिक्षे (निरु.२.१७), अही गोनाम (निघं.२.११), द्यावापृथिव्योर्नाम (निघं.३.३०)] यहाँ भोग शब्द 'भुज पालनाभ्यवहारयोः' धातु से व्युत्पन्न होता है। इस मन्त्र में इन्द्रतत्त्व द्वारा असुरादि पदार्थों के हनन की प्रक्रिया को दर्शाया गया है। वह इन्द्र छन्द रश्मियों वा अन्तरिक्ष में गमन करने वाले प्रकाशित वा अप्रकाशित कणों वा विकिरणों के समान अपनी संरक्षक शक्तियों के द्वारा बाहुरूप बलों को घातक असुरादि पदार्थों के चारों ओर लपेटता है अर्थात् उन्हें अपनी वज्र रश्मियों के द्वारा आच्छादित कर देता है।

आधिदैविक पक्ष में उपमावाची पद 'इव' को पदपूरणार्थ प्रयुक्त मानने पर यह अर्थ निकलता है कि जिस शक्ति से विभिन्न छन्दादि रश्मियाँ इन्द्रतत्त्व को आच्छादित करती हैं अथवा विभिन्न कणों और विकिरणों की धाराएँ इन्द्रतत्त्व के साथ गमन कर रही होती हैं, उसी शक्ति से इन्द्रतत्त्व बलवान होकर असुर पदार्थों को आक्रमण के लिए घेरता है।

(ज्यायाः, हेतिम्, परि, बाधमानः) 'ज्याया वधात्परित्रायमाणः' [ज्या = ज्या जयतेर्वा जिनातेर्वा प्रजावयतीषूनिति वा (निरु.९.१७)] वह इन्द्रतत्त्व असुरादि हिंसक पदार्थों के प्रहार को सब ओर से रोकने में समर्थ होता है। यहाँ 'ज्या' पद का अर्थ देव पदार्थों की यजन प्रक्रिया को नष्ट करने वाली एवं उन देव पदार्थों को दूर फेंकने वाली असुर रश्मियाँ किया है। यहाँ ज्या का दूसरा अर्थ यह भी है कि इन्द्रतत्त्व अपनी जयशील तथा असुरादि पदार्थों को नष्ट वा नियन्त्रित करने वाली उन रश्मियों, जो वज्र रश्मियों को असुर पदार्थों के ऊपर प्रक्षिप्त करती हैं, के द्वारा सब ओर से हिंसक पदार्थों को रोक लेता है।

(हस्तघ्नः, विश्वा, वयुनानि, विद्वान्, पुमान्, पुमांसम्, परि, पातु, विश्वतः) 'हस्तघ्नः सर्वाणि प्रज्ञानानि प्रजानन् पुमान्पुरुमना भवति पुंसतेर्वा' [वयुनम् = वयुनं वेतेः कान्तिर्वा प्रज्ञा वा (निरु.५.१४)] वह हस्तघ्न इन्द्रतत्त्व मूल रूप से कालतत्त्व के द्वारा विभिन्न यजन प्रक्रियाओं के विज्ञान को सम्पूर्ण रूप से जानता है। इसका अर्थ यह है कि इन्द्रतत्त्व की क्रियाएँ अथवा सम्पूर्ण सृष्टि में होने वाली विभिन्न क्रियाएँ ईश्वरीय निश्चित व्यवस्था अर्थात् विज्ञानपूर्वक ही होती हैं और इस विज्ञान के लिए ईश्वर द्वारा साक्षात् प्रेरित काल रश्मियाँ उत्तरदायिनी होती हैं, अन्य पदार्थ इन काल रश्मियों पर ही निर्भर रहते हैं अर्थात् उन रश्मियों की प्रेरणा तथा विज्ञान के अनुसार ही सभी पदार्थ कार्य करते हैं। [पुमान् = वीर्यं पुमान् (श.ब्रा.२.५.२.३६)। पुंसः = पितॄन् (निरु.३.५)] वह विभिन्न पदार्थों का पालक व रक्षक इन्द्रतत्त्व पुमान् रूप होता है। इसका अर्थ यह है कि [मनः = वृषा हि मनः (श.ब्रा.१.४.४.३), वागिति मनः (जै.उ.४.२२.११), मनसि हि सर्वे प्राणाः प्रतिष्ठिताः (श.ब्रा.७.५.२.६)] वह बलवर्षक प्राण एवं वाक् रश्मियों के व्यापक रूप से समृद्ध होकर भेदन क्रियाओं में क्रियाशील सभी पदार्थों की असुरादि बाधक पदार्थों से सब ओर से रक्षा करता है, जिससे वे पदार्थ अपनी क्रियाओं को निर्बाध रूप से सम्पादित कर पाते हैं।

भावार्थ— बाधक असुरादि पदार्थों को नष्ट करने हेतु तीक्ष्ण विद्युत् तरंगों से उत्पन्न तीक्ष्ण रश्मियाँ असुरादि पदार्थों को चारों ओर से आच्छादित करके प्रहार करती हैं। वह पदार्थ

आच्छादित होने के कारण तीक्ष्ण विद्युत् तरंगों के नियन्त्रण में आ चुका होता है और फिर उनके प्रहार से बिखर जाता है। ये सभी क्रियाएँ ईश्वर के निश्चित प्रयोजनार्थ विज्ञानानुकूल ही होती हैं।

'हस्तघ्नः' के पश्चात् 'अभीशवः' पद के निर्वचन के विषय में ज्ञातव्य है कि इसकी व्याख्या पूर्व में खण्ड ३.९ में की जा चुकी है। इसकी ऋचा अगले खण्ड में प्रस्तुत की गई है।

* * * * *

= षोडशः खण्डः =

रथे तिष्ठन्नयति वाजिनः पुरो यत्र यत्र कामयते सुषारथिः।
अभीशूनां महिमानं पनायत मनः पश्चादनु यच्छन्ति रश्मयः॥

[ऋ.६.७५.६]

रथे तिष्ठन्नयति वाजिनः पुरस्तात्सतः। यत्र यत्र कामयते।
सुषारथिः कल्याणसारथिः। अभीशूनां महिमानं पूजयामि।
मनः पश्चात्सन्तोऽनुयच्छन्ति रश्मयः। धनुः। धन्वतेर्गतिकर्मणः।
वधकर्मणो वा। धन्वन्त्यस्मात् इषवः। तस्यैषा भवति॥ १६॥

इसका ऋषि पूर्वोक्त, देवता सारथि तथा छन्द जगती होने से पूर्वोक्त रथ संज्ञक रश्मियों की नियन्त्रक रश्मियाँ दूर-२ तक फैलकर पदार्थ में गौर वर्ण को उत्पन्न वा समृद्ध करने लगती हैं। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(रथे, तिष्ठन्, सुषारथिः, वाजिनः, नयति, पुरः, यत्र, यत्र, कामयते) 'रथे तिष्ठन्नयति वाजिनः पुरस्तात्सतः यत्र यत्र कामयते सुषारथिः कल्याणसारथिः' प्राक् वर्णित कण आदि पदार्थ रथ रूप रश्मियों पर सवार होकर अग्रगामी छन्द वा प्राण रश्मियों को अपने आगे-२ ले चलते हैं। इसका अर्थ यह है कि जो भी कण आकाश में गमन करते हैं, उनकी वाहक रश्मियाँ भी किन्हीं अन्य रश्मियों, जो उनके आगे-२ स्पन्दित होती रहती हैं, के द्वारा वहन

की जाती हैं। इनको वहन करने का माध्यम कुछ ऐसी रश्मियाँ होती हैं, जो सारथि का कार्य करती हैं। हमारी दृष्टि में रथ रूप रश्मियों को वहन करने वाली रश्मियाँ प्राण एवं अपान होती हैं। रथ रूप रश्मियाँ त्रिष्टुप् हो सकती हैं और अनुष्टुप् छन्द रश्मियाँ ही सारथि का कार्य करती हैं। इसी कारण ऋषियों का कथन है— त्रिष्टुप् स्तोभत्युत्तरपदा का तु त्रिता स्यात्तीर्णतमं छन्दो भवति (दै.ब्रा.३.१४, १५), त्रिष्टुबिन्द्रस्य वज्रः (ऐ.ब्रा.२.२), वृषा वै त्रिष्टुप् योषानुष्टुप् (ऐ.आ.१.३.५), विश्वेदेवा अनुष्टुभं समभरन् (जै.उ.१.१८.७)।

इन सब वचनों से हमारे उपर्युक्त कथन की पुष्टि होती है। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि युद्ध-उपकरण वाची विभिन्न पदार्थ सापेक्ष होते हैं, इस कारण इनके विषय में निश्चयात्मक व निश्चित कथन सम्भव नहीं है। इस प्रसंग में सारथि रूप अनुष्टुप् छन्द रश्मियाँ इन सभी पदार्थों को जहाँ-२ आकर्षण बल प्रधान होता है, वहाँ-२ ले जाती रहती हैं। इसके साथ ही ये अनुष्टुप् छन्द रश्मियाँ मूलभूत 'ओम्' रश्मियों के विज्ञान एवं बल के प्रकाशन में विभिन्न संयोगों को निश्चित प्रयोजन के अनुसार ले जाती रहती हैं। ध्यान रहे कि कभी भी कोई भी कार्य यदृच्छया नहीं होता, बल्कि ईश्वर के निश्चित विज्ञानयुक्त प्रयोजन के अनुसार ही होता है। भौतिकी के सभी नियम ईश्वरप्रसूत ही हैं, यह हमारी अल्पज्ञता है कि हम सभी नियमों को कभी नहीं जान सकते।

(अभीशूनाम्, महिमानम्, पनायत) 'अभीशूनां महिमानं पूजयामि' [अभीशवः = अभीशवो वै रश्मयः (श.ब्रा.५.४.३.१४), अभीशवोऽभ्यश्नुवते कर्माणि (निरु.३.९)] इस छन्द रश्मि की उपादान कारणभूत ऋषि रश्मियाँ विभिन्न रश्मियों की व्यापकता और महत्ता का उपयोग करती हैं। इसका अर्थ यह है कि इस सृष्टि में विभिन्न पदार्थों की नाना प्रकार की क्रियाएँ होती हैं, उनके लिए उत्तरदायिनी विभिन्न छन्दादि रश्मियाँ सर्वत्र व्याप्त होती हैं। ये छन्दादि रश्मियाँ जो-जो भी क्रियाएँ करती हैं, उन सबके साथ प्राण नामक प्राण रश्मियों की भी अनिवार्य भूमिका होती है। इसको इस प्रकार भी मान सकते हैं कि प्राण रश्मियाँ विभिन्न छन्दादि रश्मियों के साथ मिलकर इस सृष्टि में नाना प्रकार की अपनी अनिवार्य भूमिका निभाती हैं।

(मनः, पश्चात्, अनु, यच्छन्ति, रश्मयः) 'मनः पश्चात्सन्तोऽनुयच्छन्ति रश्मयः' [मनः = स (प्रजापतिः) मन एव हिङ्कारमकरोत् (जै.उ.१.१३.५), तं विश्वे देवा वाङ्मनश्च प्रजापतिर-नुष्टुभा छन्दसा यज्ञायज्ञीयेन साम्नास्तुवन् (जै.ब्रा.१.२३९)] ये रश्मियाँ मनस्तत्त्व में

विद्यमान 'हिम्' रश्मियों एवं अनुष्टुप् छन्द रश्मियों की अनुगामिनी होकर विभिन्न क्रियाओं को करते समय नियन्त्रणपूर्वक गमन करती हैं। इसका अर्थ यह है कि सृष्टि की विभिन्न क्रियाएँ विभिन्न रश्मियों के द्वारा नियन्त्रित होकर ही कार्य करती हैं। इसी कारण सम्पूर्ण सृष्टि एक व्यवस्था का नाम है, अव्यवस्था का नहीं।

ऋषि दयानन्द ने इसका आधिदैविक अर्थ किया है, जो इस प्रकार है—

''**पदार्थः** — (रथे) रमणीये याने (तिष्ठन्) (नयति) प्रापयति (वाजिनः) वेगवतोऽश्वान् (पुरः) पुरस्तात् (यत्रयत्र) (कामयते) (सुषारथिः) शोभनश्च सौ सारथिश्च (अभीशूनाम्) बाहूनाम् (महिमानम्) (पनायत) व्यवहरत स्तुत वा (मनः) चित्तम् (पश्चात्) (अनु) (यच्छन्ति) निगृह्णन्ति (रश्मयः) किरणाः।

भावार्थः — अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः। हे राजादयो वीरपुरुषा यूयं जितेन्द्रिया भूत्वा स्वकार्य्यपारं रथेन सुषारथिरिव गच्छत प्रधानमनु गच्छन्तं महान्तं व्यवहारं कृत्वा स्वसुशिक्षां भृत्यान् नीत्वा कामसिद्धिं कुरुत।

पदार्थ— हे विद्वान् वीरपुरुषो! जैसे (सुषारथिः) अच्छा सारथि (रथे) रथ पर (तिष्ठन्) स्थित होता हुआ (यत्रयत्र) जहाँ जहाँ (पुरः) पहिले (कामयते) कामना करता है वहाँ वहाँ (वाजिनः) वेग वाले अश्वों की (नयति) प्राप्ति कराता है जैसे (रश्मयः) किरणें सूर्य के (पश्चात्) पीछे (अनु, यच्छन्ति) अनुकूल नियम से जाती हैं वैसे वहाँ-वहाँ (अभीशूनाम्) बाहुओं की (महिमानम्) महिमा को (मनः) और चित्त को तुम (पनायत) व्यवहार में लाओ वा उसकी स्तुति करो।

भावार्थ— इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालङ्कार है। हे राजा आदि वीरपुरुषो! तुम जितेन्द्रिय होकर अपने कार्य के पार रथ से अच्छे सारथी के समान जाओ तथा प्रधान के अनुकूल जाने वाले बड़े व्यवहार को करके सुन्दर शिक्षा को भृत्यों को पहुँचाकर कामसिद्धि करो।''

'अभीशवः' पद के निर्वचन के पश्चात् अगले युद्धोपकरण 'धनुः' पद का निर्वचन करते हुए लिखते हैं— 'धनुः धन्वतेर्गतिकर्मणः वधकर्मणो वा धन्वन्त्यस्मात् इषवः' अर्थात् गति व वध कर्मों से युक्त पदार्थ को धनु कहते हैं। इस पदार्थ से निरन्तर इषु, जिसके विषय में खण्ड ९.१३ में लिख चुके हैं, निकलते रहते हैं। इसका तात्पर्य है कि इन्द्र तत्त्व के शक्ति रूप हाथों में धनुसंज्ञक रश्मियाँ विद्यमान होती हैं, जिनसे वज्र रश्मियाँ निरन्तर

उत्सर्जित होती रहती हैं। ऋषियों ने इनके विषय में लिखा है— वज्रो वै धनुः (मै.सं. ४.४.३), वार्त्रघ्नं वै धनुः (श.ब्रा.५.३.५.२७)। इन वचनों से प्रमाणित होता है कि इन तत्त्वदर्शियों ने धनु एवं इषु को एक ही पदार्थ माना है, जिसे वज्र कहा जाता है, परन्तु इस प्रकरण में धनु पृथक् पदार्थ है, जो वज्र रश्मियों को असुरादि बाधक पदार्थों पर फेंकता रहता है।

इसकी ऋचा को अगले खण्ड में प्रस्तुत किया गया है।

* * * * *

= सप्तदशः खण्डः =

धन्वना गा धन्वनाजिं जयेम धन्वना तीव्राः समदो जयेम।
धनुः शत्रोरपकामं कृणोति धन्वना सर्वाः प्रदिशो जयेम॥

[ऋ.६.७५.२]

इति सा निगदव्याख्याता। समदः समदो वात्तेः। सम्मदो वा मदतेः।
ज्या जयतेर्वा। जिनातेर्वा। प्रजावयतीषूनिति वा। तस्यैषा भवति॥ १७॥

ग्रन्थकार ने इस मन्त्र की व्याख्या नहीं की है, पुनरपि हम इसकी व्याख्या कर रहे हैं—

इसका ऋषि पूर्वोक्त तथा इसका देवता धनु एवं छन्द त्रिष्टुप् होने से धनु संज्ञक रश्मियाँ पदार्थ को तीव्र रक्तवर्णीय तेज से युक्त करने लगती हैं। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(धन्वना, गाः, धन्वना, आजिम्, जयेम) [आजिम् = संग्रामनाम (निघं.२.१७)] इन उपर्युक्त धनु संज्ञक रश्मियों के द्वारा इन्द्रतत्त्व अथवा [गौ = अन्तरिक्षं गौः (ऐ.ब्रा.४.१५)] रथ रूप रश्मियों पर सवार विभिन्न संयोज्य कण असुरादि पदार्थों के साथ हो रहे संग्राम को जीतने के लिए आकाशतत्त्व को नियन्त्रित करते हैं। इसका अर्थ यह है कि जब धनु संज्ञक रश्मियों से निकलने वाली वज्र रश्मियाँ असुर पदार्थ पर प्रहार करती हैं, तब वे उस पदार्थ

के निकटवर्ती आकाशतत्त्व को नियन्त्रित करने लगती हैं। जिसके कारण असुर पदार्थ या तो नियन्त्रित होने लगता है अथवा फिर छिन्न-भिन्न वा निर्बल होकर आकाशतत्त्व में मिल जाता है।

(धन्वना, तीव्राः, समदः, जयेम) 'समदः समदो वात्तेः सम्मदो वा मदतेः' [समदः = सम्+अदः, अद् भक्षणे। सम्मदः = सम्+मदः] वे संयोज्य कण इन धनुसंज्ञक रश्मियों के द्वारा तीव्र भक्षक वा हिंसक राक्षसादि पदार्थों एवं अति उत्तेजित संयोज्य कण आदि पदार्थों को नियन्त्रित करने में समर्थ होते हैं। ध्यातव्य है कि संयोजन क्रियाओं में असुरादि बाधक पदार्थ ही बाधक नहीं होते, अपितु संयोज्य कणों की अत्यधिक सक्रियता भी यजन कर्मों में बाधक होती है। इस कारण इन दोनों को ही नियन्त्रित करना किसी भी यजन क्रिया के लिए अनिवार्य होता है और इसे नियन्त्रित करने की बात ही यहाँ कही गई है।

(धनुः, शत्रोः, अपकामम्, कृणोति) ये धनु संज्ञक रश्मियाँ बाधक राक्षस आदि पदार्थों की कामना को नष्ट कर देती हैं। इसका अर्थ यह है कि हिंसक पदार्थ जैसे ही किसी देव पदार्थ पर आक्रमण करते हैं अथवा उन्हें दूर-दूर फेंकने का प्रयास करते हैं, तब धनु संज्ञक रश्मियाँ उन हिंसक पदार्थों के बल के विपरीत बल उत्पन्न करके उन हिंसक पदार्थों के बाधक प्रयासों को विफल कर देती हैं।

(धन्वना, सर्वाः, प्रदिशः, जयेम) वे धनु रश्मियाँ सभी दिशाओं और प्रदिशाओं में आक्रामक हो रहे असुरादि पदार्थों को नियन्त्रित करती हैं अथवा वे संयोज्य कणों के परिधि भाग में विद्यमान सभी दिक् रश्मियों को नियन्त्रित करके उन्हें यजन कार्यों के लिए प्रेरित करती हैं। हम जानते हैं कि दो संयोज्य कण सदैव ही अपने उत्तरी अथवा दक्षिणी ध्रुवों की ओर से ही परस्पर संयुक्त होते हैं। इस कारण उनके संयुक्त होने में दिक् रश्मियों की भी अनिवार्य भूमिका होती है। जब दिक् रश्मियों को धनु रश्मियाँ नियन्त्रित कर लेती हैं, तब दोनों ही संयोज्य कण परस्पर सहजता से संयुक्त हो जाते हैं।

भावार्थ— जब असुरादि बाधक पदार्थ को विभिन्न रश्मियाँ नष्ट करना चाहती हैं, तब वे उस असुरादि पदार्थ के निकटस्थ आकाशतत्त्व को नियन्त्रण में ले लेती हैं। इससे वह असुर पदार्थ या तो नियन्त्रित होने लगता है अथवा छिन्न-भिन्न हो जाता है। किसी भी संयोग प्रक्रिया में बाधक प्रतिकर्षक पदार्थों के अतिरिक्त संयोज्य कणों का अधिक ऊर्जा वाला होना भी बाधक होता है। इन दोनों ही स्थितियों को नियन्त्रित वा सन्तुलित करने के

लिए विभिन्न प्रकार की रश्मियाँ समय-२ पर उत्पन्न होती रहती हैं। जब कोई हिंसक असुरादि पदार्थ किसी यजनशील कण के ऊपर प्रहार करता है, तो वे रश्मियाँ उत्पन्न होकर उस हिंसक बल के विपरीत बल को उत्पन्न कर देती हैं, जिससे वह हिंसक बल समाप्त हो जाता है। इसके पश्चात् वे रश्मियाँ संयोज्य कणों के परिधि भाग में विद्यमान रश्मियों को नियन्त्रित करके उन्हें यजन कार्य के लिए प्रेरित करती हैं।

'धनुः' पद के निर्वचन के पश्चात् 'ज्या' पद का निर्वचन करते हुए लिखते हैं— 'ज्या जयतेर्वा जिनातेर्वा प्रजावयतीषूनिति वा'। इसकी व्याख्या हम खण्ड २.५ में कर चुके हैं। इसकी ऋचा को अगले खण्ड में प्रस्तुत किया गया है।

* * * * *

= अष्टादशः खण्डः =

वक्ष्यन्तीवेदा गनीगन्ति कर्णं प्रियं सखायं परिषस्वजाना।
योषेव शिङ्क्ते वितताधि धन्वञ्ज्या इयं समने पारयन्ती॥

[ऋ.६.७५.३]

वक्ष्यन्तीवागच्छति कर्णं प्रियमिव सखायमिषुं परिष्वजमाना।
योषेव शिङ्क्ते। शब्दं करोति।
वितताधि धनुषि ज्येयं समने सङ्ग्रामे पारयन्ती। पारं नयन्ती।
इषुः। ईषतेर्गतिकर्मणः। वधकर्मणो वा। तस्यैषा भवति॥ १८॥

इसका ऋषि पूर्वोक्त है। इसका देवता ज्या एवं छन्द निचृत् त्रिष्टुप् होने से ज्या संज्ञक पदार्थ तीक्ष्ण एवं रक्तवर्णीय तेज उत्पन्न करने लगते हैं। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(वक्ष्यन्ती, इव, इत्, आ, गनीगन्ति, कर्णम्, प्रियम्, सखायम्, परिषस्वजाना, योषा, इव) 'वक्ष्यन्तीवागच्छति कर्णं प्रियमिव सखायमिषुं परिष्वजमाना योषेव' जिस प्रकार अथवा जैसे ही योषा संज्ञक पदार्थ अपने समान प्रकाशित वा सक्रिय पुरुष रूप पदार्थों, जो योषा संज्ञक

पदार्थों की ओर आकृष्ट होने वाले होते हैं अथवा हो रहे होते हैं, के साथ मिश्रित होते हैं। उसी प्रकार अथवा उसी समय इन कणों की धनु संज्ञक रश्मियों की अवयवरूप ज्या रूप रश्मियाँ संयोज्य कणों के साथ क्रियाशील अथवा उन्हें क्रियाशील करने में अपनी भूमिका निभाने वाली कर्ण रूप रश्मियों के साथ निरन्तर व्याप्त होती रहती हैं। कर्ण नामक पदार्थ के विषय में हम पूर्व में खण्ड १.९ में विस्तार से लिख चुके हैं। ये कर्ण नामक रश्मियाँ सभी संयोज्य कणों के साथ सम्बद्ध होती रहती हैं और इन कणों के संयोग में इनकी बड़ी भूमिका होती है। इस भूमिका के निर्वहन में ज्या रूप रश्मियों की भूमिका को यहाँ रेखांकित किया गया है।

(शिङ्क्ते, वितता, अधि, धन्वन्, ज्या, इयम्, समने, पारयन्ती) 'शिङ्क्ते शब्दं करोति वितताधि धनुषि ज्येयं समने सङ्ग्रामे पारयन्ती पारं नयन्ती' जब ज्या संज्ञक रश्मियाँ धनु संज्ञक रश्मियों के साथ व्याप्त होकर विभिन्न कणों के संगमन एवं बाधक पदार्थों के साथ संघर्षण हेतु इषु संज्ञक रश्मियों को प्रक्षिप्त करती हैं, उस समय उनसे अव्यक्त ध्वनि उत्पन्न होती है। इन ज्या संज्ञक रश्मियों के कारण संयोग प्रक्रिया सम्पन्न हो पाती है, क्योंकि ये रश्मियाँ संयोज्य कणों को पार लगाने वाली होती हैं अर्थात् उनकी क्रियाओं को निरापद बनाने वाली होती हैं।

ऋषि दयानन्द ने इसका आधिभौतिक अर्थ किया है, जो इस प्रकार है—

''**पदार्थः** — (वक्ष्यन्तीव) यथा कथयिष्यन्ती विदुषी स्त्री (इत्) एव (आ) समन्तात् (गनीगन्ति) भृशं गच्छति (कर्णम्) श्रोत्रम् (प्रियम्) (सखायम्) मित्रमिव वर्त्तमानं पतिम् (परिषस्वजाना) परितः कृतसङ्गा (योषेव) पत्नीव (शिङ्क्ते) अव्यक्तं शब्दं करोति (वितता) विस्तृता (अधि) उपरि (धन्वन्) धनुषि (ज्या) प्रत्यञ्चा (इयम्) (समने) सङ्ग्रामे (पारयन्ती) पारं प्रापयन्ती।

भावार्थः — अत्रोपमालङ्कारः। हे वीरमनुष्या यथा प्रियेण मित्रेण पत्या सह स्त्री प्रिया सम्बद्धा यथा च विद्यार्थिनीभिः सहाऽध्यापिका विदुषी स्त्री सम्बद्धा वर्त्तते दुःखादविद्यायाश्च पारं गमयति तथैवेयं धनुर्ज्या युद्धात्पारं गमयित्वा सदैव सुखयति।

पदार्थ— हे शूरवीर! जो (इयम्) यह (ज्या) प्रत्यञ्चा अर्थात् धनुष की तांति (वक्ष्यन्तीव) जैसे विदुषी कहने वाली होती वैसे (प्रियम्) अपने प्यारे (सखायम्) मित्र के

समान वर्त्तमान पति को (परिषस्वजाना) सब ओर से संग किये हुए (योषेव) पत्नी स्त्री (कर्णम्) कान को (आ, गनीगन्ति) निरन्तर प्राप्त होती है वैसे (अधि) (धन्वन्) धनुष के ऊपर (वितता) विस्तारी हुई तांति (समने) सङ्ग्राम में (पारयन्ती) पार को पहुँचाती हुई (शिङ्क्ते) गूंजती है उस (इत्) ही को तुम यथावत् जानकर उसका प्रयोग करो।

भावार्थ— इस मन्त्र में उपमालङ्कार है। हे वीर पुरुषो! जैसे प्रिय मित्र पति के साथ स्त्री प्यारी सम्बद्ध अर्थात् प्रेम की डोरी से बंधी हुई है और जैसे विद्यार्थिनी कन्याओं के साथ पढ़ाने वाली विदुषी स्त्री बंधी हुई दुःख से और अविद्या से पार पहुँचाती है, वैसे ही यह धनुष की प्रत्यञ्चा युद्ध से पार पहुँचा कर सदैव सुखी करती है।''

ज्या संज्ञक पद के निर्वचन के पश्चात् अग्रिम युद्धोपकरण 'इषु' का निर्वचन करते हुए लिखते हैं— 'इषुः ईषतेर्गतिकर्मणः वधकर्मणो वा'। इसके विषय में हम पूर्व में अनेकत्र लिख चुके हैं। इसकी ऋचा को अगले खण्ड में प्रस्तुत किया गया है।

* * * * *

= एकोनविंशः खण्डः =

सुपर्णं वस्ते मृगो अस्या दन्तो गोभिः सन्नद्धा पतति प्रसूता।
यत्रा नरः सं च वि च द्रवन्ति तत्रास्मभ्यमिषवः शर्म यंसन्॥

[ऋ.६.७५.११]

'सुपर्णं वस्त' इति वाजानमभिप्रेत्य। मृगमयोऽस्या दन्तः। मृगयतेर्वा।
गोभिः सन्नद्धा पतति प्रसूतेति व्याख्यातम्।
यत्र नराः सन्द्रवन्ति च विद्रवन्ति च। तत्रास्मभ्यमिषवः शर्म यच्छन्तु।
शरणं सङ्ग्रामेषु। अश्वाजनीं कशेत्याहुः। कशा प्रकाशयति भयमश्वाय।
कृष्यतेर्वाणूभावात्। वाक् पुनः प्रकाशयत्यर्थान्। खशया। क्रोशतेर्वा।
अश्वकशाया एषा भवति॥ १९॥

इस मन्त्र का ऋषि पूर्वोक्त है। इसका देवता इषु तथा छन्द त्रिष्टुप् होने से इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से इषु संज्ञक रश्मियाँ तीव्र रक्तवर्णीय तेज को उत्पन्न वा समृद्ध करती हैं। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(सुपर्णम्, वस्ते, मृगः, अस्याः, दन्तः, गोभिः, सन्नद्धा, पतति, प्रसूता) 'सुपर्णं वस्त इति वाजानमभिप्रेत्य मृगमयोऽस्या दन्तः मृगयतेर्वा गोभिः सन्नद्धा पतति प्रसूतेति व्याख्यातम्' [सुपर्णम् = प्राणो वै सुपर्णः (शां.आ.१.८)] वे इषु संज्ञक रश्मियाँ किसी भी पदार्थ पर सहजता से गिरने वाली प्राण रश्मियों को धारण करती हैं अथवा उनसे आच्छादित होती हैं। यह प्रक्रिया इसी प्रकार होती है, जिस प्रकार बलकारी छन्द रश्मियाँ अपने अग्रभाग में प्राण रश्मियों को अथवा 'हिम्' रश्मियों को धारण किए रहती हैं। आधिदैविक पक्ष में इसे इस प्रकार भी कह सकते हैं कि जब संयोग प्रक्रिया में भाग लेने वाली विभिन्न छन्द रश्मियाँ प्राण रश्मियों को अपने आगे धारण करते हुए नाना कर्मों को सम्पादित कर रही होती हैं, उसी समय ये इषु संज्ञक रश्मियाँ भी प्राण रश्मियों को अपना नायक बनाकर आक्रमण करती हैं। इन रश्मियों की अग्रभाग रूप प्राण रश्मियाँ अपने लक्ष्य को खोजने तथा उसे छिन्न-भिन्न करने में समर्थ होती हैं। वे त्रिष्टुबादि तीक्ष्ण वाक् रश्मियों से अच्छी प्रकार सन्नद्ध रहती हुई तथा ज्या संज्ञक रश्मियों से फेंकी जाती हुई तीक्ष्णतापूर्वक अपने लक्ष्य पर गिरती हैं। इस प्रकार वे असुरादि पदार्थों को छिन्न-भिन्न कर देती हैं।

(यत्र, नरः, सम्, च, वि, च, द्रवन्ति, तत्र, अस्मभ्यम्, इषवः, शर्म, यंसन्) 'यत्र नराः सन्द्रवन्ति च विद्रवन्ति च तत्रास्मभ्यमिषवः शर्म यच्छन्तु शरणं सङ्ग्रामेषु' जहाँ अर्थात् इस संग्राम में नर अर्थात् देव कणों के समूह अथवा विभिन्न प्राणादि रश्मि आदि पदार्थ अच्छी प्रकार से विविध रूपों में और विविध मार्गों पर तीव्रतापूर्वक गमन करते हैं। विभिन्न तारों के अन्दर इस प्रकार की क्रियाएँ तीव्र वेग से हुआ करती हैं। [शर्म = गृहनाम (निघं.३.४)] उन स्थानों में अर्थात् जहाँ तीव्र यजन कर्म हुआ करते हैं, वहाँ इषु संज्ञक रश्मियाँ विभिन्न छन्दादि रश्मियों और बलों के धारक प्राणादि रूपी भारद्वाज संज्ञक पदार्थों के लिए गृह अथवा आश्रय रूप होती हैं। इसका अर्थ यह है कि ये इषु संज्ञक रश्मियाँ सभी प्रकार की यजन क्रियाओं के लिए आश्रय देने वाली होती हैं और सभी यजन क्रियाएँ इन्हीं के अन्दर होती हैं, बाहर नहीं। ये इषु रश्मियाँ वाक् रूप ही होती हैं, यह बात स्मरणीय है।

'इषु' पद के निर्वचन के पश्चात् 'अश्वाजनी' पद का निर्वचन करते हुए लिखते हैं— 'अश्वाजनीं कशेत्याहुः कशा प्रकाशयति भयमश्वाय कृष्यतेर्वाणूभावात् वाक् पुनः प्रकाशयत्यर्थान् खशया क्रोशतेर्वा' [अश्वाजनि = अश्व + अज गतिक्षेपणयोर्धातोर्ल्युट् स्त्रियां ङीप् (वै.को.)] अर्थात् अश्वाजनी कशा को कहते हैं। इस पदार्थ में से आशुगामिनी रश्मियाँ तीव्रतापूर्वक निकलती वा उत्पन्न होती हैं और वे रश्मियाँ कम्पन करती हुई गमन करती हैं। इसके साथ ही ये रश्मियाँ [अश्वः = यजमानो वा अश्वः (तै.ब्रा.३.९.१७.५), वज्रो वाऽअश्वः (श.ब्रा.४.३.४.२७, १३.१.२.९), इन्द्रो वा अश्वः (कौ.ब्रा.१५.४), असौ वा आदित्योऽश्वः (तै.ब्रा.३.९.२३.२)] विभिन्न संयोज्य कणों, वज्र रश्मियों एवं इन्द्र तत्त्व आदि को कम्पायमान करती हैं। इनके कारण सम्पूर्ण सूर्यलोक में भी कम्पन होता रहता है। ये रश्मियाँ अति सूक्ष्म होने के कारण बहुत पतली रेखाओं के रूप में गमन करती हैं। इसका अर्थ यह है कि ये रश्मियाँ फैली हुई गमन नहीं करतीं, बल्कि खींची जाती हुई बारीक रेखाओं के रूप में गमन करती हैं। इस कारण भी इन्हें 'कशा' कहा जाता है। पुनः इनके विषय में लिखते हैं कि ये वाक् रूप ही होती हैं, क्योंकि ये विभिन्न पदार्थों को प्रकाशित वा सक्रिय करती हैं। ये वाक् रश्मियाँ आकाश तत्त्व में सोई हुई रहती हैं अर्थात् विद्यमान रहती हैं और इनके कारण ही मन्द वा गम्भीर घोष उत्पन्न होता है।

अश्वनामक आशुगामी पदार्थों को कँपाने वा नियन्त्रित करने वाली कशा रूप 'अश्वाजनि' पद की ऋचा को अगले खण्ड में प्रस्तुत किया गया है।

* * * * *

विंशः खण्डः

आ जङ्घन्ति सान्वेषां जघनाँ उप जिघ्नते।
अश्वाजनि प्रचेतसोऽश्वान्त्समत्सु चोदय॥ [ऋ.६.७५.१३]
आघ्नन्ति सानून्येषाम्। सरणानि सक्थीनि। सक्थि सचतेः।
आसक्तोऽस्मिन्कायः। जघनानि चोपघ्नन्ति। जघनं जङ्घन्यतेः। अश्वाजनि।

प्रचेतसः प्रवृद्धचेतसोऽश्वान्। समत्सु समरणेषु सङ्ग्रामेषु चोदय।
उलूखलम्। उरुकरं वा। ऊर्ध्वखं वा। ऊर्क्करं वा।
उरु मे कुर्वित्यब्रवीत्तदुलूखलमभवत्। उरूकरं चैतत्।
उलूखलमित्याचक्षते परोक्षेण। [तु.श.ब्रा.ब्रा.७.५.१.२२]
इति च ब्राह्मणम्। तस्यैषा भवति॥ २०॥

इस मन्त्र का ऋषि पूर्वोक्त है। इसका देवता प्रतोद और छन्द स्वराट् उष्णिक् होने से इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से पदार्थ में विक्षोभ एवं चितकबरे वर्ण की उत्पत्ति होती है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(आ, जङ्घन्ति, सानु, एषाम्, जघनान्, उप, जिघ्नते) 'आघ्नन्ति सानून्येषाम् सरणानि सक्थीनि सक्थि सचतेः आसक्तोऽस्मिन्कायः जघनानि चोपघ्नन्ति जघनं जङ्घन्यतेः' पूर्वोक्त अश्वाजनि अर्थात् कशा संज्ञक रश्मियाँ असुरादि बाधक पदार्थों के सानुओं पर प्रहार करती हैं अर्थात् वे रश्मियाँ असुरादि रश्मि आदि पदार्थों की गमन शक्ति रूपी जंघाओं को नष्ट करती हैं। ऐसा कैसे हो सकता है, इसको स्पष्ट करते हुआ कहा है कि उन बाधक पदार्थों का जो भाग गमनागमन के लिए बल प्रदान करता है, उस पर ये रश्मियाँ प्रहार करती हैं। यह भाग उन पदार्थों के लिए वैसा ही व्यवहार करता है, जैसा हमारे शरीर में घुटने का व्यवहार होता है। इसके साथ ही वे रश्मियाँ उन बाधक पदार्थों के जघनों पर भी प्रहार करती हैं। इन अंगों को जघन इसलिए कहा जाता है, क्योंकि कशा अथवा वज्र रश्मियों का प्रहार इन पर ही विशेष होता है। इस प्रहार से असुरादि पदार्थ छिन्न-भिन्न होकर बिखर जाते हैं अथवा उनकी प्रहारक व विनाशकारी गति समाप्त हो जाती है।

(अश्वाजनि, प्रचेतसः, अश्वान्, समत्सु, चोदय) 'अश्वाजनि प्रचेतसः प्रवृद्धचेतसोऽश्वान् समत्सु समरणेषु सङ्ग्रामेषु चोदय' अश्वाजनि संज्ञक उपर्युक्त रश्मियाँ प्रकृष्ट रूप से सक्रिय एवं सर्वोच्च चेतन सत्ता द्वारा उत्पन्न 'ओम्' रश्मियों के सानिध्य से विज्ञानानुकूल गति एवं क्रियाओं से युक्त अश्व अर्थात् आशुगामी तरंगों वा रश्मियों को विभिन्न संग्रामों में अच्छी प्रकार से प्रेरित करती हैं। इसका अर्थ यह है कि ये रश्मियाँ असुरादि पदार्थों के साथ हो रहे देव पदार्थों के संघर्ष एवं संयोज्य कणों के यजन कर्मों में कशा संज्ञक रश्मियों और विभिन्न आशुगामी रश्मि वा तरंगों को अच्छी प्रकार प्रेरित करती हैं अर्थात् उन्हें बल

प्रदान करते हुए अधिक सक्रिय बनाती हैं।

'अश्वाजनि' पद के निर्वचन के उपरान्त अग्रिम पद 'उलूखलम्' का निर्वचन करते हुए लिखते हैं— 'उलूखलम् उरुकरं वा ऊर्ध्वखं वा ऊर्क्करं वा'। इसका अर्थ यह है कि यह पदार्थ व्यापक रूप से कार्य करने वाला होता है। [ऊर्क् = अन्नमूर्जम् (कौ.ब्रा.२८.५), अन्नं वाऽऊर्गुदुम्बरः (श.ब्रा.३.२.१.३३), ऊर्ग्वा अन्नमुदुम्बरः (तै.ब्रा.१.२.६.५)] इसके गमन करने की दिशा में आकाश तत्त्व विशेष घनीभूत होता है, इसके कारण वह विभिन्न संयोज्य कणों को अपनी ओर आकृष्ट करता है। इसके साथ ही यह विभिन्न विभाजनीय कणों को भी आकृष्ट करके संयोग एवं वियोग दोनों ही प्रक्रियाओं को समृद्ध करता है। ऐसा इस कारण भी होता है, क्योंकि 'उलूखल' संज्ञक पदार्थ संयोजक गुणों से सम्पन्न 'उदुम्बर' संज्ञक ऊर्जा को उत्पन्न करता है। इसके विषय में वेदविज्ञान-आलोकः ७.१५.१ पठनीय है। उलूखल के विषय में ऋषियों का कथन है— यदुलूखमुपदधाति विष्णोरेव नाभावग्निं चिनुते (क.सं.३१.९), उलूखलमुप दधात्येषा वा अग्नेर्नाभिः (तै.सं.५.२.८.७), अन्तरिक्षं वाऽउलूखलम् (श.ब्रा.७.५.१.२६)।

इन वचनों से भी उलूखल एक ऐसा पदार्थ सिद्ध होता है, जो तारों के केन्द्रीय भाग में विशेष रूप से विद्यमान रहता है। तारों के केन्द्रीय भाग में ही उदुम्बर नामक ऊर्जा, संलयनीय कण, ऊष्मा व विद्युत् एवं आकाश तत्त्व की सघन मात्रा विद्यमान होती है। वैदिक रश्मि सिद्धान्त के गम्भीर अध्येता इस पर विचार कर सकते हैं कि यह उलूखल नामक पदार्थ किन-२ रश्मियों का मिश्रित रूप होता है। यहाँ इस पद के लिए एक आर्ष वचन उद्धृत किया गया है, जो इस प्रकार है— 'उरु मे कुर्वित्यब्रवीत्तदुलूखलमभवत् उरूकरं चैतत् उलूखलमित्याचक्षते परोक्षेण'। हमें शतपथ ब्राह्मण में इस प्रकार का पाठ मिला है—

'तस्मादुरूकरमुरूकर ꣳ ह वै तदुलूखलमित्याचक्षते' (श.ब्रा.७.५.१.२२)

इसका अर्थ यही है कि यह पदार्थ व्यापक क्षेत्र में अनेक क्रियाओं को सम्पादित करने वाला तथा अनेक रश्मियों को धारण करने वाला होता है। इसकी ऋचा को अगले खण्ड में प्रस्तुत किया गया है।

* * * * *

= एकविंशः खण्डः =

यच्चिद्धि त्वं गृहेगृह उलूखलक युज्यसे।
इह द्युमत्तमं वद जयतामिव दुन्दुभिः ॥ [ऋ.१.२८.५]
इति सा निगदव्याख्याता॥ २१ ॥

इस मन्त्र का ऋषि शुनःशेप है, जिसके विषय में हम पूर्व में लिख चुके हैं। इसका देवता इन्द्र-यज्ञ-सोमा तथा छन्द अनुष्टुप् होने से इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से इन्द्र एवं सोम पदार्थ समृद्ध होकर यजन कर्मों को भी समृद्ध करते हैं। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(यत्, चित्, हि, त्वम्, गृहे-गृहे, उलूखलक, युज्यसे) विभिन्न तारों के गृह रूप नाभिकीय क्षेत्रों में अथवा कहीं भी आकर्षण बल की विशेष सक्रियता में उलूखल संज्ञक पदार्थ को प्रयोग में लाने वाला इन्द्र तत्त्व नाना प्रकार के यजन कर्मों में संलग्न रहता है। जहाँ-२ जो-२ यजन कर्म होते हैं, वहाँ-२ इन्द्र तत्त्व उलूखल नामक पूर्वोक्त पदार्थों को अपने कार्यों में प्रयुक्त करता है।

(इह, द्युमत्तमम्, वद, जयताम्, इव, दुन्दुभिः) यहाँ अर्थात् इन क्षेत्रों में इन्द्र तत्त्व उलूखल नामक पदार्थ के साथ अत्यन्त तेज उत्पन्न करता हुआ तीव्र घोषों और गतियों को उत्पन्न करता है। यह प्रक्रिया उसी प्रकार होती है, जिस प्रकार खण्ड ९.१३ में व्याख्यात दुन्दुभि नामक रश्मियाँ असुरादि पदार्थों को जिताने के कार्य में इन्द्र तत्त्व का सहयोग करती हैं। यहाँ आधिदैविक पक्ष में उपमा की अपेक्षा यह कथन अधिक उपयुक्त है कि जब इन्द्र तत्त्व दुन्दुभि नामक पदार्थ का उपयोग करके सम्पूर्ण सूर्यलोक में असुरादि पदार्थों पर प्रहार करता है, उसी समय वह उलूखल नामक रश्मियों के द्वारा अत्यन्त तेजयुक्त ध्वनियों को उत्पन्न करते हुए यजन क्रियाओं को सम्पादित करता है।

* * * * *

⩸ द्वाविंशः खण्डः ⩸

वृषभः । प्रजां वर्षतीति वा । अतिबृहति रेत इति वा । तद्वर्षकर्मा । वर्षणाद् वृषभः । तस्यैषा भवति ॥ २२ ॥

वृषभ के विषय में महर्षि जैमिनी का कथन है— 'स एष (आदित्यः) सप्तरश्मि-र्वृषभस्तुविष्मान्' (जै.उ.१.२८.२) [तुवि =बहुनाम (निघं.३.१)] यहाँ सूर्यलोक को वृषभ कहा गया है। महर्षि जैमिनी ने इसे तुविष्मान् कहा है। इसे वृषभ इस कारण कहा है, क्योंकि यह नाना प्रकार के कणों वा विकिरणों की वृष्टि करता है। यहाँ 'बृहति' पद 'बृहू उद्यमने' धातु से व्युत्पन्न होता है। यह सूर्यलोक [रेतः = आपो हि रेतः (तां.ब्रा.८.७.९), रेतो वा आपः (ऐ.ब्रा.१.३), रेतो वा अन्नम् (गो.पू.३.२३), प्राणो रेतः (ऐ.ब्रा.२.३८), रेतो वाजिनम् (तै.ब्रा.१.६.३.१०)] नाना प्रकार की ऐसी छन्द एवं प्राण रश्मियों तथा विभिन्न प्रकार के संयोज्य कणों की वृष्टि करने का निरन्तर उद्योग करता रहता है, जो विभिन्न लोकों में नाना प्रकार के पदार्थों को उत्पन्न करने में सक्षम होती हैं। यहाँ पण्डित चन्द्रमणि विद्यालंकार ने इस धातु को वर्षणार्थक माना है, इससे भी वही अर्थ प्राप्त होता है।

ध्यातव्य है कि सूर्य से उत्सर्जित होने वाले इन पदार्थों के अभाव में विभिन्न ग्रहों एवं उपग्रहों पर होने वाली नाना प्रकार की रासायनिक, जैविक एवं भूगर्भीय क्रियाएँ अस्त-व्यस्त हो सकती हैं। यह सूर्यलोक ही है, जो ऐसी रश्मियों, विकिरणों वा कणों की निरन्तर वृष्टि करता रहता है। वृष्टि करने वाला होने से सूर्य को वृषभ कहा गया है। इसकी ऋचा को अगले खण्ड में प्रस्तुत किया गया है।

* * * * *

⩸ त्रयोविंशः खण्डः ⩸

न्यक्रन्दयन्नुपयन्त एनममेहयन्वृषभं मध्य आजेः ।
तेन सूभर्वं शतवत्सहस्रं गवां मुद्गलः प्रधने जिगाय ॥

[ऋ.१०.१०२.५]

न्यक्रन्दयन्नुपयन्त एनमिति व्याख्यातम्। अमेहयन्वृषभं मध्ये। आजेः आजयनस्य। आजवनस्येति वा। तेन तं सूभर्वं राजानम्। भर्वतिः अत्तिकर्मा। तद्वा। सूभर्वं सहस्त्रं गवाम्। मुद्गलः प्रधने जिगाय। प्रधन इति सङ्ग्रामनाम। प्रकीर्णान्यस्मिन्धनानि भवन्ति। द्रुघणः। द्रुममयो घनः। तत्रेतिहासमाचक्षते- मुद्गलो भार्म्यश्व ऋषिर्वृषभं च द्रुघणं च युक्त्वा सङ्ग्रामे व्यवहृत्याजिं जिगाय। तदभिवादिन्येषर्ग्भवति॥ २३॥

इसका ऋषि भार्म्यश्व मुद्गल है। [मुद = ओषधयो वै मुदः ओषधिभिर्हीदꣳ सर्वं मोदते (श.ब्रा.९.४.१.७)] इसका अर्थ यह है कि जो ऋषि रश्मियाँ आशुगति से भ्रमण करने वाली एवं ओषधि अर्थात् प्रदीप्त सोम रश्मियों को निगलने वाली होती हैं, उनसे इस छन्द रश्मि की उत्पत्ति होती है। इसके विषय में विशेष व्याख्या खण्ड ९.२४ में करेंगे। इसका देवता इन्द्र और छन्द निचृत् त्रिष्टुप् होने से इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से इन्द्र तत्त्व तीक्ष्ण रक्तवर्णीय तेज को उत्पन्न करने वाला होता है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(नि, अक्रन्दयन्, उपयन्तः, एनम्) 'न्यक्रन्दयन्नुपयन्त एनम्' वृषभ रूपी इन्द्र तत्त्व सूर्य इस लोक के अन्दर व्याप्त होकर उसे निकटता से नियन्त्रित करता हुआ महान् घोष करता रहता है। इसका तात्पर्य यह है कि विद्युत् चुम्बकीय क्षेत्रों के कारण सूर्यलोक में निरन्तर गम्भीर घोष उत्पन्न होते रहते हैं। (अमेहयन्, वृषभम्, मध्ये, आजेः) 'अमेहयन्वृषभं मध्ये आजेः आजयनस्य आजवनस्येति वा' वह इन्द्र तत्त्व असुरादि पदार्थों के साथ हो रहे महान् संग्राम के मध्य सूर्यलोक से नाना प्रकार के पदार्थों अर्थात् रश्मियों, विकिरणों एवं कणों आदि से सम्पूर्ण अन्तरिक्ष को सींचता रहता है। यहाँ आजि संग्राम को कहा गया है, क्योंकि यह प्रक्रिया अति तीव्र गति से सब ओर से होती है और इन्द्र तत्त्व इस प्रक्रिया में असुरादि पदार्थ को सब ओर से नियन्त्रित कर लेता है। इसलिए इस संघर्षण को आजि कहते हैं। ध्यातव्य है कि सूर्यादि लोकों के अन्दर न केवल नाभिकीय संलयन की क्रियाओं, अपितु सूर्य के केन्द्रीय भाग से कणों एवं विकिरणों के सूर्य तल तक आने और अन्तरिक्ष में उत्सर्जित होने तक की सभी क्रियाओं में विद्युत् की अनिवार्य भूमिका होती है।

(तेन, सूभर्वम्, शतवत्, सहस्रम्, गवाम्, मुद्गलः, प्रधने, जिगाय) 'तेन तं सूभर्वं राजानम् भर्वतिः अत्तिकर्मा तद्वा सूभर्वं सहस्रं गवाम् मुद्गलः प्रधने जिगाय प्रधन इति सङ्ग्रामनाम प्रकीर्णान्यस्मिन्धनानि भवन्ति' इस महान् संग्राम में घातक असुरादि पदार्थ सैकड़ों-हजारों किरणों से युक्त होकर देव पदार्थों पर तीव्र प्रहार करके उनके बलों को खाने लगते हैं अर्थात् उन पदार्थों की संयोग प्रक्रिया को नष्ट करने लगते हैं। यहाँ इस असुरादि पदार्थ को ही सूभर्व कहा है। इस घातक सूभर्व असुर को मुद्गल अर्थात् इस छन्द रश्मि की कारण रूप ऋषि रश्मियों की सहायता से मुद्गल अर्थात् असुर पदार्थ की अति सक्रियता वा आक्रामकता को निगलने वा नष्ट करने वाला इन्द्र तत्त्व उस सूभर्व असुर की उन सैकड़ों-हजारों घातक रश्मियों को नियन्त्रित कर लेता है। इससे वृषभ संज्ञक सूर्य की वांछित क्रियाएँ यथावत् चलती रहती हैं। यहाँ संग्राम को प्रधन कहा गया है, क्योंकि इसमें असंख्य कण आदि पदार्थों का इधर-उधर प्रकीर्णन होता रहता है।

[द्रु = वनस्पतयो वै द्रु (तै.ब्रा.१.३.९.१)] इसका अर्थ यह है कि जो पदार्थ नाना प्रकार की किरणों के पालक और संरक्षक होते हैं, वे द्रु कहलाते हैं। हमारी दृष्टि में यहाँ प्राण एवं सोम रश्मियों को द्रु कहा गया है। इसी कारण ऋषियों ने कहा है— 'प्राणो वै वनस्पतिः' (ऐ.ब्रा.२.४), 'सोमो वै वनस्पतिः' (श.ब्रा.३.८.३.३३, मै.सं.१.१०.९)। इसके अतिरिक्त अग्नि को भी वनस्पति कहते हुए लिखा है—

'अग्निर्वै वनस्पतिः' (कौ.ब्रा.१०.६)।

इसका अर्थ यह है कि प्राण एवं मरुद् रश्मियों अथवा अग्नि के सघन रूप अथवा प्राण एवं मरुद् रश्मियों की प्रचुरता के कारण अग्नि के सघन रूप को ही द्रुघण कहते हैं। इस विषय में एक नित्य इतिहास को प्रस्तुत करते हुए ग्रन्थकार लिखते हैं— 'मुद्गलो भार्म्यश्व ऋषिर्वृषभं च द्रुघणं च युक्त्वा सङ्ग्रामे व्यवहृत्याजिं जिगाय' उपर्युक्त छन्द रश्मियों की कारणरूप ऋषि रश्मियाँ सूर्यलोक रूपी वृषभ को उपर्युक्त द्रुघण संज्ञक पदार्थों के साथ युक्त करके देव और असुर पदार्थों के संग्राम में नाना प्रकार के व्यवहारों के द्वारा देव पदार्थ असुर पदार्थों को जीतते अर्थात् नियन्त्रित करते हैं।

भावार्थ— सूर्यलोक में नाना प्रकार के तीव्र विद्युत् क्षेत्र होने के कारण निरन्तर गम्भीर गर्जनाएँ होती रहती हैं। सम्पूर्ण सूर्यलोक में संयोज्य पदार्थ एवं बाधक असुरादि पदार्थ में निरन्तर संघर्ष होता रहता है। इस संघर्ष में विद्युत् की अहम भूमिका होती है। विद्युत् के

द्वारा उत्पन्न हजारों रश्मियाँ बाधक रश्मियों को निगलने लगती हैं अथवा उन्हें नियन्त्रित कर देती हैं।

इस द्रुघण संज्ञक पदार्थ को कहने वाली ऋचा को अगले खण्ड में प्रस्तुत किया गया है।

पण्डित भगवद्दत्त रिसर्च स्कॉलर का भाष्य भी यहाँ द्रष्टव्य है—

''न्यक्रन्दयन् इति मन्त्र ऋग्वेद के दशम मण्डल के १०२ सूक्त का है। इस सूक्त १०२ के विषय में शौनक के बृहद्देवता अध्याय ८ का लेख द्रष्टव्य है—

प्रेतीतिहाससूक्तं तु मन्यते शाकटायनः।
यास्को द्रौघणमैन्द्रं वा वैश्वदेवं तु शौनकः॥ ११॥

आजावनेन भार्म्यश्व इन्द्रासोमौ तु मुद्गलः।
अजयद् वृषभं युक्त्वा ऐन्द्रं च द्रुघणं रथे॥ १२॥

अर्थात् प्र इति सूक्त इतिहास का स्वरूप लिए है, ऐसा मानता है शाकटायन। यास्क इस सूक्त को द्रौघण अथवा इन्द्र देवता-परक मानता है। शौनक स्वयं इसे वैश्वदेव सूक्त कहता है॥ ११॥ इस सूक्त से भार्म्यश्व मुद्गल ने आजि में इन्द्र और सोम देवों को जीता, वृषभ को और ऐन्द्र द्रुघण को रथ में जोड़ कर॥ १२॥

जो पुण्यात्मा यत् किञ्चित् भी वेदाभ्यास करता है, वह इस वर्णन से सहसा कह उठेगा कि इन्द्रासोम के जीतने की आजि आधिदैविक है। उसमें भाग लेने वाला भार्ग्यश्व मुद्गल भी मानव ऋषि नहीं हो सकता। वह भार्ग्यश्व मुद्गल कौन है, यह जानना चाहिए। सूक्त में कही गई मुद्गलानी भी दिव्य है।

इस सूक्त के विषय में शाकटायन सारे सूक्त में इतिहास को प्रकट करने की छाया मानता है। यास्क इसको द्रौघण अथवा ऐन्द्र मानता है। यास्क ने द्रुघण का वर्णन बताने के लिए ऐसा माना है और शौनक इसे विश्वेदेवा का सूक्त मानता है। सूक्त में वर्णित आजि के विषय में सब सहमत हैं। ऐसी दैवी आजियां ब्राह्मणों के प्रवचनों में बहुधा बताई गई हैं। शौनक धन्यवाद का पात्र है, जिसने आजि=बाज़ी में भाग लेने वालों का स्पष्ट परिचय दिया है।

इतने लेख के पश्चात् यह कहना भी युक्त है कि भार्ग्यश्व मुद्गल एक मानव ऋषि भी हुआ है। उसका एक मत भी बृहद्देवता में सुरक्षित है—

महानैन्द्रं प्रत्नवत्याम् अग्निं वैश्वानरं स्तुतम्।
मन्यते शाकपूणिस्तु भार्म्यश्वश्चैव मुद्गलः ॥ ६.४६ ॥

अर्थात् महान् ऋग्वेद ८.६ सूक्त इन्द्र का है। उसकी प्रत्न प्रतीक वाली छठी ऋक् में अग्नि वैश्वानर स्तुत है, ऐसा शाकपूणि मानता और भार्म्यश्व मुद्गल भी।

मानव मुद्गल आदि का वृत्तान्त जानने के लिए मद्रचित भारतवर्ष का बृहद् इतिहास, भाग २, पृष्ठ १२८-१३३ देखना चाहिए। मानव भृम्यश्व उत्तर पाञ्चाल का राजा था। उसका पुत्र था— मुद्गल। यथा—
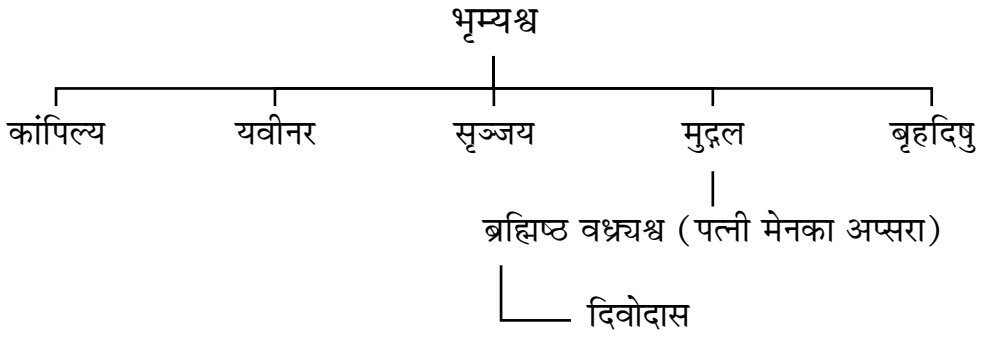
भृम्यश्व के कुल के अनेक जनों के सृञ्जय आदि नाम वेद मन्त्रों के आधार पर बदले गये प्रतीत होते हैं। वेद मन्त्रों में इन ऐतिहासिक पुरुषों का वर्णन नहीं है। इसमें एक प्रबल तर्क है। वेद इनसे बहुत पहले विद्यमान थे। यह तथ्य इतिहास से ही ज्ञात होता है। इतिहास को न जानने वाला वेदाध्ययन से यथार्थ लाभ नहीं उठा सकता।

शतवत्सहस्रम्। राजाराम इसका अर्थ करता है, ११००। सीताराम शास्त्री, एक लक्ष। सूभर्व पद वेद में ही है। यह नाम किसी मानव राजा ने भी रखा था वा नहीं, इसका पता नहीं चलता। यास्क ने सामान्य रूप से सूभर्वं राजानम् प्रयोग किया है। सूभर्वो राजा बभूव, ऐसा नहीं लिखा। अतः इस प्रसङ्ग को मानव इतिहास से आंशिक रूप से भी जोड़ा नहीं जा सकता।''

* * * * *

= चतुर्विंशः खण्डः =

इमं तं पश्य वृषभस्य युञ्जं काष्ठाया मध्ये द्रुघणं शयानम्।
येन जिगाय शतवत्सहस्त्रं गवां मुद्गलः पृतनाज्येषु॥

[ऋ.१०.१०२.९]

इमं तं पश्य वृषभस्य सहयुजं काष्ठाया मध्ये द्रुघणं शयानम्।
येन जिगाय शतवत्सहस्त्रं गवां मुद्गलः पृतनाज्येषु।
पृतनाज्यम् इति सङ्ग्रामनाम। पृतनानामजनाद्वा। जयनाद्वा।
मुद्गलो मुद्गवान्। मुद्गिलो वा। मदनं गिलतीति वा। मदङ्गिलो वा।
मुदङ्गिलो वा। भार्म्यश्वो भृम्यश्वस्य पुत्रः। भृम्यश्वः।
भृमयोऽस्याश्वाः। अश्वभरणाद्वा। पितुः, इति अन्ननाम।
पातेर्वा। पिबतेर्वा। प्यायतेर्वा। तस्यैषा भवति॥ २४॥

इस मन्त्र का ऋषि पूर्वोक्त, देवता द्रुघण और छन्द निचृत् त्रिष्टुप् होने से इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से द्रुघण संज्ञक पदार्थ तीक्ष्ण रक्तवर्णीय तेज से युक्त होते हैं अथवा उस समय ऐसा तेज उत्पन्न वा समृद्ध होने लगता है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(इमम्, तम्, पश्य, वृषभस्य, युञ्जम्, काष्ठायाः, मध्ये, द्रुघणम्, शयानम्) 'इमं तं पश्य वृषभस्य सहयुजं काष्ठाया मध्ये द्रुघणं शयानम्' [काष्ठाः = काष्ठाः दिङ्नाम (निघं.१.६), काष्ठा दिशो भवन्ति क्रान्त्वा स्थिता भवन्ति काष्ठा उपदिशो भवन्तीतरेतरं क्रान्त्वा स्थिता भवन्ति आदित्योऽपि काष्ठोच्यते क्रान्त्वा स्थितो भवति आज्यन्तोऽपि काष्ठोच्यते क्रान्त्वा स्थितो भवति आपोऽपि काष्ठा उच्यन्ते क्रान्त्वा स्थिता भवन्तीति स्थावरणाम् (निरु.२.१५), सुवर्गो वै लोकः काष्ठा (तै.ब्रा.१.३.६.५)] इन्द्र तत्त्व नाना प्रकार के कणों और विकिरणों की वृष्टि करने वाले काष्ठ संज्ञक सूर्यलोक के मध्य स्थित

और उसके साथ संयुक्त और व्याप्त द्रुघण संज्ञक पदार्थों को अपने बल से आकृष्ट करता है किंवा उन्हें प्रेरित करता है। काष्ठा के विषय में उक्त उदाहरण की व्याख्या के लिए खण्ड २.१५ पठनीय है। इस प्रकरण से यह भी स्पष्ट होता है कि सूर्यलोक में विद्यमान इन्द्र तत्त्व इस लोक की सभी दिशाओं में ऊष्मा को उत्पन्न और समृद्ध करने में अपनी अनिवार्य भूमिका निभाता है, तथापि केन्द्रीय भाग में इसकी भूमिका सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण होती है। इसके साथ ही यह भी स्पष्ट होता है कि सूर्यलोक में पदार्थ का तापमान सर्वत्र समान नहीं होता, बल्कि पृथक्-२ क्षेत्रों में तापमान की मात्रा भी पृथक्-२ होती है और ऐसे क्षेत्र सम्पूर्ण सूर्यलोक में यत्र-तत्र वा सर्वत्र विद्यमान होते हैं, लेकिन मध्य केन्द्रीय भाग में तापमान में यह भेद अर्थात् पृथक्-२ क्षेत्र विद्यमान होना, प्रायः नहीं होता। इसी कारण यहाँ द्रुघण को काष्ठा के मध्य में सोया हुआ बताया गया है। यहाँ यह भी प्रतीत होता है कि तापमान के उतार-चढ़ाव के अनेक क्षेत्र बनाने में दिशा संज्ञक रश्मियों की भी भूमिका होती है।

(येन, जिगाय, शतवत्, सहस्रम्, गवाम्, मुद्गलः, पृतनाज्येषु) 'येन जिगाय शतवत्सहस्रं गवां मुद्गलः पृतनाज्येषु पृतनाज्यम् इति सङ्ग्रामनाम पृतनानामजनाद्वा जयनाद्वा' पूर्वोक्त मुद्गल संज्ञक पदार्थ सूर्यलोक में सर्वत्र विद्यमान द्रुघण संज्ञक पदार्थों के सहयोग से असुरादि पदार्थों के साथ होने वाले संग्राम में असुरादि पदार्थ से उत्सर्जित होने वाली सैकड़ों-हजारों घातक रश्मियों वा विकिरणों को नियन्त्रित करता है। निघं.२.१७ में एवं यहाँ भी संग्राम को पृतनाज्य कहा है, क्योंकि इसमें मुद्गल रूपी देव पदार्थों एवं असुर पदार्थों की रश्मियों की सेनाएँ एक-दूसरे की ओर प्रक्षिप्त की जाती हैं और इसमें एक सेना दूसरी सेना को नष्ट वा नियन्त्रित करती है। इस कारण युद्ध को पृतनाज्य कहा गया है।

यहाँ 'मुद्गलः' पद का निर्वचन करते हुए लिखा है— 'मुद्गलो मुद्गवान् मुद्गिलो वा मदनं गिलतीति वा मदङ्गिलो वा मुदङ्गिलो वा' अर्थात् मुद्गयुक्त पदार्थ को मुद्गल कहा गया है। 'मुद्गः' पद मुद्+गक् से व्युत्पन्न होता है और मुद् धातु संसर्ग एवं हर्ष दोनों अर्थों में प्रयुक्त मानी जा सकती है। इस प्रकार जो पदार्थ सक्रियता एवं संसर्ग करने वा कराने की प्रवृत्ति से युक्त होता है, वह मुद्गल कहलाता है। पूर्व में पदार्थ के कार्यों में संसर्ग प्रक्रिया में बाधक असुरादि पदार्थों के नियन्त्रक वा नाशक पदार्थ को मुद्गल कहा गया है। उसकी यहाँ पूर्ण संगति बैठती है।

अब मुद्गल का दूसरा निर्वचन करते हुए कहा है— मुद्ग अर्थात् असुरादि पदार्थों की सक्रियता वा आक्रामकता को निगलने वाले पदार्थ को मुद्गल कहते हैं। पुनः अग्रिम निर्वचन के अनुसार संयोज्य पदार्थों की अति एवं अनिष्ट सक्रियता को निगलने अर्थात् उसे सन्तुलित रखने वाले पदार्थ को मुद्गल कहते हैं। अगले निर्वचन के अनुसार मदङ्गिल को मुद्गल कहा है। यहाँ 'मदम्' पद 'मदी हर्षग्लेपनयोः' धातु से व्युत्पन्न होता है। इससे स्पष्ट होता है कि संयोज्य कणों, तरंगों वा रश्मियों की दुर्बलता को निगलकर अर्थात् दूर करके उन्हें आवश्यक बल प्रदान करने वाला पदार्थ मुद्गल कहलाता है। अन्तिम निर्वचन में इसे मुदङ्गिल कहा है। इसका अर्थ यह है कि यह पदार्थ मुद् अर्थात् विभिन्न प्राण वा मरुद् रश्मियों को निगलने अर्थात् उनका भक्षण करके शक्तिशाली बनने वाला होता है।

यह मुद्गल नामक पदार्थ भूमि से उत्पन्न कहा गया है। इसकी चर्चा हम इन ऋचाओं के ऋषि की व्याख्या में भी कर चुके हैं। यहाँ इस पक्ष में भी निम्न निर्वचन किए गए हैं— 'भार्म्यश्वो भृम्यश्वस्य पुत्रः भृम्यश्वः भृमयोऽस्याश्वाः अश्वभरणाद्वा' अर्थात् मुद्गल नामक पदार्थ अत्यन्त तीव्र वेग से गमन करने वाली रश्मियों से उत्पन्न होने के कारण भार्म्यश्व कहलाता है अथवा ये स्वयं अति तीव्रगामिनी होने से भी भार्म्यश्व कहलाती हैं अथवा ये अति तीव्रगामिनी रश्मियों के द्वारा वहन की जाती हैं अथवा ये अति तीव्रगामिनी रश्मियों का भरण-पोषण करती हैं, इस कारण भी भार्म्यश्व कहलाती हैं।

इस प्रकार यहाँ मुद्गल के नाना प्रकार के निर्वचन करके ग्रन्थकार ने अपनी गम्भीर वैज्ञानिक प्रज्ञा का परिचय दिया है।

भावार्थ— सूर्यलोक में ऊष्मा की उत्पत्ति के लिए विद्युत् की अनिवार्य भूमिका होती है, पुनरपि केन्द्रीय भाग में इसकी सर्वाधिक भूमिका होती है। सूर्य में ऐसे अनेक क्षेत्र विद्यमान होते हैं, जिनका तापमान पृथक्-२ होता है, परन्तु केन्द्रीय भाग में तापमान सबसे अधिक होता है। सूर्य के विभिन्न क्षेत्रों में तापमान का यह भेद उनमें विद्यमान कणों व रश्मियों पर निर्भर करता है। इन रश्मियों में दिक्संज्ञक रश्मियों की भी भूमिका होती है। कुछ ऐसी रश्मियाँ वा कण जिनकी संयोजकता प्रबल होती है, वे बाधक पदार्थों को नष्ट करने में महती भूमिका निभाते हैं। ये पदार्थ ही अति चंचल कणों की चंचलता को कम करके उन्हें यजन कर्म में समर्थ बनाते हैं। ये क्रियाएँ सूर्यादि लोकों में ही नहीं, अपितु अन्तरिक्ष और पृथिव्यादि लोकों में भी होती रहती हैं।

'द्रुघणम्' पद के निर्वचन के पश्चात् अगले पद 'पितुः' का निर्वचन करते हुए लिखते हैं— 'पितुः, इति अन्ननाम पातेर्वा पिबतेर्वा प्यायतेर्वा' अर्थात् अन्न संज्ञक पदार्थों को पितु कहते हैं। यहाँ अन्न संज्ञक पदार्थों का तात्पर्य दो पदार्थ हैं। एक पदार्थ वे हैं, जो किसी का भक्ष्य होकर उस भक्षक पदार्थ के बल आदि की वृद्धि करके उसकी रक्षा करते हैं और उसके आकार की वृद्धि करने में सहायक होते हैं, उदाहरण रूप में हम जिस अन्न का सेवन करते हैं। वह पदार्थ इन सभी निर्वचनों की दृष्टि में सत्य सिद्ध होता है। ब्रह्माण्ड में भी अनेक प्रकार के ऐसे पदार्थ होते हैं, जो अपने से स्थूल पदार्थों का इसी प्रकार भक्ष्य होते हैं, इस कारण उन्हें भी अन्न कहा जाता है। दूसरे अन्न संज्ञक पदार्थ वे कहलाते हैं, जो दूसरे पदार्थों द्वारा आकर्षित किए जाते हैं। फिर वे दोनों मिलकर सृष्टि के नाना यजन कर्मों को संरक्षित व सम्पादित करते हैं, साथ ही उनकी वृद्धि भी करते हैं। इस प्रक्रिया में बाधक पदार्थों को भी पी जाते हैं अर्थात् उन्हें नष्ट कर देते हैं। इस पद की ऋचा को अगले खण्ड में प्रस्तुत किया गया है।

* * * * *

पञ्चविंशः खण्डः

पितुं नु स्तोषं महो धर्माणं तविषीम्।
यस्य त्रितो व्योजसा वृत्रं विपर्वमर्दयत्॥ [ऋ.१.१८७.१]
तं पितुं स्तौमि महतो धारयितारं बलस्य। तविषीति बलनाम।
तवतेर्वा वृद्धिकर्मणः। यस्य त्रित ओजसा बलेन।
त्रितस्त्रिस्थान इन्द्रो वृत्रं विपर्वाणं व्यर्दयति।
नद्यो व्याख्याताः। तासामेषा भवति॥ २५॥

इसका ऋषि अगस्त्य है। इसका अर्थ यह है कि इस छन्द रश्मि की उत्पत्ति ऐसी रश्मियों से होती है, जो सभी प्रकार की अनिष्ट रश्मियों से सर्वथा मुक्त होती हैं। यद्यपि प्रायः सभी प्रकार की ऋषि रश्मियाँ अति सूक्ष्म होने के कारण असुरादि बाधक रश्मियों से

मुक्त होती हैं, तब इन रश्मियों को अगस्त्य नाम क्यों दिया गया? इसके उत्तर में हमारा मत यह है कि ये रश्मियाँ ऐसे क्षेत्रों में उत्पन्न होती हैं, जो ऐसी बाधक रश्मियों से सर्वथा मुक्त हो चुके होते हैं। इसका देवता ओषधि और छन्द उष्णिक् होने से इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से सोम पदार्थों में उष्णता की वृद्धि होने लगती है तथा पदार्थ में चितकबरा रंग भी उत्पन्न होने लगता है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(पितुम्, नु, स्तोषम्, महः, धर्माणम्, तविषीम्) 'तं पितुं स्तौमि महतो धारयितारं बलस्य तविषीति बलनाम तवतेर्वा वृद्धिकर्मणः' इस छन्द रश्मि की कारण रूप ऋषि रश्मियाँ ऐसे संयोज्य कणों को प्रकाशित वा सक्रिय करती हैं, जो आकर्षण वा संयोजक बलों से विशेष रूप से युक्त होते हैं और जो यजन प्रक्रिया में निरन्तर अपने बल और सक्रियता में वृद्धि करते रहते हैं। इससे यजन प्रक्रिया भी निरन्तर वृद्धि को प्राप्त होती रहती है। ध्यातव्य है कि इस सृष्टि में जहाँ-२ भी संयोग-वियोग की क्रियाएँ होती हैं, उनमें विभिन्न प्रकार की रश्मियों की भूमिका होती है। उन्हीं रश्मियों में से यहाँ अगस्त्य ऋषि रश्मि की भूमिका को दर्शाया गया है। (यस्य, त्रितः, वि, ओजसा, वृत्रम्, विपर्वम्, अर्दयत्) 'यस्य त्रित ओजसा बलेन त्रितस्त्रिस्थान इन्द्रो वृत्रं विपर्वाणं व्यर्दयति' इन क्रियाओं में पृथिवी, अन्तरिक्ष एवं द्यौ तीनों लोकों में विद्यमान इन्द्र तत्त्व अथवा प्राण, अपान और व्यान रश्मियों से सम्पन्न इन्द्र तत्त्व अपने विविध प्रकार के बलों के द्वारा वृत्र रूपी बाधक आसुर मेघों अथवा असुरादि रश्मियों के विभिन्न अंगों को ढूँढ-२ कर नष्ट वा छिन्न-भिन्न करता है।

ऋषि दयानन्द ने इस मन्त्र का आधिभौतिक भाष्य किया है, जो इस प्रकार है—

"**पदार्थः** — (पितुम्) अन्नम् (नु) सद्यः (स्तोषम्) प्रशंसेयम् (महः) महत् (धर्माणम्) धर्मकारिणम् (तविषीम्) बलम् (यस्य) (त्रितः) मनोवाक्कर्मभ्यः (वि) विविधेऽर्थे (ओजसा) पराक्रमेण (वृत्रम्) वरणीयं धनम् (विपर्वम्) विविधैरङ्गोपाङ्गैः पूर्णम् (अर्दयत्) अर्दयेत् प्रापयेत्।

भावार्थः — ये बह्वन्नं गृहीत्वा सुसंस्कृत्यैतद्‌गुणान् विदित्वा यथायोग्यं द्रव्यान्तरेण संयोज्य भुञ्जते ते धर्माचरणाः सन्तः शरीरात्मबलं प्राप्य पुरुषार्थेन श्रियमुन्नेतुं शक्नुवन्ति।

पदार्थ— (यस्य) जिसका (त्रितः) मन, वचन, कर्म से (वि, ओजसा) विविध प्रकार के पराक्रम से (विपर्वम्) विविध प्रकार के अङ्ग और उपाङ्गों से पूर्ण (वृत्रम्) स्वीकार करने

योग्य धन को (अर्दयत्) प्राप्त करे उसके लिये (नु) शीघ्र (पितुम्) अन्न (महः) बहुत (धर्माणम्) धर्म करने वाले और (तविषीम्) बल की मैं (स्तोषम्) प्रशंसा करूं।

भावार्थ— जो बहुत अन्न को ले अच्छा संस्कार कर और उसके गुणों को जान यथायोग्य और व्यञ्जनादि पदार्थों के साथ मिला के खाते हैं, वे धर्म के आचरण करने वाले होते हुए शरीर और आत्मा के बल को प्राप्त होकर पुरुषार्थ से लक्ष्मी की उन्नति कर सकते हैं।''

'पितुः' पद के निर्वचन के पश्चात् 'नद्यः' पद के निर्वचन के विषय में इतना ही ज्ञातव्य है कि इसकी व्याख्या पूर्व में खण्ड २.२४ में की गई है, इसे पाठक वहीं देख सकते हैं। इसकी ऋचा को अगले खण्ड में प्रस्तुत किया गया है।

* * * * *

षड्विंशः खण्डः

इमं मे गङ्गे यमुने सरस्वति शुतुद्रि स्तोमं सचता परुष्ण्या।
असिक्न्या मरुद्वृधे वितस्तयाऽऽर्जीकीये शृणुह्या सुषोमया॥

[ऋ.१०.७५.५]

इमं मे गङ्गे यमुने सरस्वति शुतुद्रि परुष्णि स्तोममासेवध्वम्।
असिक्न्या च सह मरुद्वृधे। वितस्तया चार्जीकीये। आशृणुहि सुषोमया च।
इति समस्तार्थः।
अथैकपदनिरुक्तम्- गङ्गा गमनात्। यमुना प्रयुवती गच्छतीति वा।
प्रवियुतं गच्छतीति वा। सरस्वती। सर इत्युदकनाम। सर्तेस्तद्वती।
शुतुद्री शुद्राविणी। क्षिप्रद्राविणी। आशु तुन्नेव द्रवतीति वा।
इरावतीं परुष्णीत्याहुः। पर्ववती भास्वती कुटिलगामिनी।
असिक्नी अशुक्ला असिता। सितमिति वर्णनाम। तत्प्रतिषेधोऽसितम्।
मरुद्वृधाः सर्वाः नद्यः। मरुत एना वर्धयन्ति। वितस्ताविदग्धा।

विवृद्धा महाकूला। आर्जीकीयां विपाडित्याहुः। ऋजीकप्रभवा वा। ऋजुगामिनी वा। विपाड् विपाटनाद्वा। विपाशनाद्वा। विप्रापणाद्वा। पाशा अस्यां व्यपाश्यन्त वसिष्ठस्य मुमूर्षतः।
तस्माद्विपाडुच्यते पूर्वमासीदुरुञ्जिरा॥
सुषोमा सिन्धुः। यदेनामभिप्रसुवन्ति नद्यः। सिन्धुः स्यन्दनात्। आपः। आप्नोतेः। तासामेषा भवति॥ २६॥

इस मन्त्र का ऋषि प्रैयमेध सिन्धुक्षित् है। इसका अर्थ यह है कि इस छन्द रश्मि की उत्पत्ति विभिन्न पदार्थों के आकर्षणकर्त्ता सूत्रात्मा वायु रश्मियों से होती है और यह ऋषि रश्मि बन्धन गुणों से युक्त होकर नाना पदार्थों की उत्पत्ति में विशेष भूमिका निभाती है। हमारी दृष्टि में इस रश्मि में प्राण एवं व्यान रश्मियों की भी बहुलता होती है। इसका देवता नद्यः और छन्द आर्ची स्वराड् जगती होने से इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से नदी संज्ञक पदार्थ स्वयं प्रकाशित होते हुए दूर-२ तक फैलने लगते हैं। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(इमम्, मे, गङ्गे) 'इमं मे गङ्गे गङ्गा गमनात्' निरन्तर ध्वनि उत्पन्न करते हुए गमन करने वाली, इसके साथ ही अनेक पदार्थों को उत्पन्न करने वाली धाराएँ, (यमुने) 'यमुना प्रयुवती गच्छतीति वा प्रवियुतं गच्छतीति वा' पदार्थ की वे धाराएँ, जो अन्य धाराओं में मिश्रित हो जाती हैं अथवा बड़ी धाराओं में से पृथक् होकर नवीन धाराओं के रूप में प्रकट होती हुई गमन करती हैं। (सरस्वति) 'सरस्वती सर इत्युदकनाम सर्तेस्तद्वती' वे धाराएँ, जिनमें जल तत्त्व की प्रचुर मात्रा विद्यमान होती है और वे सरकती हुई सी निरन्तर गमन करती रहती हैं अथवा वे सर्पिलाकार मार्गों पर गमन करती रहती हैं। यहाँ स्पष्ट होता है कि सभी धाराओं की गति पृथक्-२ प्रकार की होती हैं। (शुतुद्रि) 'शुतुद्री शुद्राविणी क्षिप्रद्राविणी आशु तुन्नेव द्रवतीति वा' पदार्थ की ऐसी धाराएँ, जो असुरादि पदार्थों के द्वारा क्षत-विक्षत होकर अत्यन्त शीघ्र बहती रहती हैं अर्थात् ये असामान्य वेग से गमन करती हैं। (परुष्णि) 'परुष्णि इरावतीं परुष्णीत्याहुः पर्ववती भास्वती कुटिलगामिनी' [इरा = अन्ननाम (निघं.२.७)] वे धाराएँ, जिनमें विभिन्न प्रकार के संयोज्य वा अवशोष्य पदार्थों की प्रचुरता होती है तथा जिनमें बीच-२ में कुछ सन्धिभाग होते हैं तथा जो देदीप्यमान

होती हुई टेढ़े-मेढ़े मार्गों पर गमन करती हैं। यहाँ सन्धि के लिए पर्व शब्द का प्रयोग हुआ है। इस पद के विषय में खण्ड १.२० द्रष्टव्य है, जिससे यह संकेत मिलता है कि इस प्रकार की धाराओं के मध्य विद्यमान विभिन्न क्षेत्रों में से कुछ पदार्थ रिसकर दूसरे भागों में जाता रहता है, इससे वे सभी भाग परस्पर जुड़े रहते हैं।

(आ, असिक्न्या, मरुद्वृधे) 'असिक्न्या च सह मरुद्वृधे असिक्नी अशुक्ला असिता सितमिति वर्णनाम तत्प्रतिषेधोऽसितम् मरुद्वृधाः सर्वाः नद्यः मरुत एना वर्धयन्ति' अन्तरिक्षस्थ नदियों में से कुछ नदी रूप धाराएँ अश्वेत वर्ण वाली होती हैं। हमारे मत में यहाँ अश्वेत का तात्पर्य काला रंग ही है, क्योंकि यदि कोई अन्य होता, तो अन्य वर्णयुक्त तो अन्य उपर्युक्त धाराएँ भी होती हैं, ऐसी स्थिति में सभी धाराओं को ही असिक्नी कहा जाएगा, परन्तु यहाँ ऐसा नहीं है। इस काले रंग की धारा के साथ उपर्युक्त अन्य धाराएँ गमन करती हैं। वे सभी धाराएँ [मरुत् = विण्मरुतः (तै.सं.३.५.७.२, ५.४.७.७, मै.सं. १.१०.६, ४.३.९)] विभिन्न विट् संज्ञक छन्द रश्मियों के द्वारा समृद्ध होती रहती हैं। विट् रश्मियाँ ऋग्वेद ३.१३ के रूप में ऐतरेय ब्राह्मण के १०वें अध्याय में वर्णित हैं। पाठक इनके विषय में 'वेदविज्ञान-आलोकः' ग्रन्थ देख सकते हैं। ये रश्मियाँ नाना प्रकार की यजन क्रियाओं का हेतु बनकर इन नदी रूप धाराओं को बढ़ाती रहती हैं।

(वितस्तया, आर्जीकीये) 'वितस्तया चार्जीकीये वितस्ताविदग्धा विवृद्धा महाकूला आर्जीकीयां विपाडित्याहुः ऋजीकप्रभवा वा ऋजुगामिनी वा विपाड् विपाटनाद्वा विपाशनाद्वा विप्रापणाद्वा' वितस्ता उन धाराओं को कहते हैं, जिनमें पदार्थ का तापमान अन्यों की अपेक्षा न्यून होता है तथा उनकी चौड़ाई भी अधिक होती है। ऐसी धाराओं के साथ आर्जीकीया धाराएँ रहती हैं। [विपाट् = यह पद 'पट भासार्थः भाषार्थो वा' एवं 'पट ग्रन्थे' धातुओं से व्युत्पन्न होता है।] यहाँ विपाट् को ही आर्जीकीया कहा गया है। इसका अर्थ यह है कि ये धाराएँ अति प्रबल वेग से चलती हुई समस्त पदार्थ समूह को विक्षुब्ध करती, उन्हें मथती अथवा खोदती और प्रकाशित करती हुई गमन करती हैं। इन धाराओं में पदार्थ परस्पर एक-दूसरे से गुँथा हुआ और अपने निकटवर्ती धाराओं को अपने साथ गूँथता-लपेटता हुआ गमन करता है। ये धाराएँ अन्य धाराओं को बाधक असुरादि पदार्थों के बन्धन से भी मुक्त करती हुई गमन करती हैं, साथ ही उन सबमें व्याप्त होती हुई सी बहती रहती हैं। इसके साथ ये धाराएँ अन्य सभी धाराओं में व्याप्त होकर सम्पूर्ण पदार्थ का मन्थन करती

रहती हैं। इनको आर्जीकीया इसलिए कहा जाता है, [ऋजीकः = अर्जति गच्छतीति ऋजीकः, सूर्यो धूमो वा (उ.को.५.५१)] क्योंकि ये ऋजीक अर्थात् सूर्यलोक को उत्पन्न करने में समर्थ होती हैं तथा ये सरल मार्गों में गमन करती हैं। यहाँ सरल मार्ग का अर्थ इतना ही समझना चाहिए कि इनके मार्ग बहुत टेढ़े-मेढ़े नहीं होते और इन पर बाधक असुरादि पदार्थों का कोई प्रभाव नहीं होता। (स्तोमम्, सचता, शृणुहि, आ, सुषोमया) ये सभी धाराएँ सुषोमा, जिन्हें आगे सिन्धु कहा गया है अर्थात् जो सबको परस्पर बाँधने वाली होती हैं, जो सबको लेकर निरन्तर बहती रहती हैं, ऐसी सिन्धु नामक धाराओं के साथ सभी धाराएँ नाना प्रकार के तेज से युक्त होती हैं अथवा उनमें विविध प्रकार के रंगों का प्रकाश उत्पन्न होता रहता है। ऐसी वे सभी धाराएँ इस छन्द रश्मि की कारण रूप रश्मियों की प्रेरणा से निरन्तर स्पन्दित वा प्रेरित होती रहती हैं।

यहाँ ग्रन्थकार विराट् नदी के विषय में पुनः लिखते हैं—

पाशा अस्यां व्यपाश्यन्त वसिष्ठस्य मुमूर्षतः।
तस्माद्विपाडुच्यते पूर्वमासीदुरुञ्जिरा॥

इन उपर्युक्त विपाट् संज्ञक धाराओं के अन्दर सभी पदार्थों वा उनकी क्रियाओं को अपने अन्दर बसाने वालों में श्रेष्ठ अग्नितत्त्व के शान्त होने पर अथवा उसके मन्द पड़ने पर उस मन्द वा शान्त अग्नि तत्त्व को उपर्युक्त छन्द रश्मि की कारणभूत ऋषि रश्मियाँ पुनः सक्रिय करती हैं। इसका अर्थ यह है कि जिन असुरादि पदार्थों अथवा किन्हीं अन्य विशेष कारणों से जो अग्नि तत्त्व दुर्बल हो गया था, उस अग्नि तत्त्व को उत्पन्न करने वाले पदार्थ को ये रश्मियाँ आसुरपाश से मुक्त करने में सहायक होती हैं। इसी कारण इस प्रकार की धाराओं को विपाट् कहा जाता है। इससे पूर्व इस प्रकार की धाराएँ उरुञ्जिरा रूप होती हैं। 'उरुञ्जिरा' के विषय में आचार्य भगीरथ शास्त्री (हिन्दी टीका) का कथन है—

''उरु प्रभूतं जलं यस्यां सा उरुजला ही उरुञ्जिरा हो गई।''

इससे प्रतीत होता है कि पाशमुक्त होने से पूर्व इन धाराओं में जल तत्त्व के अणुओं की प्रचुरता होती है, परन्तु वे असुरादि पदार्थों की बाधा के कारण यजन कर्म से रहित हो जाते हैं, जिससे पाशमुक्त करने के पश्चात् ही यह विपाट् कहलाती है।

सुषोमा को सिन्धु बताते हुए लिखा है— 'सुषोमा सिन्धुः यदेनामभिप्रसुवन्ति नद्यः

सिन्धुः स्यन्दनात्' अर्थात् सुषोमा सिन्धु को कहते हैं, क्योंकि इसकी ओर ही विभिन्न धाराएँ बहती चली आती हैं और यह स्वयं भी बहता हुआ रहता है।

भावार्थ— सूर्यादि लोकों अथवा विशाल खगोलीय मेघों के अन्दर पदार्थ की भिन्न-२ प्रकार की धाराएँ निरन्तर बहती रहती हैं। उन सभी धाराओं की गति और स्वरूप भिन्न-२ होता है। इन सभी धाराओं में से कुछ मात्रा में पदार्थ रिसकर अन्य धाराओं में प्रवहित होता रहता है। इन सभी धाराओं के विषय में पाठक भाष्य को ही ध्यानपूर्वक पढ़ें।

इस खण्ड का पण्डित चन्द्रमणि विद्यालंकार ने सुन्दर आध्यात्मिक भाष्य किया है, जिसे हम यहाँ उद्धृत कर रहे हैं—

''इमं मे गङ्गे' मन्त्र में नाड़ियों का वर्णन है। आचार्य ने ३४० पृष्ठ पर 'श्मशा' का निर्वचन करते हुए उसके नदी और नाड़ी दोनों ही अर्थ किये हैं एवं वेद में प्रायः सर्वत्र आध्यात्मिक पक्ष में नदी नामों से नाड़ियों का वर्णन पाया जाता है। इन्हें नदी इसलिए कहा जाता है कि इन्हीं से स्वर (शब्द) की उत्पत्ति होती है। योगशास्त्र में नाड़ियों में से श्वास लेने की क्रिया को स्वर कहा है। इतनी भूमिका के पश्चात् अब आप पहले मन्त्रार्थ देखिये—

(गंगे यमुने) हे इड़ा! हे पिङ्गला! (शुतुद्रि परुष्णि सरस्वति!) और हे शुतुद्री तथा परुष्णी नामों वाली सुषुम्ना नाड़ी! (मे इमं स्तोमं आसचत) तुम मेरे परमेश्वर-स्तवन का सेवन करो। (मरुद्वृधे असिक्न्या) हे सुषुम्णा! तू पिङ्गला के साथ (आर्जीकीये! वितस्तया सुषोमया) और हे इडा! तू विस्तता नाम वाली सुषुम्णा के साथ मिली हुई (आशृणुहि) मेरे इस परमेश्वर-स्तवन का श्रवण कर।

मन्त्र के आशय को भली प्रकार हृदयङ्गम कराने के लिये 'शिवस्वरोदय' का कुछ प्रकरण यहाँ दिया जाता है, जो कि इस प्रकार है—

नाभिस्थानगकन्दोर्ध्वमंकुरादेव निर्गताः।
द्विसप्ततिसहस्राणि देहमध्ये व्यवस्थिताः॥ ३२॥

तासां मध्ये दश श्रेष्ठा दशानां तिस्र उत्तमाः।
इडा च पिङ्गला चैव सुषुम्णा च तृतीयका॥ ३६॥

गान्धारी हस्तिजिह्वा च पूषा चैव यशस्विनी।
अलम्बुषा कुहूश्चैव शंखिनी दशमी तथा॥ ३७॥

इडा वामे स्थिता भागे पिङ्गला दक्षिणे स्मृता।
सुषुम्णा मध्यदेशे तु गांधारी वामचक्षुषि॥ ३८॥

दक्षिणे हस्तिजिह्वा च पूषा कर्णे च दक्षिणे।
यशस्विनी वामकर्णे आनने चाप्यलम्बुषा॥ ३९॥

कुहूश्च लिङ्गदेशे तु मूलस्थाने तु शंखिनी।
एवं द्वारं समाश्रित्य तिष्ठन्ति दश नाड़िकाः॥ ४०॥

इड़ा पिङ्गला सुषुम्णा च प्राणमार्गव्यवस्थिताः॥ ४१॥

इडायां तु स्थितश्चन्द्रः पिङ्गलायां च भास्करः।
सुषुम्णा शंभुरूपेण शंभुर्हंसस्वरूपतः॥ ५०॥

आदौ चन्द्रः सिते पक्षे भास्करो हि सितेतरे॥ ६२॥

परे सूक्ष्मे विलीयेत सा संध्या सद्भिरुच्यते॥ १३६॥

चन्द्रसूर्यसमभ्यासं ये कुर्वन्ति सदा नराः।
अतीतानागतज्ञानं तेषां हस्तगतं भवेत्॥ ५६॥

कुम्भयेत्सहजं वायुं यथाशक्ति प्रकल्पयेत्।
रेचयेच्चन्द्रमार्गेण सूर्येणापूरयेत्सुधीः॥ ३७९॥

इडा गंगेति विज्ञेया पिङ्गला यमुना नदी।
मध्ये सरस्वतीं विद्यात्प्रयागादिसमस्तथा॥ ३७४॥

नाभिस्थानगत कन्द से ऊपर अंकुर समान ७२ हजार नाड़ियाँ निकली हुई हैं, जो कि सम्पूर्ण शरीर में अवस्थित हैं॥ ३२॥

उन सब नाड़ियों में से १० नाड़ियाँ सर्वोत्तम हैं और फिर उन दसों में से भी इडा, पिंगला और सुषुम्णा, ये तीन नाड़ियाँ उत्कृष्ट हैं॥ ३६॥

शेष सात नाड़ियों के नाम गान्धारी, हस्तिजिह्वा, पूषा, यशस्विनी, अलम्बुषा, कुहू

और शंखिनी हैं॥ ३७॥

इडा शरीर के वामभाग में, पिंगला दक्षिण भाग में और सुषुम्णा मध्यभाग में, गांधारी वाम नेत्र में, हस्तिजिह्वा दक्षिण नेत्र में, पूषा दक्षिण कान में, यशस्विनी वाम कान में, अलम्बुषा मुख में, कुहू उपस्थेन्द्रिय में और शंखिनी गुदा में एवं शरीर के द्वारों में ये दसों नाड़ियाँ अवस्थित हैं। इनमें इडा, पिङ्गला और सुषुम्णा, ये तीन नाड़ियाँ प्राण संचार के लिए मुख्य हैं॥ ३८-४१॥

इडा नाड़ी चन्द्र रूप से, पिंगला सूर्य रूप से और सुषुम्णा शंभु या हंस रूप से अवस्थित है अर्थात् इडा का दूसरा नाम चन्द्र, पिंगला का सूर्य और सुषुम्णा का शंभु या हंस है॥ ५०॥

इन नाड़ियों के ये नाम क्यों हैं, इसका रहस्य ६२ और १३६ श्लोकों से विदित होता है। वहाँ कहा है कि प्राण शुक्लपक्ष में पहले इडा (चन्द्र) नाड़ी में संचार करते हैं और कृष्णपक्ष में पिङ्गला (भास्कर) में, फिर अन्यत्र इनका संचार होता है और यत: सुषुम्णा में प्राणों के एकरसतया वर्तमान रहने से योगी परमसूक्ष्म ब्रह्म में लीन हो जाता है। अत: विद्वान् लोग उस नाड़ी को 'संध्या' कहते हैं।

जो योगी लोग निरन्तर इडा और पिंगला के स्वरों का भली प्रकार अभ्यास करते हैं, उनको भूत और भविष्यत् का ज्ञान प्राप्त होता है॥ ५६॥

इस अभ्यास से क्या अभिप्राय है, इसे ३७९ श्लोक में इस प्रकार दर्शाया गया है कि स्वाभाविक वायु को पहले यथाशक्ति कुम्भक प्राणायाम से रोके, फिर इडा मार्ग से रेचक प्राणायाम के द्वारा निकाले और फिर पिंगला नाड़ी के मार्ग से पूरक प्राणायाम के द्वारा उसे अन्दर की ओर खींचे।

इडा को गंगा नदी (नाड़ी), पिंगला को यमुना नदी और देह के मध्य में स्थित सुषुम्णा को सरस्वती नदी समझना चाहिये। इन तीन नाड़ियों के संगमस्थल का नाम 'प्रयाग' है और ये भारतीय गंगा, यमुना और सरस्वती नदियाँ तथा इन तीनों नदियों का संगम-स्थान प्रयाग, इन्हीं नाड़ियों की समानता को देखकर प्रसिद्ध है॥ ३७४॥

उपर्युक्त वर्णन से अब स्पष्टतया विदित हो गया होगा कि यह मन्त्र 'सूर्यचन्द्र-समभ्यास' और सच्चे प्रयाग तीर्थ में स्नान करते हुए परमेश्वर-प्राप्ति की शिक्षा दे रहा है।

इस मन्त्र में गंगा और आर्जीकीया 'इड़ा' के लिये, यमुना और असिक्नी 'पिंगला' के लिये तथा सरस्वती, शुतुद्री, परुष्णी, मरुद्वृधा, वितस्ता और सुषोमा, ये ६ नाम 'सुषुम्णा' के लिये प्रयुक्त हुए हैं।

अब निरुक्त-व्याख्या की ओर आइए। (इति समस्तार्थः अथैकपदनिरुक्तम्) यह संक्षिप्त अर्थ है। अब प्रत्येक पद का निर्वचन किया जाता है, जो कि इस प्रकार है—

१. **गंगा** — उत्तमां गतिं गच्छन्त्यनयेति गंगा, गम्+गम्+ड+टाप्। इस नाड़ी में प्राणों को वश में करने से योगी उत्तम गति को पाता है।

२. **यमुना** — यह पूरक प्राणायाम के द्वारा अपने में प्राण को संमिश्रित करती हुई शरीर में गति करती है अथवा इस नाड़ी के अभ्यास से योगी (प्रवियुतं) वियुक्तत्व को अर्थात् चित्त की स्थिरता को पाता है। एवं मिश्रण तथा अमिश्रण, इन दोनों अर्थों में प्रयुक्त 'यु' धातु से 'यमुना' की सिद्धि की गई है। यवना-यमुना।

३. **सरस्वती** — 'सरस्' शब्द जलवाची है, यतः यह गति करता है, बहता है, सृ+असुन् एवं प्रशस्त रस वाली होने से सुषुम्णा नाड़ी को 'सरस्वती' कहा गया है।

४. **शुतुद्री**—

(क) सुषुम्णा में ध्यान करने से योगी (शु) शीघ्र ब्रह्मलोक को जाता है, अतः शीघ्र ले जाने वाली होने से यह शुतुद्री है। शु+द्रु+ड+ङीप् और द्वित्व-शुद्रुद्री-शुतुद्री।

ऋग्वेद के इसी 'इमं मे गङ्गे' आदि वाले सूक्त (१०.७५) के अन्त में व्याख्या रूप से कई शाखाओं में यह मन्त्र मिलता है—

सितासिते सरिते यत्र संगथे तत्राप्लुतासो दिवमुत्पतन्ति।
ये वै तन्वं विसृजन्ति धीरास्ते जनासो अमृतत्वं भजन्ते॥

अर्थात् जो ध्यानी लोग, जहाँ (सित) इडा (असित) और पिंगला ये दोनों नाड़ियाँ मिलती हैं, उस संगमस्थान सुषुम्णा में स्नान करते हैं, वे ब्रह्मलोक में जाते हैं अर्थात् वे योगी शरीर को छोड़ने के पश्चात् अमृतत्व को भजते हैं एवं यह वचन स्पष्टतया 'शुतुद्री' के आशय को प्रदर्शित कर रहा है।

(ख) अथवा इस नाड़ी की गति बड़ी तेज है, अतः मानो कि यह किसी से ताड़ित होकर

बड़ी शीघ्रता से दौड़ रही है। शु+'तुद्' व्यथने+द्रु+ड+ङीप्-शुतुद्री।

५. परुष्णी — 'परुष् और 'पर्वम् ' ये दोनों समानार्थक हैं। 'पर्व' धातु से 'उसि' प्रत्यय और वकार-लोप (उ.को.२.११७)। उस 'परुष्' से मतुप् अर्थ में 'न'। परुष्णी = पर्ववती = भास्वती, कुटिलगामिनी (देखिये ११७ पृष्ठ)। सुषुम्णा नाड़ी ब्रह्मप्राप्ति की साधिका होने से भास्वती है और इसकी गति वक्र है। इस परुष्णी को 'इरावती' भी कहते हैं।

६. असिक्नी — पिंगला को 'असिता' या 'कृष्णा' कहा जाता है, यह पहले बतला चुके हैं। अशुक्ला-अशुक्नी-असिक्नी, 'टाप्' की जगह ङीबन्त का प्रयोग है। 'सित' श्वेत का वाचक है, उसका निषेध असित है।

७. मरुद्वृधा — यह नाम सामान्यतया सब नाड़ियों का वाचक है, यतः वायुएँ इन्हें बढ़ाती हैं, फैलाती हैं। परन्तु यहाँ मुख्य नाड़ी सुषुम्णा के लिये प्रयुक्त है।

८. वितस्ता—

(क) सुषुम्णा के द्वारा सब आन्तरिक मल विशेषतया दग्ध किये जाते हैं, अतः विदग्धा होने से इसे वितस्ता कहा गया है। वि+'तसु' उपक्षये+क्त-वितस्ता।

(ख) अथवा यह नाड़ी बड़ी होती है अर्थात् इसके किनारे अधिक ऊँचे होते हैं। यहाँ 'वि' का अर्थ विगत है एवं वितस्ता का शब्दार्थ 'क्षयरहित' यह है।

९. आर्जीकीया—

(क) ऋजीकप्रभवा आर्जीका, आर्जीका एव आर्जीकीया। ऋजीक = उत्पत्तिस्थान (३८३ पृष्ठ)। सब नाड़ियों का उत्पत्ति स्थान नाभि-कन्द है, अतः यहाँ 'ऋजीक' का अर्थ नाभि-कन्द है। उस नाभि-कन्द से 'इडा' की उत्पत्ति होने से उसे 'आर्जीकीया' कहा गया है।

(ख) अथवा यह इडा नाड़ी पिङ्गला की तरह वक्र नहीं, प्रत्युत ऋजुगामिनी है। ऋजु गच्छतीति आर्जिकः-आर्जीकः, गच्छतौ परदारादिभ्यः (वा.४.४.१) से 'ठक्' प्रत्यय।

ऋ.८.७.२९ में 'आर्जीक' सुषोम (सुषुम्णा) का विशेषण है और ऋ.८.६४.११ में 'आर्जीकीया' सुषोमा (सुषुम्णा) का विशेषण है तथा ऋ.९.६५.२३ में 'आर्जीक' बहुवचनान्त प्रयुक्त हुआ है, जो कि सब नाड़ियों के लिये है।

इस 'इडा' को 'विपाट्' या 'विपाश्' भी कहते हैं। इस नाड़ी में अभ्यास करने से योगी का अज्ञान नष्ट हो जाता है, अज्ञान-पाश कट जाते हैं और विज्ञान की प्राप्ति होती है। 'विपाटयतीति विपाट्' विगताः पाशोऽनया सा विपाश्, विशेषेण प्राप्नोति ज्ञानमनयेति विप्राप्-विपाश्।

'विपाश्' के दूसरे निर्वचन की पुष्टि में आचार्य कोई ऐतिहासिक घटना देते हैं कि अत्यन्त दुःख के कारण मुमूर्षु वसिष्ठ के दुःख-पाश इस नाड़ी में ध्यान करने से टूट गये, अतः यह नाड़ी उपर्युक्त निर्वचन के अनुसार 'विपाट्' कहलाती है। पहले इस 'इडा' का प्रसिद्ध नाम 'उरुञ्जिरा' था, जो कि अब (यास्क के समय) प्रसिद्ध नहीं रहा।

१०. सुषोमा — इस सुषोमा (सुषुम्णा) का दूसरा नाम 'सिन्धु' है, यतः इसकी ओर अन्य कई इडा, पिंगला आदि नाड़ियाँ जाती हैं। सुषुम्णा नाड़ी कई अन्य नाड़ियों का संगमस्थान है। 'पञ्च नद्यः सरस्वतीमपि यन्ति सस्रोतसः' (यजु.३४.११) से विदित होता है कि इस सरस्वती (सुषुम्णा) नाड़ी में पाँच अन्य नाड़ियाँ आकर मिलती हैं, जिन सबका समान स्रोत नाभि-कन्द है। 'सु' उपसर्ग पूर्वक 'षु' धातु से 'मन्' प्रत्यय। 'सुषोमा' का ही रूपान्तर 'सुषुम्ण' है। सिन्धु-स्यन्दन्ते नद्य एनमिति सिन्धुः, 'स्यन्द' के संप्रसारण रूप 'सिन्द्' से 'उ' प्रत्यय (उ.को.१.११)। इसकी ओर कई नाड़ियाँ बहती हैं, अतः यह सिन्धु कहलाती है।

एवं आपने नदियों के इस रहस्य को देख लिया। पौराणिक काल में जो गंगादि तीर्थों का अन्यथाभाव से बड़ा माहात्म्य समझा जाने लगा, उसका मूल कारण यही था कि उस समय के विचारकों ने इन मन्त्रों के गूढ़ आशय को नहीं समझा।''

'नद्यः' पद के निर्वचन के पश्चात् 'आपः' पद का निर्वचन करते हुए लिखते हैं— 'आपः आप्नोतेः' अर्थात् ये पदार्थ व्याप्त होने वाले होते हैं, इस कारण इन्हें आपः कहा जाता है। प्रकरण के अनुसार आपः के अनेक अर्थ होते हैं। इसकी ऋचा अगले खण्ड में प्रस्तुत की गई है।

* * * * *

= सप्तविंशः खण्डः =

आपो हि ष्ठा मयोभुवस्ता न ऊर्जे दधातन।
महे रणाय चक्षसे॥ [ऋ.१०.९.१]
आपो हि स्थ सुखभुवः। ता नोऽन्नाय धत्त। महते च नो रणाय।
रमणीयाय च दर्शनाय। ओषधयः। ओषद्धयन्तीति वा।
ओषत्येना धयन्तीति वा। दोषं धयन्तीति वा। तासामेषा भवति॥ २७॥

इस मन्त्र का ऋषि 'त्रिशिरास्त्वाष्ट्रः सिन्धुद्वीप आम्बरीषो वा' है। इसका अर्थ है कि इस छन्द रश्मि की उत्पत्ति [शिरः = गायत्रं हि शिरः (श.ब्रा.८.६.२.६), त्रिवृद्धि शिरः (श.ब्रा.८.४.४.४)। अम्बरीषः = अम्बते शब्दयतीति अम्बरीषः आकाशः (उ.को.४.३०), अम्बरीषे वा अन्नं भ्रियते (तै.सं.५.१.९.४)] तीन-२ गायत्री छन्द रश्मियों के तीन-२ समूहों की तीक्ष्ण शक्ति से सम्पन्न इन्द्र तत्त्व से होती है अर्थात् उस इन्द्र तत्त्व की रश्मियों से इस छन्द रश्मि की उत्पत्ति होती है। इसके साथ ही सबको अपनी शक्ति से बाँधने में समर्थ सूत्रात्मा वायु रश्मियों, जिनकी दो दिशाओं में प्राण एवं अपान आदि रश्मियुग्म विद्यमान होते हैं, के साथ-२ यह छन्द रश्मि विभिन्न संयोज्य पदार्थों के धारक आकाशतत्त्व से उत्पन्न अथवा उसमें विद्यमान रश्मि विशेष से उत्पन्न होती है। यह भी सम्भव है कि यहाँ सिन्धुद्वीप को ही आम्बरीष कहा गया हो, क्योंकि सूत्रात्मा वायु भी आकाशतत्त्व में विद्यमान होता है। इसका देवता आपः एवं छन्द गायत्री होने से इसके दैवत एवं छान्दस प्रभाव से विभिन्न पदार्थों में श्वेतवर्णीय तेज की उत्पत्ति वा समृद्धि होने लगती है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(आपः, हि, स्थ, मयोभुवः, ताः, नः, ऊर्जे, दधातन) 'आपो हि स्थ सुखभुवः ता नोऽन्नाय धत्त' विभिन्न प्रकार की प्राण रश्मियाँ, जो विभिन्न कणों के अन्दर विद्यमान होती हैं अथवा उनके निकट स्पन्दित होती रहती हैं, आकाश तत्त्व को अच्छी प्रकार धारण करके विभिन्न कणों को उस आकाश तत्त्व के साथ सहजतया सम्बद्ध किये रहती हैं। ऐसी प्राण रश्मियाँ इन्द्र तत्त्व के अन्दर सम्यक् रूप से ऊर्जा को धारण किये रहती हैं। इसका अर्थ है कि इन्द्र तत्त्व की शक्ति के लिए अथवा विद्युत् चुम्बकीय बलों की तीक्ष्णता के लिए ये प्राण

रश्मियाँ ही उत्तरदायिनी होती हैं। यदि आकाश में विद्यमान प्राण रश्मियाँ इन्द्र तत्त्व की रश्मियों के साथ सुसंगत नहीं होवें, तो इन्द्र तत्त्व की शक्ति क्षीण करने लगती हैं। वे प्राण रश्मियाँ पदार्थों की संयोज्यता को धारण करने के लिए अथवा उसे उत्पन्न व समृद्ध करने के लिए आकाश तत्त्व को धारण करतीं एवं इन्द्र तत्त्व को बल प्रदान करती हैं। (महे, रणाय, चक्षसे) 'महते च नो रणाय रमणीयाय च दर्शनाय' वे प्राण रश्मियाँ इन्द्र तत्त्व को अतिसक्रिय, प्रकाशमान एवं आकर्षण आदि गुणों से सम्पन्न बनाने में भी अपनी भूमिका निभाती हैं। इसका यह आशय भी है कि इन्द्र तत्त्व के साथ इन प्राणादि रश्मियों का जितना संगमन होता है, इस ब्रह्माण्ड में विद्युत् बल उतने ही अधिक तीव्र, चञ्चल एवं पदार्थ को तेजस्वी बनाने वाले होते हैं।

'आपः' पद के निर्वचन के पश्चात् अग्रिम पद 'ओषधयः' का निर्वचन करते हुए लिखते हैं— 'ओषधयः ओषद्धयन्तीति वा ओषत्येना धयन्तीति वा दोषं धयन्तीति वा'। इसका अर्थ यह है कि जो पदार्थ अग्नि तत्त्व को शान्त करते हैं अथवा उसे अवशोषित कर लेते हैं, वे पदार्थ ओषधि कहलाते हैं। इसका अगला निर्वचन यह बतलाता है कि जो पदार्थ अत्यधिक उष्ण हो जाते हैं, वे ओषधि संज्ञक पदार्थों को अवशोषित करने लगते हैं, जिससे अत्याधिक उष्णता का शमन हो सके अथवा जो पदार्थ अवांछित वा बाधक पदार्थों को अवशोषित करके उन्हें नष्ट वा नियन्त्रित कर लेते हैं, वे सभी पदार्थ ओषधि कहलाते हैं। इस पद की ऋचा को अगले खण्ड में प्रस्तुत किया गया है।

* * * * *

= अष्टाविंशः खण्डः =

या ओषधीः पूर्वा जाता देवेभ्यस्त्रियुगं पुरा।
मनै नु बभ्रूणामहं शतं धामानि सप्त च॥ [ऋ.१०.९७.१]
या ओषधयः पूर्वा जाता देवेभ्यस्त्रीणि युगानि पुरा।
मन्ये नु तद् बभ्रूणामहम्। बभ्रुवर्णानां हरणानां भरणानामिति वा।

शतं धामानि सप्त च इति। धामानि त्रयाणि भवन्ति।
स्थानानि नामानि जन्मानीति। जन्मानि अत्राभिप्रेतानि।
सप्तशतं पुरुषस्य मर्मणाम्। तेष्वेना दधतीति वा।
रात्रिः। व्याख्याता। तस्यैषा भवति॥ २८॥

इस मन्त्र का ऋषि आथर्वण भिषक् है। इसका अर्थ यह है कि [भिषक् = अथ प्रतिहर्ता (प्रतिपद्यते) भिषग्वा व्यानो वा (श.ब्रा.४.२.५.३)] इस छन्द रश्मि की उत्पत्ति विभिन्न रश्मि आदि पदार्थों को सम्मुख दिशा से आकृष्ट करने वाली व्यान रश्मियों से होती है। यहाँ व्यान रश्मियों का एक ऐसा रूप है, जो स्वयं अहिंसनीय तथा विभिन्न पदार्थों को कँपाते हुए आकृष्ट करता है। इसका देवता ओषधि स्तुति तथा छन्द अनुष्टुप् होने से इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से पूर्वोक्त ओषधि संज्ञक पदार्थ लालिमायुक्त भूरे रंग के प्रकाश से युक्त होने लगते हैं। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(याः, ओषधीः, पूर्वाः, जाताः, देवेभ्यः, त्रियुगम्, पुरा) 'या ओषधयः पूर्वा जाता देवेभ्य-स्त्रीणि युगानि पुरा' विभिन्न देव अर्थात् छन्द रश्मियों से प्रकाशाणु और मूल कणों के उत्पन्न होने की जो प्रक्रिया 'वेदविज्ञान-आलोकः' ४.१३.२ में दर्शायी गई है, उसे पढ़ने व समझने से इस मन्त्र का भाष्य समझने में सुगमता होगी। वहाँ विभिन्न छन्द रश्मियों के तीन-तीन के जोड़ों से इन कणों और प्रकाशाणुओं की उत्पत्ति दर्शायी गई है। इस मन्त्र में छन्द रश्मियों को ही देव कहा गया है। इन देवों अर्थात् छन्द रश्मियों के त्रिक् बनने से पूर्व ही ओषधी अर्थात् विभिन्न सोम रश्मियाँ, जो अग्नि तत्त्व का अवशोषण करने वाली होती हैं, उत्पन्न हो जाती हैं। इसका एक अर्थ यह भी है कि तीन देवों अर्थात् पृथिवी, जल एवं अग्नि महाभूतों की उत्पत्ति के पूर्व ओषधि रूप सोम अर्थात् वायु उत्पन्न हो चुका होता है। यह वायु तत्त्व अग्न्यादि तीनों देव पदार्थों में होने वाली नाना यजन क्रियाओं के नाना प्रकार के दोषों को दूर करता रहता है। वह इन पदार्थों की न्यूनाधिकता को सन्तुलित करता रहता है।

(मनै, नु, बभ्रूणाम्, अहम्, शतम्, धामानि, सप्त, च) 'मन्ये नु तद् बभ्रूणामहम् बभ्रुवर्णानां हरणानां भरणानामिति वा शतं धामानि सप्त च इति धामानि त्रयाणि भवन्ति स्थानानि नामानि जन्मानीति जन्मानि अत्राभिप्रेतानि सप्तशतं पुरुषस्य मर्मणाम् तेष्वेना दधतीति वा' इस छन्द

रश्मि की कारण रूप व्यान रश्मियाँ उस समय उत्पन्न अग्नि तत्त्व अथवा सोम रश्मियों को पिंगल वर्ण के प्रकाश से युक्त करने लगती हैं। यहाँ बभ्रु पद का तात्पर्य [बभ्रु = बभ्रुः पिङ्गलो भवति (मै.सं.२.५.१), सोमो वै बभ्रुः (श.ब्रा.७.२.४.२६)] पिंगल वर्णयुक्त सोम रश्मियाँ ही है। ग्रन्थकार की दृष्टि में ये पिंगल वर्ण की सोम रश्मियाँ विभिन्न कणों वा रश्मियों का हरण करके नाना प्रकार की क्रियाओं का पोषण करने वाली होती हैं। इसका अर्थ यह है कि इन्हीं के कारण विभिन्न प्रकाशाणु और मूल कणों की उत्पत्ति होती है और इन्हीं के कारण आकाश, वायु तथा अग्नि तत्त्व के सम्मिश्रण व सम्पीडन से जल तत्त्व के अणुओं की उत्पत्ति होने लगती है। इन सोम रश्मियों के कुल १०७ धाम होते हैं। यहाँ ग्रन्थकार ने धाम पद के भी स्थान, नाम और जन्म ये तीन रूप बतलाए हैं, जिनमें से यहाँ केवल जन्म शब्द का ही ग्रहण किया गया है। इस प्रकार यहाँ ग्रन्थकार ने इन सोम रश्मियों के १०७ प्रकार के जन्म अर्थात् वर्ग बतलाए हैं। जन्म से जाति की पहचान होती है। इससे यह संकेत मिलता है कि यहाँ सोम रश्मियों के कुल १०७ प्रकार बतलाए गए हैं। सूर्य रूपी पुरुष में भी १०७ मर्म रूप क्षेत्र होते हैं, जिनमें असुरादि पदार्थों का प्रहार होने से सूर्यलोक की क्रियाएँ प्राणविहीन हो जाती हैं, जिससे सूर्यलोक का जीवन संकटग्रस्त हो सकता है। इस कारण ऐसे क्षेत्रों में ये १०७ सोम रश्मियाँ सक्रिय रहकर अथवा उत्पन्न होकर सूर्यलोक की विभिन्न क्रियाओं की रक्षा करती हैं, जिससे सूर्यलोक सतत प्रकाशित होता रहता है।

इसका आधिभौतिक भाष्य पण्डित भगवद्दत्त रिसर्च स्कॉलर ने इस प्रकार किया है—

''ओषधयः। मनुस्मृति १.४७-४९ में उद्भिज स्थावरों का निम्नलिखित विभाग है—
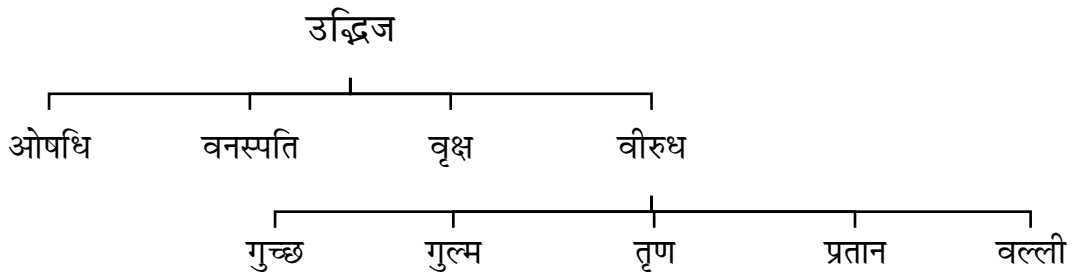
महाभारत, अनुशासन पर्व अ.९३ में स्थावरों की षट् जातियाँ कही हैं—

स्थावराणां च भूतानां जातयः षट् प्रकीर्तिताः।
वृक्ष-गुल्म-लता-वल्ल्यः-त्वक्साराः तृणजातयः॥ २३॥

तृणों के ८४ भेद भुवनदेवविरचित अपराजितपृच्छा में कहे हैं—

तृण्यास तृणानि जातानि चतुरशीतिः संख्यया।
तृणानां दूर्विकादीनां समस्तानां ततो भवः॥ ७.१०॥

उद्भिज शास्त्र के विस्तृत ग्रन्थ कभी अवश्य थे।

ओषधियाँ देवों से पहले उत्पन्न हुईं, इसका उल्लेख महाभारत, शान्ति पर्व अ.३१६ में भी है। यथा—

सृजत्योषधिमेवाग्रे जीवनं सर्वदेहिनाम्॥ २॥
ततो ब्रह्माणमसृजद् हैरण्याण्डसमुद्भवम्॥ ३॥

इससे स्पष्ट है कि ओषधि-सृष्टि ब्रह्मा से पूर्व हो चुकी थी। निस्सन्देह यह सृष्टि पृथिवी पर की ओषधियों से पूर्व अन्तरिक्ष में थी। प्रस्तुत वेदमन्त्र की व्याख्या ही शान्तिपर्व के इस श्लोक में मिलती है। ब्रह्मा आदि देवों से तीन युग पहले ओषधियाँ सलिल रूप आपः में उत्पन्न हो चुकी थीं।

या ओषधीः इति मन्त्र की एक दूसरी व्याख्या शतपथ ब्राह्मण में है। यथा— या ओषधीः पूर्वा जाताः। देवेभ्यस्त्रियुगं पुरा। इति। ऋतवो वै देवाः। तेभ्यः एतास्त्रिः पुरा जायन्ते। वसन्ता प्रावृषि शरदि। मने नु बभ्रूणामहमिति। सोमो वै बभ्रुः। सौम्या ओषधयः। औषधः पुरुषः। शतं धामानि सप्त चेति। यऽएवेमे सप्त शीर्षन् प्राणास्तानेतदाह॥ ७.२.४.२६॥

ओषधि-लक्षण-मनुकृत लक्षण आगे लिखा जाता है—

ओषध्यः फलपाकान्ताः बहुपुष्पफलोपगाः॥ १.४६॥

पालकाप्य संहिता ३.६, पृष्ठ ३८८ पर यह लक्षण ऐसा है— तत्र स्तम्भवत्यः फलपाकान्ता ओषध्यः।''

हम इसी मन्त्र का आधिभौतिक भाष्य पण्डित चन्द्रमणि विद्यालंकार का भी यहाँ उद्धृत कर रहे हैं—

"ओषधि—

(क) ओषत् दहत् रोगजातं धयन्ति पिबन्तीति ओषधयः, ये दाहजनक रोगों का नाश करती हैं।

(ख) ओषति दाहे सति रोगिण एनाः धयन्ति पिबन्तीति ओषधयः, 'ओषत्+धा' से कर्त्ता या कर्म में 'कि' प्रत्यय (पा.३.३.९३, ११३)।

(ग) दोषं वातपित्तादिकं धयन्तीति दोषधयः-ओषधयः।

(याः ओषधीः) जो ओषधियाँ (देवेभ्यः त्रियुगं पुरा) ऋतुओं से वसन्त, वर्षा और शरत्, इन तीन ऋतुओं में (पूर्वाः जाताः) परिपक्व पैदा होती हैं, (अहं बभ्रूणां नु) मैं उन पिङ्गलवर्ण, पुष्टिकर्त्ता और रोगापहारक ओषधियों के कारण ही (शतं धामानि सप्त च मनै) मानुषिक सौ वर्ष के जीवन और सातों ज्ञानेन्द्रियों के जीवन को समझता हूँ अथवा मैं उन ओषधियों के १०७ स्थान मानता हूँ, जिनमें कि ये स्थापित की जाती हैं।

'धामन्' के तीन अर्थ होते हैं— स्थान, नाम और जन्म। उनमें से यहाँ स्थान और जन्म, ये दो अर्थ अभिप्रेत हैं। अतएव उपर्युक्त प्रकार से दो अर्थ दिये गये हैं। 'जन्म' के आशय को समझने के लिये वाजसनेयक ब्राह्मण का निम्नलिखित मन्त्रार्थ देखिए—

'या ओषधीः पूर्वा जाता देवेभ्यस्त्रियुगं पुरेत्यृतवो वै देवास्तेभ्य एतास्त्रिः पुरा जायन्ते, वसन्ते प्रावृषि शरदि, मनै नु बभ्रूणामहमिति सोमो वै बभ्रुः, सोम्या ओषधयः, औषधः पुरुषः। शतं धामानीति, यदिदं शतायुः शतार्घः शतवीर्य एतानि हास्य शतं धामानि। सप्त चेति, य इमे सप्त शीर्षन् प्राणास्तानेतदाह।' (७.२.४.२६)

एवं इन ओषधियों के सेवन से ही मनुष्य बहुमूल्यवान्, बहुवीर्यवान् और शतायु होता है और शिर में रहने वाली जो दो आँख, दो कान, दो नाक और एक जिह्वा, ये सात ज्ञानेन्द्रियाँ हैं, उनकी जीवनाधार भी यही ओषधियाँ हैं, अतः यहाँ 'धामन्' का अर्थ जन्म है। सप्त शीर्षण्य प्राणों की विस्तृत व्याख्या १२ अ. २५ श.ब्रा. में देखिये।

मनुष्य-शरीर में १०७ मर्मस्थल हैं। उन्हीं में सदा रोग उत्पन्न हुआ करते हैं और

रोग-निवारण के लिए उन्हीं में ओषधियाँ पहुँचायी जाती हैं। अतः दूसरे पक्ष में 'धामन्' स्थानवाची है। इस पक्ष की पुष्टि के लिए सुश्रुत के शरीरस्थानवर्ती छठे अध्याय का निम्नलिखित वचन देखिये—

सप्तोत्तरं मर्मशतम्। तानि मर्माणि पञ्चात्मकानि। तद्यथा मांसमर्माणि, शिरामर्माणि, स्नायुमर्माणि, अस्थिमर्माणि, संधिमर्माणि चेति। तत्रैकादश मांसमर्माणि, एकचत्वारिंशत् शिरामर्माणि, सप्तविंशतिः स्नायुमर्माणि, अष्टावस्थिमर्माणि, विंशतिः सन्धिमर्माणि। तदेतत् सप्तोत्तरं मर्मशतम्।

देव, युग = ऋतु। बभ्रू = पिङ्गलवर्ण वाली, भरण करने वाली, हरण करने वाली एवं यहाँ 'भृञ्' या 'हृञ्' धातु से 'बभ्रू' की सिद्धि की है। पूर्व = परिपक्व, 'पूर्व' पूरणे।"

'ओषधयः' पद के पश्चात् 'रात्रि' पद के विषय में इतना ही ज्ञातव्य है कि इसकी व्याख्या पूर्व में खण्ड २.१८ में की गई है। इसकी ऋचा को अगले खण्ड में प्रस्तुत किया गया है।

* * * * *

= एकोनत्रिंशः खण्डः =

आ रात्रि पार्थिवं रजः पितुरप्रायि धामभिः।
दिवः सदांसि बृहती वि तिष्ठस आ त्वेषं वर्त्तते तमः॥

[अथर्व.१९.४७.१]

आपूपुरस्त्वं रात्रि पार्थिवं रजः। स्थानैर्मध्यमस्य। दिवः सदांसि। बृहती महती। वितिष्ठसे। आवर्त्तते त्वेषं तमो रजः। अरण्यानी अरण्यस्य पत्नी। अरण्यमपार्णं ग्रामात्। अरमणं भवतीति वा। तस्यैषा भवति॥ २९॥

इस मन्त्र का ऋषि गोपथ, देवता रात्रिः और छन्द पथ्या बृहती होने से इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से पदार्थ कृष्ण वर्ण से युक्त अर्थात् अन्धकार को प्राप्त होने लगता है।

इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(रात्रिः, पार्थिवम्, रजः, पितुः, आ, अप्रायि, धामभिः) 'आपूपुरस्त्वं रात्रि पार्थिवं रजः स्थानैर्मध्यमस्य' [रजः = रजसः अन्तरिक्षलोकस्य (निरु.१२.७)। रात्रिः = सोमो रात्रिः (श.ब्रा.३.४.४.१५)] अन्धकारमयी सोम रश्मियाँ विभिन्न पार्थिव अणुओं, आकाश तत्त्व एवं विभिन्न संयोज्य कणों को सब ओर से व्याप्त करने लगती हैं। वर्तमान भाषा में इसका अर्थ यह है कि रात्रि रूप सोम रश्मियाँ विभिन्न मोलिक्यूल्स, आयन्स और आकाशतत्त्व को सब ओर से व्याप्त करने लगती हैं। (दिवः, सदांसि, बृहती, वि, तिष्ठसे, आ, त्वेषम्, वर्त्तते, तमः) 'दिवः सदांसि बृहती महती वितिष्ठसे आवर्त्तते त्वेषं तमो रजः' द्युलोकों अर्थात् विभिन्न तारों एवं आकाशगंगा के केन्द्रों के चारों ओर विद्यमान क्षेत्र विशेषों में भी सोम रश्मियाँ रूपी व्यापक रात्रि रूप पदार्थ विशेष रूप से स्थित होता है। इसका अर्थ यह है कि अन्तरिक्ष में विद्यमान अन्य विभिन्न पदार्थों में भी अन्धकार रूप सोम रश्मियाँ व्यापक रूप से विद्यमान होती हैं। वह अन्धकार अर्थात् अन्धकारमयी सोम रश्मियाँ तेजस्विनी होकर पुनः इन सभी लोकों में बार-२ लौटती रहती हैं।

भावार्थ— इस ब्रह्माण्ड में सभी लोकों वा कणों में अन्धकार और प्रकाश की स्थिति बार-२ क्रमशः आती रहती है। पृथिवी पर दिन और रात का चक्र हम नित्य देखते हैं। इसी प्रकार की स्थिति अन्य ग्रह और उपग्रह आदि लोकों में आती रहती है। तेजस्वी लोकों में भी तेज की मात्रा और विभिन्न क्षेत्रों में प्रकाश और अन्धकार की स्थिति चक्रवत् उत्पन्न होती रहती है। तारों के ऊपर काले धब्बे निरन्तर अपने स्थान को परिवर्तित करते रहते हैं। इस कारण सूर्यादि लोकों में तापमान की स्थिति और उनके क्षेत्र भी नित्य परिवर्तित होते रहते हैं। इस प्रक्रिया के पीछे इस छन्द रश्मि की भी भूमिका होती है। स्मरण रहे कि आचार्य पिंगल ने छन्दशास्त्र में बृहती छन्द रश्मि का रंग काला बताया है और इस छन्द रश्मि का भी छन्द बृहती है। इस कारण हमारे भाष्य की संगति आचार्य पिंगल के साथ उचित सिद्ध होती है।

'रात्रि' पद के निर्वचन के पश्चात् 'अरण्यानी' पद का निर्वचन करते हुए लिखते हैं— 'अरण्यानी अरण्यस्य पत्नी अरण्यमपार्णं ग्रामात् अरमणं भवतीति वा' अर्थात् अरण्य की रक्षिका शक्ति को अरण्यानी कहते हैं तथा ग्राम [ग्रामः = छन्दांसीव खलु वै ग्रामः (तै.सं.३.४.९.२)] अर्थात् जहाँ विभिन्न छन्द रश्मियों के समूह विद्यमान रहकर नाना

संघर्षण-संयोजन कर्म करते रहते हैं, उनसे अरण्य क्षेत्र पृथक् होते हैं, साथ ही उनसे भिन्न स्वरूप वाले भी होते हैं। इस कारण विभिन्न छन्द रश्मियों के ऐसे क्षेत्र, जहाँ यजन व संघर्षण की प्रक्रिया अति मन्द होती है, अरण्य कहलाते हैं। अन्तिम निर्वचन में कहा कि जिस क्षेत्र में विभिन्न पदार्थ शिथिल वा शान्त होते हैं, उस क्षेत्र को अरण्य कहते हैं। ऐसे क्षेत्रों के इस स्वभाव को बनाए रखने में सक्षम रश्मियाँ अरण्यानी कहलाती हैं। इसकी ऋचा को अगले खण्ड में प्रस्तुत किया गया है।

* * * * *

त्रिंशः खण्डः

अरण्यान्यरण्यान्यसौ या प्रेव नश्यसि।
कथा ग्रामं न पृच्छसि न त्वा भीरिव विन्दतीइँ॥ [ऋ.१०.१४६.१]
अरण्यानि, इति एनामामन्त्रयते। यासावरण्यानि वनानि पराची इव नश्यसि। कथं ग्रामं न पृच्छसि। न त्वा भीर्विन्दतीवेति। इवः परिभयार्थे वा। श्रद्धा। श्रद्धानात्। तस्यैषा भवति॥ ३०॥

इस मन्त्र का ऋषि ऐरम्मद देवमुनि है। इसका अर्थ यह है कि इस छन्द रश्मि की उत्पत्ति विभिन्न संयोज्य कणों को प्रेरित, सक्रिय एवं तेजस्वी बनाने वाली विशेष प्रकार की ऋषि रश्मियों से होती है। इसका देवता अरण्यानी और छन्द विराट् अनुष्टुप् होने से इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से अरण्यानी संज्ञक पदार्थ विविध प्रकार से पिंगल वर्णयुक्त होने लगते हैं और उस क्षेत्र में भी यजन क्रियाएँ होने लगती हैं अथवा मन्द हुई क्रियाएँ तीव्र होने लगती हैं। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(अरण्यानि, अरण्यानि, असौ, या, प्र, इव, नश्यसि) 'अरण्यानि, इति एनामामन्त्रयते यासावरण्यानि वनानि पराची इव नश्यसि' इस छन्द रश्मि की कारण रूप ऋषि रश्मियाँ उन अरण्यानी संज्ञक पदार्थों को सब ओर से प्रकाशित व प्रेरित करने लगती हैं, जो अरण्यानी संज्ञक पदार्थ [नशत् व्याप्तिकर्मा (निघं.२.१८)] तीव्रता से नष्ट हो रहे होते हैं। इसका

अर्थ यह है कि जिन क्षेत्रों में पारस्परिक यजन क्रियाएँ अथवा असुरादि रश्मियों से संघर्षण की क्रियाएँ होने लगती हैं, उन क्षेत्रों में क्रियाओं को रोकने वाले अरण्यानी संज्ञक पदार्थों को इसकी ऋषि रूप रश्मियाँ सक्रिय करने लगती हैं। इसके कारण अरण्य क्षेत्रों का अस्तित्व बना रहता है। (कथा, ग्रामम्, न, पृच्छसि) 'कथं ग्रामं न पृच्छसि' वे अरण्यानी संज्ञक पदार्थ संघनित छन्दादि रश्मि समूह को प्राण रश्मियों अथवा संयोज्य कणों की भाँति प्राप्त नहीं करते हैं। यहाँ 'कथा' पद को प्राण एवं अन्नवाची 'कः' वा 'कम्' की भाँति अर्थ में जानना चाहिए। इसका आशय यह है कि जिस प्रकार प्राण रश्मियाँ एवं संयोज्य कण छन्दों के संघनित क्षेत्र की ओर गमन करते वा उन्हें प्राप्त करते हैं, उस प्रकार अरण्यानी संज्ञक पदार्थ ऐसा नहीं करते। यहाँ इसका यह भी अर्थ है कि जब संघनित छन्दों के क्षेत्रों की ओर प्राण रश्मियाँ और संयोज्य कण गमन कर रहे होते हैं अथवा व्याप्त हो रहे होते हैं, उस समय अरण्यानी संज्ञक पदार्थ उन क्षेत्रों की ओर उन्मुख नहीं हो सकते। इस प्रकरण से यह भी संकेत मिलता है कि अन्तरिक्ष में कहीं अरण्य के स्थान पर ग्राम और ग्राम के स्थान पर अरण्य क्षेत्र उत्पन्न होते रहते हैं। यदि ऐसा नहीं होता, तो एक स्थिति विशेष में अरण्यानी के ग्राम्य क्षेत्र में न जाने की चर्चा यहाँ नहीं होती। (न, त्वा, भीः, इव, विन्दती) 'न त्वा भीर्विन्दतीवेति इवः परिभयार्थे वा' वे अरण्यानी संज्ञक पदार्थ इस उपर्युक्त स्थिति में ग्राम संज्ञक पदार्थों की ओर किञ्चित् कम्पन भी नहीं करते।

भावार्थ— इस सृष्टि में कुछ क्षेत्र ऐसे विद्यमान होते हैं, जिनमें यजन प्रक्रियाएँ समुचित रूप से हो रही होती हैं और कुछ क्षेत्र ऐसे होते हैं, जिनमें यजन प्रक्रियाएँ न्यून से न्यूनतर मात्रा में हो रही होती हैं। इन क्षेत्रों के इस भेद का कारण उनमें विद्यमान रश्मियाँ भी होती हैं। इन दोनों ही प्रकार के क्षेत्रों के स्थान स्थायी नहीं होते, बल्कि सदा परिवर्तित होते रहते हैं।

'अरण्यानि' पद के निर्वचन के पश्चात् अग्रिम पद 'श्रद्धा' का निर्वचन करते हुए लिखते हैं— 'श्रद्धा श्रद्धानात्' [श्रत् = सत्यनाम (निघं.३.१०)] अर्थात् सत्य को धारण करने की प्रक्रिया ही श्रद्धा कहलाती है और प्रसंग के अनुसार सत्य शब्द के अनेक अर्थ हो सकते हैं। इसकी ऋचा को अगले खण्ड में प्रस्तुत किया गया है।

* * * * *

= एकत्रिंशः खण्डः =

श्रद्धयाग्निः समिध्यते श्रद्धया हूयते हविः।
श्रद्धां भगस्य मूर्धनि वचसा वेदयामसि॥ [ऋ.१०.१५१.१]
श्रद्धयाग्निः साधु समिध्यते। श्रद्धया हविः साधु हूयते।
श्रद्धां भगस्य भागधेयस्य मूर्धनि प्रधानाङ्गे वचनेनावेदयामः।
पृथिवी व्याख्याता। तस्यैषा भवति॥ ३१ ॥

इसका ऋषि कामायनी श्रद्धा है। [कामः = छन्दांसि वै सर्वे कामाः (जै.ब्रा.१.३३२)। सत्यम् = सत्यं ब्रह्म (श.ब्रा.१४.८.५.१), प्राणा वै सत्यम् (श.ब्रा.१४.५.१.२३), तद्यत्तत्सत्यम् असौ स आदित्यः (श.ब्रा.६.७.१.२), असावादित्यः सत्यम् (तै.ब्रा.२.१.११.१)] इसका अर्थ यह है कि इस छन्द रश्मि की उत्पत्ति सूर्यलोक को धारण वा पुष्ट करने वाली विभिन्न छन्द रश्मियों के मार्गों, जो प्राणापान आदि रश्मियों को धारण करने वाले होते हैं, उन्हीं मार्गों पर उन्हीं प्राण रश्मियों से होती है। इसका देवता श्रद्धा और छन्द अनुष्टुप् होने से इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से उन छन्द रश्मियों के मार्ग रंग-बिरंगे तेज से युक्त होने लगते हैं और वे छन्द रश्मियाँ अपने कार्य को अधिक तीव्र गति से करने लगती हैं। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(श्रद्धया, अग्निः, समिध्यते, श्रद्धया, हूयते, हविः) 'श्रद्धयाग्निः साधु समिध्यते श्रद्धया हविः साधु हूयते' सत्य अर्थात् प्राण रश्मियों के यथावत् धारण करने से सूर्यादि लोकों में तथा अन्यत्र भी अग्नितत्त्व अच्छी प्रकार से उत्पन्न व प्रज्वलित होने लगता है। इन्हीं प्राण रश्मियों के कारण इस सृष्टि में निरन्तर चलने वाले नाना प्रकार के यजन कर्मों में विभिन्न प्रकार के पदार्थों का होम भी यथावत् किया जाता है। इसका तात्पर्य यह है कि बिना प्राण रश्मियों के यथावत् मेल के छन्द रश्मियाँ पदार्थों के यजन कर्म को अच्छी प्रकार से सम्पादित नहीं कर पाती हैं। (श्रद्धाम्, भगस्य, मूर्धनि, वचसा, वेदयामसि) 'श्रद्धां भगस्य भागधेयस्य मूर्धनि प्रधानाङ्गे वचनेनावेदयामः' [भगः = यज्ञो भगः (श.ब्रा.६.३.१.१९)। मूर्धा = मूर्धा मूर्तमस्मिन् धीयते (निरु.७.२७), एष वै मूर्धा यऽएष (सूर्य्यः) तपति (श.ब्रा.१३.४.१.१३)] इस छन्द रश्मि की कारण रूप ऋषि रश्मियाँ सूर्यादि लोकों के

अन्दर चलने वाली यजन प्रक्रियाओं के प्रधान भागों में विभिन्न प्राण रश्मियों के विनियोग की प्रक्रिया को नाना प्रकार की वाक् रश्मियों के द्वारा अथवा वाक् रश्मियों के साथ विज्ञानयुक्त करती हैं। इसका अर्थ यह है कि सूर्यादि लोकों में चलने वाली विभिन्न प्रकार की क्रियाओं को सिद्ध करने के लिए इस छन्द रश्मि की कारण रूप ऋषि रश्मियाँ विभिन्न प्राण और छन्द रश्मियों को यथावत् रूप से विनियुक्त करती हैं।

'श्रद्धा' पद के निर्वचन के पश्चात् 'पृथिवी' पद के निर्वचन के विषय में यही ज्ञातव्य है कि इसकी व्याख्या हम पूर्व में खण्ड १.१४ में कर चुके हैं। इसकी ऋचा को अगले खण्ड में प्रस्तुत किया गया है।

* * * * *

= द्वात्रिंशः खण्डः =

स्योना पृथिवि भवानृक्षरा निवेशनी।
यच्छा नः शर्म सप्रथः॥ [ऋ.१.२२.१५]
सुखा नः पृथिवि भवानृक्षरा निवेशनी। ऋक्षरः कण्टकः। ऋच्छतेः।
कण्टकः कंतपो वा। कृन्ततेर्वा। कण्टतेर्वा स्याद् गतिकर्मणः।
उद्गततमो भवति। यच्छ नः शर्म। यच्छन्तु शरणम्। सर्वतः पृथु।
अप्वा व्याख्याता। तस्यैषा भवति॥ ३२॥

इस मन्त्र का ऋषि काण्व मेधातिथि है अर्थात् इस छन्द रश्मि की उत्पत्ति सूत्रात्मा वायु रश्मियों से उत्पन्न रश्मि विशेष अथवा सूत्रात्मा वायु रश्मियों से ही होती है। इसका देवता पृथिवी और छन्द विराड् गायत्री होने से इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से पृथिवी तत्त्व विविध प्रकार के तेज से, विशेषकर श्वेत वर्ण से युक्त होने लगता है। इसके साथ ही निर्माणाधीन पृथिव्यादि लोक भी इसी प्रकार के वर्णों से युक्त होने लगते हैं और उनमें विद्युत् चुम्बकीय क्षेत्रों की प्रचुरता भी होती है। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(स्योना, पृथिवि, भव, अन्, ऋक्षरा, निवेशनी) 'सुखा नः पृथिवि भवानृक्षरा निवेशनी

ऋक्षर: कण्टक: ऋच्छते: कण्टक: कंतपो वा कृन्ततेर्वा कण्टतेर्वा स्याद् गतिकर्मण: उद्गततमो भवति' इस छन्द रश्मि के प्रभाव से अथवा इस छन्द रश्मि के उत्पन्न व प्रभावी होने तक पृथिवी आदि लोक सूत्रात्मा वायु मिश्रित विभिन्न रश्मियों के द्वारा आकाश तत्त्व को अच्छी प्रकार धारण करने लगते हैं। यहाँ 'न:' पद में तृतीया अर्थ में चतुर्थी का प्रयोग समझना चाहिए। यहाँ आकाश को धारण करने का तात्पर्य यह है कि ये लोक अपने मार्गों अर्थात् कक्षाओं को स्थायित्व प्रदान करने की ओर अग्रसर होने लगते हैं। ये लोक ऋक्षरविहीन होकर विभिन्न पदार्थों एवं प्राणियों के वास करने योग्य भी होने लगते हैं अर्थात् इन लोकों पर प्राणियों की उत्पत्ति हेतु अनुकूल परिस्थितियों का निर्माण होने लगता है। यहाँ ग्रन्थकार ने कण्टक को ऋक्षर कहा है। यहाँ कण्टक वे पदार्थ हैं, जो हिंसा की दृष्टि से अन्य पदार्थों की ओर गमन करने की प्रवृत्ति रखते हैं। यहाँ कन्तप को भी कण्टक कहा गया है। इसका अर्थ यह प्रतीत होता है कि पृथिवी के निर्माण की प्रक्रिया में वे सम्भावित हिंसक पदार्थ, जो कम् अर्थात् विभिन्न संयोज्य पदार्थों को तपाते हैं अर्थात् उन्हें अत्यधिक उष्णता प्रदान करके यजन प्रक्रिया से बाहर करने की प्रवृत्ति रखते हैं, ऐसे पदार्थ विभिन्न पदार्थों को छिन्न-भिन्न करने वाले और निर्माणाधीन इन लोकों पर ऊपर की ओर गमन करने वाले होते हैं। ऐसे पदार्थों के कारण लोकों के तल पर विद्यमान पदार्थ ऊपर की ओर उछलता हुआ सा रहता है।

(यच्छ, न:, शर्म, सप्रथ:) 'यच्छ न: शर्म यच्छन्तु शरणम् सर्वत: पृथु' यहाँ 'यच्छ' के स्थान पर 'यच्छा' का प्रयोग है। इस प्रकार ये ऋक्षर संज्ञक पदार्थ पृथिवी आदि लोकों के अनुकूल रूप में आने में बाधा खड़ी करते रहते हैं। इस प्रकार के बाधक तत्त्वों को दूर करने में यह छन्द रश्मि उपयोगी होती है, क्योंकि यह छन्द रश्मि सूत्रात्मा वायु मिश्रित बृहती आदि विभिन्न छन्द रश्मियों के साथ मिलकर पदार्थ को अर्थात् इन लोकों को तेजी से संघनित करने लगती है। इस कारण ये पृथिव्यादि लोक, जो सब ओर से फैले हुए होते हैं, सूत्रात्मा वायु मिश्रित विभिन्न रश्मियों का आश्रय लेकर स्वयं को विभिन्न प्राणियों की उत्पत्ति हेतु आवश्यक पदार्थों और भविष्य में प्राणियों और वनस्पतियों को आश्रय देने योग्य बनाते हैं। इस प्रकार ये लोक अपने उचित स्वरूप को प्राप्त करने लगते हैं।

भावार्थ— जब पृथिवी आदि लोक तेजी से घूर्णन कर रहे विशाल खगोलीय पिण्ड से पृथक् होते हैं, उस समय बलवान असुर पदार्थ उन निर्माणाधीन लोकों के संघनित होने में

बाधक बनता है। उधर वे लोक अत्यन्त उष्ण भी होते हैं। उनकी स्थिति उबलते हुए तरल पदार्थ जैसी भी मानी जाती है। उन निर्माणाधीन लोकों के तल पर विद्यमान पदार्थ ऊपर की ओर उछलता-गिरता रहता है। उस समय कुछ ऐसी रश्मियाँ उत्पन्न होती हैं, जो सूत्रात्मा वायु के साथ मिलकर लोकों को धीरे-२ संघनित करने लगती हैं।

'पृथिवी' पद के उपरान्त अगले पद 'अप्वा' के विषय में ज्ञातव्य है कि इसकी व्याख्या हम पूर्व में ६.१२ में कर चुके हैं। इसकी ऋचा को अगले खण्ड में प्रस्तुत किया गया है।

* * * * *

≡ त्रयस्त्रिंशः खण्डः ≡

अमीषां चित्तं प्रतिलोभयन्ती गृहाणाङ्गान्यप्वे परेहि।
अभि प्रेहि निर्दह हृत्सु शोकैरन्धेनामित्रास्तमसा सचन्ताम्॥

[ऋ.१०.१०३.१२]

अमीषां चित्तानि प्रज्ञानानि। प्रतिलोभयमाना गृहाणाङ्गानि अप्वे। परेहि। अभिप्रेहि। निर्दहैषां हृदयानि शोकैः। अन्धेनामित्रास्तमसा संसेव्यन्ताम्। अग्नायी। अग्नेः पत्नी। तस्यैषा भवति॥ ३३॥

इस मन्त्र का ऋषि ऐन्द्र अप्रतिरथ है। इसका अर्थ यह है कि इस छन्द रश्मि की उत्पत्ति इन्द्र तत्त्व में से उत्पन्न होने वाली उन वज्र रश्मियों, जिनके सम्मुख कोई भी असुरादि पदार्थ नहीं आ सकता, से होती है। इसका देवता अप्वा और छन्द विराट् त्रिष्टुप् होने से इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से अप्वा संज्ञक पदार्थ विविध प्रकार के रक्तवर्णीय तेज से युक्त होने लगते हैं। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(अमीषाम्, चित्तम्, प्रतिलोभयन्ती, गृहाण, अङ्गानि, अप्वे, परा, इहि) 'अमीषां चित्तानि प्रज्ञानानि प्रतिलोभयमाना गृहाणाङ्गानि अप्वे परेहि' [अमीषाम् = शत्रूणाम् (स्कन्दस्वामी भाष्य)] वज्र रश्मियों के प्रभाव से अप्वा संज्ञक वे पदार्थ, जो स्वयं विकृत स्वरूप वाले

होकर कम्पन करते रहते हैं और संयोज्य पदार्थ को भी कँपाने वाले होते हैं, दूर हटने लगते हैं। इसके कारण वे पदार्थ यजन प्रक्रिया में बाधक नहीं बन पाते। इसके विपरीत वे पदार्थ यजन प्रक्रिया में भाग ले रहे संयोज्य कणों को नष्ट वा छिन्न-भिन्न करने वाले राक्षस आदि हिंसक पदार्थों को विपरीत दिशा में ले जाने लगते हैं। इसके लिए वे अप्वा संज्ञक पदार्थ राक्षस आदि पदार्थों की अंग रूप विभिन्न रश्मियों को आकर्षित व धारण करके उनकी दिशा को उलट देते हैं, जिससे वे संयोज्य पदार्थों पर प्रहार नहीं कर पाते।

(अभि, प्र, इहि, निः, दह, हृत्सु, शोकैः, अन्धेन, अमित्राः, तमसा, सचन्ताम्) 'अभिप्रेहि निर्दहैषां हृदयानि शोकैः अन्धेनामित्रास्तमसा संसेव्यन्ताम्' [हृदयम् = असौ वाऽआदित्यो हृदयम् (श.ब्रा.९.१.२.४०), हृदयं वै स्तोमभागाः (श.ब्रा.८.६.२.१५)] वज्र रश्मियों के प्रहार से अप्वा संज्ञक पदार्थ राक्षसादि पदार्थों की ओर गमन करते हुए उन्हें नष्ट करने लगते हैं। इसके कारण वे नष्ट हुए पदार्थ निष्क्रियता एवं अन्धकार रूपी आकाशतत्त्व से संयुक्त हो जाते हैं। इसका आशय यह है कि वे राक्षस संज्ञक तीक्ष्ण पदार्थ नष्ट वा शिथिल होकर आकाश तत्त्व में विलीन हो जाते हैं अर्थात् छिप जाते हैं। तदुपरान्त संयोज्य पदार्थों की यजन प्रक्रियाएँ यथावत् होने लगती हैं और सूर्यादि लोकों के उन स्तोम भागों अर्थात् खण्ड ९.२८ में वर्णित इन लोकों के १०७ विशेष महत्त्वपूर्ण क्षेत्रों में अग्नि का प्रज्वलन विशेष रूप से बढ़कर सम्पूर्ण लोक तीव्र रूप से प्रकाशित होने लगता है। स्मरण रहे कि किसी भी निर्माणाधीन अथवा निर्मित सूर्यलोक में जब तक राक्षसादि हिंसक पदार्थों को नष्ट नहीं किया जाता, तब तक वे लोक अपने अस्तित्व को स्थापित नहीं कर पाते हैं। निर्माणाधीन सूर्यलोक के प्रसंग में १०७ विशेष क्षेत्रों की चर्चा के स्थान पर उन ऐसे क्षेत्रों का ग्रहण करना चाहिए, जो कॉस्मिक मेघ के अन्दर विशेष ऊष्मा से युक्त होते हैं।

'अप्वा' पद के निर्वचन के पश्चात् अग्रिम पद 'अग्नायी' का निर्वचन करते हुए लिखते हैं— 'अग्नायी अग्नेः पत्नी' अर्थात् जो सूक्ष्म पदार्थ अग्नि तत्त्व के पालक और रक्षक होते हैं तथा सदैव अग्नि तत्त्व के साथ ही विद्यमान रहते हैं, उन्हें अग्नायी कहते हैं। इसकी ऋचा को अगले खण्ड में प्रस्तुत किया गया है।

* * * * *

= चतुस्त्रिंशः खण्डः =

इहेन्द्राणीमुप ह्वये वरुणानीं स्वस्तये।
अग्नायीं सोमपीतये। [ऋ.१.२२.१२]
इति सा निगदव्याख्याता॥ ३४॥

इस मन्त्र का ऋषि पूर्वोक्त काण्व मेधातिथि है। इसका देवता इन्द्राणी, वरुणानी एवं अग्नायी तथा छन्द पिपीलिकामध्यानिचद् गायत्री होने से इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से इन्द्र, वरुण और अग्नि नामक पदार्थ श्वेतवर्णीय तीक्ष्ण तेज से युक्त होने लगते हैं। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(इह, इन्द्राणीम्, उप, ह्वये, वरुणानीम्, स्वस्तये, अग्नायीम्, सोमपीतये) इस सृष्टि में सूत्रात्मा वायु रश्मियाँ एवं उनसे उत्पन्न कुछ विशेष रश्मियाँ यजन प्रक्रिया को अच्छी प्रकार संचालित करने एवं इन्द्रतत्त्व, वरुणतत्त्व और अग्नि तत्त्व द्वारा सोम रश्मियों का अवशोषण करने के लिए इन तीनों ही तत्त्वों अर्थात् तीक्ष्ण विद्युत् तरंगों, अत्यन्त घोष करने वाले वरुण रूप अग्नि एवं सामान्य अग्नि की शक्ति रूप विभिन्न रश्मियों को आकर्षित करती हैं। इससे वे सभी रश्मियाँ सूत्रात्मा वायु के साथ मिलकर संघनित होने लगती हैं, जिससे इन्द्रादि तीनों तत्त्व प्रबल होकर यजन प्रक्रिया को समृद्ध करने लगते हैं। ये प्रक्रियाएँ अन्तरिक्ष में भी हो सकती हैं और सूर्यादि लोकों में भी।

ऋषि दयानन्द ने इस मन्त्र का आधिभौतिक भाष्य किया है, जिसे हम यहाँ उद्धृत कर रहे हैं—

‘‘**पदार्थः** — (इह) एतस्मिन् व्यवहारे। (इन्द्राणीम्) इन्द्रस्य सूर्य्यस्य वायोर्वा शक्तिं सामर्थ्यमिव वर्त्तमानाम् (उप) उपयोगे (ह्वये) स्वीकुर्वे (वरुणानीम्) यथा वरुणस्य जलस्येयं शान्तिमाधुर्य्यादि गुणयुक्ता शक्तिस्तथा भूतम् (स्वस्तये) अविनष्टायाभिपूजिताय सुखाय। स्वस्तीत्यविनाशिनामास्तिरभिपूजितः। (निरु.३.२१) (अग्नायीम्) यथाग्नेरियं ज्वालास्ति तादृशीम्। वृषाकप्यग्नि. अष्टा.४.१.३७ अनेन ङीप्प्रत्यय ऐकारादेशश्च। (सोमपीतये) सोमानामैश्वर्य्याणां पीतिर्भोगो यस्मिन् तस्मै। सहसुपा इति समासः। अग्नाय्यग्नेः पत्नी तस्यैषा भवति। इहेन्द्राणीमुपह्वये. सा निगदव्याख्याता। (निरु.९.३४)

भावार्थः — अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः। मनुष्यैरीश्वररचितानां पदार्थानां सकाशादविनश्वरसुखप्राप्तयेऽत्युत्तमाः स्त्रियः प्राप्तव्याः। नित्यमुद्योगेनान्योऽन्यं प्रीता विवाहं कुर्य्युः। नैव सदृशस्त्रीः पुरुषार्थं चान्तरा कस्यचित्किंचिदपि यथावत्सुखं सम्भवति।

पदार्थ— हे मनुष्य लोगो! जैसे हम लोग (इह) इस व्यवहार में (स्वस्तये) अविनाशी प्रशंसनीय सुख वा (सोमपीतये) ऐश्वर्य्यों का जिसमें भोग होता है उस कर्म के लिये जैसा (इन्द्राणीम्) सूर्य (वरुणानीम्) वायु वा जल और (अग्नायीम्) अग्नि की शक्ति हैं, वैसी स्त्रियों को पुरुष और पुरुषों को स्त्री लोग (उपह्वये) उपयोग के लिये स्वीकार करें वैसे तुम भी ग्रहण करो।

भावार्थ— इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमा और उपमालङ्कार हैं। मनुष्यों को उचित है कि ईश्वर के बनाये हुए पदार्थों के आश्रय से अविनाशी निरन्तर सुख की प्राप्ति के लिये उद्योग करके परस्पर प्रसन्नतायुक्त स्त्री और पुरुष का विवाह करें, क्योंकि तुल्य स्त्री पुरुष और पुरुषार्थ के बिना किसी मनुष्य को कुछ भी ठीक-ठीक सुख का सम्भव नहीं हो सकता।''

* * * * *

= पञ्चत्रिंशः खण्डः =

अथातोऽष्टौ द्वन्द्वानि। उलूखलमुसले। उलूखलं व्याख्यातम्। मुसलं मुहुः सरम्। तयोरेषा भवति॥ ३५॥

अब आठ युग्मों की चर्चा प्रारम्भ करते हैं, उनमें पहला युग्म है— उलूखल एवं मुसल। इनमें से उलूखल नामक पदार्थ की चर्चा हम पूर्व में खण्ड ९.२० में कर चुके हैं। अब मुसल के बारे में लिखते हैं— 'मुसलं मुहुः सरम्'। इस पद को 'मुस खण्डने' एवं 'मुष स्तेये' धातुओं से व्युत्पन्न मानते हुए ऋषि दयानन्द ने उ.को.१.१०६ में व्युत्पत्ति करते हुए लिखा है— 'मुस्यति खण्डयति मोषयति चोरयति वा स मुसलः, मुषलो वा।'

इन दोनों ही वचनों का तात्पर्य यह है कि जो रश्मि आदि पदार्थ उलूखल संज्ञक अन्तरिक्ष अथवा सूर्यादि तेजस्वी लोकों के मध्यभाग में विभिन्न पदार्थों को विखण्डित करने

वाले और उस क्षेत्र में बार-बार गमन एवं प्रहार करने वाले होते हैं, उन पदार्थों को मुसल कहते हैं। ध्यातव्य है कि इस सम्पूर्ण सृष्टि में उलूखल एवं मुसल संज्ञक पदार्थ सर्वत्र विद्यमान रहते हैं, क्योंकि सर्वत्र ही विभिन्न प्रकार के पदार्थों के विखण्डन, विच्छेदन एवं संयोजन की क्रियाएँ सर्वत्र ही होती रहती हैं। इस युग्म की ऋचा को अगले खण्ड में प्रस्तुत किया गया है।

* * * * *

= षट्त्रिंशः खण्डः =

आयजी वाजसातमा ता ह्यु१च्चा विजर्भृतः।
हरी इवान्धांसि बप्सता॥ [ऋ.१.२८.७]
आयष्टव्ये अन्नानां सम्भक्ततमे। ते ह्युच्चैर्विह्रियेते हरी इवान्नानि भुञ्जाने। हविर्धाने हविषां निधाने। तयोरेषा भवति॥ ३६॥

इस मन्त्र का ऋषि आजीगर्त्ति शुनःशेप है। इसके विषय में हम पूर्व में लिख चुके हैं। इसका देवता इन्द्र, यज्ञ और सोम तथा छन्द गायत्री होने से इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से इन्द्र और सोम दोनों ही पदार्थ श्वेतवर्णीय तेज से युक्त होने लगते हैं तथा इससे सभी यजनशील पदार्थ भी इसी तेज से युक्त होने लगते हैं। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(आयजी, वाजसातमा, तौ, हि, उच्चा, विजर्भृतः, हरी, इव, अन्धांसि, बप्सता) 'आयष्टव्ये अन्नानां सम्भक्ततमे ते ह्युच्चैर्विह्रियेते हरी इवान्नानि भुञ्जाने' वे उलूखल एवं मुसल दोनों प्रकार के पदार्थ अन्तरिक्ष अथवा सूर्यादि लोकों में व्यापक स्तर पर यजन कार्य करते हैं। ये दोनों पदार्थ विभिन्न संयोज्य पदार्थों का विखण्डन और संयोजन करने के लिए विभिन्न प्रकार की छन्द रश्मियों एवं उनसे उत्पन्न बलों का विभाजन और उपयोग करने में महती भूमिका निभाते हैं। यहाँ तक कि ये दोनों पदार्थ इन कार्यों को करने में अन्य पदार्थों की अपेक्षा अधिक भूमिका निभाते हैं। वे उपर्युक्त दोनों पदार्थ आकर्षण व धारण इन दोनों

बलों से युक्त होकर [अन्धः = अन्नं वा अन्धः (जै.ब्रा.१.३०३)] अवशोषणीय रश्मि आदि पदार्थों को अवशोषित करते रहते हैं। इससे वे उलूखल और मुसल संज्ञक पदार्थ प्रबल होकर अपनी क्रियाओं को अधिक वेग से करने में सक्षम होते हैं। जिस समय ये क्रियाएँ हो रही होती हैं, ये दोनों पदार्थ उच्च व गम्भीर ध्वनि तरंगों को उत्पन्न वा धारण करते हैं।

ऋषि दयानन्द ने इस मन्त्र का आधिभौतिक भाष्य किया है, जो इस प्रकार है—

"**पदार्थः** — (आयजी) समन्ताद्यज्यन्ते संगम्यन्ते पदार्था याभ्यां तौ स्त्रीपुरुषौ। अत्र बाहुलकादौणादिकः करणकारके इः प्रत्ययः। (वाजसातमा) वाजान् युद्धसमूहान् सनन्ति संभज्य विजयन्ते याभ्यां तावतिशयितौ। अत्र सर्वत्र सुपां सुलुग् इत्याकारादेशः। (ता) तौ (हि) खलु (उच्चा) उत्कृष्टानि कार्याणि। अत्र शेश्छन्दसि इति शेर्लोपः। (विजर्भृतः) विविधं धरतः (हरी, इव) यथाऽश्वौ तथा (अन्धांसि) अन्नानि। अन्ध इत्यन्ननामसु पठितम्। निघं.२.७। (बप्सता) बप्सन्तौ। अत्र भसभर्त्सनदीप्त्योरित्यस्माल्लटः शत्रादेशः। घसिभ-सोर्हलि च। अष्टा.६.४.१००। अनेनोपधालोपः सुगममन्यत्। भस धातोर्भर्त्सन इत्यर्थो नवीनो भक्षण इति प्राचीनोऽर्थः।

भावार्थः — अत्रोपमालङ्कारः। यथा भक्षणकर्त्तारावश्वौ यानादीनि वहतस्तथैव मुसलोलूखले बहूनि विभागकरणादीनि कार्याणि प्रापयत इति।

पदार्थ— (आयजी) जो अच्छे प्रकार पदार्थों को प्राप्त होने वाले (वाजसातमा) संग्रामों को जीतते हैं (ता) वे स्त्री पुरुष (अन्धांसि) अन्नों को (बप्सता) खाते हुए (हरी) घोड़ों के (इव) समान उलूखल आदि से (उच्चा) जो अति उत्तम काम हैं, उनको (विजर्भृतः) अनेक प्रकार से सिद्ध कर धारण करते रहें।

भावार्थ— इस मन्त्र में उपमालङ्कार है। जैसे खाने वाले घोड़े रथ आदि को वहते हैं, वैसे ही मुसल और ऊखरी से पदार्थों को अलग-२ करने आदि अनेक कार्यों को सिद्ध करते हैं।"

'उलूखलमुसले' पद के पश्चात् अग्रिम पद 'हविर्धाने' का निर्वचन करते हुए लिखते हैं— 'हविर्धाने हविषां निधाने' अर्थात् हवियों को धारण करने वाले दो वाहक पदार्थों के युग्म को हविर्धाने कहा जाता है। इसकी ऋचा को अगले खण्ड में प्रस्तुत किया

गया है।

* * * * *

= सप्तत्रिंशः खण्डः =

आ वामुपस्थमद्रुहा देवाः सीदन्तु यज्ञियाः।
इहाद्य सोमपीतये॥ [ऋ.२.४१.२१]
आसीदन्तु वामुपस्थमुपस्थानम्। अद्रोग्धव्ये इति वा। यज्ञिया देवाः।
यज्ञसम्पादिनः। इहाद्य सोमपानाय।
द्यावापृथिव्यौ व्याख्याते। तयोरेषा भवति॥ ३७॥

इस मन्त्र का ऋषि गृत्समद है, जिसके विषय में हम पूर्व में लिख चुके हैं। इसका देवता हविर्धान तथा छन्द गायत्री होने से इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से हविर्धान संज्ञक पदार्थ श्वेतवर्णीय तेज से युक्त होते हैं। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(वाम्, उपस्थम्, अद्रुहा, देवाः, आसीदन्तु, यज्ञियाः) 'आसीदन्तु वामुपस्थमुपस्थानम् अद्रोग्धव्ये इति वा यज्ञिया देवाः यज्ञसम्पादिनः' विभिन्न संयोज्य पदार्थों की हवियों को धारण करने वाले दोनों पदार्थों वा क्षेत्रों के निकट अथवा उनके अन्दर वे संयोज्य पदार्थ आकर एकत्रित होते रहते हैं। संयोज्य पदार्थ परस्पर आकर्षण का भाव ही रखते हैं। उनमें कभी पारस्परिक प्रतिकर्षण अथवा प्रक्षेपण का भाव नहीं होता। वे संयोज्य देव पदार्थ अपने आधार रूप अथवा अपने पात्र रूप हविर्धान संज्ञक पदार्थों के प्रति भी कभी भी विरुद्ध भाव अथवा प्रतिकर्षण का भाव नहीं दर्शाते हैं। ऐसे पदार्थ ही इस सृष्टि में नाना प्रकार के यजन कर्मों को सम्पादित करने में समर्थ होते हैं।

(इह, अद्य, सोमपीतये) 'इहाद्य सोमपानाय' वे उपर्युक्त देव पदार्थ हविर्धान संज्ञक पदार्थों में क्यों स्थित होते हैं अथवा उनकी ओर क्यों गमन करते हैं? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए यहाँ कहा गया है कि वे संयोज्य देव पदार्थ हविर्धान संज्ञक पदार्थों वा क्षेत्रों में रहकर नाना प्रकार की सोम रश्मियों को अवशोषित करते रहते हैं। इस क्रिया से वे देव पदार्थ अन्य

अनेक पदार्थों को उत्पन्न करने की प्रक्रिया को संचालित करते रहते हैं।

'हविर्धाने' पद के निर्वचन के पश्चात् अगले पद 'द्यावापृथिव्यौ' के निर्वचन के विषय में ज्ञातव्य है कि इस पद की व्याख्या पूर्व में खण्ड ६.१ में की गई है। इसकी ऋचा को अगले खण्ड में प्रस्तुत किया गया है।

* * * * *

= अष्टात्रिंशः खण्डः =

द्यावा नः पृथिवी इमं सिध्रमद्य दिविस्पृशम्।
यज्ञं देवेषु यच्छताम्॥ [ऋ.२.४१.२०]
द्यावापृथिव्यौ न इमं साधनमद्य दिविस्पृशं यज्ञं देवेषु नियच्छताम्।
विपाट्छुतुद्र्यौ व्याख्याते। तयोरेषा भवति॥ ३८॥

इस मन्त्र ऋषि पूर्वोक्त है। इसका देवता द्यावापृथिवी तथा छन्द गायत्री होने से इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से द्यौ एवं पृथिवी अर्थात् प्रकाशित और अप्रकाशित दोनों ही प्रकार के पदार्थ श्वेतवर्णीय तेज से युक्त होने लगते हैं। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(द्यावा, नः, पृथिवी, इमम्, सिध्रम्, अद्य, दिविस्पृशम्) 'द्यावापृथिव्यौ न इमं साधनमद्य दिविस्पृशम्' इस सृष्टि में प्रकाशित और अप्रकाशित लोक इस छन्द रश्मि की कारणभूत गृत्समद ऋषि रश्मियों के द्वारा किये जा रहे साधनभूत यजन कर्म आकाशतत्त्व को स्पर्श करने वाले होते हैं। इसका अर्थ यह है कि विभिन्न संयोज्य कणों के मध्य होने वाली यजन प्रक्रिया में यह ऋषि रश्मि उन संयोज्य कणों को आकाशतत्त्व के साथ बाँधने में विशेष भूमिका निभाती है। [अद्य = अस्मिन् द्यवि (निरु.१.६)] इसके साथ ही इस द्युलोक में भी इस प्रकार की क्रियाएँ हुआ करती हैं। द्युलोक की व्याख्या हम पूर्व में अनेकत्र कर चुके हैं।

(यज्ञम्, देवेषु, यच्छताम्) 'यज्ञं देवेषु नियच्छताम्' प्रकाशित और अप्रकाशित लोकों के

अन्दर विद्यमान विभिन्न देव पदार्थों में यह यजन प्रक्रिया होने लगती है। प्रत्येक यजन प्रक्रिया में देव पदार्थों का आकाशतत्त्व के साथ सम्बन्ध अनिवार्य रूप से होता है।

'द्यावापृथिव्यौ' पद की व्याख्या के पश्चात् 'विपाट्छुतुद्र्यौ' पद के विषय में ज्ञातव्य है कि इसका निर्वचन पूर्व में खण्ड २.२४ एवं ९.२६ में किया गया है। इसकी ऋचा को अगले खण्ड में प्रस्तुत किया गया है।

* * * * *

= एकोनचत्वारिंशः खण्डः =

प्र पर्वतानामुशती उपस्थादश्वे इव विषिते हासमाने।
गावेव शुभ्रे मातरा रिहाणे विपाट्छुतुद्री पयसा जवेते॥ [ऋ.३.३३.१]
पर्वतानामुपस्थात् उपस्थानात्। उशत्यौ कामयमाने। अश्वे इव।
विमुक्ते इति वा। विषण्णे इति वा। हासमाने। हासतिः स्पर्धायाम्।
हर्षमाणे वा। गावाविव शुभ्रे शोभने। मातरौ संरिहाणे।
विपाट्छुतुद्री पयसा प्रजवेते। आर्त्नी। अर्तन्यौ वा। अरण्यौ वा।
आरिषण्यौ वा। तयोरेषा भवति॥ ३९॥

इस मन्त्र का ऋषि विश्वामित्र है, जिसकी चर्चा हम पूर्व में अनेकत्र कर चुके हैं। इसका देवता नदी तथा छन्द भुरिक् पंक्ति होने से इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से कॉस्मिक पदार्थ की धाराएँ घोष करती हुई अपने वारक बलों के साथ समृद्ध और विस्तृत होती रहती हैं। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(पर्वतानाम्, उपस्थात्, उशती, अश्वे, इव, विषिते, हासमाने) 'पर्वतानामुपस्थात् उपस्थानात् उशत्यौ कामयमाने अश्वे इव विमुक्ते इति वा विषण्णे इति वा हासमाने हासतिः स्पर्धायाम् हर्षमाणे वा' नदी संज्ञक धाराएँ विशाल कॉस्मिक मेघों की गोद से एक-दूसरे को चाहती हुई अर्थात् परस्पर संगमन करने की इच्छा करती हुई [अश्वः = सौर्यो वा अश्वः (गो.उ.३.१९), अग्निर्वाऽअश्वः श्वेतः (श.ब्रा.३.६.२.५)] श्वेत वर्ण युक्त सौर नदियों की

भाँति गमन करती हैं। उन सौर नदियों के विषय में यहाँ कहा गया है कि वे दो सौर नदियाँ परस्पर एक-दूसरे से मुक्त होती हुई अथवा एक-दूसरे से मिलती हुई तीव्र गति से गमन करती हैं, वैसे ही वे दोनों नदी संज्ञक कॉस्मिक धाराएँ भी अन्तरिक्ष में तीव्रतापूर्वक गमन करती हैं। यहाँ आधिदैविक पक्ष में यह ज्ञातव्य है कि वे दोनों नदी रूप धाराएँ अति सक्रिय होती हुई एक-दूसरे के साथ स्पर्धा जैसी करती हुई आशुगामिनी श्वेतवर्णीय सौर नदियों के रूप में परिवर्तित होने लगती हैं। वे दोनों नदी रूप धाराएँ हँसती हुई गमन करती हैं। इसका तात्पर्य यह है कि वे दोनों उन्मुक्त भाव से गमन करती हैं। यहाँ स्पर्धा पद के प्रयोग से यह भी संकेत मिलता है कि जिस प्रकार दो खिलाड़ी प्रतिस्पर्धा करते हुए निरन्तर अधिक आक्रामक वा क्रियाशील होते जाते हैं, उसी प्रकार कॉस्मिक मेघ के संघनन की प्रक्रिया के चलते इन नदी रूप धाराओं का वेग उत्तरोत्तर बढ़ता जाता है। अब वे नदी रूप धाराएँ कौनसी हैं, इसे निम्नानुसार दर्शाया गया है—

(गावा, इव, शुभ्रे, मातरा, रिहाणे, विराट्, शुतुद्री, पयसा, प्र, जवेते) 'गावाविव शुभ्रे शोभने मातरौ संरिहाणे विपाट्छुतुद्री पयसा प्रजवेते' वे नदी रूप धाराएँ विपाट् एवं शुतुद्री नाम से वर्णित की गई हैं। इनके विषय में हम पूर्व में खण्ड २.२४ एवं ९.२६ में भी लिख चुके हैं। ये दोनों धाराएँ श्वेत वर्ण युक्त होने के साथ-२ इस प्रकार की होती हैं कि अपने निकटवर्ती सूक्ष्म पदार्थ को चाटती हुई अर्थात् आकर्षित वा ग्रहण करती हुई मातृरूप होकर अनेक पदार्थों का निर्माण करने वाली होती हैं। इसका अर्थ यह है कि इन धाराओं में कुछ विशेष प्रक्रियाओं के द्वारा अनेक प्रकार के पदार्थों का निर्माण होता रहता है। ये धाराएँ निकटवर्ती पदार्थ को अपने साथ संयुक्त करके अपना आकार बढ़ाती हुई किसी केन्द्र विशेष की ओर अति तीव्रता से गमन करती हैं। यहाँ 'पयसा' पद [पयः = पयः ज्वलतो नाम (निघं. १.१७), पयः अन्ननाम (निघं.२.७), ऐन्द्रं पयः (गो.उ.१.२२), प्राणः पयः (श.ब्रा.६. ५.४.१५)] से यह संकेत मिलता है कि इन नदी रूप धाराओं में तीव्र विद्युत् धाराओं से युक्त असंख्य संयोज्य कण, जो नाना प्रकार की प्राण रश्मियों से समृद्ध होते हैं, भरे रहते हैं। इन नदी रूप धाराओं का तापमान भी बहुत अधिक होता है।

भावार्थ— जिस प्रकार सूर्य में विभिन्न सौर नदियाँ सर्वत्र प्रवहित होती रहती हैं, उसी प्रकार विशाल खगोलीय मेघ के अन्दर पदार्थ की धाराएँ तीव्र वेग से बहती रहती हैं। वे धाराएँ उन्मुक्त गति से एक-दूसरे के साथ प्रतिस्पर्धा करती हुई जान पड़ती हैं। उनका रंग

श्वेत होता है। ये धाराएँ अपने निकट स्थित पदार्थ को अपने साथ मिलाती हुई अपना आकार बढ़ाती हुई केन्द्र की ओर बढ़ती रहती हैं। इन धाराओं में असंख्य संयोज्य कण तीव्र तापमान के साथ विद्यमान रहते हैं।

'विपाट्छुतुद्री' पद के निर्वचन के पश्चात् 'आर्त्नी' पद का निर्वचन करते हुए लिखा है— 'आर्त्नी अर्तन्यौ वा अरण्यौ वा आरिषण्यौ वा'। पण्डित चन्द्रमणि विद्यालंकार ने आर्त्नी पद की व्युत्पत्ति निम्न दो प्रकार से की है—

" 'ऋ' गतौ+निञ्+ङीष्-आर्नी-आर्त्नी।
आ+रिष्+निञ्+ङीष्-आरिषनी-आर्ष्नी-आर्त्नी।"

अर्थात् आर्त्नी उन दो पदार्थों के युग्म को कहते हैं, जिसमें दोनों पदार्थ एक-दूसरे के साथ बिना टकराए गमन करते हैं और बाधक वा हिंसक पदार्थों को नष्ट करने वाले होते हैं। इस पद की ऋचा को अगले खण्ड में प्रस्तुत किया गया है।

* * * * *

चत्वारिंशः खण्डः

ते आचरन्ती समनेव योषा मातेव पुत्रं बिभृतामुपस्थे।
अप शत्रून्विध्यतां संविदाने आर्त्नी इमे विष्फुरन्ती अमित्रान्॥

[ऋ.६.७५.४]

ते आचरन्त्यौ समनसाविव योषे। मातेव पुत्रं बिभृतामुपस्थ उपस्थाने।
अपविध्यतां शत्रून्त्संविदाने आर्त्न्याविमे विघ्नत्यावमित्रान्। शुनासीरौ।
शुनो वायुः। शु एत्यन्तरिक्षे। सीर आदित्यः। सरणात्।
तयोरेषा भवति॥ ४०॥

इसका ऋषि भारद्वाज वायु है, जिसके विषय में हम पूर्व में लिख चुके हैं। इसका देवता आर्त्नी और छन्द त्रिष्टुप् होने से इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से आर्त्नी संज्ञक

पूर्वोक्त पदार्थ रक्तवर्णीय तेज को उत्पन्न वा समृद्ध करने वाले होते हैं। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(ते, आचरन्ती, समना, इव, योषा, माता, इव, पुत्रम्, बिभृताम्, उपस्थे) 'ते आचरन्त्यौ समनसाविव योषे मातेव पुत्रं बिभृतामुपस्थ उपस्थाने' [मनः = वृषा हि मनः (श.ब्रा. १.४.४.३)] वे आर्त्नी संज्ञक दोनों पदार्थ समान पुरुष संज्ञक पदार्थों के साथ संयुक्त दो स्त्री रूप पदार्थों के समान व्यवहार करते हैं अथवा वे दोनों पदार्थ समान रूप से प्रकाशित, मिश्रण और अमिश्रण करने की प्रवृत्ति से युक्त होकर विभिन्न पदार्थों की ओर गमन करते हैं। वे दोनों परस्पर एक-दूसरे को उसी प्रकार धारण कर लेते हैं, जैसे कोई माता अपने पुत्र को अपनी गोद में धारण किए रहती है अथवा वे दोनों प्रकार के पदार्थ मातृरूप आकाशतत्त्व एवं पुत्ररूप प्राण रश्मियों को निकटता से धारण किए रहते हैं। इसका अर्थ यह है कि वे दोनों पदार्थ जब किन्हीं बाधक व हिंसक पदार्थों पर प्रहार करते हैं, उस समय वे संयोज्य पदार्थों को जोड़ने और बाधक पदार्थों को पृथक् करने के लिए विभिन्न प्राण रश्मियों के द्वारा आकाश तत्त्व को अपने साथ धारण करके नाना प्रकार के व्यवहार किया करते हैं।

(अप, शत्रून्, विध्यताम्, संविदाने, आर्त्नी, इमे, विष्फुरन्ती, अमित्रान्) 'अपविध्यतां शत्रून्त्संविदाने आर्त्न्याविमे विघ्नत्यावमित्रान्' वे दोनों पदार्थ विज्ञानपूर्वक व्यवहार करते हुए बाधक पदार्थों को कँपाते हुए उन पर तीक्ष्ण प्रहार करके उन्हें नष्ट कर देते हैं। ध्यातव्य है कि इस सृष्टि में सभी कार्य विज्ञानपूर्वक ही हो रहे हैं और इस विज्ञान के पीछे ईश्वरीय चेतना से उत्पन्न 'ओम्' रश्मियों की भूमिका होती है। यहाँ 'अमित्रान्' पद उन दोनों पदार्थों के लिए प्रयुक्त है, जो किसी यजन प्रक्रिया में उदासीन रहते हैं अथवा संयोज्य पदार्थों पर प्रहार करके यजन प्रक्रिया को बाधित करते हैं। यहाँ यह प्रश्न उठ सकता है कि आर्त्नी संज्ञक दोनों पदार्थों का स्वरूप क्या होता है? इसके विषय में हमारा मत है कि ये पदार्थ त्रिष्टुप्, गायत्री एवं अनुष्टुप् छन्द रश्मियों का कोई विशेष योग हैं, जो विभिन्न प्राण रश्मियों के साथ मिलकर उपर्युक्त गुण दर्शाते हैं।

'आर्त्नी' पद के पश्चात् अग्रिम पद 'शुनासीरौ' का निर्वचन करते हुए लिखते हैं— 'शुनासीरौ शुनो वायुः शु एत्यन्तरिक्षे सीर आदित्यः सरणात्' अन्तरिक्ष में गमन करने के कारण वायु को 'शुनः' कहते हैं और नियमित रूप से समान गति से सरकने वाला आदित्य

अर्थात् सूर्यलोक 'सीरः' कहलाता है। इस प्रकार वायु और आदित्य दोनों के युग्म को 'शुनासीरौ' कहते हैं। इसकी ऋचा को अगले खण्ड में प्रस्तुत किया गया है।

* * * * *

एकचत्वारिंशः खण्डः

शुनासीराविमां वाचं जुषेथां यद्दिवि चक्रथुः पयः।
तेनेमामुप सिञ्चतम्॥ [ऋ.४.५७.५]
इति सा निगदव्याख्याता।
देवी जोष्ट्री देव्यौ जोषयित्र्यौ। द्यावापृथिव्याविति वा। अहोरात्रे इति वा।
सस्यं च समा च इति कात्थक्यः। तयोरेषः सम्प्रैषो भवति॥ ४१॥

इस मन्त्र का ऋषि वामदेव है, जिस पर हम पूर्व में विचार कर चुके हैं। इसका देवता शुनासीरौ और छन्द उष्णिक् होने से इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से सूर्य और वायु तत्त्व दोनों ही उष्णता एवं यजन प्रक्रियाओं की दृष्टि से समृद्ध होने लगते हैं। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(शुनासीरौ, इमाम्, वाचम्, जुषेथाम्, यत्, दिवि, चक्रथुः, पयः) सूर्यलोक एवं उसमें अथवा उसके बाहरी क्षेत्र में विद्यमान वायु तत्त्व दोनों ही निकटवर्ती छन्द रश्मियों को अपने साथ संयुक्त करते रहते हैं। इसके कारण सूर्यलोक तथा वायुतत्त्व सूर्यलोक के चारों ओर विद्यमान विभिन्न प्रकार की प्राण रश्मियों और नाना प्रकार के विद्युत् आवेशित कणों को धारण करते हैं। (तेन, इमाम्, उप, सिञ्चतम्) इसके कारण वे सूर्य और वायु इन पृथिव्यादि लोकों को नाना प्रकार के पदार्थों से सींचते रहते हैं।

'शुनासीरौ' पद के पश्चात् अगले पद-युग्म 'देवी जोष्ट्री' का निर्वचन करते हुए लिखते हैं— 'देवी जोष्ट्री देव्यौ जोषयित्र्यौ द्यावापृथिव्याविति वा अहोरात्रे इति वा' [जोष्ट्री = जुषी प्रीतिसेवनयोः धातोः 'सर्वधातुभ्यः ष्ट्रन्' इत्युणादिसूत्रेण ष्ट्रन् प्रत्ययः। स्त्रियां ङीष् (वै.को.)। जुषते कान्तिकर्मा (निघं.२.६)] अर्थात् अन्तरिक्ष में विद्यमान दो प्रकार के

लोक अथवा कण, जो एक-दूसरे को आकर्षित भी करते हैं और एक-दूसरे से उत्सर्जित पदार्थों का सेवन भी करते हैं, वे दोनों पदार्थ देवी जोष्ट्री कहलाते हैं। ग्रन्थकार की दृष्टि में सूर्य और पृथिवी का युग्म अथवा अहोरात्र अर्थात् प्राण और अपान आदि के युग्म देवी जोष्ट्री कहलाते हैं।

आगे कहा है— 'सस्यं च समा च इति कात्थक्य:'। महर्षि कात्थक्य की दृष्टि में 'सस्य' एवं 'समा' इन दोनों के युग्म को देवी जोष्ट्री माना गया है। [सस्यम् = सस्+यत्, 'सस्' धातु सोने के अर्थ में प्रयुक्त होती है। समा = सम्+अच्+टाप् (आ.को.) 'सम्' धातु विक्षुब्ध होने अर्थ में भी प्रयुक्त होती है। (आ.को.)] इसका अर्थ यह है कि महर्षि कात्थक्य विक्षुब्ध पदार्थों एवं सुप्त अर्थात् निष्क्रिय वा मन्द पदार्थों के युग्म को देवी जोष्ट्री कहते हैं। इस युग्म का सम्प्रैष अर्थात् निर्देश अगले खण्ड में प्रस्तुत किया गया है।

* * * * *

द्विचत्वारिंशः खण्डः

देवी जोष्ट्री वसुधिती ययोरन्याऽघा द्वेषाꣳसि यूयवदान्या।
वक्षद्वसु वार्याणि यजमानाय वसुवने वसुधेयस्य वीताꣳ यज॥
[मै.सं.४.१३.८, तै.ब्रा.३.६.१३.१]

दैवी जोष्ट्री देव्यौ जोषयित्र्यौ। वसुधिती वसुधान्यौ।
ययोरन्याघानि द्वेषाँस्यवयावयति।
आवहत्यन्या वसूनि वननीयानि यजमानाय। वसुवननाय च वसुधानाय च।
वीतां पिबेताम्। कामयेतां वा। यजेति सम्प्रैषः।
देवी ऊर्जाहुती। देव्या ऊर्जाह्वान्यौ। द्यावापृथिव्याविति वा। अहोरात्रे इति वा।
सस्यं च समा च इति कात्थक्यः। तयोरेषः सम्प्रैषो भवति॥ ४२॥

इस मन्त्र का देवता देवी जोष्ट्री और छन्द स्वराट् त्रिष्टुप् होने से इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से देवी जोष्ट्री संज्ञक पूर्वोक्त पदार्थ रक्तवर्णीय तीव्र तेज को उत्पन्न वा

समृद्ध करने लगते हैं। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(देवी, जोष्ट्री, वसुधिती, ययोः, अन्या, अघा, द्वेषाँसि, यूयवत्) 'दैवी जोष्ट्री देव्यौ जोषयित्र्यौ वसुधिती वसुधान्यौ ययोरन्याघानि द्वेषाँस्यवयावयति' पूर्वोक्त देवी जोष्ट्री संज्ञक सभी पदार्थ सम्पूर्ण सृष्टि को अपने-२ स्तर से तृप्त करते हैं अर्थात् सम्पूर्ण सृष्टि को भरे हुये हैं किंवा सम्पूर्ण सृष्टि इन्हीं से बनी है। ये पदार्थ प्रकाशित और अप्रकाशित लोक अथवा कण एवं प्राणापान आदि रश्मि-युग्म के रूप में होते हैं। सृष्टि का प्रत्येक वसु संज्ञक पदार्थ इन्हीं के द्वारा धारण किया जाता है। इन दोनों में से एक पदार्थ संयोज्य पदार्थों को पतित करने वाले अथवा उन्हें प्रतिकर्षित करने वाले असुर पदार्थों को दूर करता है।

(अन्या, आ, वक्षत्, वसु, वार्याणि, यजमानाय, वसुवने, वसुधेयस्य, वीताम्, यज) 'आवहत्यन्या वसूनि वननीयानि यजमानाय वसुवननाय च वसुधानाय च वीतां पिबेताम् कामयेतां वा यज' दूसरा देवी जोष्ट्री नामक पदार्थ विभिन्न यजनीय कण आदि पदार्थों को एकत्र करता है। ये दोनों ही प्रकार के पदार्थ विभिन्न कण आदि पदार्थों के विखण्डन एवं संगमन के लिए उन्हें आकर्षित वा अवशोषित करते हैं। इस प्रकार ये दोनों ही प्रकार के पदार्थ इस सृष्टि में नाना प्रकार की यजन क्रियाओं को सम्पादित करते हैं।

पिछले खण्ड में वर्णित तीनों प्रकार के देवी जोष्ट्री संज्ञक युग्मों पर विचार करने से क्रमशः यह संकेत मिलता है—

१. निर्माणाधीन सूर्य्यादि तेजस्वी लोकों एवं उनके निर्माणाधीन ग्रहादि लोकों के पृथक्करण की प्रक्रिया के समय वे दोनों ही प्रकार के लोक अन्तरिक्ष में विद्यमान वा बिखरे हुये पदार्थ में से कुछ पदार्थों को अपने साथ संघनित करते, तो कुछ पदार्थों को दूर फेंकते रहते हैं। इस समय असुरादि पदार्थ की भी व्यापक भूमिका रहती है। इस प्रक्रिया में सैकड़ों वर्ष लगते हैं, तब किसी तारे व उसके ग्रहों का स्वरूप बन पाता है। इसमें कहीं असुर पदार्थ लोकों को परस्पर दूर करने में सहायक होता है, तो कहीं उसे दूर हटाया जाता है, जिससे वे लोक अपने स्वरूप को प्राप्त कर सकें।

२. अप्रकाशित व प्रकाशित कण अर्थात् विभिन्न मूलकण व आयन्स आदि पदार्थ तथा विभिन्न प्रकाशाणु भी सम्पूर्ण सृष्टि में अन्य विभिन्न कणों को कहीं आकर्षित करके संघनन की प्रक्रिया को प्रारम्भ करते वा बढ़ाते हैं, तो दूसरी ओर अवांछित कणों व अन्य पदार्थों

को छिन्न-भिन्न करके दूर हटाते हैं। इससे नाना प्रकार की यजन क्रियाएँ सम्यक् रूप से होने लगती हैं।

३. प्राण एवं अपान रश्मि-युग्म भी सृष्टि की नाना प्रकार की क्रियाओं को सम्पादित करने के लिए विभिन्न छन्दादि रश्मियों एवं कण आदि पदार्थों को आकर्षित वा प्रतिकर्षित करते रहते हैं। इस प्रक्रिया में असुरादि रश्मियों को यह युग्म, विशेषकर अपान रश्मियाँ अति सूक्ष्म स्तर पर जाकर दूर वा नष्ट करती हैं।

इन तीन युग्मों के अतिरिक्त महर्षि कात्थक्य द्वारा निर्दिष्ट शिथिल एवं विक्षुब्ध दो प्रकार के पदार्थों का युग्म भी विभिन्न यजन क्रियाओं में अपनी भूमिका निभाता है। इनको युग्म रूप में प्रस्तुत करने से यह संकेत मिलता है कि सृष्टि के प्रत्येक तीव्र सक्रिय व गतिशील पदार्थ के साथ किसी न किसी कम सक्रिय एवं मन्द गति वाले पदार्थ का सम्बन्ध अवश्य रहता है।

'देवी जोष्ट्री' युग्म के पश्चात् 'देवी-ऊर्जाहुती' पद-युग्म का निर्वचन करते हुए लिखते हैं— 'देवी ऊर्जाहुती देव्या ऊर्जाह्वान्यौ द्यावापृथिव्याविति वा अहोरात्रे इति वा सस्यं च समा च इति कात्थक्यः' अर्थात् आकाश में स्थित दो पदार्थों का युग्म, जो अपने निकटस्थ एवं कुछ दूरस्थ ऊर्क् संज्ञक पदार्थों को आकर्षित करता रहता है, उस युग्म को ही देवी-ऊर्जाहुती कहा गया है। पूर्व खण्ड की भाँति यहाँ भी तीन प्रकार के युग्मों को देवी ऊर्जाहुती कहा है, इनमें से ग्रन्थकार की दृष्टि में द्यावापृथिवी एवं अहोरात्र इन दो युग्मों को और महर्षि कात्थक्य की दृष्टि में सस्य एवं समा के युग्म को देवी ऊर्जाहुती कहते हैं।

इस युग्म का निर्देश अगले खण्ड में किया गया है।

* * * * *

त्रिचत्वारिंशः खण्डः

देवी ऊर्जाहुती इषमूर्जमन्या वक्षत्सग्धिꣳ सपीतिमन्या नवेन पूर्वं

दयमानाः स्याम पुराणेन नवं तामूर्जमूर्जाहुती ऊर्जयमाने अधाताꣳ वसुवने वसुधेयस्य वीताꣳ यज। [मै.सं.४.१३.८; तै.ब्रा.३.६.१३.१]
देवी ऊर्जाहुती देव्यौ ऊर्जाह्वान्यौ। अन्नं च रसं चावहति आवहति अन्या। सहजग्धिं च सहपीतिं चान्या। नवेन पूर्वं दयमानाः स्याम। पुराणेन नवम्। तामूर्जमूर्जाहुती ऊर्जयमाने अधाताम्। वसुवननाय च। वसुधानाय च। वीतां पिबेताम्। कामयेतां वा। यजेति सम्प्रैषः। यजेति सम्प्रैषः॥ ४३॥

इस मन्त्र का देवता देवी ऊर्जाहुती और छन्द ब्राह्मी त्रिष्टुप् होने से इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से देवी ऊर्जाहुती संज्ञक पूर्वोक्त पदार्थ वर्धमान रक्तवर्णीय तीव्र तेज से युक्त होने लगते हैं। इसके साथ ही कुछ गायत्री छन्द रश्मियाँ उत्पन्न होकर विद्युत् बलों को समृद्ध करती हैं। इसका आधिदैविक भाष्य इस प्रकार है—

(देवी, ऊर्जाहुती, इषम्, ऊर्जम्, अन्या, आवक्षत्) 'देवी ऊर्जाहुती देव्यौ ऊर्जाह्वान्यौ अन्नं च रसं चावहति आवहति अन्या' पूर्वोक्त देवी ऊर्जाहुती संज्ञक तीनों प्रकार के युग्म, जो अपने-अपने स्तर से विभिन्न संयोज्य कण आदि पदार्थों को आकर्षित करने वाले होते हैं, उनमें से एक ऊर्क् अर्थात् अन्न और रसों को सब ओर से एकत्र करता है। इनमें से अन्न उस पदार्थ का नाम है, जो किसी अन्य पदार्थ द्वारा अवशोषित किया जाता है और रस उस पदार्थ का नाम है, जो किसी अन्य पदार्थ को अवशोषित करता है। (सग्धिम्, सपीतिम्, अन्या) 'सहजग्धिं च सहपीतिं चान्या' इन युग्मों का दूसरा पदार्थ प्रथम प्रकार के पदार्थ के साथ मिलकर बाधक वा हिंसक पदार्थों को खाकर नष्ट करने और अवशोषणीय पदार्थों को अवशोषित करने में अपनी भूमिका निभाता है।

(नवेन, पूर्वम्, दयमानाः, स्याम) 'नवेन पूर्वं दयमानाः स्याम' इन दोनों ही प्रकार के पदार्थों (देवी ऊर्जाहुती) के द्वारा होने वाली विभिन्न यजन क्रियाएँ, दूर-२ से संयोज्य कण आदि पदार्थों के लाए जाने से पूर्व उस क्षेत्र में विद्यमान संयोज्य पदार्थ के साथ-२ उन संयोज्य कण आदि पदार्थों की रक्षा करती हैं। (पुराणेन, नवम्, ताम्, ऊर्जम्, ऊर्जाहुती, ऊर्जयमाने, अधाताम्) 'पुराणेन नवम् तामूर्जमूर्जाहुती ऊर्जयमाने अधाताम्' वे देवी ऊर्जाहुती संज्ञक पदार्थ युग्म अपने क्षेत्र में पूर्व से विद्यमान पदार्थों के साथ-२ नए लाए गए संयोज्य पदार्थों को भी बल प्रदान करने हेतु नाना प्रकार की ऊर्क् अर्थात् प्राणादि रश्मियाँ प्रदान करते हैं।

(वसुवने, वसुधेयस्य, वीताम्, यज) 'वसुवननाय च वसुधानाय च वीतां पिबेताम् कामयेतां वा यज' इसका भाष्य पूर्व खण्डवत् समझें। यहाँ 'यजेति सम्प्रैषः' का दो बार प्रयोग इस अध्याय की समाप्ति का सूचक है।

अब हम यहाँ देवी ऊर्जाहुती संज्ञक पदार्थों को लेकर इस मन्त्र के निष्कर्ष पर विचार करते हैं—

१. प्रकाशित और अप्रकाशित लोक अर्थात् सूर्यादि लोक एवं ग्रहादि लोकों में से निर्माणाधीन सूर्यादि लोक ग्रहादि लोकों से पृथक्करण के समय अपने निकटवर्ती अन्तरिक्ष से विभिन्न प्रकार के आयन्स एवं प्राण व छन्दादि रश्मियों को अपनी ओर आकृष्ट करते हैं। उधर निर्माणाधीन ग्रहादि लोक उसी प्रक्रिया के अन्तर्गत विभिन्न प्रक्षेपक असुरादि पदार्थों के प्रभाव को सूर्यादि लोकों से पृथक्करण के पश्चात् उन सूर्यादि लोकों के साथ संयुक्त प्रभाव दर्शाते हुए नष्ट कर देते हैं। इसके साथ सूत्रात्मा वायु एवं बृहती आदि छन्द रश्मियों को अवशोषित करके दोनों ही प्रकार के लोक अपने स्पष्ट स्वरूप को प्राप्त करने लगते हैं। इसी समय वे दोनों ही प्रकार के लोक दिक् रूप रश्मियों को अपने साथ संयुक्त करके अपने-२ अक्षों पर घूर्णन करने लगते हैं। इसी बात को यहाँ 'सहजग्धिम्' एवं 'सहपीतिम्' पदों में दर्शाया गया है। ये दोनों ही प्रकार के लोक पृथक्करण के समय अपने अन्दर विद्यमान पदार्थों की रक्षा करते हुए अर्थात् उन्हें अपने आकर्षण में बाँधे रहते हुए निकटवर्ती क्षेत्रों से आकर्षित किए जाने वाले पदार्थों को भी निरन्तर बल प्रदान करते रहते हैं अर्थात् उन्हें भी अपने साथ संघनित करते रहते हैं। इस प्रक्रिया में अनेक आयन्स का निर्माण भी होता है।

२. दूसरे प्रकार का युग्म विद्युत् आवेशित कणों और प्रकाशाणुओं का होता है। उपर्युक्त दोनों लोकों की प्रक्रिया में इन कणों की ही भूमिका होती है। इसके साथ ही ये कण (मूलकण एवं प्रकाशाणु अथवा आयन्स एवं प्रकाशाणु) प्राण एवं छन्द रश्मियों के लिए वही व्यवहार करते हैं, जो व्यवहार विभिन्न लोक आयन्स आदि के साथ करते हैं। इसलिए इनकी व्याख्या उपर्युक्तानुसार विज्ञ पाठक स्वयं कर सकते हैं।

३. ग्रन्थकार के दोनों निर्वचनों के पश्चात् महर्षि कात्थक्य के निर्वचन के अनुसार पूर्व खण्ड में वर्णित तीव्र रूप से सक्रिय एवं मन्द पदार्थों के युग्म भी उपर्युक्त सभी क्रियाओं को सम्पादित करने में अपनी भूमिका निभाते हैं। इसके लिए पूर्व खण्ड भी द्रष्टव्य है।

इस प्रकार ७वें अध्याय से लेकर यहाँ तक जिन भी पदों का निर्वचन किया गया है और उन निर्वचनों से पदार्थों का जो भी स्वरूप स्पष्ट होता है, वे सभी पदार्थ ग्रन्थकार ने पृथिवीस्थानी कहे हैं। पाठकों का यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि अब तक दर्शाए गए सभी पदार्थ पृथ्वी लोक से सम्बन्ध नहीं रखते हैं, बल्कि सूर्य एवं अन्तरिक्ष आदि लोकों से सम्बन्ध रखने वाले होते हैं। ऐसी स्थिति में इन्हें पृथिवीस्थानी क्यों कहा गया है? इसके उत्तर में हमारा मत यह है कि यहाँ पृथ्वी का तात्पर्य पृथ्वी आदि लोक नहीं, बल्कि ऋक् रश्मि प्रधान क्षेत्र ही पृथ्वी कहे जाते हैं, जैसा कि हम पूर्व में खण्ड ७.८ में दर्शा चुके हैं। पाठकों को वह प्रकरण अवश्य पढ़ना चाहिए।

* * * * *

इति ऐतरेयब्राह्मणस्य वैज्ञानिकभाष्यकारेण आचार्याग्निव्रतनैष्ठिकेन
यास्कीयनिरुक्तस्य वैज्ञानिक-व्याख्यानस्य (वेदार्थ-विज्ञानस्य)

नवमोऽध्यायः समाप्यते।

वेदार्थ-विज्ञानम्

(महर्षि यास्क विरचित निरुक्त की वैज्ञानिक व्याख्या)

/vaidicphysics

वेद परमपिता परमात्मा का रहस्यमय व गम्भीरतम सृष्टि विज्ञान है। वेद की ऋचाओं वा स्पन्दनों के द्वारा ही मूल प्रकृति से सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड एवं प्राणियों के शरीरों की रचना होती है। इसकी न केवल एक-एक ऋचा, अपितु एक-एक पद रहस्यमय विज्ञान को प्रकट करता है। इसी विज्ञान को उद्घाटित करने हेतु हमारे महान् ऋषियों ने ब्राह्मण ग्रन्थों तथा निरुक्त आदि ग्रन्थों की रचना की। इन महान् ग्रन्थों को समझे बिना कोई वैदिक ज्ञान-विज्ञान को समझने में समर्थ नहीं हो सकता। ये ग्रन्थ उन महान् ऋषियों की अद्भुत एवं महती प्रज्ञा का दिग्दर्शन कराते हुए वेदविज्ञान के रहस्यों को उद्घाटित करते हैं। वेद के महद्द्रष्टा महर्षि यास्क विरचित यह निरुक्त स्वयं एक रहस्यमय ग्रन्थ है।

'वेदार्थ-विज्ञानम्' नामक मेरा यह व्याख्यात्मक ग्रन्थ उन्हीं रहस्यों को उद्घाटित करने का प्रयास है। 'वेदविज्ञान-आलोकः' के पश्चात् वेद को जानने के लिए यह दूसरा आधारभूत ग्रन्थ है। मुझे आशा है कि इसे पढ़कर प्रौढ़ वैदिक विद्वानों व विदुषियों, गुरुकुलों के ब्रह्मचारियों व ब्रह्मचारिणियों और विश्वविद्यालयों के प्राध्यापकों एवं विद्यार्थियों को ही नहीं, अपितु सम्पूर्ण युवा पीढ़ी को भी वेद का वास्तविक मर्म समझ आ सकेगा।

– आचार्य अग्निव्रत

www.thevedscience.com

ISBN 978-81-976604-5-0

द वेद साइंस पब्लिकेशन